महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

व्याख्याद्वयोपेतः

[प्रथमो भागः]

कुलपतेः प्रो. राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया विभूषितः

हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

वाराणसी

श्रीतन्त्रालोकः

सर्वोपनिषदां सारभूतः पद्मनाभवदनारविन्दमकरन्दरूपं यथा गीता-शास्त्रं तथैव सिद्धान्त-वाम-दक्ष-शैव-कारुक-कुल-क्रममत-वादानां निदर्शनम् अशेषागमोपनिषदां प्रमाणरूपं तन्त्रवाङ्मयविश्वकोषेति विश्रुतं शिवशक्त्युभययामलविसर्गमयानुत्तरामृतकुलकलापकमनीयस्य महामाहेश्वरा-चार्यस्याभिनवगुप्तपादाचार्यस्य प्रातिभपरामर्शपरिस्रुतं श्रीतन्त्रालोकशास्त्रम्।

श्रीतन्त्रालोकस्य प्रथमे भाग एव पूर्णार्था प्रक्रियाप्रवर्त्तनविषयिणी महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तोक्तिः—

सन्ति पद्धतयश्चित्राः स्रोतोभेदेषु भूयसा ।
अनुत्तरषडर्धार्थक्रमे त्वेकापि नेक्ष्यते ।।
इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः ।
अर्चितो रचये स्पष्टां पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम् ।।

गुरुपरम्परागतस्य ज्ञानस्य साक्षात्कारेण सम्यगवगतधर्मा संशयविपर्यासादिरहितत्वेनाधिगतमनुत्तरत्रिकार्थप्रक्रियालक्षणं शास्त्रं परान् प्रति चिख्यापयिषया स्वनामोल्लेखपूर्वकं समभिव्याहरति महामाहेश्वरः—

श्रीभट्टनाथचरणाब्जयुगात्तथा
श्रीभट्टारिकाङ्घ्रियुगलाद्गुरुसन्ततिर्या ।
बोधान्यपाशविषनुत् तदुपासनोत्थ-
बोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति ।।

स्वनामोल्लेखविषये राजानको जयरथः कथयति—

सकललोकप्रसिद्धनामोदीरणेन आप्तत्वमेव उपोद्बलितमिति ।

शास्त्रेऽस्मिन् केऽधिकारिण इति जिज्ञासायां भगवताभिनवेन सत्यमेवोक्तं यत्,

इह गलितमलाः परावरज्ञाः शिवसद्भावमया अधिक्रियन्त इति ।

अन्यत्रापि तेनैव समभिव्याहारि—

तदस्मिन् परमोपाये
शाम्भवाद्वैतशालिनि ।
केऽप्येवं यान्ति विश्वासं
परमेशेन भाविताः ।

इदं शास्त्रं भैरवीयपरमाद्वयार्चनाय चारुतरमित्यत्र कश्चित्तीव्रतम-शक्तिपातपवित्रित एव रज्यतीति वक्ति शास्त्रकारः—

केतकीकुसुमसौरभे भृशं
भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका ।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने
कोऽपि रज्यति महेशचोदितः ।।

✺

ISBN : 81-7270-018-0 (Vol. 1)
ISBN : 81-7270-017-2 (Set)

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[१७]

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

[प्रथमो भागः]

कुलपतेः प्रो. राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया विभूषितः

सम्पादकः

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

वाराणसी

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 17]

ŚRĪTANTRĀLOKA

OF

MAHĀMĀHEŚVARA ŚRĪ ABHINAVA GUPTAPĀDĀCĀRYA

[PART-ONE]

With the Commentary

'VIVEKA'

BY

ĀCĀRYA ŚRĪ JAYARATHA

'NĪRAKṢĪRAVIVEKA'

BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

PROF. RAMMURTI SHARMA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

V A R A N A S I
2000

ISBN : 81-7270-018-0 (Vol. I)
ISBN : 81-7270-017-2 (Set)

Research Publication Supervisor—

Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

❒

Published by—

Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❒

Available at—

Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❒

Second Edition, 1000 Copies
Price : Rs. 160.00

❒

Printed by—

Shreejee Computer Printers
Nati Imali, Varanasi-221 002

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला
[१७]

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

[प्रथमो भागः]

श्रीमदाचार्यजयरथकृतया
'विवेक' व्याख्यया

डॉ. परमहंसमिश्रकृतेन
'नीरक्षीरविवेक'-हिन्दीभाष्येण

कुलपतेः प्रो.राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया च विभूषितः

सम्पादकः
डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

वाराणस्याम्
२०५६ तमे वैक्रमाब्दे १९२१ तमे शकाब्दे २००० तमे ख्रैस्ताब्दे

ISBN : 81-7270-018-0 (Vol. I)
ISBN : 81-7270-017-2 (Set)

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —

निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये

वाराणसी।

❐

प्रकाशकः —

डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी

निदेशकः, प्रकाशनसंस्थानस्य

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये

वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थानम् —

विक्रय-विभागः,

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य

वाराणसी-२२१००२

❐

द्वितीयं संस्करणम् – १००० प्रतिरूपाणि

मूल्यम् – १६०.०० रूप्यकाणि

❐

मुद्रकः —

श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स

नाटी इमली, वाराणसी-२२१००२

प्रस्तावना

'श्रीतन्त्रालोक' के द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना लिखते हुए मैं अतिशय प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। यह ग्रन्थ आचार्य जयरथ की **'विवेक'** टीका एवं तन्त्रसाधना के अग्रणी आचार्य श्री परमहंस मिश्र के हिन्दी-भाषामय **'नीरक्षीरविवेक'**-भाष्य के साथ आठ खण्डों में इस विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है। पूरे तन्त्रालोक में कुल ३७ आह्निक हैं। ३७ आह्निकों पर **आचार्य जयरथ** की 'विवेक'-टीका एवं **आचार्य श्री परमहंस मिश्र** का नीरक्षीरविवेक-भाष्य की सामग्रियों को आठ खण्डों में समेटा गया है। तन्त्रालोक के प्रथम खण्ड में तीन आह्निक समाविष्ट हैं। तन्त्रालोक के रचयिता **आचार्य श्री अभिनवगुप्त** का आविर्भाव इतिहास के उस कालखण्ड (९५० से १०३० ई. के मध्य) में हुआ था, जब श्री शङ्कराचार्य का प्रभाव चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था। ऐसे इतिहास के मोड़ पर श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपनी कालजयी कृतियों की रचना की, जिनकी अनुगूँज बाद की कई शताब्दियाँ सुनती रहीं और सुन रही हैं। आचार्य शङ्कर के आभामण्डल में अपनी कृतियों के बल पर अपने को स्थापित करना, यह श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य की दुर्धर्ष 'अस्मिता' का ज्वलन्त प्रमाण है।

वस्तुतः आचार्य श्री अभिनवगुप्त की कृतियों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनकी साधना का प्रस्फुटन चतुरस्र चार सोपानों में हुआ—साहित्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में, नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में, तन्त्रशास्त्र के व्याख्याता के रूप में एवं

भक्तिशास्त्र के व्याख्याता के रूप में। **श्रीतन्त्रालोक** ग्रन्थ उनके तन्त्रशास्त्रीय चिन्तन का विश्वकोष माना जाता है। स्वच्छन्दतन्त्र (७।१६९) में इसे **'अशेषागमोपनिषदालोक'** कहा गया है। ऐसे आगमों एवं उपनिषदों के निष्कर्षभूत इस ग्रन्थ को आचार्य श्री जयरथ ने अपनी 'विवेक' व्याख्या के द्वारा सहज एवं सुबोध बनाने का आधिकारिक प्रयास किया है, जो इस ग्रन्थ के पाठक को इस ग्रन्थ की दुरूहताओं के मर्म तक पहुँचाता है और उन मार्मिक गुत्थियों के भेदन का विवेक प्रदान करता है।

ऐसे महनीय आकर ग्रन्थ **श्रीतन्त्रालोक** की महनीया व्याख्या 'विवेक' को केन्द्र में रखते हुए आचार्य श्री परमहंस मिश्र ने हिन्दी-भाषामय 'नीरक्षीरविवेक'-भाष्य के द्वारा मूल ग्रन्थ एवं 'विवेक' व्याख्या के हार्दिक मर्म को उद्घाटित किया है, जिसकी विश्लेषणपरायणता एवं सुबोधता पाठक का ध्यान आकृष्ट किये विना नहीं रह सकती। यही कारण है कि १९९९ में इस ग्रन्थ के आठवें भाग के प्रकाशित होते-होते प्रथम एवं द्वितीय भाग कालातीत हो गये।

डॉ. परमहंस मिश्र बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने राष्ट्रभाषा में इस ग्रन्थ एवं इसकी 'विवेक'-व्याख्या के निष्कर्ष तत्त्वों को अवतरित कराने में अपनी तान्त्रिक साधना को फलीभूत कराया है। मैं इस लोकोत्तर सारस्वत-कार्य को मूर्त रूप प्रदान करने में अपने ज्ञानानुभव की आहुति देने वाले **आचार्य श्री परमहंस मिश्र जी** के प्रति हार्दिक आदराञ्जलि प्रदान करता हूँ और इस ग्रन्थ के शीघ्र सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में दत्तचित्त प्रकाशन-निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी**, ईक्ष्यशोधन-प्रवीण **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय**, प्रकाशन-सहायक **श्री कन्हई सिंह कुशवाहा**, सहायक सम्पादक **डॉ. ददन उपाध्याय**, **श्री अशोक कुमार शुक्ल**, **श्री अतुल कुमार भाटिया** एवं

श्री ओम प्रकाश वर्मा को धन्यवादपुरस्सर आशीर्वाद प्रदान करता हूँ तथा इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के मुद्रक 'श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स' के सञ्चालक **श्री अनूप कुमार नागर** को भी आशीर्वाद प्रदान करते हुए आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ विशेषकर तन्त्रसाधना के विद्वानों के लिए एवं पुङ्खानुपुङ्ख रूप से अन्य शास्त्रों के विद्वानों, जिज्ञासुवों, शोधार्थियों तथा विद्यार्थियों के लिए भी पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगा।

राममूर्ति शर्मा

राममूर्ति शर्मा
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी
श्रीगणेश-चतुर्थी,
वि.सं. २०५६

स्वात्म-विमर्श

[द्वितीय संस्करण का]

श्रीमन्महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य दशवीं ख्रीष्ट शताब्दी के द्वैपायन व्यास थे। व्यासदेव महर्षि थे। प्रज्ञा-प्रकाशैकात्म्य के प्रतीक पुरुष थे। भारतीय सांस्कृतिक सुधा-प्रवाह के प्रवर्त्तक थे। आध्यात्मिकता के अधीश्वर अधीष्ट पुरुष थे। उनके विराट् व्यक्तित्व का आकलन विश्व के प्रज्ञापुरुष करते हैं।

श्रीमदभिनवगुप्त में प्रज्ञाप्रकाशक व्यक्तित्व के वैराज्यविभूषित वे सभी गुणधर्म थे, जो महर्षि व्यास में थे। सारस्वत सुरसरिता के संवाहक दोनों शिखर पुरुष थे। एक ने वैदिक सुधाधारा को महाप्रवाह प्रदान किया, तो दूसरे ने शैवतादात्म्यमयी त्रिक-कुल-क्रमकमनीया त्रिस्रोतसामृतमयी आगमिकोपनिषत्पीयूषपयस्विनी मोक्षमन्दाकिनी को प्रवाह प्रदान कर परमशिव-सामरस्य में समाहित कर तन्त्रालोकोपम ज्ञानगङ्गासागर को उजागर कर दिया।

इस परम्परा के स्वाध्याय का अवसर मुझे मिला। इसे मैं अपने जीवन का सौभाग्य मानता हूँ। प्रथम संस्करण के स्वात्म-विमर्श के द्वितीय अनुच्छेद में मैंने इस सौभाग्य-सूत्रपात की चर्चा की है। इसके लिये आराध्या की परानुकम्पामयी वात्सल्यसुधा से सिक्त और तृप्त होने के अवसर मुझे मिले। महामाहेश्वर के दिव्यतम दमकते दक्षिणामूर्त्ति रूप के स्वप्न में दर्शन, साथ ही पार्श्वभाग में वज्रासन पर विराजमान माहेश्वर सिंहासन के समक्ष ही ओज-ऊर्जस्वल राजानक जयरथ के दर्शन तथा श्री ईश्वर आश्रम, गुप्तगङ्गा, श्रीनगर, काश्मीर के महामाहेश्वर महामनीषी त्रिकदर्शनसुधा के आधार कलानिधि अधुनातन महामाहेश्वर लक्ष्मण जी

का दीक्षा वरदान मेरे दार्शनिक जीवन के वे शैव-सन्दर्भ हैं, जिनसे मेरा स्वात्म सन्दृब्ध है।

परमात्मा के अनुग्रह अवधान के तले पले, फले और त्रिक मानस में खिले इस शिष्य के ये तीनों महापुरुष परमेष्ठि, परम और दीक्षक गुरुवर्य हैं। इनसे आज भी मैं सतत सम्पृक्त हूँ और प्रेरित हो रहा हूँ।

मुझे इस बात की परम प्रसन्नता है कि, श्रीतन्त्रालोक का स्वाध्याय सहज भाव से हो रहा है। नश्वर संसार में अविनश्वर की जिज्ञासा के समाधान के लिये मनीषा के माननीय स्तर पर भी प्रयास और अध्यवसाय हो रहे हैं, श्रीतन्त्रालोक के प्रथम खण्ड के समाप्त हो जाने से यह स्वयं सिद्ध है। मुझे इस बात की और भी प्रसन्नता है, मेरे माध्यम से लिखे गये 'नीर-क्षीर-विवेक-भाष्य' को मनीषी समाज ने अपनाया और यह सिद्ध कर दिया है कि, स्वाध्याय के लिये अपनी जनभाषा का माध्यम ही उत्तम होता है।

जीवन दर्शन की दिशा में विकास की दृष्टि अनिवार्यत: आवश्यक है। किसी रूढि से बँधकर समाज कुण्ठा-ग्रस्त हो जाता है। कुण्ठा ही तम है। वैदिक द्रष्टा की दृष्टि से इस बिन्दु को निरखने-परखने के बाद ही लिखा गया—**'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** तमस् में नहीं, कुण्ठा में नहीं, संकोच के कलुष-कलङ्क में नहीं, वरन् ज्योति की जागरूकता में, प्रकाश की रोचिष्णुता में और विकास की विकसनशीलता में ही जीवन के फूल खिल सकते हैं, दर्शन को नयी दृष्टि मिल सकती है और मननशीलता की सीमामयी मञ्जूषा से निकल कर ही प्रमेय को प्रामाणिकता मिल सकती है।

यह देश आर्यों का आदिदेश है। इसने विश्व को आर्य दृष्टि दी है। इसने विश्व को उनकी सभ्यता और संस्कृति की दीक्षा दी। यद्यपि अपनी इस विशालता और सहजता की सरलता से यह उन्मादियों और उपद्रवियों से उपद्रुत भी हुआ, फिर भी इसने गुरु-गाम्भीर्यमयी अपनी

गरिमा को सँजोये रखा है। यही इसका सनातनत्व है। आज भी यह आर्य देश अपनी विशालता में सर्वश्रेष्ठ है, अस्तित्व के उल्लास के प्रति उत्साहसम्पन्न है और जीवन की जिजीविषा को नयी दिशा देने में दक्षतापूर्वक अग्रसर है।

श्रीतन्त्रालोक इस दिशा में भारतीय समाज के लिये आलोकस्तम्भ के समान सजग भाव से नवजीवन को अभिनव ज्योति से ज्योतिष्मान् बनाने में सक्षम है। अध्येताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि श्रीतन्त्रालोक के आलोक से उनका जीवन आलोकललित हो रहा है।

श्रीतन्त्रालोक के स्वाध्याय की आज अत्यन्त आवश्यकता है। यह एकमात्र ऐसा आगमिक उपनिषद् है, जिसमें भारतीय साधना को नये आयाम से मण्डित किया गया है। नश्वर को अविनश्वर में, स्थूल को सूक्ष्म में इदम् को अहम् में, सङ्कोच को विकास में, जीव को शिव में समाहित होने की केवल देशना का ही निर्देश इसने नहीं दिया है, वरन् विधि में उतार कर पगडण्डियों को राजमार्ग में बदल दिया है। यह केवल कथन में विश्वास नहीं करता, वरन् कथन को साधकतम करण प्रदान करता है। यह प्रश्न का उत्तर मात्र नहीं देता, वरन् प्रश्नकर्त्ता को ऐसी विधि बताता है कि, इस विधि में उतरो और प्रश्न का स्वयम् उत्तर प्राप्त कर लो।

यह जीवन की सङ्कोचमयी अणुता को, शक्ति से समन्वित शाक्तता को ज्यों के त्यों रूप में सत्य मानकर शाश्वत सत्य की प्राप्ति हेतु आणव, शाक्त और शाम्भव उपायों से उपेय को पा लेने के अध्यवसाय की देशना देकर ही शान्त नहीं होता, वरन् उसे अनुपाय विज्ञान की परमोपेय वैज्ञानिकता का सन्देश भी देता है।

विज्ञान और उपाय के सामरस्य में समरस रहकर व्यष्टि से समष्टि को संस्कारसम्पन्न बनाने का लक्ष्य इस आगमिक मन्त्र से मिल जाता है। जीवन के सङ्कोच कल्मष को निरस्त कर जन्म-जन्मान्तरीय

जागतिक स्मृतियों को निरुद्ध कर, गमागम पद अर्थात् प्राण और अपान वायु में परम ध्येय को पिरो कर अजपा-जप में निरत रहकर जीव को शिवभाव में समाहित होने की देशना विधि से परमशिव को उपलब्ध होने की प्रेरणा यह ग्रन्थ दे रहा है।

गति-स्थान, स्वप्न-जाग्रत्, उन्मेष-निमेष, धावन और प्लवन, आयास और शक्तिवेदन के द्वन्द्व से जीवन को निकाल कर निर्द्वन्द्व महाभाव में विश्व को बिठलाने के लिये तन्त्रालोक एक हजार साल से आपका आवाहन कर रहा है। यह इसकी महनीयता है।

श्रीतन्त्रालोक के प्रथम खण्ड में ये सारे तथ्य अक्षमाला की मणियों की तरह ग्रथित हैं। केवल इस खण्ड का स्वाध्याय भी विभ्रान्त पथिक को उसकी मंजिल उपलब्ध करा देने में सक्षम है। यह खण्ड समाप्त हो गया है। यह प्रमाणित करता है कि, वर्त्तमान अध्येता वर्ग जिजीविषा में जीवन्मुक्ति का अमृत घोल देने के लिये लालायित है। वह परमानन्द-पीयूष भरकर भौतिकता के हेय भाव को उपादेय बनाने के लिये कृतसङ्कल्प है। मुझे इस अनुभूत सत्य के साक्षात्कार से महती प्रसन्नता है।

मैं इस अवसर पर माँ परमाम्बा के पदारविन्द के मकरन्द रस से विश्व को अभिषिक्त करना चाहता हूँ। समष्टि सोच की आतङ्कभरी संकुचित जीवनदृष्टि से उसे तत्काल मुक्ति चाहिये। उसे उन्मुक्त आनन्द आकाश के शैव महाप्रकाश के परामृत से भरकर सबको, व्यक्ति-व्यक्ति को आनन्दित करने का उपक्रम चाहिये, श्रीतन्त्रालोक में यह शक्ति है। इसका अध्येता इस मार्ग पर अग्रसर है। यह आनन्द की अनुभूति का विषय है।

इस अवसर पर मैं अपनी गुरु-परम्परा के साथ समस्त गुरुवर्ग को प्रणति-प्रसून अर्पित कर रहा हूँ। अध्येता वर्ग को साधुवाद दे रहा हूँ और अपने सहयोगी वर्ग को स्नेह अर्पित करता हूँ।

स्वयं विग्रहवान् राम की तरह 'अलप काल विद्या सब आयी' के मूर्त्तिमन्त विद्यावरिष्ठ व्यक्तित्वविभूषित **प्रो. राममूर्त्ति शर्मा**, कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का यह महाप्रभाव है कि, इस आगमोपनिषद् के प्रथम खण्ड का पुनः प्रकाशन हो रहा है। एतदर्थ मैं उन्हें परमाम्बा की परानुकम्पा का आशीर्वाद दे रहा हूँ।

डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी, प्रकाशन निदेशक, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की सक्रियता के निदर्शन श्रीतन्त्रालोक के आठों खण्ड हैं। आठवें खण्ड के छपते ही प्रथम खण्ड के द्वितीय संस्करण की तरह प्रत्येक खण्ड के प्रकाशन क्रमिक रूप से प्रति आठवें वर्ष तक निरन्तर चलेंगे, यह इनके प्रकाशन उपक्रम का प्रमाण है। मैं इन्हें स्वात्मशिव के प्रसाद से सम्पन्न करते हुए आशीर्वाद के अमृत से अभिषिक्त कर रहा हूँ।

किसी लेखक के लिये यह सौभाग्य का विषय माना जाता है कि, उसके जीते जी उसके ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन हो रहा होता है। यह मेरे लिये हर्ष का विषय है। इस अवसर पर मैं श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स के व्यवस्थापक **श्री अनूप कुमार नागर** का आभार व्यक्त कर रहा हूँ, साथ ही पूर्व मुद्रक **श्री गिरीशचन्द्र** को इसलिये स्मरण कर रहा हूँ कि, उनका 'पवरा' कितना मङ्गलमय है कि इसे पुनः छपने का इतना शीघ्र अवसर उपलब्ध हुआ।

अन्त में परमाम्बा की परानुकम्पा की अनुभूति-संभूतिभरित स्वात्म-निवेदन—

संविद्विमर्शविशदे वरदे परेशप्रकाश्यतापरमकारणरम्यरूपे।
शश्वत्कृतित्वसदनुग्रहहर्षहृद्ये पीयूषपूरहृदये शरणागतोऽस्मि।।

परमहंस मिश्र
०१.०१.२००० ए ३६, बादशाहबाग,
वाराणसी

प्ररोचना

[प्रथम संस्करण की]

'तन्त्रालोक' भारतीय मनीषा के प्रतिमान **श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य** की 'आकर' रचना है, जिसमें तन्त्रशास्त्र-सम्बन्धी समस्त विषयों के बारे में अपने समय में प्राप्त समस्त जानकारी का आकलन है और सिद्ध-साधकों की अनुभूतियों का निचोड़ है। यह ग्रन्थ सर्वप्रथम कश्मीर-सीरीज़ में प्रकाशित हुआ था। हिन्दी-व्याख्या के साथ इसका प्रकाशन पहली बार हो रहा है। यह ग्रन्थ इतना गूढ़ है कि व्याख्या के बिना लगता नहीं। इसके बारे में उचित ही कहा गया है कि तन्त्रालोक **"अशेषागमोपनिषदालोक"** है। यह उल्लेख स्वच्छन्दतन्त्र में है।

तन्त्रालोक के प्रसङ्ग में विद्वान् व्याख्याकार **डॉ० परमहंस मिश्र** ने अपनी भूमिका में विशद व्याख्या की है कि 'श्री', 'तन्त्र' और 'आलोक' पदों का गहन अर्थ क्या है? तन्त्रशास्त्र का सबसे बड़ा अवदान यह है कि वह मनुष्य के शरीर में ऊर्जाओं का स्रोत देखता है और इस ऊर्जा के विस्तार के लिए ही अनेक विधान करता है।

इस ग्रन्थ के प्रथम-खण्ड की भूमिका में अभिनवगुप्तपादाचार्य का संक्षिप्त जीवन-चरित भी दिया गया है, साथ ही इस भूमिका में तन्त्रालोक के प्रथम-खण्ड की वर्ण्यवस्तु का संक्षेप भी दे दिया गया है। इस खण्ड में तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक तक का ग्रन्थ-भाग है। लगभग आठ खण्डों में यह ग्रन्थ पूरा होगा। इस ग्रन्थ के आठों खण्डों के प्रकाशनार्थ भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मन्त्रालय की ओर से अनुदान की स्वीकृति प्राप्त है। एतदर्थ हम उनके हृदय से आभारी हैं। इस सुन्दर हिन्दी-व्याख्या के लिए डॉ० परमहंस मिश्र हमारे साधुवाद के पात्र हैं। मुझे इस ग्रन्थ को सुधी-समुदाय के सामने प्रस्तुत करते हुए हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

तन्त्रालोक के प्रथम-खण्ड में हृदयतत्त्व की, स्वातन्त्र्यतत्त्व की और संवित्तत्त्व की बड़ी विशद विवेचना है। यह विवेचना मननीय है।

वाराणसी
अक्षय-तृतीया
२०४९ वैक्रमाब्द
(५।५।१९९२ खैस्ताब्द)

विद्यानिवास मिश्र
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

स्वात्म-विमर्श

प्रेरणा और प्रवृत्ति

काशिकेय श्री ठाकुर जयदेव सिंह प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मनीषी और मर्मज्ञ विद्वान् थे। मेरे तन्त्रसार के प्रथम खण्ड के भाष्य को देखकर वे बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने एक दिन मुझसे कहा —'तन्त्रसार' का भाष्य करने के बाद आप तन्त्रालोक पर लेखनी उठाइये। हिन्दी में उस तान्त्रिक विश्वकोष के प्रकाशन की मेरी बड़ी इच्छा है। मैंने आशीर्वाद समझकर हामी भर दी।

वाल्मीकि रामायण का वह प्रसङ्ग जिसमें ब्रह्मा ने आदि कवीश्वर को निर्देश दिया था—"रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम। ··· ····· ··· ···· न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति" मेरी स्मृति में कौंध गया। इतना बड़ा काम मुझ अकिंचन वामन व्यक्तित्व से कैसे सम्पन्न होगा ? यह संकोच मेरे मन में था। मैंने अपनी आराध्या माँ से इसकी आज्ञा ली। मैंने अपनी अज्ञता का विनम्र और करुण स्वर में निवेदन किया और 'न ते वागनृता' के वरदान की अनुभूतियों से भर उठा। एक अकल्पित शक्तिपात के परमामृत पान से परितृप्त परमहंस में इच्छा और ज्ञान के आन्तरालिक आवेश से सक्रियता का निर्झर फूट पड़ा। तन्त्रसार द्वितीय खण्ड १९८९ के प्रकाशन के उपरान्त मैंने लेखनी उठाई। माँ के चरणों में उसे रखा और तन्त्रालोक पुस्तक का स्पर्श किया। उसे प्रणाम किया और उसके प्रथम श्लोक के रहस्य लोक में समाहित हो गया।

उस रात एक घटना घट गयी। स्वप्न में मुझे एक महापुरुष के दर्शन हुए। वह ओज और ऊर्जा से ऊर्जस्वल देदीप्यमान स्वरूप मेरी आँखों में आज भी रूपायित है। एक दिव्य आभा मण्डल के प्रकाश परिवेश में एक दमकता हुआ दक्षिणामूर्त्ति ! शुभ्रश्वेत केश राशि की रश्मियों से पृष्ठ भाग में ज्योत्स्ना का आकलन ! श्वेतश्मश्रु का आमणिपूरान्त लटकता श्वेत लम्ब कूर्च ! पारदर्शी माणिक्य-मनोज्ञ-पाटल-निटिल-पटली का मनोरम रूप ! भौंहों में भैरव की विभूति का विश्रम्भ ! अधखुली आँखों से निकलती वात्सल्य रश्मियों का अप्रतिहत प्रभाव ! वाक्चक्र की तारङ्गिक वक्रता के प्रतीक लम्बी लरों से ललित कलित कर्ण, ताम्रपर्णी कपोल पाली को विभाजित करने वाली शुकचञ्चुपुट प्रतीक नासिका ! अधरोष्ठ मिलन स्थली में शराशनिका सदृश रेखिनी का निखार

और चारुतम चिबुक ! उस मनोहारी आकर्षण में पूरी तरह खो सा गया था। काल मानो रुक सा गया था ! सत् मानो प्रतिष्ठित हो गया था, चिन्मय मानो चित्राकार हो रहा था और आनन्द ने इस स्वप्न को सत्य कर दिया था।

मेरी स्वाप्निक जिज्ञासा का समाधान एक मधु-रस घुली मीठी ध्वनि से हुआ—'यही तुम्हारे गुरुदेव हैं'। और वह महनीय मूर्त्ति, वह अर्चनीय आकृति, वह वन्दनीय विभूति-भव्यता आँखों से ओझल हो गयी ! मैं उद्विग्न हो उठा था। स्वप्न भङ्ग हो गया था। प्रसङ्गवश कभी अपने गुरुदेव की उस दिव्यता की चर्चा की तो मेरे प्रिय आत्मज शीतला प्रसाद जी ने मुझे बताया कि यही आकृति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य अभिनवगुप्तपादाचार्य की है, तो मेरे रोमाञ्च हो आये। मैंने अपने संकल्प के अधिदेव के ही दर्शन किये थे।

श्रीतन्त्रालोक, साधना की पराकाष्ठा का पार करने वाले सिद्ध साधकों की अनुभूतियों का निकष दर्शन है। अपने विश्वामित्र हिन्दी महाकाव्य के प्रणयन प्रसङ्ग में मैंने गायत्री की साधना की थी। उस रश्मिपरिवेश का स्पर्श भी मुझे हुआ था, जहाँ वाक्तत्त्वालोक मन्त्रद्रष्टा के लिये दर्शन का विषय बन जाता है।

ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः' के अनुसार ऋषियों ने मन्त्रों के दर्शन किये थे। उनका ऋषित्व साधना की उच्च भूमि पर ही प्रतिष्ठित होता है। 'तदेनान् तपस्यमानान् स्वयं ब्रह्म अभ्यानर्षत्। तदेतेषाम् ऋषित्वं सिद्धम्' की उक्ति के अनुसार ब्रह्म के अभ्यानर्षण की प्रक्रिया के क्रम में बोध का प्रकाश पीयूष उनके मस्तिष्क में चू पड़ता है और मन्त्र दर्शन हो जाता है। इस साधना के क्रम में मुझे शरीरस्थ चक्रभेदन क्रिया, कुण्डलिनी जागरण, अधः द्वादशान्त से ऊर्ध्व द्वादशान्त की यात्रा का अनुभव, अनुप्रवेश विधि, श्वास की उद्गम, मध्य और निर्गम विधियों का क्रियात्मक ज्ञान हो चुका था।

इस आध्यात्मिक अधिगति की पृष्ठभूमि में मुझे तन्त्रालोक की आलोकमयी लक्ष्मण रेखा में प्रवेश का अधिकार मिल गया था। मैंने उसमें बैठी संविद् सीता के नूपुरों के शिंजन सुने और उसे अपने उसी गुरु के अनुग्रह से, उनके आदेश से उनकी प्रेरणा से अपनी अनिकषकषायित अनुभूति को हिन्दी वर्णमातृका के माध्यम से व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया।

मैं यह स्पष्ट कर देना अपना कर्त्तव्य मानता हूँ कि जब तक मैं सारस्वत संविद् आवेश में गुर्वनुग्रहानुगृहीत रहकर लिखता रहा हूँ—तब तक 'न मे

वागनृता भविष्यति' की बात सही हो सकती है, पर जिस समय मैंने परमहंस मिश्र की भौतिक भूमि पर उतर कर लिखने का आग्रह किया है, वहाँ का प्रमाण तो वर्णाध्वा ही हो सकता है । मैं कोई विद्वान् नहीं हूँ । दर्शनों का अध्ययन मैंने सम्प्रदायनिष्ठ परम्परा से नहीं किया है । ऐसी स्थिति में शङ्का-तङ्ककलङ्कपङ्क से पङ्किल परमहंस की लेखनी से अनपेक्षित अर्थों की अवतारणा हो, ऐसी सम्भावना है । इस नीर-क्षीर-विवेक भाष्य में जो शुद्ध है वह परमाम्बा के अनुग्रह के अमृत का पावन प्रतीक है और जितना अशुद्ध है वह अंश मेरी अज्ञता का परिचायक है । मैं वह वामन हूँ जो प्रांशुलभ्यफल-मालिका का लोलुप है । मैं वह अणु हूँ जो विराट् के महतोमहीयान् का स्वप्नद्रष्टा है । मैं एक ऐसा मातृहीन अबोध शिशु हूँ, जिसे जगदम्बिका माँ परमाम्बाके परमामृत-प्रतीक मातृकास्तन्य पान की आग्रह-ग्रहिलता है । मुझे साधनात्मक रहस्य के अनेक स्थल ऐसे मिले हैं, जिन्हें मैंने माँ से एकान्त में समझा है और लिखा है । अनेक ऐसे स्थल हैं जो अतिरहस्यमय होने के कारण अनुद्घाटनीय माने जाते हैं, वहाँ वस्तुतत्त्व को जानते हुए भी रहस्यात्मक रख छोड़ने की ही सरणी अपनायी है और अधिकांश ऐसे ही स्थल हैं, जिनका इतना सामासिक संक्षेप किया है जिससे रथ की गति में अवरोध न रहे तथा ग्रन्थ का कलेवर भी अधिक न बढ़ सके ।

श्रीतन्त्रालोक के निकष पर अपनी साधना को निकषायित करने का अवसर मुझे मिला । इसकी मनीषा-मनोज्ञ महानुभूतियों में प्रवेश कर अपनी अनुभूतियों को परिष्कृत करने के पारमार्थिक प्रसङ्ग आये और मेरी प्रतिभा के पल्वल को बोध महा सिन्धु में समा जाने का सौभाग्य मिला—यह एक अकिंचन के ऊपर चिरन्तन का वरदान है । मैंने इस भाषा-भाष्य से समाज को क्या दिया है—इसका प्रमाण तो स्वयं समाज है, पर मैं स्वयं इसका प्रमाण हूँ कि इस समय मेरे व्यक्तित्व का जो शाम्भव स्वरूप है वह श्रीतन्त्रालोक के स्वाध्याय का प्रतिफल है । मैं लिखता रहा हूँ और निर्मित होता रहा हूँ । कोई अदृश्य टङ्कक कुछ गढ़ता रहा है । मेरे अन्य और मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष के परिवेश में समाहित हो चुके हैं । मैं कबीर के उस दोहे का अर्थ अब समझ पाया हूँ जिसे चालीस वर्ष पहले विना समझे उत्साह पूर्वक पढ़ाया करता था—'जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाँहि । सब अँधियारा मिट गया दीपक रेखा माँहि ॥ इस "मैं" की अहमात्मक शुद्ध-बोध भूमि पर श्रीतन्त्रालोक ही समर्थतया पहुँचा सकता है । मैं इसका साक्षी बन गया हूँ ।

श्रीतन्त्रालोक

श्रीतन्त्रालोक आगमिक रहस्य का एक विशाल आयाम सामने रखता है। यह चाहता है जो साधक अध्यता मेरे परिवेश में प्रवेश करे, वह वह न रह जाय, जो था। वह वह बन जाय, जो नहीं था। असत् दीख पड़ने वाली विभ्रम भूमि में वह सत् की प्रतिष्ठा करे, अचित् को चिन्मयता से स्वात्मसात् कर ले और निरानन्द कही जाने वाली भाव भूमि में आनन्द के महाभाव का वैभव भर दे।

श्रीतन्त्रालोक तन्त्रवाङ्मय का विश्वकोष है। इसमें संविद्-मकरन्द का मङ्गलमय माधुर्य है, शिवशक्ति के यामल उल्लास का लालित्य है, चराचर की रोचिष्णुता के आकर्षण से उत्कृष्ट शिवदृष्टि में स्वातन्त्र्य शक्ति का चमत्कार है, शाक्त स्फुरत्तामय त्रिक, मत, कुल और क्रम दर्शनों के विश्लेषण के सन्दर्भों में प्रतिभा-आभा का उल्लास है और शैव अद्वयवाद, बिम्ब प्रतिबिम्बवाद, स्वातन्त्र्यवाद, सार्वात्म्यवाद और चिदानन्द का अप्रतिम प्रवर्त्तन है। सिद्धान्त की दृष्टि से अपूर्व न होते हुए भी समायोजन और संग्रथन की दृष्टि से यह अपूर्व शास्त्र है। तान्त्रिक दृष्टि का कोई बिन्दु इसकी विवेचना की सूक्ष्म निरीक्षणशैली के परिवेश की परिधि से बच नहीं सका है।

इसमें भारतीय शास्त्रीय परम्परा के प्रकाश स्तम्भ वेदान्त, न्याय मीमांसा आदि के सिद्धान्तों की समीक्षा के सन्दर्भ युक्ति, सत्तर्क और विमर्श की कसौटी पर कसे गये हैं, जहाँ खण्डन की दृष्टि नहीं; अपितु सामरस्यमयी स्वात्म समर्थन की आस्था का अप्रतिहत उत्साह है। शुद्ध और अशुद्ध अध्वा के अध्वान्त पथ पर अग्रसर अध्वनीन साधकों के आध्यात्मिक ऊहापोह का व्यपोहन कर ३६ तत्त्वों की चरम-परम अवस्था रूप जीवन्मुक्ति का मङ्गलमणि-द्वीप जैसा इस माहेश्वर प्रसाद पुरस्कृत तान्त्रिक सारस्वत आलोक पुञ्ज में प्रज्वलित है वैसा अन्यत्र नहीं, यह अनुभूति के आधार पर कहा जा सकता है।

चित् सत्ता के आनन्दवाद में, इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियों की स्फुरत्ता में, परनाद गर्भ विमर्श की वंशी ध्वनि में, सारशब्द के हृदयहारी अन्तराल में श्रीतन्त्रालोक की मङ्गलमरीचियों से उद्वेलित बोध सिन्धु का अमर लहराव साधक के महाभाव में शाश्वत उल्लसित हो जाता है। इसका स्वाध्याय जीवन की दिशा को उत्कर्ष की ओर प्रेरित करने में समग्रतया समर्थ है। शिष्य के लिये यह गुरु श्रुति है, गुरुजनों के लिये यह शैवसिद्धि का संवाहक है,

विद्वद्वर्ग की वैचारिकता को चैतन्य की चारुता से विभूषित करता है और शैव शास्त्रकारों का यह उपजीव्य है। संस्कृत साहित्य का मौक्तिक-रत्नागार है। महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्त की प्रतिभा की दिव्य आभा का आधार है।

वस्तुतः इस महाग्रन्थ का नाम तन्त्रालोक मात्र है। इसमें श्री लगाकर लिखने की परिपाटी संस्कृत भाषा की लेखन संस्कृति का एक उदाहरण है। इस ग्रन्थ में जितने ग्रन्थों को उद्धृत किया गया है, सबके नाम के पहले श्री लगाया गया है। यह एक प्रथा है। इस आधार पर तन्त्रालोकः 'श्रीतन्त्रालोकः' हो गया है। यह तथ्य उद्धरणों से सिद्ध है। जैसे,

१—'अशेषागमोपनिषदालोके तन्त्रालोके' स्वच्छन्द तन्त्र ७।१६२. पृ० २६८ पं० १-२ का यह वाक्य। यह सिद्ध करता है कि स्वच्छन्द तन्त्र के प्रकाशन के समय और आचार्य क्षेमराज की उद्द्योत टीका के समय इस ग्रन्थ का तन्त्रालोक नाम ही प्रचलित था।

२—स्वयं श्रीतन्त्रालोक में भी 'तन्त्रालोक' यह नाम ही प्रयुक्त है। आचार्य जयरथ ने प्रथम आह्निक कारिका ९ के भाष्य में इसका उद्धरण पृ० ३८ पं० १३-१४ में दिया है। जिससे यह सिद्ध है कि तन्त्रालोक समस्त शास्त्रान्तर सार-संग्रह के उद्देश्य से लिखा तान्त्रिक वाङ्मय का विश्वकोष है।

३—प्रथम आह्निक की कारिका २४५ में स्वयं महामाहेश्वराचार्यवर्य अभिनव ने 'तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने।' तन्त्रालोक नाम ही दिया है। आचार्य जयरथ लिखते हैं-"इतीति तन्त्रालोके तन्त्राणां पारमेश्वराणां आलोक इव आलोकः, तानि आलोकयति प्रकाशयति इति वा। इति……वत् अत्र तन्त्रालोके शासने तन्त्र्यते —विस्तरेण प्रकाश्यते"।

४—कारिका २१ के आदिवाक्य के सन्दर्भ में पृ० ६३ पर पंक्ति ४–५ में स्पष्ट ही कहा गया है कि 'तन्त्रालोक इत्यभिधानम्'। इससे भी 'तन्त्रालोक' संज्ञा का प्रचलन सिद्ध होता है।

५ –प्रथम आह्निक के उपसंहार श्लोक की प्रथम अर्धाली में स्वयं ग्रन्थकार लिखते हैं—'तन्त्रालोकेऽभिनव-रचितेऽमुत्र विज्ञान-सत्ता-भेदोद्धार-प्रकटन-पटावाह्निकेऽस्मिन् समाप्तिः'। इसमें प्रयुक्त तन्त्रालोक शब्द भी यही सिद्ध करता है।

६—तन्त्रसार [तन्त्रालोक के ३७ आह्निकों के संक्षिप्त २२ आह्निकों के महाग्रन्थ] में स्वयम् आचार्य द्वारा आह्निक नवम (काश्मीर सीरीज) पृ० ९० पं० १०, पृ० १०७ पं० ४, पृ० ९९ पं० ४ में यही प्रयुक्त है।

७—स्वयं आचार्य ने तन्त्रसार की रचना के आरम्भ के द्वितीय श्लोक में यह उद्घोषित किया है—

"विततस्तन्त्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः।
ऋजुवचनविरचितमिदं तु तन्त्रसारं ततः शृणुत ॥"

इसमें तन्त्रालोक शब्द का ही प्रयोग किया है। इन उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य बहुत सारे लेखों और निबन्धों में तन्त्रालोक शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे तन्त्रालोक नाम की पुष्टि होती है। परम्परा के अनुसार—नाम के पहले 'श्री' का प्रयोग होता है। किसी सामान्य व्यक्ति के नाम के साथ भी श्री लगाते हैं। यह भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य बोध और सर्वातिशायिनी सुषमा की सर्व व्यापकता को व्यक्त करने की कला है। इसलिये इस ग्रन्थ में भी नाम की जगह तन्त्रालोक न लिखकर 'श्रीतन्त्रालोक' ही लिखा गया है। इसी का प्रचलन भी है।

श्रीतन्त्रालोक में श्री, तन्त्र और आलोक तीन प्रमुख शब्द हैं। मेदिनी कोशकार श्री शब्दार्थ सन्दर्भ को वेशरचना, शोभा, भारती सरलता, लक्ष्मी त्रिवर्ग सम्पत्ति, जीवन विधा सम्बन्धित समग्र उपकरण, विभूति और मति शब्दों के अथवाद से अलंकृत करते हैं। इसकी अर्थ सीमा के परिवेश में राज्य सत्ता, सारा ऐश्वर्य, शक्ति स्वातन्त्र्य, गौरव, महिमा, प्रतिष्ठा, सौन्दर्य, चारुता, लालित्य, कान्ति और सारस्वत आकर्षण की आभा, मङ्गलमयता, मनोज्ञता सभी कुछ आ जाते हैं।

'श्री' लक्ष्मी का बीज है। श्, र्, ई तीन वर्ण-ध्वनियों का यह एकल उल्लास है। इसके रहस्य में इस दृष्टि से अनुप्रवेश किया जा सकता है—

१–श्–विश्व का उत्स विन्दु है। विन्दु की विसिसृक्षा का परिणाम विसर्ग है। पाणिनि सूत्र "विसर्जनीयस्य सः" से विसर्ग से स् की अभिव्यक्ति होती है। इसमें सत्, सृष्टि, सीत्कार, सुख, समावेश, सार्वात्म्य, सद्भाव, समापत्ति और सातत्य आदि सारे अर्थ समाहित हैं। यही उन्मिषित इच्छा से आरूषित होकर 'श्' बन जाता है।

२—र्—इच्छा का प्रसार दो स्थितियों में होता है। पहली स्थिति इच्छा की क्षिप्रता है। क्षिप्रता 'मति' की एक वेगात्मक स्पन्दन होती है। इस प्रगतिशीलता में इच्छा में रेफ की श्रुति आ जाती है और 'इ' 'ऋ' बन जाती है। इसी आधार पर व्याकरण धातु कोश में 'ऋ' गत्यर्थक धातु मानी जाती है। 'ऋ' शाश्वत गतिशील परमेश्वर की स्वात्म प्रसार की अभिलाषा की प्रतीक है। अनुत्तर परमशिव 'अकार' ब्रह्म से सन्धान और सामञ्जस्य मयी सन्धि के परिणाम स्वरूप यह 'र्' यण् बन जाती है।

३– ई—इच्छा शक्ति का साजात्य सामरस्य दीर्घ ईकार है। पाणिनि सूत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः' के नियमानुसार दीर्घ ईकार का प्रादुर्भाव होता है। 'ई' ईशित्री शक्ति का बीज स्वर है। इस बीज में ब्रह्माण्ड का ऐश्वर्य समाहित हो जाता है। विश्व के सारे ऐश्वर्य, शिव स्वातन्त्र्य और निखिल सारस्वत उत्कर्ष का बीज ई है।

इन तीन अक्षर प्रतीकों का सारा अर्थ सद्भाव 'श्री' शब्द में है। अतः तन्त्रालोक से साथ इसका सामञ्जस्य तान्त्रिक दृष्टिकोण का ही पोषक है। श्रीतन्त्रालोक कहने से तन्त्रालोक की अनुपम आभा का स्वतः आकलन होने लगता है।

तन्त्रालोक शब्द तन्त्र और आलोक का यामल उल्लास है। इसमें तन्त्र शब्द समस्त शाक्त और शैव तन्त्रों का प्रतिनिधित्व करता है। तन्त्र शब्द भारतीय वाङ्मय का एक अनन्त अर्थ-सद्भाव-सम्पन्न प्रतीक शब्द है। इस पर इस सन्दर्भ में विचार करना आवश्यक है।

तन्त्र शब्द विमर्श

'तन्त्र' तन्त्रयति, तन्त्रयते यः सः विग्रह के अनुसार शासन नियन्त्रण, पालन-पोषण आदि अर्थों का उद्भावन करता है। इसके चुरादि णिजन्त प्रयोग से प्रेरणा का अर्थ भी सूचित होता है। तनादि तनु विस्तारवाची धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न तन्त्र शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं। विस्तार शब्द स्वयं स्रष्टा के कला कौशल से सृष्ट विश्व के विराट् उल्लास के शाश्वत विकास को व्यक्त करता है। तन्त्र का व्यवहार के सभी क्षेत्रों में प्रयोग होता है। करघा, ताना, बाना, रूई से लेकर कपड़े तक के वयन विधान के अतिरिक्त वंशपरम्परा, कर्मकाण्ड परम्परा, रूपरेखा, संस्कार, मुख्य सिद्धान्त आदि अर्थ भी होते हैं।

'कर्मणां युगपद्भावस्तन्त्रम्' (कात्यायन), 'जितमनसिजतन्त्रम्' प्रयाग भी इसके विभिन्न आयामों की ओर संकेत करते हैं । स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों से जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक अर्थों की ओर स्वतः दृष्टि चली जाती है । 'तन्त्रभिः पञ्चभिरेतच्चकार शास्त्रम्' (तन्त्र संहिता) मन्त्र तन्त्र आदि प्रयोग इस शब्द की व्यापक परिवेश सीमा को व्यक्त करते हैं । आयुर्वेद शास्त्र भी शल्य शालाक्य, पाचन और उपचार के साथ तन्त्र के प्रायोगिक महत्त्व पर प्रकाश डालता है । शासन पद्धतियों में राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र आदि प्रयोग इसके प्राशासनिक कार्यकलापों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं । इसी प्रकार सेना, साजसज्जा, मञ्च की रचना के विभिन्न पक्ष और अर्थ-तन्त्र की विभिन्न वित्त सम्बन्धी पद्धतियों के पक्ष को 'तन्त्र' शब्द व्यक्त करता है ।

संगीत शास्त्र की तन्त्री के तारों से झंकृत-रागिनियों के स्वरतन्त्र की विविध रस धाराओं की सरणी का निरूपण तन्त्र शास्त्र ही करता है । यह सब तन्त्र शब्द की आन्वर्थिक प्रायोगिक सान्दर्भिकता को सक्षमतया व्यक्त करता है ।

तन्त्र और आगम

प्रस्तुत तन्त्रालोक शब्द में प्रयुक्त तन्त्र शब्द के विशिष्ट पक्ष पर विचार करना भी आवश्यक है । परम शिव के सबसे महत्त्वपूर्ण गुण का नाम स्वातन्त्र्य है । "स्वतन्त्रः कर्त्ता" का उल्लेख भगवान् पाणिनि भी (अष्टध्यायी-१।४।५४) करते हैं । इसमें प्रयुक्त तन्त्र शब्द का ही सन्दर्भ तन्त्रालोक से मेल खाता है । स्वतन्त्र शब्द एक रहस्य गर्भ सत्य का उद्घाटन करता है । यह सारा विश्व 'स्व' रूप परमेश्वर का अपना ही तन्त्र है । यह 'स्व' से अभिन्न है, 'स्व' में ही प्रतिबि-म्बित है और 'स्व' से ही उत्पन्न है । यह त्रिधा विमर्श शाम्भव समावेश की परम चरम अनुभूति का प्रतीक है ।

तन्त्र और आगम भी पर्यायवाची शब्द बन गये हैं । समस्त शिववक्त्र समुद्भूत शास्त्र आगम हैं । अतएव वे तन्त्र भी हैं । इस 'तन्त्र' शब्द से किन्हीं बौद्धिक समस्याओं और उनके ऊहापोह से कोई सम्बन्ध नहीं है । यह एक तथ्य परक स्वात्म चित्फलक पर प्रतिबिम्बित चित्र का प्रतीक है । इस दृष्टि से तन्त्र एक दर्शन बन जाता है । दर्शन भी वैचारिक और बौद्धिक भूमि का नहीं; अपितु स्वात्म चैतन्यात्मक अनुभूति के 'सत्' पक्ष के स्वरूप का दर्शन ।

तन्त्र के दार्शनिक पक्ष का वैशिष्ट्य

यह ध्यान देने की बात है कि एक बुद्धिमान् व्यक्ति समस्त दार्शनिक विचार धाराओं का विद्वान् हो सकता है, मञ्च पर विश्व के वर्तमान दार्शनिक-विन्दुओं पर विद्वत्तापूर्ण गवेषणात्मक और सारगभित भाषण दे सकता है। ऐसे व्यक्ति के व्यक्तित्व में किसी प्रकार के परिवर्त्तन या संस्कार की कोई अपेक्षा नहीं होती। जहाँ तक तन्त्र दर्शन के स्वाध्याय का प्रश्न है—व्यक्ति इसको जानकर पूरी तरह बदल जाता है। तन्त्र को समझने के लिए अपनी बौद्धिकता के आवरण को उतार कर अपने 'स्व' रूप में आना अत्यन्त आवश्यक और पहली शर्त है।

जब तक व्यक्ति बदलेगा नहीं, तन्त्र को नहीं समझ सकता। यह कोई सैद्धान्तिक बौद्धिक प्रस्तावना की अवतारणा नहीं; अपितु अनुभूति जन्य एक आयाम है। दर्शन मन मस्तिष्क बुद्धि के तर्कवाद का ऊहापोह लेकर व्यक्ति के विचार सीमा का विस्तार कर सकता है। इसे व्यक्ति की व्यक्तिसत्ता से, उसकी समग्रसत्ता से और उसके स्व से कोई मतलब नहीं होता। पर 'तन्त्र' को व्यक्ति का कोई अन्य पक्ष नहीं चाहिए। मात्र उसका 'स्व', मात्र उसकी स्वात्म-सत्ता चाहिये। उसके असली रूप का अस्तित्व चाहिए, जिसे वह दुलरा सके और अपने सामरस्य से उसे रसान्वित कर सके।

तन्त्र में किसी समाधान के लिये उत्तर से सन्तुष्ट करने की परम्परा नहीं है। यहाँ तो स्वयं करना है। स्वात्म सक्रियता ही समाधान बन जाती है। दर्शन उत्तर देकर शान्त हो जाते हैं, भले ही उत्तर समझ में आये या न आये। तन्त्र ऐसा नहीं करता। वह व्यक्ति को आत्मसात् करता है। उसे उसका सच्चा स्वरूप देता है, कोई मुखौटा नहीं देता।

प्रकाश कैसा होता है ? इस प्रश्न का उत्तर दर्शन के पास है। व्यक्ति प्रकाश देखे या न देखे इसकी चिन्ता वह नहीं करता। तन्त्र उसे उस विधि से परिचित कराता है जिससे वह प्रकाश को इन आँखों से ही देख सके। जब दृष्टि उपलब्ध हो जाती है तो उत्तर स्वयं उपलब्ध हो जाता है। तन्त्र समाधान देने में विश्वास नहीं करता, वह विधि में उतार देता है, जहाँ समाधान उसकी सेवा में स्वयं उपलब्ध हो जाता है।

इसीलिये जितने भी शाक्त या शैव तन्त्र हैं, वे संवाद की भाषा में लिखे गये हैं, यहाँ गुरु द्वारा शिष्य को दिये गये उत्तर नहीं, वरन् स्वयं शिव ही गुरु शिष्य दोनों की भूमिका अदा करते हैं। देवी भगवती पूछती हैं और स्वयं

शिव जिज्ञासा शान्ति की विधि का निर्देश करते हैं । यह निर्देश भी मात्र निर्देश नहीं होते, वरन् स्वात्म बोध समुद्र में डुबकी लगाने के लिये सम्मिलित प्रयास होते हैं !

श्रीतन्त्रालोक विधि और सिद्धान्त का यामल शास्त्र

श्रीतन्त्रालोक भी दार्शनिक ऊहापोह का समाधान नहीं, उसकी विधि का, शिष्य को सक्रियता में उतार देने का शास्त्र है। इसमें साधना की विधियों का एक लम्बा उपक्रम है। इस खण्ड के प्रथम, द्वितीय और तृतीय आह्निकों में जो कुछ सिद्धान्त है, उसका शास्त्रीय स्वरूप तो व्यक्त है, पर साधना पक्ष पर ही अधिक बल दिया गया है। उदाहरण स्वरूप ज्ञान और अज्ञान के सन्दर्भ (आ १, पृ० ८७) को समझाते हुए पृष्ठ ११२ में निष्ठा विधि का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार वस्तु की स्वात्म शक्ति को समझने के लिए तादात्म्य विधि (१२२-१२३) । इसी तरह संविन्मयत्व में निमज्जन (पृ० १८३), उपाय के प्रकरण में क्रिया पर बल (१९२-२१२), समावेश विधि (२११-२१५), निर्विकल्प में विश्रान्ति (२४०-२४८), इसी तरह पूरा दूसरा आह्निक अनुपाय साधना का ही स्वरूप दिग्दर्शित करता है। तृतीय आह्निक का बिम्ब प्रतिबिम्बवाद यह बता रहा है कि हम इस बाह्य चेतना के स्तर से आन्तर चेतना में कैसे प्रवेश पा सकते हैं और चेतना के परे जाने का मार्ग क्या है ? सब की साधना की विधियाँ क्या हैं ? विधि में प्रवेश के लिये जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है, तन्त्र उतना ही ज्ञान बताना आवश्यक मानता है। इन विधियों को शास्त्रीय संकेत से जानकर गुरुजनों से विधि में उतरने की प्रक्रिया का पालन करना चाहिये।

यह ध्यान रखना है कि, सिद्धान्त-देशना का लक्ष्य अचेतन को चेतन के स्तर पर ले जाना है। पर यह भी निश्चित है कि उस उच्च स्तर पर भी बिना विधि के कोई कैसे जा सकता है ? इस द्वन्द्वात्मक चेतन अचेतन भाव के स्तर से भी ऊपर तन्त्र, साधक को चेतना के केन्द्र में अवस्थित कर देता है।

तन्त्र मनुष्य के शरीर को अनन्त ऊर्जाओं का रहस्याधिष्ठान मानता है। वह उन्मना के शिखर पर विराजमान विसर्ग में विश्रान्ति का आदेश देता है[1]। समना के सहस्रार में बैठकर मातृका की सहस्र रश्मिमाला का हार स्वात्मसंविद् को पहनाने का समयाचार जानता है[2]। आज्ञा, विशुद्ध, अनाहत मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधार के स्तर पर वाक्तत्त्व की ऊर्जा को आत्मसात् करता है। योग मार्ग की संरणी से अलग एक स्वतन्त्र देशना के माध्यम से यह जीव शिव को परम शिव में नियोजित करने का उपक्रम अपनाता है।

---

१. श्रीत० ५।५७;   २. श्रीत० १।६४।

तन्त्र के अनुसार कामना संस्कृति-वैतरणी को पार करने की वाहन बनती है। जब कि योग निषेधात्मक पन्था के आग्रह से ग्रस्त है। योगी बोलता है—मनोगत समस्त कामनाओं को कुचल डालो, कृष्ण भी कहते हैं 'प्रजहाति यदा कामान्' जहाति का अर्थ तो छोड़ना ही है; किन्तु 'प्र' उपसर्ग लगाकर विशेष रूप से छोड़ो का यह निषेधात्मक बल युद्ध की भाषा के ही समान है। तन्त्र के अनुसार—'यत्र यत्र मनः गच्छेत् तत्र तत्र समाविशेत्' का प्यार भरा निर्देश है। विधि में उतारकर मन को समावेश की सुधा से सिक्त करना और कामना के पार उतार लेना तन्त्र का वैशिष्ट्य है।

कठिनाई तो यह है कि जनता युद्ध की भाषा से भीत होकर उसे स्वीकार कर लेती है। माँ का दुलार भरा तन्त्र उसे स्वीकार नहीं होता। यही कारण है कि तन्त्र का उतना प्रचार नहीं हो पाया है।

कश्मीर की महीयसी मही से महनीया मुक्ति-धार भारत पर बरसती रही पर हमने आग्रह पूर्ण शास्त्रीय आवेशों में आविष्ट होकर उस अमृत का अपमान ही किया है। हमने आध्यात्मिक नींद के खर्राटों में शताब्दियाँ बिता दीं। हमने संकोच का, कट्टर सम्प्रदायवाद का, कूर्मवाद का, जातीयता की हेय अहंकृति का और पार्थक्य प्रथा का पथ ही अपनाया है।

आज के मनीषियों का ध्यान इस अमृत संदेश की ओर गया है। विश्वविद्यालयों ने इसे पाठ्य विषय के रूप में स्वीकार किया है। पर इसमें भी सावधानी की आवश्यकता है। कहीं वह साधना का स्वर, पाठ पढ़ने की परिपाटी की एक परिमिति न बन जाये। शिष्यों को विधि में उतार कर उन्हें बोधात्मक सजगता में जागृत रहने की वाक्सुधा का आधार दिया जाना चाहिये। उन्हें यह समझाया जाना चाहिये कि तन्त्र में ईश्वर और शंतान दोनों भागवत हैं। पवित्र संसार का एक एक अणु शिव है, भैरव सद्भाव से भरित है। यहाँ कुछ भी हेय नहीं, सभी उपादेय है। यहाँ ग्रहण और त्याग नहीं, मात्र प्रमेय को प्रमाता में परिणत होना है। ज्ञेय को ज्ञाता के ज्ञत्व में समाहित होना है। प्रमाता को तादात्म्य बोध से बुद्ध करना है, सर्व और सार्वात्म्य में समावेश पाना है।

रहस्य आलोक

तन्त्र के इन्हीं रहस्य सूत्रों का आलोक श्रीतन्त्रालोक है। आलोक (आ + लोक् + घञ्) शब्द में सूक्ष्मदर्शन का भाव निहित है। आ उपसर्ग आनन्दवाद का बीज है। सार्वात्म्य का प्रतिनिधित्व करता है और अनुत्तर

के विस्तार का बोधक है। इसके परिवेश से कोई दिशा अछूती नहीं रह पाती। लोक विश्व का पर्याय वाची शब्द है। हमारे लिये तो भारतवर्ष ही लोक है[1]। इस प्रकार शिव के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों अर्थों का आसूत्रण 'तन्त्रालोक' यह संज्ञा करती है। श्री लगाकर बीज 'श्री' से बृंहित यह 'श्रीतन्त्रालोक' शैव साधना का मूलाधार सिद्ध हो चुका है। इसका शैवतन्त्र साहित्य में अप्रतिम स्थान है।

आचार्य जयरथ ने संस्कृत भाषा में इसको विशद व्याख्या लिखी है। उसके विना श्रीतन्त्रालोक का अर्थ लगाना मेरी दृष्टि में सम्भव नहीं है। शिष्य परम्परा प्राप्त विधियों से आचार्य जयरथ पूर्ण परिचित थे। उन्होंने उनको व्यक्त करने का सार्थक प्रयास अपने विवेक भाष्य में किया है। मैंने अपने नीर-क्षीर विवेक भाष्य में इसी का अनुसरण किया है।

श्रीतन्त्रालोक के रचयिता

विश्वस्तरीय साहित्य का सृजन करने वाले रचयिताओं के सम्बन्ध में प्रायः इतिहास मौन है। वैदिक उपनिषद्, पुराण, रामायण कालीन अनन्त रचनाकारों ने अपना नाम तो उजागर किया; किन्तु अन्य जीवन के सन्दर्भों को मौन शून्य में ही समाहित कर दिया। व्यास, वाल्मीकि और कालिदास इसी श्रेणी के मनीष थे। इन लोगों की तरह अपने जीवन के पक्ष का गोपन श्री अभिनव गुप्त को प्रिय नहीं था। समय-समय पर प्रसङ्गों और सन्दर्भों के अनुसार अपने जीवन, परिवार, माता-पिता और लेखन की मूल दृष्टि का इन्होंने उल्लेख किया है। आज इन अन्तः साक्ष्यों का महान् महत्त्व है।

दो अभिनवगुप्त

शङ्कर दिग्विजय श्लोक से यह प्रमाणित होता है कि, कामरूप निवासी षट्कर्म निपुण इसी नाम के किसी तान्त्रिक ने अपनी साधना के बल पर आचार्य शङ्कर को भगन्दर रोग से ग्रस्त कर दिया। परिणाम स्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी। वस्तुतः वह शंकर से शास्त्रार्थ में पराजित हो गया था और दुःखी था। उसने क्रोध से बदले की भावना अपना कर अभिचार कर दिया।

यह उल्लेख वस्तुतः विवादास्पद है। आचार्य शंकर का समय ईसवीय सन् ७८८ से ८२० का माना जाता है। शंकर का कोई प्रतिपक्षी भी इस अवधि के अन्तराल में क्रियाशील होना चाहिये। भैरव स्तोत्र और बृहत् विमर्शिनी विवृति रचनाओं के अन्तः साक्ष्य के आधार पर यह प्रमाणित है कि महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्त का समय एकादश शताब्द का मध्य काल था।

---

१. अमरकोश का. २ वर्ग १।६।

कामरूप वास्तव्य अभिनवगुप्त और आसाम प्रदेश विजय यात्रा के सन्दर्भ शंकराचार्य से उसके सम्पर्क को इतिहास का आधार प्रदान करते हैं। इससे दोनों अभिनवगुप्त ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध हो जाते हैं। एक ने बङ्ग भूमि को विभूषित किया और दूसरे ने काश्मीर की भूमि से विश्व को आलोक प्रदान किया।

श्रीतन्त्रालोक के रचयिता **श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपाद** हैं। अभिनव शब्द के साथ गुप्त पदवी इनके पूर्वज महामाहेश्वर अत्रिगुप्त से पारम्परिक रूप से चली आ रही थी। इनके पूर्व वंशज अत्रिगुप्त माने जाते हैं। गंगा और यमुना के मध्य द्वाबा क्षेत्र को अन्तर्वेद कहते थे। अत्रिगुप्त वहीं के निवासी थे। उस समय कन्नौज में यशोवर्मन का राज्य था। अत्रिगुप्त इनके सम्पर्क में भी थे। अद्भुत प्रतिभाशाली विद्वान् अत्रिगुप्त सर्वशास्त्र पारङ्गत परिवृढ पुरुष थे। देश-देश में उनकी प्रतिभा की प्रसिद्धि थी। काश्मीर के अधीश्वर श्रीमान् ललितादित्य (७२५–७८१) भी उनसे बड़े प्रभावित थे। उन्होंने अपनी राज्य लक्ष्मी का सारस्वत शृङ्गार किया और प्रतिष्ठापूर्वक अपने साम्राज्य में बुलाया और राजधानी में अधिष्ठित किया।

वितस्ता के किनारे शीतांशु मौलिन् मन्दिर के पास इनका भव्य आवास निर्मित हुआ था। इसकी दो शताब्दियों के बाद ही अभिनवगुप्त वहाँ प्रादुर्भूत हुये। यह उनके परिवार का स्थायी निवास बन गया। उन लोगों की जीविका हेतु एक अच्छी जागीर भी दी गयी थी। परिणामतः अन्तर्वेद का सम्बन्ध अब विच्छिन्न सा हो गया। जिस समय ललितादित्य ने कन्नौज के यशोवर्मन को आक्रान्त किया था, उसके बाद इस परिवार का इतिहास काश्मीर का इतिहास बन गया और १५० वर्षों के कालान्तराल के बाद इस परिवार ने एक नई विभूति को जन्म दिया। यही विभूति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त थे। इनके पिता चुखुलक नाम से प्रसिद्ध थे। परम्परा से यह परिवार प्रतिभा पुरस्कृत महापुरुषों का जन्मदाता बना रहा।

काश्मीर राज्य का वातावरण प्रकृति की रमणीयता से शाश्वत पुलकित रहता है, पर १०वीं और ग्यारहवीं शताब्दी का कुछ दूसरा ही स्वरूप था। सारा देश स्वाध्याय की पावन स्थली बन गया था। सारस्वत साधना के अतिरिक्त योग साधना से परिष्कृत स्वात्म संविद् साधना का वहाँ पूरा प्रचलन था। राज्य की जनता ब्रह्म वर्चस् से विभूषित थी। तान्त्रिक साधना के इस

प्रत्यभिज्ञात्मक उल्लास ने राज्य को एक नई दिशा दी। धर्म की अभिरुचि वाले क्षेत्र में तान्त्रिक विज्ञान ने जिजीविषा को नया बल प्रदान किया और योग की अनेकानेक शाखाओं का सृजन हो गया।

पहले यहाँ दो संवत्सर बहुत प्रचलित थे, 'सप्तर्षि' और 'कलि'। सप्तर्षि संवत् कलि संवत् के २५ वर्ष बाद शुरू होता है। बृहत् विमर्शिनी में ९०वें वर्ष में इसके लिखे जाने की चर्चा है। मार्गशीर्ष के अवसान में ४०९० कलि संवत् में यह लेख सिद्ध होता है। भैरव स्तोत्र (पौष कृष्ण १०) सप्तर्षि ६८, क्रम स्तोत्र मार्गशीर्ष कृष्ण ९ सप्तर्षि ६६ अन्तः साक्ष्य सिद्ध रचना तिथियाँ हैं। सप्तर्षि संवत् के ४०६६ से ४०९० तक इनकी सक्रियता निश्चित होती है। ई० संवत् ९८५ का वह सम्भावित समय हो सकता है, जब इन्होंने क्रम स्तोत्र का सृजन किया होगा। यह मानना उचित है कि उन्होंने अपनी साहित्यिक क्रियाशीलता सम्भवतः ९५० के आस पास शुरू की होगी, जब वह मात्र २० वर्ष के रहे होंगे। इस तरह उनका आनुमानिक जन्म वत्सर ९३० ए० डी० कहा जा सकता है।

उनका जन्म नाम अभिनव ही था या गुरुजनों द्वारा प्रदत्त था—इसमें यह उक्ति—

नन्दन्ति पितरस्तस्य नन्दन्ति च पितामहाः।
अद्य माहेश्वरो जातः सोऽस्मान् संतारयिष्यति॥

(तं. १।१, पृ० १३)

सन्देह पैदा करती है। क्या इनका जन्मनाम माहेश्वर ही था ? पर इस अभिनव शिष्य ने अपनी अभिनव प्रतिभा के बल पर एक अभिनव कीर्तिमान् स्थापित किया होगा और गुरुजनों ने उसे अभिनव कहना शुरू कर दिया होगा।

अभिनवगुप्त भारतीय विद्या की विभूति थे, सरस्वती के मूर्तिमान् प्रतीक थे। उन्होंने संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न पक्षों का न केवल परिष्कार किया; अपितु स्वयम् अनुभूत सिद्धान्तों की स्थापना की। इन्होंने पूर्ववर्ती व्यक्तियों के परिवेश से ऊपर उठकर अपने कृतित्व के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की।

इनका जीवन क्रम इन विन्दुओं से निरखा परखा जा सकता है—

प्रारम्भिक अवस्था, अभिनव युगल, पिता माता, योगिनो भूः, जन्म समय (आनुमानिक), बचपन स्वाध्याय, परिवार और वातावरण ये सारे बिन्दु यहाँ संक्षेप से व्यक्त हैं।

पिता और माता से सम्बन्धित तन्त्रालोक का आदि श्लोक[१] लोक विश्रुत ही है। माँ विमल कला की कुक्षि से कलाधर अभिनव का जन्म भारतीय वाङ्मय के लिये वरदान सिद्ध हुआ। शैव महाभाव के भव्य वातावरण में सारस्वत साधना का सिन्धु लहरा उठा। लक्ष्मणगुप्त सदृश विद्वान् इनका गुरु और शिक्षक था। उनसे इन्होंने प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का अध्ययन किया। चन्द्रावदातधिषण नरसिंहगुप्त पिता से साधना की विधि का अभ्यास किया।

आचार्य सुमतिनाथ (श्रीत. १०।२८७) इनकी परम्परा के परिवृढ़ पुरुष थे। उनकी प्रज्ञा के प्रकाश का चमत्कार श्रीशम्भुनाथ को प्राप्त हुआ। श्रीशम्भुनाथ ने अभिनवगुप्त को मानो अपना पूरा परामृत कलश ही पिला दिया था[२]। महामाहेश्वर शम्भुनाथ और उनके साथ रहने वाली भगवती दूती को अपार कृपा ने इन्हें इस गहन शास्त्र मार्ग में उतार दिया था। उनकी ज्ञान गरिमा के गौरव की रक्षा, इस योगिनी भूः[३] शिष्य ने पूरी तरह किया। अभिनव उत्पल देव को अपने गुरु का भी गुरु मानते थे[४]।

अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख वे स्वयं करते हैं और अपने बोधात्मक महाप्रकाश के परिवेश में रहते हुए इस ग्रन्थ रचना का भी उद्घोष करते हैं।[५] इसे वे पूर्ण प्रक्रिया मानते हैं[६]। तन्त्रालोक को ये सर्वशङ्काशनि माहेश्वर मार्ग मानते हैं[७]।

---

१. विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहा जननी
भरिततनुश्च पञ्चमुख रुचिर्जनकः।
तदुभययामल स्फुरितभावविसर्गमयं
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात्॥ (श्रीत. १)

२. इति श्रीसुमतिप्रज्ञाचन्द्रिका शान्तमानसः।
श्रीशम्भुनाथः सद्भावं जाग्रदादौ न्यरूपयत्॥ (श्री त. १०।२८७)

३. तादृङ् मेलककलिकाकलित-तनुर्यो भवेद् गर्भे।
उक्तः स योगिनी भूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं भक्तः॥ (श्रीत. १।१४)

४. श्रीत. १२।२५; ५. श्रीत. १।१६; ६. श्रीत. १।१५; ७. श्रीत. १२।२५।

सोमानन्द उत्पल देव और गुरुवर्य लक्ष्मणगुप्त के नाद से संमोहित मतिषट्पदी की मकरन्द माधुरी मधुर समावेश-समृद्धि का स्मरण उन्होंने तन्त्रालोक के प्रारम्भ में ही किया है[1]। त्रेयम्बक नाम से प्रसिद्ध अद्वैतवादी गुरुपरम्परा के प्रवर्त्तक श्रीकण्ठ और श्रीमान् भूतिराज की जयनशीलता की प्रतिज्ञा की है[2]। महात्मा वामननाथ भी इनकी गुरु परम्परा में ही आते हैं।

मातृवियोग और पिता की मृत्यु के बाद उनके ऊपर अनपेक्षित परिवार का भार आ पड़ा। आजीवन अविवाहित पुरुष के लिए एकाकी जीवन का निर्णय समस्यामूलक होता है। इन्होंने सम्पूर्ण समर्पण किया। २०० वर्षों से आ रही पारिवारिक दृढ़ संस्कारवादिता, पिता का सामाजिक महत्त्व और मातृवात्सल्य का अमृत उन्मेष, इनकी स्वयं की उच्च शिक्षा और दीक्षा तथा गहन साधना का ओजस्वी स्वरूप, अनेकानेक गुरुजनों की प्रज्ञा सुधा के अजस्र प्रवाही बोध सिन्धु का आत्मसात्करण और इनका समग्र मिश्रण ! इसने इनको एक अपूर्व अद्‌भुत, अनुपम, उच्च बौद्धिकता और आध्यात्मिकता का प्रतीक बना दिया।

भारतीय दार्शनिक परम्परा की समद्धि में इनका एक गौरवपूर्ण स्थान है। व्यक्ति के आध्यात्मिक यजन की उत्कण्ठा से ये विभूषित थे। ये असामान्य प्रातिभ विभा के भासमान भास्कर थे। मुख्यतया तीन पद्धतियों के आलोक से इनका तन्त्रालोक आलोकित है--१-कुल, २-क्रम और ३-त्रिक।

सर्वप्रथम इस महान् प्रतिभाशाली को दिव्यता प्रदान करने वाले श्रीमान् लक्ष्मणगुप्त ही थे। उनके साथ इनकी आध्यात्मिक भूख मिटी और तृषा की तृप्ति हुई। त्रिक और क्रम का स्वध्याय उन्होंने ही कराया। इसी से प्रभावित होकर सबसे पहले इन्होंने क्रम स्तोत्र लिखा। असामान्य सफल कृति थी वह। सबसे बड़ी बात थी तन्त्रालोक की रचना। विना ग्रन्थागारों के जो कुछ इन्होंने पढ़कर लिखा, वह मानव मस्तिष्क की चामत्कारिक सफलता ही मानी जायेगी। तस्मिन् वितस्तारोधसि, मूर्धनि प्रवरपुर और 'परिकल्पित भूमि सम्पत् निवासम्' की पंक्तियाँ एक कल्पना को जन्म देती हैं। शीतांशु मौलिन् मन्दिर का मालिनी विजय तन्त्र में भी उल्लेख है। यह कृति प्रवरपुर में ही रचित है। प्रवरपुर कई टोलों का कस्बा रहा होगा, जहाँ इनका आवास था, वहीं से इनकी सारी रचनायें हुई होंगी[3]।

---

१. श्रीत. १।१३; २. श्रीत. १।९।

३—अभिनवगुप्त ऐन हिस्टारिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी बाइ प्रो० के० सी० पाण्डेय।

कृतियाँ—

१—बोध-पञ्चदशिका, २—मालिनी विजय वार्त्तिक, ३—परात्रिंशिकाविवृति, ४—तन्त्रालोक, ५—तन्त्रसार, ६—तन्त्रवटधानिका, ७—ध्वन्यालोकलोचन ८—अभिनव भारती ९—भगवद्गीता गीतार्थसंग्रह, १०—परमार्थसार, ११—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, १२—ई० प्र० विमर्शिनी, १३—पर्यन्त पञ्चाशिका, १४—घटाकार पराकुलक विवृति, १५—क्रम स्तोत्र, १६—देहस्थ देवताचक्र स्तोत्र, १७—भैरव स्तव, १८—परमार्थोर्ध्व देशिक, १९—परमार्थ चर्चा, २०—महोपदेशविंशतिका, २१—अनुत्तराष्टिका, २२—अनुभव निवेदन, २३—रहस्य पञ्चदशिका, २४-तन्त्रोच्चय, २५—पुरूरवाविचार, २६—क्रमकेलि, २७—शिव दृश्यालोकन, २८—पूर्व पञ्चिका, २९—पदार्थ प्रवेश निर्णय टीका, ३०—प्रकीर्णकविवरण, ३१—प्रकरण विवरण, ३२—काव्य कौतुक विवरण, ३३—कथामुख तिलक, ३४—लघ्वी प्रक्रिया, ३५—भेदवाद विवरण, ३६—देवीस्तोत्र विवरण, ३७—तत्त्वाध्वा-प्रकाशिका, ३८—शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र, ३९—बिम्ब प्रतिबिम्बवाद, ४०—अनुत्तराष्टक इत्यादि—इनमें इनकी विश्व प्रसिद्ध कृति श्रीतन्त्रालोक ही है।

शैली और परिवेश—

भाष्य लेखन की सीमा में विस्तारमयी व्यास शैली अपनाना सम्भव नहीं था। समास पद्धति अपनाने के कारण कतिपय स्थान मात्र अनुवाद रह गये हैं। आवश्यकता थी, उन विषयों के स्फोरण की; किन्तु महर्घता और ग्रन्थ की विशालता को ध्यान में रखकर मुझे यही शैली अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। श्रीतन्त्रालोक के इस प्रथम खण्ड में प्रथम तीन आह्निकों का समावेश हो पाया है। क्रमशः आगे के आह्निकों का प्रकाशन यथावत् चल रहा है।

आदरणीय **श्री पं० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी**, प्रकाशनाधिकारी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सहृदयतापूर्ण व्यवहार और प्रकाशन तत्परता के लिए उन्हें साधुवाद ज्ञापन करता हूँ और श्रीगिरीशचन्द्र, व्यवस्थापक विजय प्रेस को उनके सतत सहयोग के लिये आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

इस कार्य में मुझे स्वच्छन्द तन्त्र, तन्त्रसंग्रह के सभी खण्ड, शिवदृष्टि, पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, कामकलाविलास, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, रुद्र-

यामल, मालिनी विजयोत्तर तन्त्र, सर्वदर्शन संग्रह (ऋषि) श्रीविद्यारत्नाकर, श्रीमद्भगवद्गीता, तन्त्रसार ग्रन्थों से विशेष सहायता मिली। जिन सज्जनों से इस विषय में सम्मति, जिज्ञासा की शान्ति और सहानुभूति मिली, उनमें श्री डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री' निदेशक अनुसन्धान विभाग सं० सं० वि० वि०, श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, श्री पं० रामजी मालवीय, प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष, योगतन्त्र विभाग, सं० सं० वि० वि०, वाराणसी और श्री बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते प्रमुख हैं।

समादरणीय श्री सीताराम जी कविराज के स्नेह पूर्ण आशीर्वाद और डॉ० विजयनारायण मिश्र, ग्रन्थागाराध्यक्ष, सं० सं० वि० वि० के शारद योगदान मेरे स्वाध्यायाध्यवसाय के आधार बन सके।

सरस्वती समुपासक, श्रद्धास्पद श्रीमान् पं० श्रीविद्यानिवास मिश्र, कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का लेखक आजीवन आभारी रहेगा। वे मेरी साधना उपासना के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। मेरे 'विश्वामित्र' महाकाव्य (हिन्दी) की भूमिका लिखकर उन्होंने मुझे अनुगृहीत किया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था कर मेरे जीवन को यशः उत्कर्ष की ओर अग्रसर कर उन्होंने महनीय सारस्वत उपकार किया है। एतदर्थ मैं उनके लिए त्रिपुराम्बा की परमानुकम्पा की प्रार्थना करता हूँ।

अन्त में यह पूरी कृति मैं संविद्बोधवपुष् परम शिव को समर्पित करता हूँ और उन्हें प्रणाम करता हूँ—

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्य-विधायिने।
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषम-चक्षुषे ॥

❀ सौः ❀

डॉ० परमहंस मिश्र 'हंस'
ए ३६ बादशाहबाग
वाराणसी
चैत्री पूर्णिमा २०४९

विषयानुक्रमणिका

दीक्षा—९०–९१ करतल स्थित जीवन्मुक्ति ९२ दीक्षा और बौद्धज्ञान की प्रधानता, रुरु, स्वायम्भुव, मतङ्ग ओर चिल्लाचक्रेश्वरी मत ९३–९६ शास्त्र का स्वाध्याय ही बौद्धज्ञान का मूल कारण ९६ विकल्प भेद-प्रथात्मक, अख्याति रूप अज्ञान ९७ आत्म भाव देह सद्भाव पर्यन्त, देहान्त होने पर भी मोक्ष का अभाव, बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति मे मोक्ष ९८ निर्विकल्प चित्त तत्काल मुक्त ९९

ज्ञेय परतत्त्व साक्षात् शिव, प्रकाश का प्रकाशन, भावकी अवस्तुता भी महत्त्वपूर्ण १००–१०१ प्रकाश, अपूर्वार्थ विषय प्रमाण, १०२–१०३ जीव परमेश्वर १०३ हेवाकधर्म, सर्वशून्यवादी बौद्ध १०४–१०५ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञयरूप वस्तु १०६–१०७ कामिक तन्त्रोक्ति १०८ विश्वाकृति शिव १०९ छः प्रकार के शिव १००-१११ निष्ठा से सिद्धि ११२।

जप होम और अर्चन से मन्त्रसिद्धि, ज्योतिर्ध्यान, शून्यध्यान, समनाध्यान और शिवध्यान तथा इनके परिणाम ११३, विश्वाकृति शिव के छः प्रकार ही क्यों? इस प्रश्न का उत्तर ११४–११५, विश्वमय होने पर भी विश्वोत्तीर्ण शिव के सम्बन्ध में कामिक तन्त्र का मत, जल दर्पण का उदाहरण ११५-११६, अद्वयवाद का निर्वाह, भावों से पृथक् प्रकाश की अनुपपत्ति, विभुतादि धर्म का स्वरूप, नित्यता अकाल कलित का धर्म नहीं, धर्म भेद का खण्डन आञ्जस विधि, स्वातन्त्र्य की मुख्यता ११६–११८ समवायिनी शक्ति, अर्थोपाधि वशात् अनन्त भेद, ११९, शक्ति की परिभाषा, शक्ति शक्तिमान् की मान्यता से अद्वयवाद का ही समर्थन, अग्नि के दाहकत्व और पाचकत्व का उदाहरण १२०–१२१, पारमार्थिक भासनात्मक भेद १२१–१२२, वस्तु की स्वात्म शक्ति का उद्रेक तादात्म्य से ही अवभासित १२२–१२३, अलुप्तविभव शिव स्वात्म संवित् के मुकुर में ही भासित, शैवीमुख, शक्ति शक्तिमान् में उपायोपेय भावात्मक क्रम १२४–१२५, श्री किरणागम के अनुसार शक्ति उपाय, गरुड-प्रश्न, भगवान् का उत्तर, शब्दतः और अर्थतः शास्त्र की प्रवृत्ति, माया हेय, शिव ग्राह्य, ग्राहक पुरुष, मायाधर्म रहित शिव, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, अनुभाव, विकल्प मानस, संकल्पक मन १२६–१२७।

अविकल्प मानस प्रत्यक्ष, तत्पश्चात् सविकल्प मानस प्रत्यक्ष, शक्ति द्वारा शिव का मानस प्रत्यक्ष १२८ भूख की अनुभूति में विकल्प का अभाव, विकल्प वस्त्वाश्रित, विकल्प विमर्श, विभु शिव भी साध्य, देशिक गुरु शक्ति द्वारा शिव की दीक्षा १२९, रूप से वृक्ष का ग्रहण, सर्वात्मना अगृहीत शिव,

नाद विन्दु आदि से पूर्णतया अगृहीत शिव के ग्रहण का समर्थन, ज्ञान शक्ति से ज्ञात शिव १३०–१३१।

परमेश्वर का शक्तिस्फार, कला, तत्त्व, भुवन, वर्ण, मन्त्र, पद, सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, अनुग्रह, जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति, तुर्य, महामन्त्रेश्वर, मन्त्र, अकल और सकल ये सभी शिव की विभूति १३२, छत्तीस तत्त्वात्मक जगत् का चिदानन्दघन शिव ही परम पुरुषार्थ, त्रैशिरस् मत प्रमाण १३३।

ग्राम शब्द की परिभाषा—१३४ शिवामृतपरिप्लुत आत्मतत्त्व, ग्राम धर्म वृत्ति, १३५ मध्य का समाश्रयण, काकाक्षिन्याय, अतिभावना का विकास १३६ षोडश सप्तदश और अष्टादश (अपर-परापर और पर) काल, एकादश पदात्मिका प्राण की चार यात्रा, उन्मना का औन्मनस निरामय पद, १३७ श्री कण्ठ की ग्राम धर्मता की मान्यता, हृदयस्थ, सर्वदेहस्थ, स्वभावस्थ, सुसूक्ष्म और सामूह्य ग्राम शब्द से कथित ग्राम धर्मवृत्ति १३८–१३९ रामस्थ, मध्य नाडी धाम, त्रिशिरा भैरव मत, राम और रामस्थ १४०–१४१ राम, परम कारण शिव, जप से भैरव धाम प्रवेश, ध्यान की परिभाषा १४२–१४४ जप, १४ विध राम १४५–१४६ शिवोपलब्धि के आसन्न और दूरस्थ उपाय, चित्स्वातन्त्र्य की व्यपेक्षा १४७ निरावरण, सावरण और आवृतानावृत भान १४८–१४९

महाभैरव देव-भैरव शब्द व्युत्पत्ति १५०–१५३, क्रीडा, शिवस्तुति का स्वरूप, समस्त क्रियामय और दृक् क्रियामय गति १५४–१५६ शिवतनु शास्त्र का सन्दर्भ, देव सदाशिव, शासन, रोधन, पालन, पाचन योग से सबका उपकार, पर और महत् विशेषणों के आधार, १५७–१६० ज्ञेय सतत्त्व विमर्श, स्वसंवित्ति, सत्तर्क शैव परम्परा, त्रिक के क्रम से तत्त्व परिदर्शन, शिव एवं गुरु ऐक्य, रहस्य गर्भ अर्थ का अवतरण, परा, परापरा और अपरा शक्तियाँ सृष्टि, स्थिति, संहार और तुरीय शक्तियों के आकलन से द्वादशधा व्यक्त, १२ शक्तियों के स्वभाव से भव्य शिव ही परम शिव, आगमिक दृष्टिकोण, द्वादशार महा-चक्रनायक शिव, द्वादशारमहाचक्र के स्वरूप, सहस्रार अथवा निःसंख्यार विश्वशक्ति, चक्रों का ऐक्य, साजात्य समर्थन १६१–१६८, चार, आठ, सोलह और ६, १२ तथा २४ अरों वाले चक्र त्रिशिरो भैरव पटल १ का दृष्टान्त, ऊर्मिचक्र, संजल्प मिश्रित ध्यान और बाह्य व्यापार से देवी की अभिव्यक्ति १६८-१७०।

पुष्टि की परिभाषा—साधक को पुष्टि का प्रयोजक ध्यान, लौकिक और अलौकिक संजल्प, वर्णों की बीज रूपता, जापक की क्रिया पूर्ति (पुष्टि)

बीजमन्त्रों का स्फुरितार्थ, आप्यायक वषट्, बाह्यव्यापार रूप से होम पुष्टि भोगार्थी और मोक्षार्थी साधकों द्वारा उपासना, मुमुक्षु और बुभुक्षु की विधि का निरर्गल और नियन्त्रित रूप, श्री मद्भगवद्गीता ९।२३।९।२०।२१,२२ श्लोकों के सन्दर्भ और उपासना का समर्थन, वेद्य वेदक भाव, वेदक का संवित् स्वरूप, वेद्य का विवेचन, इन्द्रादि रूप में श्रद्धातिशय से गाढ विमर्श, देवता के उद्देश से द्रव्य त्याग ही याग, स्वयं प्रथित परमेश्वर की पूर्व भावी विधि का अभाव, देव सृष्टि वेद्य और शक्ति से समुत्थित, अहं रूप नित्य प्रथित संविति १७१–१७८, विधि, नियोग और भावना के सन्दर्भ में प्रभाकर और भाट्टमतों का विवेचन १७८–१८०

विधिपूर्वा देवता और–अहं बोध का स्वरूप १८१–१८२, अनन्त वेद्यात्मक रूपों की मान्यता के परिणाम, गीता का समर्थन १८२–१८३, संविन्मयता में निमज्जन १८३, अहं शब्द का बोधअर्थ, भोक्ता और प्रभु, याज्य और याजक आदि प्राकरणिक विवेचन १८४–१८५, याजमानी संविद्, देवता, आदि सिद्ध संविद् में विधि आदि किसी सिद्धि के निमित्त का निषेध, वाच्य वाचक, याज्य याजक आदि भेदों का संविद् में अनवस्थान, स्वात्म का आवरण और जडत्व का अङ्गीकार, आदि सर्ग, माया के साथ सर्ग चिकीर्षा, देहादि की जडाजडात्मक और आवृतानावृतात्मक स्थिति रूप द्वैरूप्य का वैचित्र्य १८६–१८८

शिव का स्वातन्त्र्य, त्रिशिरः शास्त्र में निरूपित संबुद्ध (सम्यग्बुद्ध) की परिभाषा १८८–१८९, ज्ञेय धर्म ही चिद्धर्म, ज्ञेय को छाया चित् को आच्छादित नहीं करती १८९–१९० पुद्गल, पशु और अणु का अजडभाग अनावृत, संविद् रूप में भेद अवास्तविक किन्तु आणव मल के संहार क्रम के तारतम्य परिलक्षित, शक्तिपात निर्णय के प्रकरण में तारतम्य विवेचन, त्रिविध तारतम्य १९१–१९२ किसी प्रमाता के समक्ष पूर्णतया और किसी के समक्ष अंशांशिक प्रथन, अणु जनों का पूर्णज्ञान, साक्षात् या उपायोपाय भाव से प्रथित पर, अपर और परापर ज्ञान का विशिष्ट भंगियों से आकार ग्रहण १९३।

शाम्भवोपाय–स्व (शाम्भव) पर (शाक्त और आणव) इन तीनों के द्वारद्वारी भाव से ६ तथा इनके पूर्ण अपूर्ण भाग की दृष्टि से ६ × २ = १२ भेद १९४, ज्ञान के उपाय रूप में अज्ञान का निषेध, स्थूल ज्ञान ज्ञानोपाय का समर्थन, इच्छा परमज्ञान, उपायोपेय भाव का विश्लेषण, क्रिया शक्ति बन्ध और मोक्ष की कारण, इच्छात्मक ज्ञान को परिभाषा १९५–१९७ ज्ञानोपाय, क्रियोपाय (शाक्त और आणवोपाय) श्रीगमशासन का उदाहरण, योग और क्रिया का ऐक्य, क्रिया ज्ञानैक्य १९८–२०२।

मोक्ष की परिभाषा—हेतु फल भाव की अतात्त्विकता, शक्ति सम्बन्धो काणाद और त्रिक दृष्टि का अन्तर २०२–२०४ धर्म-धर्मि भाव का खण्डन 'आत्मज्ञान ही मोक्ष है' इसका समर्थन, सर्व कारण से कार्य निषेध, ज्ञान स्वभाव क्रिया, क्रियोपाय, ग्राह्य और बाह्य भेद, अनन्त अवान्तर भेद, उपाय भेद से मोक्ष भेद तीनों का खण्डन, दीक्षा द्वारा मलों के विध्वंस, तिरोभाव तथा समाप्ति रूप शक्तियों में अभेद, घट ध्वंस का उदाहरण, श्री पूर्वशास्त्र का दृष्टिकोण २०५–२१०।

समावेश--शाम्भव, २–शाक्त, और ३–आणव, ज्ञेयाभिमुख बोध, आवेश की परिभाषा, २१०–२१३ पदार्थ वाक्यार्थ योजन, चिन्मात्र रूप विज्ञेय का विमर्शनैर्मल्यातिशय दशा में प्रकाशन, जड ज्ञेय समावेश, चेतन ज्ञेय समावेश २१४–२१५

शाम्भव समावेश में विकल्प की अनुपयोगिता, विकल्प गृहीत ग्राहक, प्रमाण लक्षण, सिद्धवस्तु में प्रमाण अनावश्यक, वस्तु सिद्धि, विकल्प और स्मृति' स्वात्म में विकल्प की सापेक्षता और निरपेक्षता, वैकटिक दृष्टान्त संविन्नैर्मल्य, ३६ तत्त्व और उनके ५० प्रकार के समावेश, श्रीपूर्व शास्त्र का दृष्टिकोण, पुरुष, विद्या और शक्ति के भेद, अशुद्ध, शुध्यमान और शुद्ध भेद २१६–२२२, प्रत्यक्ष सिद्ध भूत तत्त्व, नित्य अनुमेय भूततत्त्व, भूत की परिभाषा २२३–२२४ रुद्र शक्ति समावेश, भौत समावेश की प्रासंगिक उक्ति, द्वैत अद्वैत (श्रीपूर्व) शास्त्रोय दृष्टिकोण, अनर्गल रुद्रशक्ति, परमेश्वर शक्ति चक्रात्मक विश्व, आदि, मध्य और अन्त के अन्तराल में ग्रहण, ग्रहीता और ग्राह्यरूप से व्यक्त, पाञ्चदश्य भेद भिन्न धरादि की विश्वरूपता, अंश से निरंश का बोध पूर्ण धर्मौघ परमेश्वर से अभेद सम्बन्ध २२५–२२८, श्रीविद्याधिपति और मतंग की उक्तियों से संविन्मयी अनुभूतियों की स्फुटता का समर्थन, परमेश्वर की शक्ति ही मूर्त्ति के रूप में उपचरित, शक्ति रूप शिवागम, तन्मयी भाव की सिद्धि के लिये शिवोपासना अनिवार्य, चिदात्मता द्वारा व्यापक शक्तियों का आक्षेप, शाक्त वैकल्पिक क्रम २२९–२३३, अविकल्प पथारूढ का शिवोभाव, संवित्परशिवात्मता की सिद्धि, सुमतिनाथ सम्प्रदाय मान्य शाम्भव समावेश २३३–२३६।

शाक्तोपाय—स्फुट, अन्तःकरणमय, मायामय और भेद प्रथा रूप वकल्पिक प्रत्यय, उपायोपेय भाव, अविकल्पा भूः, विकस्वर शाम्भवो दशा शाक्त और आणव दशा भेद, शाक्त उच्चार रहित और आणव उच्चारादि युक्त २३७–२३९।

आणवोपाय— भेदोपाय, २४०, गृहीत पशुभाव शिव, मतङ्ग मत, शिव का ही सारा प्रकाश, दोनों उपायों की शाम्भवोपाय में विश्रान्ति, समस्त विकल्पों की निर्विकल्प में ही विश्रान्ति, रत्नज्ञ का दृष्टान्त त्रिविध ज्ञान सत्ता, अभेदोपाय शाम्भव, भेदाभेदोपाय शाक्त और भेदोपाय आणव, सारा दीक्षादि कर्म विस्तार इन्हीं उपायों में अन्तर्भूत, मुक्ति का एकमात्र कारण सम्यग्ज्ञान दीक्षा भी क्रिया, ज्ञान से अतिरिक्त क्रिया अनुपपन्न, गुरु—सिद्ध और मुक्त सम्प्रदाय प्रवर्त्तक' युक्ति और आगम से सिद्ध, आचार्य, मल—द्रव्य, युक्ति और आगम से इसका निषेध, मल, माया और कर्म की वास्तविक स्थिति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों से उत्पन्न उपायों का मूल आणवोपाय २४१–२४८ ।

शाम्भवज्ञान—अनुत्तर (अनुपाय) सब श्रेष्ठ, आगमिक दृष्टिकोण से समर्थन, पारमेश्वर तन्त्रों के आलोक का प्रतीक, **ज्ञान-चतुष्क प्रतीक तन्त्रालोक**, संशय—आन्तर-ब्राह्य परामर्शों का अनुद्घाटित रूप, संशय की परिभाषा २४९–२५६ प्रष्ट्री संवित्ति और उसकी दशा, गुरु शिष्य भेद अतात्त्विक, बाध, संशयात्मिका सामान्य सृष्टि, निश्चय प्रतीति रूपा विशेष सृष्टि, लक्षण, उत्तर और निर्णय, निर्णीत का धर्मीश, समुद्देश लक्षणात्मक परीक्षण, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, **उद्देश, लक्षण** और परीक्षा की परिभाषा, पश्यन्ती परा, मध्यमा परापरा और बैखरी अपरा, इच्छादित्रितय के ही ये तीनों रूप, उद्देशादि त्रितय, सम्बन्ध-पञ्चक, देवों, ऋषियों और मनुष्यों के सम्बन्ध का विश्लेषण, पूर्ण ऐकात्म्य प्रथा, उद्देश, लक्षण और परीक्षामयी संवित्, उद्देश का स्वरूप, पूर्वज और अनुज उद्देश २५७–२७२ सम्पूर्ण तन्त्रालोक के विषयों का क्रम २७३–२८१ शैव प्रथा में मोक्ष वैचित्र्य, स्वस्थ रहने का निर्देश, आह्निक उपसंहार २८२–२८७ ।

द्वितीयाह्निकम् —(अनुपाय प्रकाशन नामक द्वितीय आह्निक) २८८–३२० मङ्गलाचरण, अनुपाय, परिभाषा, देशना, शास्त्र में अधिकार, अनुपायक अनुग्रह, चतर्विध विज्ञान, विभु का स्वभाव, स्वात्म-संविद् में अनुप्रवेश विधि, २८८–२९३ ज्ञप्ति और प्रकाश, उपाय और युक्ति निषेध, अवधान, बाह्य और आन्तर उपायों का खण्डन, प्रकाशवपुष् परमेश्वर, २९४–२९८ सारे शब्द एकार्थक २९९ प्रकाश में अप्रकाशांश का प्रकाशन, भेदमूलक व्यवहार का निषेध और अद्वय महेश्वर का रूप, भेदाधायक पूजा का निषेध ३००–३०३ असत्त्व और प्रकाश, विश्व जीवन का स्रोत प्रकाश, ३०४।

सदसद्-विलक्षण सर्वात्मक आभास–शक्तिगर्भ, **परम** पद, आगम प्रामाण्य, भाव अभाव से परे अकथ्य पदवी पर आरूढ़ प्रकाशात्मक शिव, अनुत्तर पथ के पथिक साधक, अनुग्रह का महत्त्व ३०५–३१०, लोककर्त्तव्य रूप कृत्य, श्रीमद्भगवद्गीता का दृष्टान्त, द्विविध परानुग्रह, सिद्ध योगीश्वरी मत, महासिद्ध योगीश्वर, अनुग्रह और अनुग्राह्य, अनुपायक अनुग्रह, ऊर्मिशास्त्रोद्धरण ३११–३१८ ध्वान्त विध्वंसकारिणी बोधविभारश्मियों के स्पर्श का निर्देश और उपसंहार ३१९–३२० ।

तृतीयमाह्निकम्—(शाम्भवोपाय प्रकाशनामक तीसरा आह्निक) ३२१–६४० मङ्गलाचरण प्रस्तावना, ३२१ प्रकाश **और** स्वातन्त्र्य ३२२ सद्रूप से भासित विश्व, स्वात्मव्योम में अनर्गल, सृष्टि संहाराडम्बर प्रकाशक परमेशान 'चिद्' रूप शिव में विश्व प्रवृत्तियों का प्रकाशन, दर्पण का दृष्टान्त ३२३ ।

बिम्ब प्रतिबिम्बवाद की अवतारणा—रूपादि पञ्च वर्ग का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण, नयन, दर्पण, अम्बर और वारि में रूप प्रतिबिम्ब योग ३२४ स्वच्छता गुण, निर्मल रूप में रूपावभास, प्रच्छन्नरागिणो कान्ता का उदाहरण, ३२५ ।

नैर्मल्य–३२६–३२८ भावों का प्रतिघाती क्रिया शक्तिमय मायात्मक रूप, भेद प्रधान, अस्वच्छ प्रतिबिम्बात्मक शरीर, सद्विद्यामय, ज्ञान प्रधान, स्वच्छ, अप्रतिघाती, प्रतिबिम्बग्राही शरीर, उभयाकारावभास, प्रकाशक शिव, बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का प्रवर्त्तक ३२९ नेत्र तेज के प्रत्यावर्त्तन से मुखादि प्रतिबिम्ब ग्रहण रूप नैयायिक मतवाद का निराकरण, तर्क, युक्तिवाद से अपने मत का समर्थन ३३०–३३३ स्पर्श, गन्ध, रसादि के गौणभाव के कारण प्रतिबिम्ब रूप तृतीय राशि का ग्रहण ३३४ पदार्थ के गुरुत्वादि धर्म का अप्रतिफलन, दर्पण की रूपात्मक स्वच्छता ही हेतु, प्रतिबिम्ब प्रकाशन में आलोक उपाय, अवभासन ही प्रतिबिम्ब का आधार ३३५–३३६ दीपक नेत्र और बोध में दर्पणवत् पृथक् प्रतिबिम्ब का अभाव, प्रतिबिम्ब के कारण रूप काठिन्य का उनमें अभाव, नैर्मल्य की स्थिति, छाया पुरुष दर्शन और मन्त्र माहात्म्य, प्रतिबिम्ब में स्वच्छता का महत्त्व, आगम-शास्त्रीय उद्धरणों द्वारा समर्थन, वस्तु और प्रतिबिम्ब, प्रतिबिम्ब में स्वातन्त्र्य और प्रतिघाती भाव का अभाव, दर्पण विधि निर्देश का उद्देश्य ३३७–३४१ प्रतिश्रुत्का, नैयायिक दृष्टिकोण और उसका खण्डन, वस्तु भूत मुख्य शब्द जातीयत्व का अभाव, रूप-प्रतिबिम्ब साजात्य, प्रतिबिम्बान्तर जातीयत्व, प्रतिबिम्ब का बिम्ब सामुख्य,

मुख्य ग्रह के विना भी प्रतिबिम्ब ग्रहण, प्रिया द्वारा दर्पण में प्रियतम के प्रतिबिम्ब दर्शन का दृष्टान्त ३४२–३४५।

वक्त्राकाश और कूपाकाश के सन्दर्भ में प्रतिबिम्ब की स्थिति, साकार निराकार ज्ञान और इन्द्रिय सन्निकर्ष से ज्ञान पार्थक्य, कर्मत्व, कारकत्व में क्रियावेश, ज्ञान जनकत्व और ज्ञान विषयत्व में प्रतिकर्म व्यवस्था का विचार, इन्द्रिय जन्य विषय ज्ञान के प्रतिबिम्ब, मुख के न देखने और प्रतिश्रुत्का के न सुनने में पश्चात् स्थिति ही कारण, ३४६–३४८ स्थान और करण के अभिघात से उत्पन्न शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य, उत्पन्न होने के दूसरे क्षण में शब्द प्रतिबिम्बता, इसके बाद श्रवण होने के कारण बिम्ब सम्मत प्रतिबिम्ब ग्रहण में अन्तर, ३४९–३५०।

आकाश में शब्द का नैर्मल्य—स्पर्श नैर्मल्य के स्थान और मिथुनोपभोगोचित स्पर्श का दृष्टान्त, सुन्दर और असुन्दर स्पर्श रूप प्रतिबिम्ब ग्रहण, गन्ध और रस का दृष्टान्त ३५१–३५२ रूप, रस, स्पर्श और गन्ध आदि के प्रतिबिम्ब ग्रहण में इन्द्रियान्तःकरण संयोग अनिवार्य, आन्तर स्पर्श आदि अनुभूति के विषय, बिम्ब सम्मत अर्थ क्रिया का उद्‌भव ३५३–३५४ स्मृति जन्य बिम्बप्रतिबिम्ब, बाह्यबिम्बाभाव में भी स्पर्श आदि का अर्थक्रिया कारकत्व ३५५–३५७।

संवित्ति मुकुर में विश्वात्मक प्रतिबिम्ब—३५८ रूपादिका आधारोपाधि वैशिष्ट्य, एक एकतत्त्व में ३६ तत्त्वात्मकता, बोध का सर्वतः स्वच्छातिशय और उसमें विश्व का आभास ३५९–३६० अत्यन्त स्वच्छता ३६१ बिम्ब के अभाव में भी विश्वात्मक प्रतिबिम्ब, बिम्बबोध सत् या असत्, बिम्ब की परिभाषा ३६२–३६४ प्रतिबिम्ब की परिभाषा, सौगत और प्रज्ञालङ्कार की दृष्टि से बुद्धि ३६५-३६६ बोध और विश्व का तादात्म्य, प्राज्ञ पुरुषों का यथार्थ-समर्थन ३६७–३६८।

बिम्ब के विना भी प्रतिबिम्ब, निमित्त और उपादान कारणों का अन्तर एवं बिम्ब भाव में भी प्रतिबिम्ब, सद्भाव ३६९–३७० स्मृति जन्य प्रतिबिम्ब, संविदारूढ़ वस्तु का संवेद्यमानत्व, परसंवित् और प्रमेय के मध्यवर्ती किसी धी या ज्ञान रूप संकुचित प्रमाता की कल्पना, बिम्बाभाव में प्रतिबिम्ब सद्भाव को हेतु परमेश्वर की इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ, विश्व चित्प्रतिबिम्ब, दर्पण में विश्व प्रतिबिम्बित, बोध चिद्रूप और विमर्श अनुत्तरा चित् प्रतिभा शक्ति, अकुल शिव की कुल प्रथनशालिनी कौलिकी शक्ति ३७१–३८०।

अकुल कौलिकी यामल संघट्ट ही आनन्द शक्ति का सार, हृदय, विसर्ग, कालकर्षिणी और मातृसद्भाव ३८१-३८२ इच्छा शक्ति अघोर शक्तियों की परावस्था, विप्रकृष्ट और सन्निकृष्ट इच्छाओं का स्वरूप ३८३ इच्छा शक्ति की ईशित्री प्रक्षुब्धता, उन्मेष रूप ज्ञान शक्ति ३८, घोर शक्तियाँ, संविन्मात्र में ऊनता का आभास, बोध समुद्र में ज्ञेय का आकार ग्रहण ३८५-३८६ इच्छा शक्ति के चार परामृत रूप, इष्यमाण की ज्ञानशक्ति में अभिव्यक्ति, क्रिया शक्ति में उसका बोहरौन्मुख्य ३८६-३९० क्षोभक, क्षोभ और क्षोभणा ३९१ क्षोभाधार, योनि, बीज योनि स्वरूप ३९२-३९४।

बीजवर्णोदय क्रम विसिसृक्षा, बाह्य बिम्ब का उल्लास, सूर्य सोमवर्णों का व्यतिमिश्रण ३९५-३९६, एकार ओकार की त्रिकोण और त्रिशूलात्मक स्थितियाँ ३९७-४०० अनुत्तर और आनन्द शक्तियों का उन्मेष योग, उन्मेष योग के उपरान्त पुनः अनुत्तर तन्मयत्व से 'औ' रूप त्रिशूलेश्वर अभिव्यक्त, क्रियाशक्ति का स्फुट, स्फुटतर और स्फुटतम रूप, इच्छा के ईषण और उन्मेष की ऊनता के क्षोभ का भी अनुत्तर आनन्द से योग होने पर परामर्शोदय 'ए' 'ओ',। 'ए' और 'ओ' का पुनः अनुत्तर आनन्द संयोग होने पर 'ऐ तथा 'औ' का मान्त्रिक बीज रूप, अनुत्तर और आनन्द का स्वात्मवैचित्र्य, इनका लयोदय कलेश्वर रूप ४०१-४०२।

शक्ति रूप जगत् और शक्तिमान् महेश्वर—महेश्वर के प्रतिनियत रूपत्व का निरास, घट का उदाहरण, जडत्व की परिभाषा, परिच्छिन्न प्रकाशत्व, बोध महासिन्धु की ऊर्मियों का उल्लास, स्वात्म संघट्ट वैचित्र्य का आश्रयण, क्रिया शक्ति का स्फुट पर शरीर, घोरतरी और अघोर शक्तियाँ, चतुर्दश धाम में तीन शक्तियों का समावेश, त्रिशूलत्व, शक्तियों द्वारा शक्तिमान् का अभिव्यंजन, निरञ्जनत्व, स्वयं प्रकाश की परकर्तृक अभिव्यक्ति, उपाधि, इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियों का पृथक् पृथक् अभिव्यंजन, शक्तिमान् स्वरूप, शक्तियों का फल भेद से आरोपित भेद व्यवहार, शक्तियों के ऐक्य रूप से स्फुरण में स्व-स्व विप्रतिषेध के कारण, अनुपाधेयता, त्रिशूलसमावेश से योगियों का निरञ्जनत्व, षष्ठ से त्रिशूल तक के आठ वर्ण, ब्राह्मी आदि शक्तियों के प्रतीक अनुत्तर शक्ति, अनुत्तर शक्ति का विन्दु स्वरूप अवस्थान, इसका ज्ञेय-कला-कालुष्य ४०३-४०९।

विन्दु—परिभाषा, शिव बिन्दु, नर शक्ति और शिवात्मक विमलतारक बिन्दु, द्वादशान्त, हृदय और भ्रूमध्य में बिन्दु भावना, नाद और शब्द, नादात्मक शब्द, निरपेक्ष प्रकाश, संविद् शक्ति का प्रकाश के प्रतीकों से प्रका-

-शन-स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से प्रकाश वैचित्र्य, प्रतिबिम्बित सूर्य का सुदर्शनत्व, उपाधि का उदाहरण, माहेश्वर संविद् प्रकाश, सूर्य और सोम का स्वरूप, सूर्य प्रमाण और सोम प्रमेय, इनका भोक्ता भोग्य भाव ४१०-४१६ चित्रभानु अग्नि सोम सूर्य संघट्ट से शुचि नामक अग्नि का उद्भव, विज्ञेय तादात्म्य में भी निर-पेक्ष संविद् शक्ति का प्रमातृत्व सुरक्षित, चित्रभानु अग्नि की उत्पत्ति का हेतु संवित् के प्रमातृ भाव का प्रतिपादन, ज्ञातृता, प्रमाणता, मातृमेयादिरूपिणी संवित्ति, पाक आदि क्रिया में क्रम, प्राभवी क्रियाशक्ति और लौकिकी क्रिया-शक्ति में अन्तर, प्रकाशतत्त्व में सूर्यसोम अग्नित्व का उल्लास, ह्रस्व स्वर सूर्य, दीर्घस्वर सोम, प्लुत वह्नि, शिवविन्दु, मकार और बिन्दु का भेद, वर्ण श्रुति और वर्ण में भेद, षण्ठ वर्ण ।

वैसर्ग वर्ण—ऋ, ऌ और विसर्ग की छाया ही 'र', 'ल' और 'ह', 'इ' की छाया ऋ और ऌ, कौलिकी शक्ति, अन्तः विसिसृक्षा, सत्रहवीं कला, शक्ति-कुण्डलिनी, प्राण कुण्डलिनी, पराकुण्डली, शिवव्योम, ब्रह्मात्मस्थान ४१७-४२९ वैसर्गिकी स्थिति, विसर्ग का हंस, प्राण और व्यंजन रूप, विसर्गता ४३०-४३२ ।

कामतत्त्व, अनिच्छ कान्ता कण्ठ ध्वनि, कामतत्व में चित्तसमाधान, विसर्ग की 'हंस' में स्फुट स्थिति, कादि सान्त अनुत्तर अवभास, अनुत्तर का पञ्चात्मक उल्लास, इच्छा शक्ति से चवर्ग, ऋ से टवर्ग, ऌ से तवर्ग, उन्मेष से पवर्ग ४३३-४३८, ज्ञेय रूप २५ स्पर्श वर्ण, य, र, और ल की उत्पत्ति, उन्मेष से सृष्टि सार प्रवर्षक 'व' कार ४३९-४४२ अन्तः स्थ संज्ञा का रहस्य, सजातीय संयोजन 'इ' 'ई' का उदाहरण, अनुत्तर सजातीय योग, पाणिनि सूत्रों का प्रमाण, 'श', 'ष' और 'स' का उद्भाव विकास ४४३-४४६ साकार, षट् रसाधार, सीत्कार, सुख, सीत्कार, समावेश, समाधि रूप 'स' कार की कलायें ४४७-४४८ अविभक्त, ब्रह्म, तृतीय ब्रह्म, ओं तत् सत् स्वरूप ब्रह्म, काकचञ्चु-पुट सदृश अनच्क विषतत्त्व, कुल शक्ति और गह्वर शक्तिपात् का संयोग ही कुलगुह्वर, 'स' हकार की नग हुडुसदृश शत्रुता, काम और विषतत्त्व का स्वरूप ४४९-४५१ विषतत्त्व की व्यापकता, निरञ्जन परमधाम, इच्छा काम, ज्ञान विष और क्रिया निरञ्जन देवी शक्तियाँ, इनके समावेश से शिवत्व, ४५२-४५४ विषतत्त्वानुप्रवेश, षण्ठता, इष्यमाण से रूषित इच्छा शक्ति, एषितव्य, षण्ठ से प्रसव का अर्थात् परामर्शान्तरोदय का अभाव, षण्ठोदय का हेतु ४५४-४५७ ऊष्म वर्णोदय, कादिहान्तवर्णोदय, योनि योनि से क्षोभान्तर सद्भाव ५० वर्णों की मान्यता का हेतु, स्वरवर्ण, व्यक्तियोग से व्यञ्जन वर्ण ४५८-४६०

वर्णपरम्परा के मूल उत्स ६ मूल स्वर, छः देवता, सूर्य की छः रश्मियों के नाम, सूर्यरश्मि रूप छः स्वर, चान्द्रमसवर्ण भोक्ता और भोग्य भाव, भोग्य की परिभाषा, सन्ध्यक्षरों का उदय, अनुत्तरानन्दमय देव, इच्छादि की भोग्यता ४६१-४६४।

चित्, इषि और उन्मेष के त्रिक का भोक्तृत्व, भैरव रूप त्रिक, शैवी-मुख, अपरिच्छिन्न परमेश्वर का असीमत्व, अनुत्तर शिव, विसर्ग शक्ति, ५० आमर्श शक्तिपूर्ण शिव ४६५-४६८ एकाशीति पदा देवी, शब्दराशि भैरव, मातृका भिन्नयोनि मालिनी, नादानुवेध परामर्श, ४६९-४७१ शिवविन्दु, विसर्ग।

अनन्त विश्वगर्भ विसर्ग—शिव विन्दु विसर्ग, भेद निबन्ध का प्रतिभासक परामर्श, अहमात्मक परामर्श ४७२-४७३ अनुत्तर से ह पर्यन्त अक्षर प्रस्तार, शक्ति, शक्तिसम्पुट, संवित्ति, विश्व और संविदा इन तीनों का संघात, अहमात्मक भैरव भाव, शंभु की विसर्ग शक्ति, आनन्द रस विश्रम का मूल विन्दु, आनन्द शक्ति, सहृदय हृदय की अनुभूतियाँ, माध्यस्थ्य का विगलन, ४७४-४७८ चित्तविश्रान्ति, चित्तसम्बोध और चित्तप्रलय नामक आणव शाक्त और शाम्भव विसर्ग ४७९-४८२।

विसर्ग शक्ति की कुण्डलिनी रूपता, अनच्च कला रूपता, बीजरूपता जीवरूपता और चिदात्मकता, वर्णसमुद्भव मूलस्वर वर्ण, ककारादि सकारान्त वर्ण उत्पत्ति, वैसर्गिकी कला का चमत्कार ४८२-४८४ **विन्दु** विज्ञान,इ सका नरशक्ति-शिवात्मक रूप ४८४-४८७ गुरुलक्षण—आदि मान्त्य वेदक, विसर्ग शक्तिविषयक ऐतरेय वेदान्त का प्रामाण्य ४८८-४९१ अग्नि, सोम और सूर्य का परस्पर संघट्ट, अकार हकारात्मक परमब्रह्म का परामर्श, भूतभावोद्भव कारक विसर्ग, **कुण्डगोल** संघट्ट सृष्टि, आर्त्तव अग्नि और शुक्र सूर्य का पावन रूप, पंचमहाभूतों में व्यक्त वही ब्रह्मरूप वीर्य, अन्न और अन्नाद का स्वरूप ४९२-४९४, शब्द की विसिसृक्षा का शुद्ध रूप, गीतादि शब्द श्रवणसामरस्य ४९४-४९६ विसर्ग की विश्वरूपता, मातृका और मालिनी परिभाषा, **अनुत्तरा काल कर्षिणी शक्ति** ४९७-४९९।

अहमात्मक परामर्श, स्वात्म विभागावभास, पश्यन्ती, मध्यमा और स्थूल वाक्, इनके भी स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक भेद, इनकी परिभाषायें ५००-५०७ संविद के १२ भेद ५०८, भैरव तत्त्व और कालिका शक्तियाँ, द्वादश योगिनी शक्तियाँ, ६४ शक्ति चक्र, घोरा और घोरतरा तथा अघोरा शक्तियाँ ५०९-५१२

प्रशम योग—प्रशम भेद, तीन उपाय, संवित्ति देवियों द्वारा अमृतसाद् विश्व का ग्रास, ५१३-५१७ संख्याओं का विकास, शाम्भवोपाय परामर्श, जीवन्मुक्ति ५१८-५२० स्वात्म में धरा और जल आदि अविकल्प प्रतिबिम्ब, भैरवी भाव ५२२ त्रिविध शाम्भवोपाय, अंशध्यान से निरंश उपलब्धि, संविद् की विश्वात्मकता ५२३-५२६ अनंश तुरीय पद का दर्शन ५२७-५२८ शाम्भवाद्वैतशाली परमोपाय में परमेश्वर की कृपा से प्रवेश ५२९ अभेद भाव भरित समस्त भेदवाद, परानुग्रहकारित्व, शाम्भवोपाय श्रेष्ठत्व, उपसंहार ५३०-५३४।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

श्रीराजानकजयरथाचार्यकृत विवेकव्याख्यया विभूषितः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

श्रीमदाचार्यवर्यजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्यानोपेतः
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेकाख्यहिन्दी-
भाष्योपेतः

प्रथममाह्निकम्

यस्मादेषणवित्क्रिया यदुदिता ह्यानन्दचिद्भूमयो
यस्यैवोद्धुरशक्तिवैभवमिदं सर्वं यदेवंविधम् ।
तद्धामत्रिकतत्त्वमद्वयमयं स्वातन्त्र्यपूर्णप्रथं
चित्ते स्तात् शिवशासनागमरहस्याच्छादनध्वंसि मे ॥१॥

जिससे इच्छा, ज्ञान और क्रिया का प्रवर्तन हुआ, जिससे चिद् और आनन्दभूमियों का उदय हुआ और जिसकी आत्यन्तिक उत्कर्षमयी शक्ति के ऐश्वर्य का ही उल्लास यह सारा विश्व का विस्तार है, स्वातन्त्र्य शक्ति की अखण्ड सत्ता से पूर्णतया प्रथित (प्रसिद्ध) अद्वय त्रिक (दर्शन) तत्त्व का वही महाप्रकाश मेरे चित्तगत शिवशासनागम रहस्यों के आवरणों को ध्वंस करने वाला बने ।

देहे विमुक्त एवास्मि श्रीमत्कल्याण-वारिधेः ।
यस्य कारुण्यविप्रुड्भिः सद्गुरुं तं हृदि श्रये ॥२॥

देह में देहाभिमान नहीं है । इसलिये मैं जीवन्मुक्त हो हूँ । मेरे गुरुदेव कृपा के द्वारा कल्याण करने के कारण समुद्र के सदृश हैं । उनके अनुग्रह रूपी सीकर राशि द्वारा मेरा देहाभिमान ध्वस्त हो चुका है । मैं ऐसे परम कारुणिक गुरुदेव को अपने हृदय सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर रहा हूँ ।

मूर्ध्न्युत्तंस इव क्ष्मापैः सर्वैर्यस्यानुशासनम् ।
हृदये भवसंभारकर्कशेऽप्याशु शिश्रिये ॥३॥

बड़े-बड़े राजराजेश्वरों ने भी जिसके अनुशासन को मुकुट की तरह शिरोधार्य किया है, ऐसे परम श्रद्धेय गुरुदेव को मैं सांसारिक वासनाओं तथा इदन्ता के अभिमान से कठोर अपने हृदय देश में अधिष्ठित करता हूँ ।

न ग्रन्थकारपदमाप्तुमथास्म्यपूर्वं,
वाक्कौशलं च न निदर्शयितुं प्रवृत्तः ।
किन्त्वेतदर्थ-परिशीलनतो विकल्पः
संस्कारवांश्च समियादिति वाञ्छितं नः ॥४॥

जयरथ कहते हैं कि मुझें ग्रन्थकार पद प्राप्त करने की चाह नहीं है। मैं अपनी अपूर्व वाणी के कौशल को प्रमाणित करने के लिये भी इसमें (भाष्य में) प्रवृत्त नहीं हुआ हूँ। मेरे मन में 'विवेक' व्याख्यान की अभिलाषा इसलिये जागृत हुई कि इस प्रकार शास्त्र के परिशीलन से मेरे विकल्पों का संस्कार होगा और शुद्ध विकल्पों से ऊपर निर्विकल्पक प्रकाश को आत्मसात् कर सकूँगा।

यातायाताः स्थिताः केचिदज्ञा मत्सरिणः परे ।
संदिग्धाः केऽपि किं ब्रूयां श्रोतारो यदनागताः ॥५॥

कुछ लोग अध्ययनार्थ आते हैं—उन्हें इसे जानने की इच्छा होती है, पर अज्ञात कारणवश वे अध्ययन विरत होकर चले जाते हैं। कुछ अयात हैं अथवा कुछ आयात हैं। कुछ के तो पल्ले ही यह शास्त्र नहीं पड़ता। परिणामतः अज्ञतावश वे इस शास्त्र से डाह करने लगे हैं। कुछ के हृदय में सन्देह ने ही घर कर लिया है। मैं सुनाना चाहता हूँ—तात्त्विक तथ्य से अवगत कराना चाहता हूँ और वे अनागत हो रहे हैं।

तदनाकर्ण्य गूढार्थं स्वादु स्वाशयकौशलम् ।
साकूतमुक्तमन्यैर्यत्तेन दोलायते मनः ॥६॥

यह शास्त्र गूढ अर्थों से भरा हुआ है। स्वात्म संविद् (स्फुरत्ता-हृदय-रहस्य) की आश्चर्यमयी चामत्कारिकता के अमृत से सराबोर है। अतएव अत्यन्त स्वादिष्ट है। उसे न सुनकर, दूसरों की साकूत उक्ति से मेरा मन डावाँ-डोल है।

अत्र मद्वागशक्ताऽपि यन्निर्यन्त्रणमुल्लसेत् ।
तत्पारमेश्वरं श्रीमन्महानन्दविजृम्भितम् ॥७॥

यद्यपि इस अद्वयवाद के रहस्यार्थ के उद्‌घाटन में मेरी वाणी असमर्थ है, फिर भी यह उन्मुक्त रूप से अर्थसत्ता के प्रकाशन में उल्लसित होने को तत्पर है—यह परमेश्वर परमशिव की शक्तिमत्ता में समुत्पन्न महान् आनन्द के संवर्द्धन का परिणाम मात्र है।

इह खलु शास्त्रादावलौकिकाशीर्वादमुखेन वक्ष्यमाणषडर्धशास्त्रार्थगर्भीकारेण समुचितेष्टदेवतां शास्त्रकारः परामृशति

विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहा जननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः ।
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात् ॥१॥

'मम' आत्मनो 'हृदयं' जगदानन्दादिशब्दवाच्यं तथ्यं वस्तु, सम्यक् देहप्राणादिप्रमातृतासंस्कारन्यक्कारपुरःसरसमावेशदशोल्लासेन दिक्कालाद्यकलिततया 'स्फुरतात्' कालत्रयावच्छेदशून्यत्वेन विकसतात्–इत्यर्थः ।

शास्त्रकार महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्त षडर्ध (त्रिक) शास्त्र के अर्थों के रहस्य का अपने हृदय में साक्षात्कार कर चुके हैं। शास्त्रों की परम्परा के अनुसार अलौकिक आशीर्वाद को लक्ष्य कर समुचित (शास्त्रोचित) इष्ट शक्ति का परामर्श कर रहे हैं—

जननी (माँ एवं पराम्बाशक्ति) विमलकलाश्रया है। वह अभिनव (पुत्र एवं नित्य नूतन) सृष्टि के उत्सवों से (उल्लसित) है। पिता भरिततनु (पुष्ट एवं विश्वमय शिव) हैं। पञ्चमुख (सिंह एवं शिव) गुप्त रुचि (सिंहगुप्त सुन्दर नाम युक्त एवं पूर्ण पञ्चकृत्य-अभिलाषी) हैं। इन दोनों मातृ-पितृरूप एवं शक्ति-शिव के यामल (संघट्ट) से स्फुरित भाव (उत्पत्ति एवं विश्व) के विसर्ग से संवलित अनुत्तर अमृत कुलरूप, अकालकलित होने के कारण मृत्यु से शून्य, कुल अर्थात् अमाकलास्वरूप अनुत्तरामृतकुल (मेरा) हृदय (सम्यक् रूप से) स्फुरित हो।

दर्शनपक्ष—(१) त्रिक दर्शन—

'मेरा' स्वात्म का 'हृदय' जिसे जगदानन्द आदि शब्दों से भी अभिहित करते हैं—यही तात्त्विक तथ्य वस्तु है। यह सम्यक् रूप से स्फुरित हो। सम्यक् रूप से कहने का तात्पर्य है कि देह और प्राण आदि में प्रमाताभाव का संस्कार समाप्त हो और शैव समावेश का उल्लास हो। समावेश के फलस्वरूप जो स्फुरण हो, वह दिग् और काल से अकलित हो। तीनों कालों के खण्डित समय विभाजन की कल्पना भी उस स्फुरण की स्थिति में न हो अर्थात् देश से अवच्छिन्न और काल से अकलित समावेश की दशा प्राप्त हो।

तच्च कीदृक् ?–इत्युक्तं 'तदुभय' इति। 'तत्' आद्यार्धव्याख्यास्यमानं च तत् 'उभयं' तस्य 'यामलं'

'तयोर्यद्यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः'।

इति वक्ष्यमाणनीत्या शक्तिशक्तिमत्सामरस्यात्मा संघट्टः, ततः 'स्फुरितभावः' परानपेक्षत्वेन स्वत एवोल्लसितसत्ताको योऽसौ

'अत एव विसर्गोऽयमव्यक्तह-कलात्मकः।'

इत्युक्त्या कुलाकुलोभयच्छटात्मकहकारार्धार्धरूपो 'विसर्गो' बहिरुल्लिलसिषा-स्वभावः स प्रकृतिर्यस्य तत्, अत एवाह 'अनुत्तरामृतकुलम्' इति। 'अनुत्तरं' कतिपयकालदार्ढ्यकार्यमृतान्तरवैलक्षण्याद् उत्कृष्टं च तत्

वह हृदय कैसा है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि वह तदुभय यामल-स्फुरित भाव विसर्गमय है। 'तदुभय' शब्द जननी और जनक रूप शिव-शक्ति की उभयात्मकता को ओर संकेत करता है। इन दोनों का यामलभाव (ध्यातव्य है)। कहा है—

"इन दोनों का जो यामलभाव है, उसे संघट्ट कहते हैं।"

आगे चर्चित इस उक्ति के अनुसार शक्ति और शक्तिमान् के सामरस्यमय संघट्ट से ही भावों का स्फुरण होता है। इसमें किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होतो। इस उल्लास का अस्तित्व ही अद्‌भुत भाव से भरा हुआ होता है। यही 'विसर्ग' है—

"इसलिये यह विसर्ग अव्यक्त 'ह' कलात्मक होता है।"

इस उक्ति के अनुसार यह कुल और अकुल की द्वैतसत्ता की आभा से विभूषित होता है। यह 'हकार' का आधा आधा भाग ही होता है। (वर्णोदय सिद्धान्त के अनुसार विसर्ग जब अनुत्तर अकार से मिलता है, तब 'ह' कार को श्रुति होती है। अनुत्तर से विसर्ग के अभिव्यक्त होने पर अर्धार्ध रूप का उल्लास स्वाभाविक है)। इसका स्वभाव भो बाहर अभिव्यक्त होने की अभिलाषा है। शाश्वत उल्लास ही जिसकी प्रकृति है, वही तदुभय यामलभाव से स्फुरित भाव-विसर्गमय मेरा हृदय है।

इसीलिये वह 'अनुत्तरामृत कुल' भी है। अनुत्तर का विग्रहवाक्य हैं—'नास्ति उत्तरं यस्मात्' जिससे बढ़कर कोई न हो। 'अमृत' तो कुछ

'यत्रास्ति न भयं किञ्चिन्न जरा व्याधयोऽपि वा।
न विघ्ना न च वै मृत्युर्न कालः कलयेच्च तम्॥'

इत्यकालकलितत्वाद् अविद्यमानं मृतं यत्र तत् 'कुलं' शरीरं यस्य तद् अमाख्य-कलास्वरूपम्-इत्यर्थः। तदुक्तम्

'कला सप्तदशी यासावमृताकाररूपिणी।'

इति।

किं च तदुभयम्? इत्याह-'जननी जनकश्च' इति। कीदृशी जननी? 'विमलकलाश्रया' इति। विगता 'मला' अवच्छेदका यस्यास्तादृशी या 'कला' परविमर्शैकस्वभावकर्तृतालक्षणा, सा 'आश्रय' आलम्बनं स्वरूपं यस्या सा शुद्धस्वातन्त्र्यशक्तिरूपा-इत्यर्थः।

अत एव 'अभिनवायाम्' आद्यायां 'सृष्टौ' शुद्धाध्वमार्गे

समय तक ही जिला सकता है। यह तो शाश्वत अस्तित्व प्रदान कर सकता है। इसलिए अमृत से विलक्षणता के कारण यह अत्यन्त उत्कृष्ट है। वह—"जहाँ किसी प्रकार का भय नहीं है, जहाँ बुढ़ापे का अधिकार नहीं है, किसी रोग की सम्भावना नहीं है, किसी तरह की बाधायें जहाँ नहीं होतीं, मृत्यु का जहाँ अस्तित्व हो नहीं है और काल वहाँ किसी प्रकार की कलना करने में नितान्त असमर्थ है।" इस उक्ति के अनुसार—

काल से अकलित अमृत शरीर वाली 'अमा' कला रूप ही वह अनुत्तर-तत्त्व है। कहा गया है—

"वह अमृत आकार रूपिणी सत्रहवीं कला (अमा कला) है।"

श्लोक की तीसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'तदुभय' शब्दसम्बन्धी जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं—'जननी जनकश्च'। प्रथम पंक्ति में जननी कैसी है—इसका प्रतिपादन है। विशेषण शब्द है—विमलकलाश्रया। इसी में माँ के नाम का विशेष्य भी छिपा हुआ है। वि उपसर्ग विगत अर्थ में प्रयुक्त है। मल अवच्छेदक होते हैं, आवरण प्रदान करते हैं और एक दूसरे से अलग कर देते हैं। जहाँ मल विगत या विनष्ट हुये, वहीं विमल स्थिति होती है। 'कला' परविमर्श मात्र स्वभावरूपा होती है। वही जिसका आलम्बन करती है, वह विमलकलाश्रया अर्थात् शुद्ध स्वातन्त्र्यशक्तिरूपा होतो है। वही आद्याशक्ति जननी माँ है।

साथ ही वह अभिनव सृष्टिमहा भी है। अभिनव अर्थात् आद्य सृष्टिरूप शुद्ध अध्वा के मार्ग में—

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्त्ता ....।'

इति नीत्या शिवस्यैव तत्र साक्षात्कारित्वात् 'महः' पारिपूर्ण्यलक्षणं तेजःस्फारो यस्याः सा—इत्युक्तम्। इहाद्वयनये हि भगवानेव स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्याद् आभासमात्रसारतया स्वाव्यतिरिक्तमपि व्यतिरिक्तत्वेनेव जगद् आभासयति, इत्यनन्यापेक्षिणः स्वातन्त्र्यस्यैव जगद्वैचित्र्यनिमित्तत्वमुक्तम्, अविद्यावासनादीनां भेदाभेदविकल्पोपहतत्वाज्जगद्वैचित्र्यनिमित्तत्वाभिधानानुपपत्तेः, अत एव भगवतश्चिदाद्यनन्तशक्तिसंभवेऽपि तत्स्फुरणमात्रत्वात् तासां तस्या एव प्राधान्याद् इहाभिधानम्। यद्वक्ष्यति

'तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः।'

इति।

जनकश्च कीदृक्? इत्युक्तं 'भरिततनुः' इति। 'भरिता' सर्वाकाङ्क्षासंक्षयात् पारिपूर्ण्येन पूरिता 'तनुः' स्वभावो यस्य सः, अनन्योन्मुखतया स्वतन्त्र इति यावत्। अत एव 'पञ्चभिः' चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियात्मभिः 'मुखैः'

"शुद्ध अध्वा में शिव ही कर्त्ता (हैं).....................।"

इस नीति के अनुसार वहाँ शिव का साक्षात्कार और पूर्ण तैजस प्रकाशात्मक स्फार का उत्सव होता है। ऐसी आद्य सृष्टिविधात्री माँ ही जननी है।

इस अद्वय प्रतिपादक आगमोपनिषद् के अनुसार भगवान् शिव ही अपने स्वातन्त्र्य सामर्थ्य के कारण आभासमयी, अपने से अलग न रहते हुये भी अलग लगने वाली सृष्टि को प्रकाशित करते हैं। इससे निरपेक्ष स्वातन्त्र्य ही जगत् के वैचित्र्य का कारण है, यह कहा जाता है। अविद्या और वासना आदि भेदाभेदरूप विकल्पों से ही उपहत हैं, वे इस आश्चर्यजनक संसार की कारण नहीं कही जा सकतीं। इसलिये भगवान् परम शिव से चिद् आद अनन्त शक्तियों की संभूति के उपरान्त भी स्फुरणमात्र होने के कारण उनमें स्फुरत्तारूप हृदय की ही प्रधानता है। कहा गया है—

"वह परमशिव स्वातन्त्र्यशक्ति से युक्त है, यह आञ्जस विधि है।"

'जनकश्च कीदृक्'? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं-'भरिततनुः'। वह समस्त आकांक्षाओं के संक्षय के कारण पूर्णता के महाभाव से पूरित 'तनु' अर्थात् स्वभाव वाला है। किसी के प्रति उन्मुख न होने के कारण वह स्वतन्त्र है। इसीलिये पाँच चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप मुखों से—अर्थात्

'..............................शैवीमुखमिहोच्यते।'

इत्युक्त्या शक्तिभिः 'गुप्ता' परिपूरिता प्रबन्धेनानुवर्तमाना **'रुचिः'** अभिलाषो विशेषानुपादानात् कृत्यपञ्चकविषयो यस्यासौ, सदैव पञ्चविधकृत्यकारीत्यर्थः। तदुक्तम्

'सृष्टिसंहारकर्त्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्॥' इति।

तदेवम्—अत्र विसर्गप्रसरस्वभावत्वेन जगद्वैचित्र्यबीजभूतं शिवशक्ति-संघट्टात्मकपरत्रिकशब्दवाच्यम् अनाख्यात्मकं विघ्नौघप्रध्वंसाय परामृष्टम्। तदुक्तम्

'तत्रापि शक्त्या सहितः स्वात्ममय्या महेश्वरः।
यदा संघट्टमासाद्य समापत्ति परां व्रजेत्॥
तदास्य परमं वक्त्रं विसर्गप्रसरास्पदम्।
अनुत्तरविकासोद्यज्जगदानन्दसुन्दरम्॥

"..................इस दर्शन में इसे शैवी-मुख कहते हैं।"

इस उक्ति के अनुसार पाँच शक्तियों से गुप्त (सुरक्षित-परिपूरित विशेष रचना में नित्य अनुवर्त्तमान) अभिलाष अर्थात् पञ्चकृत्यरूपी इच्छा वाला वह (सबका पिता) है। सदा पाँच कृत्यकारी है। कहा गया है—

"सृष्टिसंहारकर्त्ता, विलय-स्थितिविधायक और अनुग्रहकारी, प्रणत की पीड़ा का निराकरण करने वाले (शिव को प्रणाम है)।"

इसमें सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह, पाँचों कृत्यों का वर्णन है। इस प्रकार विसर्ग का प्रसार ही शिव का स्वभाव सिद्ध हो जाता है। वही जगत् की विचित्रता का बीज है। इससे शक्ति, शिव और संघट्टरूप त्रिक शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसे 'अनाख्य' (जिसकी आख्या न हो) तत्त्व कहते हैं। यह विमर्श माङ्गलिक है। यह विघ्नों के समूह का प्रध्वंस करता है। इसीलिये यहाँ भी इसका परामर्श है। कहा गया है—

"उस दशा में भी स्वात्ममयी शक्ति से महेश्वर शिव संघट्ट करते हैं और आत्यन्तिक परम प्राप्तव्य आनन्द को उपलब्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में समस्त जगत् का बीज आकार ग्रहण कर लेता है। उसे परम वक्त्र कहते हैं। विसर्ग के प्रसर का वह सक्षम (माध्यम) है। वह अनुत्तर के विकास से उदीयमान जगत् के आनन्द (जगदानन्द) से सुन्दर होता है।

भाविवक्त्राविभागेन बीजं सर्वस्य संस्थितम् ।
हृत्स्पन्दोद्यत्परासारनिर्नामोर्म्यादि तन्मतम् ॥
'एतत्परं त्रिकं सूक्ष्मं सर्वशक्त्यविभागवत् ।'

इति ।

अथ च 'हृदयं'

'हृदय शक्तिसूत्रं तु··· ························ ।'

इत्याद्युक्त्या श्रीसृष्टिकाल्याद्यखिलशक्तिचक्रासूत्रणेन प्रस्फुरद्रूपं श्रीकालसंकर्षणी-धाम 'संस्फुरतात्' तादात्म्येनैकः स्याम्–इत्यर्थः । तच्च कीदृशम् ? इत्युक्तम्–'अनुत्तरामृतकुलम्' इति । सृष्ट्यादीनामत्रैव लयाद् अविद्यमानम् उत्तरम् अन्यत् यस्मात्, अत एव 'अमृतं' स्वात्मचमत्कारमात्रपरमार्थम्, अत एव च 'कुलं'

"भविष्यत् में उल्लसिष्णु वक्त्रों को आत्मसमाहित कर अविभागरूपतया सम्यक् रूप से स्थित होता है । हृदय, स्पन्द, उद्यत्परासार, निर्नाम, ऊर्मि आदि उसके पर्यायवाची शब्द हैं । यही पर त्रिक है । अत्यन्त सूक्ष्म है और समस्त शक्तियों को अविभागरूप से आत्मसमाहित कर उल्लसित होने वाला परम तत्त्व है ।"

दर्शनपक्ष—(२) कुल दर्शन—

'अथ' शब्द से जयरथ दूसरे दृष्टिकोण का प्रवर्त्तन कर रहे हैं और हृदय की नई व्याख्या दे रहे हैं—

"हृदय तो शक्तियों का सूत्र (ही है) ··········· ।"

इत्यादि उक्ति से स्पष्ट है कि श्री सृष्टिकाली आदि निखिल शक्तिचक्र का आसूत्रण करने वाला तत्त्व हृदय है । यह नित्य प्रस्फुरणशील है । यह कालसंकर्षणी शक्ति का ऊर्जस्वल आयतन है । यह सम्यक् से स्फुरित हो, अर्थात् मैं उसमें तादात्म्य-भाव प्राप्त कर एक हो सकूँ । यह हृदय कैसा है ? इसका उत्तर है—'अनुत्तरा-मृतकुलम्' । सृष्टि आदि सबका लय अनुत्तर में ही होता है । परिणामतः आगे कुछ भी नहीं शेष रहता । इसलिये यह अनुत्तर तत्त्व कहलाता है । इसीलिये इसे अमृत भी कहते हैं । अमृत का अर्थ है—स्वात्मचमत्कार मात्र परमार्थरूप तत्त्व । इसी आधार पर इसे कुल भी कहते हैं—

'कुलं पदमनामाख्यं..............................।'

इत्यनाख्यरूपम् इत्यर्थः। अन्यच्च कीदृक्? इत्याह 'तदुभय' इति। तच्च तद् व्याख्यास्यमानं सृष्टिसंहारात्मकम् 'उभयं' तस्य 'यामलं' लोलीभावस्ततः

'चक्रद्वयेऽन्तः कचति लोलीभूता परा स्थितिः।'

इति।

तथा

'प्रभवाप्ययोरन्तर्लोलीभावात्क्रमोऽवताराख्यः।'

इत्यादिनीत्या स्फुरितसत्ताकः स्थित्यात्मा विविधः सर्गस्तन्मयम्। परैव हि अनाख्या भगवतो संवित् स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मनि सृष्ट्यादि अवभासयति विलाययति च—इत्यभिप्रायः। यदुक्तम्

'यस्य नित्योदिता ह्येकाभासा कालक्षयंकरी।
राजते हृदयाम्भोजविकासिगगनोदरे॥
सृष्टिस्थित्युपसंहाररूपा तद्भूरणे रता।' इति।

"अनाख्य (अनुत्तरामृत) पद ही कुल है..................।"

अर्थात् अनुत्तरामृतकुल अनाख्य पद है। तदुभय शब्द में आगे व्याख्यास्यमान सृष्टि और संहाररूपी उभयात्मकता का भाव है। उसका यामलभाव लोलीभाव कहलाता है। उससे—

"दो चक्रों के भीतर लोलीभूत परा अवस्था है। वहाँ भी अणुओं के मन को वह बाँधती है। वहीं से भाव विसर्ग सम्भव है। इसमें कुल दृष्टि का परामर्श संकेतित है।

दर्शनपक्ष—(३) क्रम दर्शन—

'प्रभवाप्ययोरन्तर्लोलीभावात् क्रमोऽवताराख्यः' अर्थात् सृष्टि और संहार इन दोनों अन्तर्लोलीभावों के परिणाम से 'अवतार' नामक एक समन्वित सत्ता का प्रादुर्भाव होता है। यही क्रम है। जिस शक्ति से क्रम-प्रक्रिया अस्तित्त्व में आती है, उस शक्ति का नाम अनाख्या शक्ति है। वह अपनी शक्ति से, संवित् तत्त्व के स्वातन्त्र्य से स्वात्म में ही प्रभव और अप्यय का अवभासन करती है। यही उसका अन्तर्लोलीभाव है। यह क्रम दर्शन है। कहा है—

तच्छब्दपरामृष्टमुभयं व्याचष्टे—'जननी जनकश्च' इति। जनयति विश्वम्—इति 'जननी' परा पारमेश्वरी सृष्ट्यादिचक्राद्या, सा च शुद्धबोधमात्रस्वभावत्वात् 'विमला' येयम् आदिभूता चान्द्रमसी 'कला' सा 'आश्रयः' आलम्बनं गतिर्यस्याः सा, सकलजगदाप्यायकारिपरामृतमयी—इत्यर्थः। तदुक्तम्

'ऊर्ध्वे तु संस्थिता सृष्टिः परमानन्दरूपिणी।
पीयूषवृष्टिं वर्षन्ती बैन्दवी परमा कला॥' इति।

तथा

'ऊर्ध्वे स्थिता चन्द्रकला च शान्ता पूर्णामृतानन्दरसेन देवी।' इति।

अत एव 'अभिनवायां'

'सदा सृष्टिविनोदाय...............................।'

इत्यादिनीत्या सदा द्योतमानायां 'सृष्टौ' बहीरूपतायां स्वातन्त्र्यलक्षणं 'महः' तेजो यस्याः सा—इत्युक्तम्।

"शिव की शक्ति नित्य उदित और आभास मात्र स्वभाव वाली होती है। वह काल को भी स्वात्मविलापन प्रक्रिया से आत्मसात् करतो है। वह शक्ति शिव के हृदय केन्द्र रूपी कमल के विकसमान अन्तर अवकाश के अन्तराल में उल्लसित रहती है। वह सृष्टि, स्थिति और संहार रूपी होती है। साथ ही उस अन्तर अवकाश के संभरण की क्रिया में रत रहती है।"

क्रम दर्शन पक्ष में 'तदुभय यामलविसर्गमय हृदय' का इस प्रकार अर्थ करना चाहिये। तदुभय अर्थात् जननी और जनक। 'जनयति विश्वम् इति' इस विग्रह के अनुसार विश्व को उत्पन्न करने वाली परा पारमेश्वरी आद्याशक्ति जननी है। वह शुद्ध बोधमात्र स्वभाव के कारण 'विमला' है। सारे संसार को आप्यायित करने वाली परामृतमयी कला ही उसका आश्रय है। कहा गया है—

"पीयूषवृष्टि वर्षन्ती बैन्दवी परमा कला' वह परमानन्द रूपिणी होती है। वह सर्वदा ऊर्ध्व स्थित रहती है। वह चन्द्रकला सदृश है। वह परादेवी पूर्ण अमृतमय आनन्द रस से देदीप्यमान है।"

इसीलिये सृष्टि में अभिनव शक्ति का उल्लास होता है। सृष्टि सदा पूर्ण अमृत आनन्द से परिपूर्ण और प्रभावमयी होती है, बाहरी रूप से दीप्तिमंत रहती है और स्वातन्त्र्यरूप मह अर्थात् तेज से ऊर्जस्वल होती हैं। जननी को

जनयति भावसंहारम्—इति 'जनकः' अभिरूपः परः प्रमाता, स च 'पञ्चानां' वामेश्यादिवाहशक्तीनां 'मुखैः' चक्षुरादीन्द्रियवृत्तिरूपैर्द्वारैः

'येन येनाक्षमार्गेण यो योऽर्थः प्रतिभासते ।
स्वावष्टम्भबलाद्योगी तद्गतस्तन्मयो भवेत् ॥'

इत्यादिनीत्या तत्तद्विषयाहरणेन 'गुप्ता' स्वावष्टम्भबलेन परिरक्षिता 'रुचिः' दीप्तिर्यस्यासौ, निखिलभावग्रसिष्णुतया समुद्दीपितपरप्रमातृभाव इत्यर्थः। अत एव 'भरिततनुः' तत्तद्भावसंचर्वणेन निराकाङ्क्षतोत्पादात् स्वात्ममात्रविश्रान्त्या पूर्णः—इत्यर्थः। तदेवम् अत्र ग्रन्थकृता सृष्ट्यादिक्रमत्रयरूपतामवभासयन्त्यपि तदतिवर्तनेन परिस्फुरन्ती क्रमाक्रमवपुः परैव अनाख्या पारमेश्वरी संवित् परामृष्टा, इत्युक्तं स्यात्। यदुक्तमस्मत्परमेष्ठिगुरुभिः—

अभिनव सृष्टिमहा कहने का यही रहस्य है। "वह सृष्टि का सर्वदा विनोद करने वाली शक्तिमती माँ है।'

जनक अभिरूप परप्रमाता शिव है। वह भाव-संहार का प्रवर्तक है। वह 'पञ्चवाह' सिद्धान्त स्वीकृत वामेशी आदि पाँच शक्तिरूपी मुखों से अथवा चक्षु आदि इन्द्रिय वृत्तियों के द्वार से विषयों का अपहरण करता रहता है। जयरथ इसी तथ्य का समर्थक श्लोक दे रहे हैं—

"जिस जिस इन्द्रिय मार्ग से जो जो विषय प्रतिभासित होता है, अपने अवष्टम्भ के बल से योगी उसमें प्रवेश कर जाता है और तन्मय हो जाता है।"

विषय के ग्रहण की इस विधि के अनुसार यौगिक बल से पञ्चमुख गुप्तरुचि मात्र शंकर के और कौन हो सकता है? सदा द्योतमान बाह्यसृष्टि में अवष्टम्भ से योगी दीप्त रहता है। निखिलभावों का ग्रास करता है। इसका परप्रमाता भाव सदा उद्दीप्त रहता है।

भरिततनु शब्द पूर्णता का बोधक है। भावों के प्रकाशन में और उनके उपसंहार में शङ्कर का परमुखापेक्षित्व नहीं होता। उपसंहार की अवस्था में तो पूर्णतारूप स्वात्मविश्रान्ति होती ही है। अपने में विश्रान्ति की अवस्था को निश्चय ही भरित-शरीर वाला कहा जा सकता है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने इस श्लोक के माध्यम से सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रमिकता का अवभासन करने वाली श्रीकाली-शक्ति का उल्लेख किया है। ग्रन्थकार की

'क्रमत्रयसमाश्रयव्यतिकरेण या संततं
क्रमत्रितयलङ्घनं विदधती विभात्युच्चकैः।'
'क्रमैकवपुरक्रमप्रकृतिरेव या द्योतते
करोमि हृदि तामहं भगवतीं परां संविदम्॥'

इति।

अथ च 'हृदयं' निजबलसमुद्भूतिलक्षणं तत्त्वं विशेषानुपादानात् सर्वस्य सम्यक् प्रख्योपाख्यारोहेण 'स्फुरतात्' विकसतात्—इत्यर्थः। तच्च कीदृक्? 'तदुभय' इति तद् आद्यार्धव्याख्यास्यमानं मातापितृलक्षणम् 'उभयं' तस्य यत् 'यामलम्' आद्ययागाधिरूढं मिथुनं तस्य परस्परौन्मुख्येन चमत्कार-तारतम्ययोगात् 'स्फुरितः' सोल्लासो योऽसौ 'भावः' आशयविशेषः, तेन यो

दृष्टि से वह अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण इन तीनों परिस्थितियों को अतिक्रान्त करती हुई उल्लसित होती है। वह क्रम, क्रमाक्रम और अक्रम अवस्थाओं में भी परिस्फुरित होने वाली पराशक्ति है। उसे अचिन्तनीय, अनिर्वचनीय और आख्या की सीमा में न आने के कारण अनाख्या शक्ति कहते हैं। ऐसी परमैश्वर्यसम्पन्ना पारमेश्वरी विमर्शमयी संविद् शक्ति का परामर्श इस पद्य के माध्यम से किया गया है।

जयरथ के गुरुदेव का यह कथन भी प्रासङ्गिक है—

"क्रम, अक्रम और क्रमाक्रम का शश्वत् समाश्रय लेने के कारण श्रीकाली निरन्तर तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण करती हुई उल्लसित होती है। यद्यपि 'क्रम' ही उसका शरीर है—प्रतीक है, फिर भी वह अक्रमदशा में भी विलसित रहती है। ऐसी सर्वैश्वर्यशक्तिमती परा भगवती काली को मैं (साधक या भक्त) अपने हृदय की अधीश्वरी संविद् शक्ति के रूप में हृदयमन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ"।

अभिनवगुप्त पक्ष—

स्वात्म संविद् के विमर्श से प्राप्त शक्ति की अनुभूति से सम्पन्न अभिनवगुप्त का 'हृदय' तत्त्व समग्र शैवशासन के आगमिक रहस्यों के उद्घाटन के लिये स्फुरित हो (यह ग्रन्थकार की आकांक्षा है)।

माता और पिता दोनों के यामल स्वरूप को कल्पना में शक्ति-शिव-समन्वयरूप आदिम अन्तर्याग की अनुभूति प्रत्यक्ष स्फुरित होने लगती है।

'विसर्गः' क्षेपः कुण्डगोलाख्यद्रव्यविशेषनिःष्यन्दः, स प्रकृतिर्यस्य तत्, अत एव च 'अनुत्तरे' श्वेतारुणात्मदेवतामयताद्यनुसन्धानेन पशुशुक्रशोणितवैलक्षण्यादुत्कृष्टे 'अमृते' सारे

'...............................कुलमुत्पत्तिगोचरः ।'

इत्युक्त्या 'कुलम्' आकारो यस्य तत् । किं तदुभयम् ? इत्याह—'जननी जनकश्च' इति । कीदृशी जननी ? 'विमलकलाश्रया' इति । 'विमला' इति वर्णकला 'आश्रयः' आलम्बनं यस्याः सा, विमलकलाभिधाना—इत्यर्थः । तथा 'अभिनवसृष्टिमहा' इति । 'अभिनवस्य' श्रीमदभिनवगुप्तस्य 'सृष्टिः' जन्म सैव

'नन्दन्ति पितरस्तस्य नन्दन्ति च पितामहाः ।
अद्य माहेश्वरो जातः सोऽस्मान्सन्तारयिष्यति ॥'

इत्याद्युक्तेः सत्पुत्रप्रसवेन कृतकृत्यतया चमत्कारातिशयकारित्वेन 'महः' उत्सवो यस्याः सा तथा ।

शिव-शक्तिरूप तत्त्वों का परस्पर औन्मुख्य सृजन का आदि हेतु है । चर्या में माता-पिता की परस्पर उन्मुखताजन्य प्रजनन के चमत्कार से स्फुरित होने वाले विभिन्न भौतिक भावों से जन्मरूपी 'विसर्ग' होता है । विसर्ग का अर्थ 'क्षेप' भी करते हैं । कुण्ड और गोल शब्दों के द्वारा आगमिक योनि-बीज-बिन्दु विसर्ग का ही आख्यान करते हैं । इसलिये हृदय उभययामलस्फुरित विसर्गमय सिद्ध हो जाता है ।

शुक्र और शोणित (वीर्य और रज) में श्वेत रक्तकणों की दिव्य शक्ति के अनुसन्धान से एक अकलित अनुत्तर विचित्रता की अनुभूति होती है । इस विलक्षणता के कारण वह अनुत्तर स्थिति अमृतमयी हो जाती है । ऐसी स्थिति में 'कुलम् उत्पत्तिगोचरः' की उक्ति के अनुसार डिम्भ को कुलात्मक आकार प्राप्त होता है ।

जननी विमल कला का आश्रय लेने वाली है । विमल कला वर्णमाला का आश्रय सरस्वती लेती है । अतः अभिनवगुप्त की माँ सरस्वती के समान विदुषी है—यह व्यङ्ग्यार्थ यहाँ अभिप्रेत है । अथवा साक्षात् सरस्वती ही माँ बनकर अवतरित हैं ।

तथा जनकश्च कीदृशः ? 'पञ्चमुखगुप्तरुचिः' । 'पञ्चमुखः' सिंहः, सिंहगुप्तेति संज्ञया 'रुचिः' दीप्तिः सर्वत्र प्रथा यस्यासौ

'तस्यात्मजश्चुखुलकेति जने प्रसिद्ध-
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः ।'

इति वक्ष्यमाणदृशा नरसिंहगुप्तसंज्ञया ख्यात इत्यर्थः । अस्य हि ग्रन्थकृतः श्रीनरसिंहगुप्तविमलाख्यौ पितरौ, इति गुरवः ।

'सन्ति (न्तो) हि पदेषु पदैकदेशान्प्रयुञ्जानाः ।'

इति नीत्या 'भीमो भीमसेनः' इतिवद् अत्रापि नरसिंहगुप्तसिंहगुप्तपदयोः प्रयोगः ।

'अभिनव सृष्टिमहा' विशेषण भी स्वयम् अभिनवगुप्त और श्रीतन्त्रालोक-सदृश अभिनव सृष्टि (कृति) के कारण उत्सवयुक्त अर्थ दे रहा है । कुल में अभिनव जैसा कुलोद्धारक पुत्र हो या श्रीतन्त्रालोक सदृश विश्ववाङ्मय में विश्रुत आकर ग्रन्थ की रचना हो—इससे बढ़कर कौन सा 'मह' उत्सव हो सकता है ?

इनके पितृचरण के सम्बन्ध में जो दो विशेषण हैं, वे इनके माता-पिता के नाम की ओर संकेत कर रहे हैं । शिव के समान कान्तिमान् और शैवसमावेश से ओतप्रोत मेरे पिता नरसिंहगुप्त हैं—यह उनका अभिप्राय है । सिंहगुप्त से नरसिंहगुप्त का अर्थ भीम और भीमसेन की तरह लिया जा सकता है ।

"पद के एकदेश के प्रयोग से पूरे पद का बोध हो जाता है" ।

इससे यह स्पष्ट है कि साक्षात् सरस्वती रूपा सिद्ध योगिनी माँ और साक्षात् शङ्कर के समान पिता के शिवशक्ति समावेश से मेरा जन्म है और मैं भी उभय यामल समावेश से स्वयं संविद् स्वातन्त्र्य सम्पन्न शिवाद्वय विमर्श का प्रतीक हूँ । अतएव निखिल षडर्ध (त्रिक) शास्त्र का सारसर्वस्व यह आकर ग्रन्थ साधिकार सम्पन्न कर सकने में समर्थ हूँ—यह भी इससे व्यक्त हो जाता है ।

उभय यामलभाव विसर्ग और अनुत्तरामृतकुल इन विशेषणों में भी स्वात्मानुसन्धान और शुक्रशोणितवैलक्षण्य से विभूषित अमृतमय कुल (आकार) का संकेत है । इससे श्रीमदभिनवगुप्त का शारीरिक सौष्ठव, आध्यात्मिक उत्कर्ष और आधिदैविक दिव्य भाव कितना भव्य था, इसका स्वतः आकलन हो जाता है ।

'भरततनुः' इति

'शिवशक्त्यात्मकं रूपं भावयेच्च परस्परम् ।
न कुर्यान्मानवीं बुद्धिं रागमोहादिसंयुताम् ॥
ज्ञानभावनया सर्वं कर्तव्यं साधकोत्तमैः ।'

इत्याद्युक्तनीत्या द्वयोरपि शिवशक्तिसमावेशमयत्वाभिधानस्येष्टेः काकाक्षि-न्यायेन योज्यम् । तदेवम् एवंविधसिद्धयोगिनीप्रायपितृमेलकसमुत्थतया

'तादृङ्मेलककलिकाकलिततनुर्यो भवेद् गर्भे ।
उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं भक्तः ॥'

भरिततनु शब्द में भरित शब्द पूर्णसमाविष्ट दशा का बोध कराता है। कहा भी गया है। कि—

"स्त्री-पुरुष को अपने शरीर में कभी भी मानव भाव नहीं रखना चाहिये। हमेशा स्त्री को शक्ति और पुरुष को अपने को शिव मानना चाहिये। एक रस शिव का समावेश होना ही चाहिये। मानव भाव से रागमोह आदि मलों से आवृत होने का भय रहता है। साधक सत्पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि वे जो कुछ भी करें, ज्ञान की भावना से प्रकाश के परिवेश में रह-कर करें"।

इस नय के अनुसार अनुत्तर अद्वयवाद के ज्ञानात्मक प्रकाश से तादात्म्य की योग्यता साधक में आती है। अपने योग्य शक्ति-शिवरूप माता-पिता से उत्पन्न और उसी समावेश दशा में स्वयं रहने वाले अभिनवगुप्त अपने अन्दर भी उस योग्यता का संकेत यहाँ करते हैं। काकाक्षि न्याय से दोनों ओर जाने वाली दृष्टि की तरह माता-पिता के साथ पुत्र पर भी यह अर्थ लागू होता है।

इस प्रकार सिद्ध योगिनीरूप माँ और पंचमुखरूप शिव पिता के सकल संघट्ट से अभिनवगुप्त के जन्म के सम्बन्ध में यह श्लोक चरितार्थ होता है— "गर्भावस्था में जो शिशु ऊपर कहे अनुसार यदि यामल कला से कलित होता है, उसे शैव शासन में योगिनीभूः कहते हैं। ऐसा भाग्यशाली बालक स्वयं शैव परमप्रकाश का पात्र होता है और भक्त होता है"।

सम्पूर्ण त्रिक दर्शन के रहस्यों के उद्घाटन का अधिकार इन्हें है—यह सिद्ध हो जाता है।

इत्युक्तनीत्या स्वात्मनि निरुत्तरपदाद्वयज्ञानपात्रतामभिदधता ग्रन्थकृता निखिलषडर्धशास्त्रसारसंग्रहभूतग्रन्थकरणेऽप्यधिकारः कटाक्षीकृतः। अत्र च

परिवारपक्ष : जननी—

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य की माता का नाम बिमलकला (विमला) और पिता का नाम नरसिंहगुप्त था। माता और पिता प्रत्यक्ष देवता होते हैं। किसी माङ्गलिक कार्य के प्रारम्भ में माता-पिता का स्मरण आवश्यक है। शैव दर्शन में 'शक्ति' माता के रूप में और 'शक्तिमान्' पिता के रूप में मान्य है। 'विमलकला' शक्ति का पर्यायवाचो शब्द है। 'पञ्चमुख' पाँच कृत्य करने वाले शिव का बोधक शब्द है। सिंह भी पञ्चमुख होता है। इन्हीं दोनों शब्दों के माध्यम से श्लेषानुप्राणित मङ्गल श्लोक की रचना की गयी है।

पुत्र माता पिता का यामल रूप होता है। सृष्टि शक्ति और शक्तिमान् का यामल संघट्ट हो है। प्रस्तुत श्लोक में 'भाव-विसर्ग', 'अनुत्तरामृतकुल' और 'हृदय' शब्दों को इसी परिवेश में प्रयुक्त किया गया है। अमृतत्व के संस्फुरण की आकांक्षा के प्रतीक इस श्लोक में शैव अनुग्रह के साथ ही साथ शैव दर्शन का समस्त वस्तुतत्त्व उल्लसित है।

इस श्लोक में जननी के दो विशेषण दिये गये हैं। १—विमलकलाश्रया और २—अभिनवसष्टिमहा। प्रथम विशेषण का अर्थ है—विमल कला का आश्रय लेने वाली, ललित कला की पक्षधर, कला की आलम्बन अर्थात् तत्पुरुष और बहुव्रीहि समासों के अनुसार अत्यन्त उच्चकोटि की सहृदया, वात्सल्यमयी माँ और उदात्त चरित्रवती, विश्वाकलन समर्थ माता।

माता हमेशा 'मल' (ऐसे आवरण या दोष जो 'स्वबोध' में बाधक होते हैं, उनसे) रहित होती है। मलों को दूर करने की कला का आलम्बन बनती है। शास्त्र में परम शिवशक्ति संघट्ट के शाश्वत विमर्श की अनुभूति का बड़ा महत्त्व है। विमर्श के स्वभाव में कर्तृत्व का भाव अहंप्रत्यवमर्श की दशा में रहता है। विमर्श की स्वाभाविक विधि को ही जयरथ कला मानते हैं। माँ इसी का आश्रय लेती है और शुद्ध स्वातन्त्र्य शक्ति के प्रतीकरूप में प्रत्यक्ष होती है। इसीलिये उसे विमलकलाश्रया कहते हैं।

दूसरा विशेषण है—अभिनवसृष्टिमहा—'अभिनव' नामक पुत्र आदि सृष्टि, जन्म, मह = उत्सव अर्थात् अभिनवगुप्त के जन्म से प्रसन्न अथवा पुत्रजन्मोत्सव मनाने वाली महनोया माँ। इन दोनों विशेषणों के माध्यम से श्रीमदभिनवगुप्त

संभवन्त्यपि व्याख्यान्तराणि न कृतानि, ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च। केषांचिदपि व्याख्यान्तराणामासमञ्जस्यमतीव संभवदपि न प्रकाशितम्। एवं हि—

'......................तस्यै हेतुं न चाचरेत्।'

इति वक्ष्यमाणदृशा स्वात्मनि समयलोपावहं महात्मनाम् महागुरूणां

ने उस समय की नारी का प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत किया है। मातृत्व का उच्चस्तरीय स्वरूप यहाँ अभिव्यक्त है। अभिनव पुत्र को या अभिनवसदृश पुत्र को पाकर कौन माता उत्सव मनाने से दूर रह सकती है? अभिनव अर्थात् आदि सृष्टि में शुद्ध अध्वा का उल्लास रहता है। यह मान्य है कि "शुद्ध अध्वा में स्वयं शिव ही कर्त्ता होते हैं" इस नीति के अनुसार शिव के साक्षात्कार के कारण 'मह' अर्थात् सर्वाङ्गसम्पूर्णता सिद्ध शैव ऊर्जा का उल्लास उसमें होता है।

इस अद्वय त्रिक सिद्धान्त परम्परा में परम शिव परमेश्वर ही अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण आभासनमात्र रूप से अपने से अतिरिक्त न रहते हुये भी अतिरिक्त रूप से जगत् को भासित करते हैं। इसलिये दूसरे की अपेक्षा से रहित जो उनका स्वातन्त्र्य का स्वभाव है—वही जगत् का कारण है—यह शास्त्रकार मानते हैं। अविद्या और वासना से वही भेद, भेदाभेद के विकल्पों से उपहत हो जाता है। इसलिए वह जगत् के वैचित्र्य का साक्षात् निमित्त नहीं होता। उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति ही निमित्त बनती है।

इसीलिये यद्यपि चिद्-आनन्द आदि अनन्त शक्तियों से शिव सम्पन्न है, फिर भी शक्ति में ही स्फुरण होता है। स्फुरण में शक्ति का प्राधान्य तो स्वाभाविक रूप से मान्य है ही। इसी आधार पर आगे भी कहेंगे कि—"भगवान् स्वातन्त्र्य शक्ति से ही युक्त है"—यह आञ्जस (तात्त्विक या त्वारित्यमय) विधि है। अर्थात् मातृ शक्ति का ही यह प्रभाव है कि इस आश्चर्य मञ्जूषा का प्रादुर्भाव होता है।

परिवारपक्षः जनक—पिता। पिता के ऊर्जस्वल व्यक्तित्व का वर्णन बड़ा ही व्यञ्जनात्मक है। 'पञ्चमुखगुप्तरुचि' यह उनके पिता का प्रथम विशेषण है। पञ्चमुख सिंह को कहते हैं। सिंह साक्षात् धर्म का स्वरूप होता है और सर्वेश्वरी शक्ति का संवाहक है, वह शक्ति से ही गुप्त (रक्षित) भी होता है। परिणामतः उसकी रुचि (दीप्ति) बढ़ जाती है। वह प्रकाश (ज्ञान) का

निन्दाबीजमासूत्रितम्,—इति भवेत्, को नाम शान्तिकर्मारभमाणो वेतालोत्थापनं कुर्यात्, इह चास्माभिस्तद्व्याख्यासारोच्चयनस्यैव प्रतिज्ञातत्वात् तदेव क्रियते,—इति तदितरत् स्वयमेव सर्वत्रासारतया चिन्वन्तु सचेतसः—इत्यलमनेनापि वचनेन, प्रस्तुतमिहाभिदध्मः ॥१॥

पुञ्ज हो जाता है। उसका ओजपूर्ण व्यक्तित्व विश्व के उल्लास का प्रतीक बन जाता है। इस एक ही सामासिक पद में पिता के उदात्त चरित्र का, उनके प्रौढ़ मुखमण्डल का, शक्ति के उपासक होने का और योग्य पिता के योग्य पुत्र होने का हृदयहारी अभिव्यञ्जन है।

पिता का दूसरा विशेषण है—भरिततनु। सभी अभावों से रहित और पूरी तरह भरा-पूरा सुडौल शरीर ही भरित होता है। मांसल, पूर्ण स्वस्थ, आकर्षक, गूढ़जत्रु, अत्यन्त उदार और शिवत्व का साक्षात् निदर्शन पुरुष ही भरिततनु होता है।

'भरित' का अर्थ होता है—समस्त विकल्पात्मक इच्छाओं की समाप्ति के अनन्तर अपने अखण्ड भाव से परिपूर्ण। 'तनु' का अर्थ स्वभाव है। जिस व्यक्ति में अखण्ड बोधात्मक स्वभाव हो, वही भरिततनु हो सकता है। वह परमुखापेक्षी नहीं होता है—स्वतन्त्र होता है। शिव ही ऐसा है। अभिनव के पिताश्री भी ऐसे शिवत्व से संवलित थे।

पञ्चमुखरुचि शब्द भी श्लेषार्थ विशिष्ट है। चित्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान और क्रिया रूप शक्तियाँ ही शैवी मुख कहलाती हैं। इन शक्ति रूप मुखों से 'गुप्त' सुरक्षित या परिपूरित रुचि (कान्ति-इच्छा-अभिलाष) वाला शिव अथवा शिव सदृश पिता होता है। वह पञ्चकृत्यों को करने में समर्थ होता है।

जयरथ विस्तार से बचना चाहते हैं। इसलिये कहते हैं कि अन्य कई प्रकार की व्याख्याओं की सम्भावना के बावजूद मैं उनका प्रकाशन नहीं कर रहा हूँ। इससे ग्रन्थ में गौरव का भय है। साथ ही वे व्याख्यायें उपयोग में लाने लायक भी नहीं हैं। "शान्ति कर्म का आरम्भ करने वाला 'वेताल' को जगाने की विपत्ति क्यों मोल लेगा ?" इस उक्ति के अनुसार मैं जयरथ भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वही कर रहा हूँ। मेरा निश्चय है कि मैं वस्तु तथ्य को उद्घाटित करूँ। इसलिये मैं विभिन्न अर्थों की उद्भावना के लिये सहृदय समाज और सचेता सत्पुरुषों का आवाहन करता हूँ कि वे ही सार-असार का परिचयन करें ॥१॥

तदेवं परं त्रिकं परामृश्य परापरमपि परास्रष्टुमुपक्रममाणः प्रथमं तावत् परां देवीं परामृशति,

नौमि चित्प्रतिभां देवीं परां भैरवयोगिनीम् ।

मातृमानप्रमेयांशशूलाम्बुजकृतास्पदाम् ॥ २ ॥

'परां' पूर्णाम्, अत एव भिन्नमपि जगत् स्वात्मनि अभेदरूपतया पालयन्तीम् अनन्योन्मुखतया च प्रकृष्टां

'या सा शक्तिर्जगद्धातु: कथिता समवायिनी ।'

इत्याद्युक्त्या 'भैरवयोगिनीं' नित्यमेव परप्रमात्रवियुक्तत्वात् तदात्मभूताम्, अत एव

'इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ।'

पहले श्लोक में 'पर' त्रिक का परामर्श कर परापर स्वरूप का विचार करने के पहले परा देवी का परामर्श कर रहे हैं —

माता, मान और मेय रूप बाहर उल्लसित (अरा वाले) शूलों पर (आकलित, ओन्मनस) अम्बुजों पर विराजमान परा भैरव योगिनी चित्प्रतिभा देवी को मैं (सश्रद्ध) प्रणाम करता हूँ ॥

अनुत्तर अमृतत्व से ओतप्रोत हृदय के संस्फुरण की स्थिति में सर्वप्रथम श्रद्धा का उदय होता है। ग्रन्थकार को चित्प्रतिभा की दिव्यता का साक्षात्कार हो रहा है। वह जिस यामल सामरस्य के स्तर पर बैठा हुआ है—प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है—परा अर्थात् पूर्ण विश्वोत्तीर्णा किन्तु विश्वमयता को, स्वात्म में अभेद रूप से धारण करने वाली शक्ति को, वह अनुभव कर रहा है, साक्षात् परप्रमाता भैरव रूप शंकर से सदा समवायिनी, शाश्वत संयुक्त रहने वाली शिवा को, चिति की चैतन्य प्रज्ञा को, शाश्वत उल्लास की दिव्यता को और प्रमाता-प्रमाण और प्रमेय रूप तीन अरों वाले शूलकमलों पर शोभायमाना माँ को। ग्रन्थकार मात्र अनुभव ही नहीं कर रहा है, अपितु इसका चमत्कार प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर रहा है—अतएव मन्त्रमुग्ध होकर वह नमन कर रहा है ॥

चित्प्रतिभा का अर्थ चैतन्यात्मक इच्छा है। इच्छा ही प्रतिभा है, प्रज्ञा है। आदिम स्पन्दन के बार-बार उल्लसित होने की आकांक्षा है।

इत्याद्युक्त्या चिद्रूपा चासौ 'प्रतिभा' प्रज्ञा ताम् आद्योच्छलत्तात्मकत्वेन बहिरुल्लिलसिषास्वभावाम्, अत एव 'देवीं' प्रमातुरपि विश्रान्तिधामत्वात् प्रमितिरूपतया द्योतमानाम्, अत एव बहिरपि प्रमातृप्रयाणप्रमेयाण्येव 'अंशा' अरारूपा भागा यस्य 'शूलस्य' तत्र यानि औन्मनसानि अम्बुजानि, तत्र 'कृतास्पदां' तदुत्तीर्णतया भासमानां 'नौमि' देहप्राणादिप्रमातृरूपन्यग्भावेन तत्स्वरूपमाविशामि—इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवमुक्तेऽपि परास्वरूपेऽपरास्वरूपमनभिधाय, तदुभयमयस्य परापर-स्वरूपस्य वक्तुमशक्यत्वात् क्रमप्राप्तां परापरां देवीं परिहृत्य, प्रथमं तावदपरां देवीमभिमुखयति

नौमि देवीं शरीरस्थां नृत्यतो भैरवाकृतेः ।
प्रावृण्मेघघनव्योमविद्युल्लेखाविलासिनीम् ॥ ३ ॥

उस इच्छा शक्ति का यही प्रभाव है। प्रमिति रूप से प्रमाता शिव को भी विश्रान्ति देने वाली विद्योतमाना महादेवी वही है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप अंशों अर्थात् अराओं से युक्त श्री शैव शूल पर खिले औन्मनस कमल में वह निवास करती है। देह, बुद्धि और प्राण की परिधि में एक स्वरूप विस्मारक प्रमातृभाव पल रहा है। इस अशुद्ध अनात्म भाव को, बाह्य विलासा-सव रूप औपाधिक उन्माद को दूर कर परिष्कृत चित्प्रतिभा के पर परिवेश में समावेश करना ही उपासक की समस्या है, उसकी प्रमा है। प्रमा का रहस्य भी समावेश दशा में प्रवेश ही है। अर्थात् ग्रन्थकार ग्रन्थ के आदि में शक्ति समावेश की दिव्यता से विभूषित होकर ही यह सारस्वत महा प्रयास कर रहे हैं ॥ २ ॥

परा देवी के स्वरूप में अपरा स्वरूप को न कहकर, परापर स्वरूप का कथन नहीं हो सकता। इसलिये क्रम से प्रस्तुत परापरा देवी को छोड़ कर अपरा देवी को ही अपनी श्रद्धा अर्पित कर रहे हैं—

वर्षा के मेघ के घन घटाटोप से (आच्छन्न) आकाश में बिजली की कौंध के समान चमत्कारमयी नृत्यरत भैरव रूप शिव के स्वात्म में अवस्थित अपरा देवी को प्रणाम कर रहा हूँ ॥

'नृत्यतो' '**नर्तक आत्मा' (शि० ३ उ० ९ सू०)।**

इति शिवसूत्रदृष्ट्या निगूहितस्वस्वरूपावष्टम्भमूलं तत्तद्विश्ववैचित्र्यभूमिकाप्रपञ्चं प्रकाशयतो 'भैरवाकृतेः' पूर्णस्वरूपस्य परमात्मनः 'शरीरस्थाम्'

'एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः।
जाता तदैव तद्वस्तु कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते॥'

इत्याद्युक्त्या तत्तत्प्रमातृप्रमेयाद्यनन्ताभासवैचित्र्यकारितया स्वरूपाविष्टाम्, अत एव 'देवीं' जगदुल्लासनक्रीडाकारिणीम् अपरां भगवतीं 'नौमि' इति सम्बन्धः।

अत एव बहिरपि विश्वात्मना द्योतमानत्वेऽपि

'भेदभावकमायीयतेजोंशग्रसनाच्च तत्।
सर्वसंहारकत्वेन कृष्णं तिमिररूपधृत्॥'

शिव-सूत्र है—'नर्तक आत्मा'। नर्त्तन का तात्पर्य है—अपने स्वरूप को सृष्टि के मूल में रखकर विश्व के उस विचित्र प्रपञ्च का प्रकाशन। ऐसी भैरव-आकृति, पूर्ण परमशिव के शरीर में स्थित—

"निर्माण ऐसा हो—उसका यह रूप इसके अनुसार, हो—इस इच्छा के बाद वह वस्तु बनती है। यही करने वाले की 'क्रिया' है"। इस उक्ति के अनुसार परा भगवती भी प्रमाता प्रमेय आदि अनन्त जगत् का आभास करती है और स्वरूप में ही समाविष्ट है। जागतिक उल्लास की ऐसी क्रीडा करने वाली अपरा स्वरूपा माँ है—वही मेरी नमस्य है। मैं उसको प्रणाम करता हूँ।

इस तरह परा और अपरा दोनों रूपों में वही उल्लसित है और बाहर विश्वरूप से विद्योतित रहने पर भी भेदभाव के अद्वैत को उजागर करती है। साथ ही साथ मायीय कश्मल को भी प्रकाशित करती है। परिणामतः माँ शक्ति 'कृष्णपिङ्गला' बन जाती है। इसी अर्थ को यह श्लोक व्यक्त करता है—

"भेदभाव को उत्पन्न करने वाले मायीय तैजस अंश को ग्रस्त करने के कारण तथा सर्व संहारकता को कश्मलता को धारण करने के कारण वह तिमिरमयी आभा को भी उल्लसित करती है।"

यही स्थिति काले मेघ और उसमें कौंधती बिजली की भी होती है। वह भी कृष्णपिङ्गला होती है। ऐसी देवी भगवती में स्वात्मसमावेश से विश्व के रहस्यों का प्रत्यक्ष होना स्वाभाविक है। वर्षा ऋतु का विश्व जीवन में विशेष

इत्याद्युक्तस्वरूपे परप्रमातर्येव विश्रान्तत्वात् कृष्णपिङ्गलरूपाम् इत्युक्तं 'प्रावृण्मेघ-घनव्योमविद्युल्लेखाविलासिनीम्' इति ॥ ३ ॥

अथ परापरोभयस्वरूपमयीं परापरां देवीं परामृशति

दीप्तज्योतिश्छटाप्लुष्टभेदबन्धत्रयं स्फुरत् ।
स्ताज्ज्ञानशूलं सत्पक्षविपक्षोत्कर्तनक्षमम् ॥ ४ ॥

'ज्ञानं'

'एवमेतदिदं वस्तु नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥'

महत्त्व है। गभुआरे मेघों के घने कसाव से आकाश भरा-भरा-सा हो जाता है। मेघ शरीर में बिजलियों की कौंध ओर प्रकाश की चकाचौंध से दुनिया नहा उठती है।

ठीक इसी प्रकार उल्लसित परापरा भगवती का चमत्कारातिशय भी आकलन का विषय है। वर्षा घन के समान व्योम विहारी नृत्यरत भैरव रूप भगवान् के शरीर में परापरा भगवती की प्रकाशविमर्शमयी बिजली कौंधती रहती है। ऐसी दिव्य शक्ति सम्पन्न देवी के स्वात्म में मेरे सर्वस्व का समर्पण ॥ ३ ॥

इसके बाद परा और अपरा दोनों रूपों वाली परापरा देवी का परामर्श कर रहे हैं—

ज्ञानशक्ति रूपी शूल अपनी प्रज्वलित ज्योति की छटा से भेद रूपी तीन बन्धनों को भस्म करने वाला है। शाश्वत स्फुरणशील है। यह सत्पक्ष रूपी जगदानन्द और विपक्ष रूपी निजानन्द या निरानन्द को काट डालने में सक्षम है ॥

"यह वस्तु ऐसी ही है। दूसरे तरह की नहीं है—यह निश्चय है। इसका ज्ञान कराने वाली शक्ति को ही ज्ञान शक्ति कहते हैं।"

ऐसा होने पर भी इसके अन्तर में इच्छा और क्रिया शक्तियों का आसूत्रण होता है। इसी कारण यह शक्तित्रितय त्रिशूलात्मक माना जाता है। इच्छा और क्रिया के विना वस्तु बन नहीं सकती। वस्तु के बनने पर ही उसका ज्ञान होगा। "यह तीनों भाव लोलीभाव से ज्ञान में विद्यमान रहते हैं। ज्ञान भी एक शूल है।"

इत्याद्युक्तज्ञानशक्तिस्वभावमपि अन्तरासूत्रितेच्छाक्रियात्मकम्, अत एव परा-पराशब्दव्यपदेश्यम्, अत एव तत्

'लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या 'त्रिशूलम्' अत एव 'दीप्ताभिः' अप्रतिहताभिः तत्तदिन्द्रिय-वृत्तिरूपाभिः ज्योतिश्छटाभिः

'यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते ।'

इत्यादिनीत्या वक्ष्यमाणस्वरूपस्य भेदप्रधानस्य बन्धहेतुत्वाद् बन्धरूपस्य आणवादिमलत्रयस्य प्लोषकम्, अत एव 'स्फुरत्' शुद्धबोधैकरूपतया

ज्ञान प्रदात्री इन्द्रियों की वृत्तियाँ (विषय ग्रहण की शक्तियाँ) हमेशा प्रज्वलित रहती हैं। वे अप्रतिहत हैं, उन्हें रोका नहीं जा सकता। वे वृत्तियाँ दीप्त ज्योति की मानों छटायें हैं और यह सिद्धान्त ही है कि—

"जहाँ-जहाँ किरणें किलोल करती हुई दिखाई पड़ती हैं, वहाँ वहाँ स्वतन्त्र शिव ही उल्लसित होता है।"

ये ज्योति रश्मियाँ, आणव, मायीय और कार्ममल रूप तीनों बन्धनों को जलाकर राख कर देती हैं।

पक्ष, विपक्ष, सपक्ष और सत्प्रतिपक्ष ये सभी पारिभाषिक शब्द हैं। पक्ष शब्द से व्याप्य का अन्य स्थानों में अन्वय का आधार भी ग्रहण करते हैं। जैसे 'जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है' वाक्य में साध्य आग है। 'जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ धुआँ है' इस वाक्य में साध्य धुआँ है। इस नियम में साहचर्य है, इसलिये यहाँ व्याप्ति मानी जाती है। व्याप्ति का आश्रय व्याप्य कहलाता है। धुआँ पर्वत पर है, इसलिये पर्वत पक्ष होता है। उसमें व्याप्ति का रहना पक्षधर्मता है।

एक व्यक्ति घर में बैठा है। यदि उसे बादल की 'गरज' सुन पड़े, तो वह अनुमान करेगा कि लगता है कि आकाश में बादल हैं। यहाँ आकाश पक्ष हो जाता है। साध्य का जहाँ अभाव रहेगा, वह विपक्ष है। जैसे जलाशय में अग्नि का अभाव है। अतः जलाशय विपक्ष कहलाता है।

ज्ञान सर्वत्र स्फुरित है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहाँ-वहाँ बोध का स्फुरण है—यह व्याप्ति का नियम है। बोध के स्फुरण होने पर सर्वत्र परम प्रकाश

स्फुरत्तासारम्, अत एव 'सन्' च असौ 'पक्षो' जगदानन्दस्तस्य 'विपक्षाः' तदप्रथारूपा निजानन्दाद्या आनन्दा अनानन्दाश्च तेषाम् 'उत्कर्तनं' पूर्णप्रथात्मकत्वेन क्षपणं, तत्र 'क्षमं' समर्थं 'स्तात्, इति वाक्यार्थः। तदुक्तं

'जयन्ति जगदानन्दा विपक्षक्षपणक्षमाः।
परमेशमुखोद्भूतज्ञानचन्द्रमरीचयः ॥'

इति ॥४॥

का साक्षात्कार होता है। जिस समय साधक को जगत्, इसकी सत्ता और इससे प्राप्त सुख का अनुभव होता है, वह पक्ष हो जाता है। जहाँ अपूर्णता है, प्रथम का अभाव है, सुख है भी और नहीं भी है—वह विपक्ष है। ये दोनों अवस्थायें वस्तुतः बोध के वास्तविक स्फुरण की अवस्था से विपरीत हैं। बोध ही (ज्ञान का त्रिशूल हो) इन दोनों विपरीत अवस्थाओं को नष्ट कर सकता है।

यह नित्य स्फुरित है। क्योंकि शुद्धबोध रूप है। जब बोध का जागरण होता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि, सत्ता के पक्ष से आने वाले आनन्द, विपक्ष अर्थात् अनस्तित्व या अप्रथात्मक आनन्द, जो कई प्रकार के (जागतिक निरानन्द, निजानन्द आदि भ्रमात्मक) होते हैं; उन आनन्दों के उत्कर्त्तन में अर्थात् उनके वास्तविक रूप के उत्घाटन में वह समर्थ होते हैं।

इसीलिये सत्पक्ष अर्थात् अस्तित्व का प्रतीक जगत् और उसका आनन्द अर्थात् जगदानन्द, एवं विपक्ष अर्थात् संकुचित निजानन्द आदि आनन्दों का उत्कर्त्तन करने में समर्थ हों। यहाँ उत्कर्त्तन से अभिप्राय है—पूर्ण प्रथात्मक स्थिति में ला देना। इन्हीं अर्थों को यह श्लोक भी व्यक्त करता है—

"जगदानन्द रूप पक्ष और निजानन्द रूपी विपक्षों को काट कर निरस्त करने में समर्थ परमेश्वर शिव के मुख से प्रकाशित होने वाली ज्ञान रूपी चन्द्रमा की ये किरणें जयनशील हैं।"

प्रस्तुत श्लोक में भगवती परापरा का परामर्श प्रस्तुत है। ज्ञान शक्ति इच्छात्मक और क्रियात्मक भी होती है। इसीलिए यह शक्ति परा और अपरा उभय स्वभावात्मक मानी जाती है। साथ ही ज्ञान-इच्छा और क्रिया शक्ति के सह-स्फुरण के कारण यह त्रिशूल भी है। ज्ञान में तीनों का लोल उल्लास

इदानीमपरमपि त्रिकं परामष्टुमाह

स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा
क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः ।
तदेव देवीत्रयमन्तरास्ता-
मनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरूपम् ॥५॥

'स्वातन्त्र्यरूपा शक्तिः' यस्यासौ अनन्तशक्तिर्भगवान् शिवः, 'क्रमस्य'

शाश्वत रूप से रहता है। ज्ञान प्रकाशात्मक होने के कारण निरन्तर दीप्तिमन्त रहता है। इसकी हमेशा प्रज्वलित ज्योति की आभा में आणव कार्म और मायीय रूप तीनों कर्मबन्धनों को भस्म कर देने की पूर्ण क्षमता होती है।

शिवमुखचन्द्रमरीचिकी दीप्ति-छटा ही बोध।
पक्ष विपक्ष सपक्ष का नाशक है—यह शोध ! ॥४॥

अब त्रिक के अपर रूप का परामर्श कर रहे हैं—

स्वातन्त्र्य शक्ति (शिव), क्रम के सर्जन की इच्छा और भेद प्रधान क्रमात्मकता यह तीनों बातें विभु की विभूतियाँ हैं। यही तीन देवियाँ हैं। (ये तीनों) मेरे अनुत्तर 'स्व' रूप को प्रथित करती हुई मेरे अन्तस् में (ऐक्य भाव से स्फुरित हों।

सर्व समर्थ विभु भगवान् भवानी शंकर की तीन विभूतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। १—स्वातन्त्र्यशक्ति, २—देश और काल के रूप में व्यक्त विश्व-वैचित्र्य के सृजन की इच्छाशक्ति और ३—अनन्त-अनन्त रूपों में भासमान संकुचित आत्म रूप को अभिव्यक्ति में विभूषित क्रमात्मकता। इसे दूसरे शब्दों में 'नरशक्तिशिवात्मिका' भो कहते हैं। यही भगवान् विभु की महाविभूति है। इन दिव्य शक्तियों को 'देवोत्रय' शब्द से अभिहित किया गया है।

यह देवीत्रय का अनुग्रह है कि अपना ही इस प्रकार के विस्तार होने के बावजूद भी 'स्व' के अनुत्तर रूप का तिरोधान नहीं हो सका है। अर्थात् इस बाह्य उल्लास की स्थिति में मेरा वास्तविक रूप प्रकाशित है और यह प्रथन इन्हीं देवियों द्वारा हो रहा है। यह तीनों मेरे अन्तरैकात्म्य भाव से स्फुरित हों॥

'स्वातन्त्र्य' जिसकी शक्ति है, वह शिव है। क्रम का भी (प्रकाशन वही करते हैं)—

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः ॥' (ई० २।१।५)

इत्याद्युक्तनीत्या देशकालात्मनो विश्ववैचित्र्यस्य सर्गस्य, सम्यग्भेदेन 'सिसृक्षा' जगत्सृष्टिनिमित्तं पारमेश्वरी इच्छारूपा शक्तिः, 'क्रमात्मता'

'क्रमो भेदाश्रयो भेदोऽप्याभाससदसत्वतः ।' (ई० २।१।४)

इत्यादिनीत्या भेदप्रधानं तत्तदनन्ताभाससंभिन्नं संकुचितात्मरूपं नरत्वम्, इत्येवं येयं नर-शक्ति-शिवात्मिका 'विभोः' भगवतः परस्यानुत्तरस्य प्रकाशस्य 'विभूतिः' तत्तत्स्फुरणात्मत्वेन ऐश्वर्यं 'तदेव' क्रमेण तत्स्फारसारत्वात् समनन्तरोक्तस्वरूपं 'देवीत्रयं परप्रकाशात्मकत्वात् 'अनुत्तरं' 'स्वं' सर्वकर्तृत्वादेरसाधारणं 'रूपं' 'प्रथयत्' तत्तद्भेददशोदयेऽप्यतिरोदधत् मम आत्मनः 'अन्तरास्ताम्' ऐकात्म्येन स्फुरतात्—इत्यर्थः ॥५॥

एवं स्वदर्शनोचितदेवतापरामर्शानन्तरं तत्स्वरूपानुप्रवेशेनैव युगपद् गणेशवटुकावपि अभिमुखयति

"मूर्ति के वैचित्र्य से शिव देशक्रम का और क्रियावैचित्र्य के आभासन से काल क्रम का आभास करते हैं।" (ई. २।१।५)

देश और कालात्मक विश्व की विचित्रता से परिपूर्ण इस सृष्टि की निर्मिति परमेश्वर की इच्छा से ही होती है।

'क्रम सर्वदा भेद का आश्रय होता है। भेद भी आभास की सत् असत् स्थिति पर निर्भर होता है"। (ई. २।१।४)

इन तीन नियमों के अनुसार भेद प्रधान अनन्त आभासों में भासमान, संकुचित आत्म रूप ही 'नरत्व' कहलाता है। यह परमेश्वर की विभूति भी नर-शक्ति-शिवात्मिका होती है। यह अनुत्तर प्रकाश रूप विभु का ऐश्वर्य है। यही देवीत्रय है। प्रार्थना है कि अनुत्तर परमशिव अपने सर्वकर्तृत्व मय असाधारण स्वरूप का, जागतिक भेद को दशाओं में मेरे लिप्त होने पर भी, तिरोधान न होने दें और सदा मन में चिदैक्यानुभूति भाव से स्फुरित होते रहें ॥ ५ ॥

अपने दृष्टिकोण और आगमिक नियमों के अनुसार नरशक्ति शिवात्मक देवता का विचार करने के अनन्तर उसके 'स्व' रूपों में अनुप्रवेश को इच्छा से गणेश और वटुक इन दोनों का आकलन कर रहे हैं—

तद्देवताविभवभाविमहामरीचि-
चक्रेश्वरायितनिजस्थितिरेक एव ।
देवीसुतो गणपतिः स्फुरदिन्दुकान्तिः
सम्यक्समुच्छलयतान्मम संविदब्धिम् ॥६॥

एक एव अनन्यापेक्षतया निःसहायो 'गणस्य' करणचक्रस्य

'दिनकरसममहदादिकगणपतितां वहति यो नमस्तस्मै ।'

इत्यादिदृशा 'पति' अहङ्काररूपः प्रभुः, अत एव 'तासां' समनन्तरोक्तानां देवानां 'विभवेन' परप्रकाशात्मना स्फारेण

'यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभः कुसुमायते ।'

उस दिव्य शक्ति सम्पन्न परमेश्वर के परप्रकाशात्मक विभव से भूषित, इन्द्रियों की मञ्जुल मरीचियों से मनोज्ञ, चक्रेश्वर की तरह स्फुरित, स्वात्म में स्थित, एकत्व से विभूषित, चन्द्रवत् सुन्दर और शाश्वत स्फुरणशील, देवी के पुत्र गणपति मेरे संविद समुद्र को सम्यक् रूप से समुच्छलित करें ॥

यहाँ गण का अर्थ करण है—इन्द्रियों का समूह। समूह रूप से वह एक है। उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। अतएव वह निरपेक्ष है। वह स्वयं विश्व का सहायक है। उसकी कोई सहायता नहीं करता। अतएव निःसहाय है। अर्थात् वह स्वतन्त्र है। कहा गया है कि—

"जो सूर्य के समान महत् प्रकृति आदि पदार्थ समूह के गणपति (स्वामी) का भार वहन करता है—उसे नमस्कार है।"

गण का पति एक ही होता है। गणपति शब्द एकवचन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे किसी की अपेक्षा नहीं। किसी की मदद की जरूरत नहीं, वह अनन्य और अन्य निरपेक्ष परमेश्वर है। वह चक्रेश्वर है। सभी गण मिलकर एक चक्र बनाते हैं। भूतगण, तन्मात्रगण, इन्द्रियगण, अन्तःकरण मायापरिवार और शुद्धतत्त्व सभी गण हैं। इनका चक्रप्रतीक यह शरीर है। इसका स्वामी गणपति ही हो सकता है। वही चक्रेश्वर है। 'क' से लेकर 'स' पर्यन्त व्यञ्जन वर्ण गण का स्वामी 'क्ष' है। इसमें क्—स् प्रत्याहार का अध्याहार होता है और यह वाङ्मय-पुरुष भी गणपति का स्वतः प्रतीक सिद्ध हो जाता है।

इति वक्ष्यमाणनीत्या भवनशीलाः तन्मयतया परिस्फुरन्त्यो या महामरीचयः, तत्तदिन्द्रियदेवताः तासां यत् 'चक्रं' तत्रेश्वरवदाचरन् निजस्थितिर्यो 'मम' आत्मनः 'संविद्' एव अनवगाह्यत्वात् 'अब्धिः' 'सम्यक्' विषयकालुष्यविलायनेन समन्तात् सर्वत एव तत्तदिन्द्रियप्रसृतसंविद्द्वारेण 'उच्छलयतात्' विकासयतात् तदेकमयतामुत्पादयतात्—इत्यर्थः।

इसके अनुसार वह अहं रूप प्रभु ही पति है। अतएव उन देवताओं के विभव से अर्थात् पर प्रकाश रूप ऐश्वर्य के स्फार से "जो वहाँ विश्रान्त नहीं है—वह आकाश कुसुमवत् हो है"।

इस आगे चर्चित उक्ति के अनुसार उससे ही उत्पन्न होने वाली (और तन्मय भाव से स्फुरित) जो महामरीचि रूप इन्द्रिय देवियों का समूह (चक्र), उसके प्रति ईश्वर (स्वामी) की तरह आचरण करने वाला है और स्वात्म में ही अवस्थित है।

इन विशेषताओं से विशिष्ट ऐसा चक्रेश्वर, अनवगाह्य मेरे संविद्-समुद्र को विषयरूपी कलुषता को अच्छी तरह विनष्ट करता हुआ इन्द्रिय रूप से विस्तृत संविद् के द्वारा ही विकसित करे अर्थात् चिदैक्यानुभूति को प्रकाशित करे।

समुद्र में जब उच्छलन होता है—उस समय दर्शक को चन्द्रसौन्दर्य की छटा का अनुभव होता है। इसीलिये उसे इन्दुकान्ति की तरह स्फुरणशील कहा गया है। वस्तुतः इस वर्णन में **अपान व्याप्ति** के रहस्य का उद्घाटन किया गया है।

कोई ऐसा परमेश्वर ही संविद् समुद्र में ज्वार को उद्वेलित कर सकता है। विना इस उद्वेलन के श्रीतन्त्रालोक जैसे महान् उपजीव्य शास्त्र का प्रकाशन ही कैसे सम्भव है? उसी परमेश्वर ने चक्रेश्वर के समान आचरण कर मेरे इस भौतिक घनत्व में दिव्यता के अमृत का तरलत्व भी स्पन्दित कर दिया है। इसीलिए उसको सन्नन्त प्रत्यय से अभिव्यक्त किया गया है। चक्रेश्वर का सबसे बड़ा गुण उसकी 'निजस्थिति' है। यह पारिभाषिक शब्द है। जैसे श्रीमद्भगवद्-गीता में कृष्ण के माध्यम से भगवान् द्वैपायन ने 'स्थितप्रज्ञ' 'स्वधर्म' 'स्वकर्म' 'क्षेत्र' इत्यादि नये शब्द का प्रयोग किया है—'निजस्थिति' शब्द भी प्रथमतः श्रीतन्त्रालोक के इस पद्य में प्रयुक्त है। स्व में स्थित रहने पर पशु भी पशुपति बन जाता है। दुर्गासप्तशती में भी 'स्वस्थैस्स्मृता' शब्द का प्रयोग है। 'स्व' में संविद् वपुष् परमेश्वर स्थित रहता है।

अब्धिसमुच्छलनसमुचितत्वाच्च 'स्फुरदिन्दुकान्तिः' इत्युक्तम्। वस्तुतो हि अपानव्याप्तिरस्यास्ति इत्येवं निर्देशः।

अथ च 'देवीसुतो' वटुकोऽप्येवंविधः, किन्तु शरीरस्य धवलिम्ना 'स्फुरदिन्दुकान्तिः'। अस्य हि प्राणव्याप्तिरस्ति इत्येवं निर्दिशन्ति गुरवः। 'देवीसुत' इत्युभयोरपि कुलशास्त्रोचितोऽयं व्यपदेशः। तदुक्तम्

वह एक ही है। इस एकत्व में बहुत्व अन्तर्निहित है। चक्रेश्वर एक ही हो सकता है। विधि का अधिष्ठाता और अधिपति वही है। उसके रू-ब-रू होकर लाट् का प्रयोग तथा लाट् में भी स्तात् का प्रयोग कर तान्त्रिक दृष्टि का पूरा समीकरण प्रस्तुत कर दिया गया है। देवों और दानवों ने मिलकर समुद्र का मन्थन किया था और उसमें अनपेक्षित पदार्थों का उल्लास हुआ। इस समुद्र मन्थन का एकमात्र अध्वर्यु एक ही है। संविद् के समुद्र से उच्छलन भी संविद् का ही हो सकता है। किसी अशुद्ध अध्वा के अशुद्ध तत्त्व का नहीं।

यह ध्यान देने की बात है कि मूलाधार की कर्मेन्द्रिय गुदा और ज्ञानेन्द्रिय नासिका है; किन्तु अन्य सारी इन्द्रियों की किरणों में इसी की ऊर्जा का उत्स है। यही 'अपान व्याप्ति' का मूलमन्त्र है।

और भी—देवीसुत तो वटुक भी है। वह शारीरिक अनिन्द्य सौन्दर्य से समन्वित गौरवर्ण से उद्दीप्त होता है। इसीलिये वह 'स्फुरत्-इन्दुकान्ति' शब्द के माध्यम से कहा गया है। इन उक्तियों में **प्राण व्याप्ति** का रहस्य उद्घाटित है। गण प्राण ही है।

गणपति प्राण की ऊर्जा का दूसरा नाम है। प्राण समस्त शरीर स्थित जीवन्त कोशिकाओं का, इन्द्रियों का स्वामी है। 'प्राक् संविद् प्राणे परिणता' के अनुसार संविद् (देवी) का पुत्र प्राण ही है। उससे सम्बन्धित सभी इन्द्रियरूपी देवताओं का विभव भी महान् है। उनसे निरन्तर प्रकाश की किरणें फूटती रहती हैं। परिणाम स्वरूप प्राण भी चक्रेश्वर के समान अपनी स्वातन्त्र्य-सत्ता रखता है। यह सोमतत्त्व से भी समन्वित है और ज्योत्स्ना का विस्तार करता है। प्राण पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने कारण रूप स्वात्म संविद्-समुद्र को हमेशा-हमेशा समुच्छलित करता रहे। यह 'प्राण व्याप्ति' की प्रक्रिया का संकेत है।

गणपति मूलाधार चक्र है। उसके संकोच-विकोच-विधि से समस्त चक्रों में स्थित बीज मन्त्र रूपी देवताओं में एक विचित्र ऊर्जा फूटती है और सहस्रार

'देवीपुत्रोऽत्र वटुकः स्वशक्तिपरिवारितः।'

इति।

'गणेशो विघ्नहर्तासौ देवीपुत्रः···············।'

इति च ॥६॥

तक प्रस्फुटित हो जाता है। ऐसा सोमरूपी अपान का आधार, कान्ति की सृष्टि करता है। वह संविद्-समुद्र को सतत समुच्छलित करे।

वस्तुतः संविद् अगम होने के कारण अब्धि है। इन्द्रिय देवताओं का विभव भी परप्रकाशात्मक संविद् शक्ति का उल्लास ही है।

देवीसुत शब्द शास्त्र के अनुसार ही गणेश और वटुक दोनों अर्थों को व्यक्त करने के लिये ही प्रयुक्त है। कहा भी गया है—

"देवीपुत्र वटुक अपनी शक्तियों के परिवार से समन्वित है तथा—विघ्नों को दूर करने वाले गणेश भी देवीपुत्र हैं।"

देवीसुत के विभवगत आधार पर प्रकाश रूप से शाश्वत शक्तिस्फुरण की अनुभूति साधना का विषय है। यहाँ उसका मात्र संकेत है। उसकी विधि अलग है, जिससे प्रकाश के उल्लास को प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

यहाँ शारीरिक रचना मूलाधारचक्र, अपान व्याप्ति और प्राणव्याप्ति की ओर संकेत किया गया है। साधन और उपासना के द्वारा प्रकाश का सोमात्मक उल्लास कैसे होता है, तथा संविद्-समुद्र में ज्वार के समान उल्लास कैसे होता है, इन प्रश्नों का यहाँ समाधान भी है।

गणपति गणेश का पर्याय है। गणेश विघ्न विनाशक देवों में प्रथमतः पूज्य और पाँच उपास्य देवों में से एक हैं। ये पार्वती के पुत्र हैं।

दिव्य शक्तिमयी देवी का पुत्र होना विशेष अभिप्राय को प्रकट करने वाला विशेषण है। गणेश के गण रूप से विख्यात देवताओं का भी महान् ऐश्वर्य है। उनसे उत्पन्न पवित्र किरणों के कारण इनकी स्थिति चक्रेश्वर सी हो जाती है। उनसे चन्द्रमा की शीतल रश्मियाँ फैलती हैं। ऐसे सोमतत्त्वाधिपति गणेश मेरे संविद्-समुद्र को अच्छी तरह उच्छलित करें—यही प्रार्थना है। सोमतत्त्व का प्राधान्य 'अपान तत्त्व' की व्याप्ति का आधार है।

इह खलु शास्त्रादौ

………………स्रोतोभेदं संख्यानमेव च ।
प्रवर्तयेद् गुरुं स्वं च स्तेयी स्यात्तदकीर्तनात् ॥'

इत्याद्युक्तदृशा अवश्यमेव शास्त्रकारैः स्वगुर्वादेः कीर्तनं कार्यम्, अतश्च वक्ष्यमाणशास्त्रस्य कुलतन्त्रप्रक्रियात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि

'नभःस्थिता यथा तारा न भ्राजन्ते रवौ स्थिते ।
एवं सिद्धान्ततन्त्राणि न विभान्ति कुलागमे ॥
तस्मात्कुलादृते नान्यत्संसारोद्धरणं प्रति ।'

इत्याद्युक्त्या कुलप्रक्रियायाः प्रक्रियान्तरेभ्यः प्राधान्यात्

'भैरव्या भैरवात्प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये ।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने ॥
कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना ।'

इत्यादिनिरूपितस्थित्या तदवतारकं तुर्यनाथमेव तावत् प्रथमं कीर्तयति

कुलाम्नाय में कालोकुल और श्रोकुल की अवस्थायें साधक मनीषियों को अवश्य ही अनुभूत होती हैं। यहाँ प्रयुक्त 'देवीसुत' शब्द दोनों आम्नायों की विधियों का संकेत करता है। साधना स्थिति में जहाँ महाशक्ति का प्राधान्य होता है, वहाँ से दो दिशायें स्पष्ट दीख पड़ती हैं। पहली अमा दिशा और दूसरी राका दिशा। अमा की ओर के उल्लास में कालो शक्ति और राका को ओर संविद् स्फूर्ति में श्रोविद्याशक्ति की पीयूषवर्षा होती है। तारा इत्यादि महाविद्याओं के उत्स विन्दु भी शक्ति समुल्लास के इसी परिवेश में हैं। इसोलिये श्री परम माहेश्वर जयरथ ने अपने विवेक भाष्य में 'कुलशास्त्रोचितोऽयं व्यपदेशः' के प्रसङ्ग में इनका संकेत दिया है ॥६॥

शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि 'उस स्रोत का उल्लेख किया जाय, जिससे उसकी उत्पत्ति है—जो उसका उद्गम विन्दु है। इसीलिये—'स्रोतोभेदं संख्यानमेव च' के माध्यम से उसका प्रवर्त्तन कर रहे हैं। साथ ही अपनी गुरुपरम्परा का भी उल्लेख होना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता, वह एक प्रकार से

रागारुणं ग्रन्थिबिलावकीर्णं
यो जालमातानवितानवृत्ति ।
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार
स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः ॥७॥

'स' सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः

'मच्छाः पाशाः समाख्यातश्चपलाश्चित्तवृत्तयः ।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः ॥'

चोर माना जाता है।' दूसरों के विचार का जब उद्धरण दिया जाय –या उनकी कही बात की जाय—तो उनका प्रसङ्ग-पूर्वक कथन करना ही चाहिये।

जिस शास्त्र का यहाँ प्रवर्तन हा रहा है, उसके दो विभाग हैं--या दो दृष्टियाँ हैं--१. कुल दृष्टि और २. तन्त्र दृष्टि। इसके द्वैविध्य में भो—

"जैसे सूर्य के चमकते रहने पर आकाश में राजमान तारे नहीं चमक सकते, उसी तरह कुलागम के प्रकाश के सामने सिद्धान्तवादी तन्त्रों की विभा अवश्य ही क्षीण हो जाती है। इसलिये संसार की सांसारिकता से उद्धार के लिये कुल दृष्टि के अतिरिक्त काई मार्ग नहीं"--यह कहा गया है। इससे प्रक्रियान्तरों की अपेक्षा कुल प्रक्रिया को प्रधानता के कारण हो—

"भैरवी (पार्वती) द्वारा भैरव (शिव) से प्राप्त याग की व्याप्ति का अनुभव कर उससे ही 'मीन' नामक सिद्ध पुरुष महात्मा मच्छन्द ने हे सुमुखि! कामरूप महापीठ में (यह दृष्टि अवतरित की)" इत्यादि।

इस निरूपण से उस दृष्टि के प्रवर्त्तक महात्मा तुर्यनाथ का ही प्रथमतः कथन किया जा रहा है--

'सः' का अर्थ है सारे कुलशास्त्र के अवतरित करने के कारण प्रसिद्ध। 'मच्छ' पाशों को कहते हैं। चित्त की चञ्चल वृत्तियाँ ही पाश हैं। उनके छेदन करने के कारण ही इन्हें मच्छन्द कहते हैं।

इस कथन से मच्छन्द का स्वभाव ही पाश छेदन करने वाला है। परमेश्वर के समावेश से वे संवलित है। अतः 'विभु' है। ग्रन्थकार कहते हैं—

इत्याद्युक्त्या पाशखण्डनस्वभावो मच्छन्द एव परमेश्वरसमावेशशालित्वात् 'विभुः' मम प्रसन्नः 'स्तात्' स्वात्मदर्शनसंविभागपात्रतामाविष्कुर्यात् इत्यर्थः। यो 'जालं' मत्स्यबन्धनम्, इन्द्रजालप्रायां च मायां 'बाह्यपथे चकार'

'अष्टौ सिद्धा महात्मानो जालपृष्ठाः सुतेजसः।'

इत्याद्युक्त्या तुरीयतास्वरूपावहितत्वेन संकोचापहस्तनादनवधेयतां च

वह मुझ पर प्रसन्न हों। प्रसन्नता से यही तात्पर्य हो सकता है कि स्वात्मदर्शन के अनुसन्धान में मेरी पात्रता का प्रकटन करें। इन्होंने ही जाल को (मत्स्य-बन्धन—इन्द्रजाली माया को) 'बाह्य पथ' में अर्थात् हमारे प्रकाशपरिवेश से बाहर, कर दिया। कहा गया है—

"आठ जालपृष्ठ, तेजःसम्पन्न, सिद्ध महात्मा हैं"।

इस उक्ति से स्पष्ट है कि तुरीया वृत्ति में उन्होंने ही अवहित किया—संकोच का अपहस्तन किया और सावधान बनाया। 'राग' दो हैं—गैरिक आदि द्रव्य और रागतत्त्व। दोनों से 'अरुण' लाल बनाया अथवा समस्त भेदों की इयत्ता और उनकी प्रसरात्मकता के दर्शन कराये। 'ग्रन्थि' जाल की गाँठों और मलात्मक पाश की गाँठों, 'बिलों'—जाल छेदों और भोगवाद से 'अवकीर्ण' व्याप्त, 'आतानवितानवृत्ति' अर्थात् तानने और बटोरने में सरल तथा सृष्टि संहार तत्त्वों में युक्त 'कलया' चातुरी से या कला तत्त्व से उम्भितम्—आरम्भ किया-परिचित कराया। कहा गया है—

"माया रूप ही जाल होता है। कुल तत्त्व द्रष्टा उसका दारण करता है। जाल नाडीसूत्रों से निर्मित और पूरे आकार का भी होता है। वह भुवन और इन्द्रियों से युक्त होता है। अच्छी गाँठों से गठित रहता है। कलात्मक और लाल होता है"।

इस पद्य में प्रयुक्त रागारुण, ग्रन्थिबिलावकीर्ण, जाल, आतानवितानवृत्ति और कलोम्भित, ये सभी शब्द श्लेषानुप्राणित हैं। ये जाल पक्ष में और मायात्मक इन्द्रजाल समन्वित कुल प्रक्रिया पक्ष में भी अपने अर्थ का चमत्कार प्रदर्शित करते हैं। इनमें जाल शब्द विशेष्य है और अन्य शब्द विशेषण। संक्षेप में इनको इस प्रकार समझा जा सकता है—

जाल—मछलियों, पक्षियों अथवा बन्दर आदि पशुओं को पकड़ने का बन्धन। मूर्ख मछली गहरे जल में सुखी रहती है। पक्षी उन्मुक्त आकाश में

निन्ये इत्यर्थः। तच्च 'रागेण' गैरिकादिद्रव्येण रागतत्त्वेन च 'अरुणं' लोहितीकृतम् इर्यात गच्छति इत्यर्थानुगमात् तत्तद्भेददशाप्रसररूपं च, तथा 'ग्रन्थिभिः' बन्धनैः 'बिलैः' च सलिलनिर्गमनस्थानैः 'ग्रन्थौ' मायाया द्वितीयस्मिन् भेदे 'बिलैः' बिलाकाराभिः भगसंज्ञाभिर्भोगभूमिभिश्च 'अवकीर्णं' व्याप्तम्, तथा 'आतानवितानवृत्ति' आयामपार्श्वमानयुक्तं विश्वाकारत्वात् सर्वतः प्रसरद्रूपं च, तथा 'कलया' विच्छित्तिविशेषेण कलातत्त्वेन च अर्थात्क्षितिपर्यन्तेन 'उम्भितम्' आरब्धम्। यदुक्तम्

उड़ता हुआ भी अज्ञ बना रहता है। पशु पशुता की पाशबद्धता में बँधा ही रहता है। इसी तरह यह मानव सन्तान भी पाशबद्ध पशु और जालबद्ध पक्षी हो गया है।

इस प्रकार जाल मनुष्य की अज्ञता में बँधे रहने के मायात्मक इन्द्रजाल का दोहरा अर्थ भी व्यक्त करता है। सारा जगत् इससे बँधा हुआ है—यह स्पष्ट है।

रागारुण—जाल लाल धागे से सुन्दर ढङ्ग से बनाया जाता है, जिससे वह देखने में बड़ा मोहक लगता है। कीट पतङ्ग उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

मायात्मक इन्द्रजाल 'राग' नामक कलमष कञ्चुक से आकर्षक होता है। उसकी अरुणिमा में 'अणु' उसी प्रकार उड़कर पड़ जाने को आकुल रहता है, जैसे दीपशिखा पर पतङ्ग। अरुण का अर्थ भेद का सार भी होता है। रागभेद के फैलाव से यह भरा होता है।

शीश हिलाकर दीपक कहता—बन्धु वृथा ही तू क्यों जलता ?—पर वह जल कर के ही रहता। कितनी विह्वलता है ? इस रागारुणता में पड़ने की पशु को यही विह्वलता रहती है।

ग्रन्थिबिलावकीर्ण—जाल में गाँठें होती हैं। गाँठों के पास छिद्रों का सौन्दर्य होता है। वे छेद पकड़ने वाले की अँगुलियों के छलना भरे आश्रय होते हैं। गाँठों और बिलों से भरे जाल से छूटना प्रायः असम्भव ही होता है।

माया शक्ति ग्रन्थिप्रदात्री शक्ति है। जीवन को गाँठ में माया ही बाँधती है। दुनिया के सारे आकर्षण सूत्र जीव मात्र को फँसाने के लिये मकड़ी के जाले की तरह फैले हुए हैं। बाँधते समय का बन्धन ही गाँठ बन जाती है। बिल की तो बात ही मत कीजिये। संस्कृत में भोग की भूमि को भग कहते हैं। भग योनि को भी कहते हैं। योनि कारण रूपा और रहस्यमयी होती है। यही अज्ञ अधम लोगों के लिये बिल बन जाती है। बिल से अणु साँस तो ले सकता है,

'मायारूपं भवेज्जालं दारयेत्कुलचिन्तकः ।
विश्वाकारं महाजालं नाडीसूत्रनियोजितम् ॥
भुवनाक्षसमोपेतं तत्त्वग्रन्थिदृढीकृतम् ।
कलारागयुतं चैव....................................॥'

इत्यादि ॥७॥

'श्रीमच्छ्रीकण्ठनाथाज्ञावशात्सिद्धा अवातरन् ।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये ॥
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने ।
आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात् ॥
स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः ।
अतश्चार्धचतस्रोऽत्र मठिकाः सन्ततिक्रमात् ॥'

पानी की तरह बाहर नहीं निकल सकता। कुलसाधना से तरलता पाकर कोई भाग्यशाली साधक ही इस बिल से निकल सकता है।

आतान-वितानवृत्ति— जाल फैलाई और समेटो भी जा सकती है। मछुवा जाल को दूर फेंककर फैला देता है। फँसी मछलियों के साथ उसे समेट भी लेता है। इसी प्रकार माया शक्ति ने इसे विश्व रूप में आतानित कर दिया है, फैला दिया है। 'आ' और 'वि' उपसर्गों द्वारा इस फैले महाप्रसार और इसे समेट लेने की शक्ति की ओर संकेत किया गया है।

कलोम्भितम्—(कला + उम्भित) कलाबाजियों से भरा हुआ जाल होता है। जमीन में गाड़कर ऊपर से दाना फैलाकर कबूतरों को पकड़ने की प्रसिद्ध कहानी पञ्चतन्त्र में आती है।

कला—पञ्चकञ्चुकों की एक कञ्चुक है। कला तत्त्व से ही अशुद्ध अध्वामय पृथ्वी पर्यन्त—पार्थक्य प्रथा—प्रक्रिया की पुरातन प्रवृत्ति प्रवर्तित है। इस कला तत्त्व का यह आकलन कुलात्मकता को अलंकृत करता है। इसी से यह उम्भित है—पूर्ण है—आरम्भित है।

मच्छन्दविभुका मानवता को यह महान् अवदान है कि उन्होंने इसे सबके लिये सुलभ बना दिया। भीतर पड़े जाल को बाहर लाकर उसके स्वरूप से सबको अवगत कराया। ऐसे महातेजस्वी जालपृष्ठ आठ सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ विभु रूप मनीषी मच्छन्द की प्रसन्नता ग्रन्थलेखक के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है ॥७॥

इति वक्ष्यमाणस्थित्या श्रीसन्तत्यामर्दकत्रैयम्बकार्धत्रैयम्बकाख्यासु सार्धासु तिसृषु मठिकासु मध्याद् वक्ष्यमाणतन्त्रप्रक्रियायाः त्रैयम्बकमठिकाश्रयणेन आयातिक्रमोऽस्ति इति सामान्येन तावद् गुरूनभिमुखयति

त्रैयम्बकाभिहितसन्ततिताम्रपर्णी-
सन्मौक्तिकप्रकरकान्तिविशेषभाजः ।
पूर्वे जयन्ति गुरवो गुरुशास्त्रसिन्धु-
कल्लोलकेलिकलनामलकर्णधाराः ॥८॥

'त्र्यम्बक' इति 'अभिहिता' 'सन्ततिः' मठिका इत्यर्थः ॥८॥

एव

शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन्महात्मनाम् ।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ॥
कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरम् ।
कलापिग्रामप्रमुखमुच्छिन्ने शिवशासने ॥

"श्रीमान् श्रीकण्ठ की आज्ञा से ही **त्र्यम्बक, आमर्दक** और **श्रीनाथ** नामक क्रमशः अद्वयवाद, द्वैतवाद और द्वयाद्वयवाद के प्रवर्त्तक अत्यन्त विचक्षण सिद्ध अवतरित हुए। इनमें त्र्यम्बक की वंशपरम्परा प्रवर्त्तित हुई। आमर्दक की पुत्री का वंश क्रम चला। वह सन्तान अर्ध त्रैयम्बक रूप से प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार यह तीन की जगह साढ़े तीन हो गयी। इनकी परम्परायें चलीं। सन्ततिक्रम से ये मठिकायें स्थापित हुईं।"

इस प्रसङ्ग के अनुसार श्रीसन्तति, आमर्दक, त्रैयम्बक और अर्द्ध-त्रैयम्बक यह साढ़े तीन मठिकायें हुईं। इनमें से त्रैयम्बक मठिका से ही इस प्रस्तुत तन्त्र प्रक्रिया का प्रवर्त्तन हुआ। इसलिये सामान्यतया इन गुरुजनों का स्मरण कर रहे हैं—

परम पाशुपताचार्य भगवान् श्रीकण्ठनाथ ने अद्वयवादी शैव शास्त्र का प्रवर्त्तन किया था। त्र्यम्बक उसी अद्वैतवादी परम्परा के प्रवर्त्तक श्रीकण्ठ के पुत्र हैं। इनसे यह परम्परा आगे बढ़ी।

आमर्दक द्वैतवादी परम्परा के प्रवर्त्तक थे। श्रीनाथ नामक आचार्य द्वैताद्वैत परम्परा के प्रवर्त्तक थे। त्र्यम्बक से चलने वाली परम्परा को ही इस पद्य में त्रैयम्बक सन्तति कहा गया है। साथ ही यह भी व्यक्त किया गया है कि

कैलासाद्रौ भ्रमन्देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥

मुनिं दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम् ।
नोच्छिद्यते यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ॥

ततः स भगवान्देवादादेशं प्राप्य यत्नतः ।
ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् ॥
(शिव० १०७-१११)

इत्याद्युक्त्या कलिकालुष्याद्विच्छिन्नस्य निखिलशास्त्रोपनिषद्भूतस्य षडर्धक्रम-विज्ञानस्य त्रैयम्बकसन्तानद्वारेण अवतारकत्वादाद्यं कैलासस्थं श्रीश्रीकण्ठ-नाथख्यं गुरुं प्रसङ्गाद् मठिकान्तरगुरूंश्चोत्कर्षयति

जयति गुरुरेक एव श्रीश्रीकण्ठो भुवि प्रथितः ।
तदपरमूर्तिर्भगवान् महेश्वरो भूतिराजश्च ॥९॥

'एक एव गुरुः' इत्यनेन अस्य अवतारकत्वं सूचितम् । 'महेश्वर' इति यः श्रीसन्तत्यर्धत्रैयम्बकाख्यमठिकयोर्गुरुतया अनेन अन्यत्रोक्तः परमेश इति ईश इति च । यदाह

अन्य प्राचीन आचार्य भी त्र्यम्बक मनीषा की मौक्तिक माला से प्रभावित थे। ग्रन्थकार इसी क्रम में अद्वैतवादी त्र्यम्बक परम्परा का स्मरण कर रहे हैं—

त्रैयम्बक नाम से यह अद्वैतवादी परम्परा (सन्तति) अभिहित है । उस परम्परा रूपी ताम्रपर्णी से विमर्शात्मक मोतियों की राशि तन्त्र शास्त्र में प्रकट हुई । उनकी शोभा से सबसे पहले प्रकाशित होने वाले वे महामनीषी थे, जिन्होंने परमगुरु श्रीकण्ठ द्वारा प्रवर्त्तित गुरु-शास्त्र का आलोडन किया । वह शास्त्र मानो सागर है । उसमें विमर्श की अनगिनत लहरें उठती हैं । उनके उत्ताल उत्थान और पतन में खेलना सबके बस की बात नहीं । पर उन शास्त्रीय ऊहापोहमय तरङ्गों में उन्होंने अपने गुरुत्वमय व्यक्तित्व का जहाज उतार दिया । यही नहीं, अपितु दूसरों को पार कराने के लिये उन्होंने कर्णधार का काम भी किया । ऐसे त्र्यम्बक आमर्दक और श्रीनाथ सदृश गुरुवर्य्यों की जय हो । सन्तति का अर्थ त्रैयम्बकमठिका है ॥८॥

'भट्टारिकादिभूत्यन्तः श्रीमान्सिद्धोदयक्रमः ।
भट्टादिपरमेशान्तः श्रीसन्तानोदयक्रमः ॥
श्रीमान्भट्टादिरीशान्तः परमोऽथ गुरुक्रमः ।
त्रिकरूपस्त्रिकार्थे मे धियं वर्धयतांतराम् ॥'

इति 'तदपरमूर्तिः' इत्यनयोर्भगवदावेशमयत्वं दर्शितम् । यद्यपि

'यो यत्र शास्त्रेऽधिकृतः स तत्र गुरुः.........।'

इति । वक्ष्यमाणनीत्या मठिकान्तरगुरूणां त्रिकार्थे गुरुत्वाभावाद् इह नमस्कारा-प्रस्ताव एव । तथापि

'तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता ।'

इत्यादिदृशा सर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावाद् आत्मनि भूयोविद्यत्वं दर्शयता ग्रन्थकृता अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं प्रकाशितम् । यद्वक्ष्यति

'अध्युष्टसन्ततिस्रोतःसारभूतरसाहृतिम् ।
विधाय तन्त्रालोकोऽयं स्यन्दते सकलान् रसान् ॥'

इति ॥९॥

'पूर्वे जयन्ति गुरवः' इति सामान्येन कृतेऽपि नमस्कारे योगाङ्गत्वेन समानेऽपि

'........................तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।'

इत्याद्युक्त्या परमोपादेयस्वप्रकाशस्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञापनस्य तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च परं नमस्कर्तव्या इति विशेषप्रयोजकीकारेण गुरु-परम-गुरु-परमेष्ठिनः पुनरपि परामष्टुमाह

श्रीसोमानन्दबोधश्रीमदुत्पलविनिःसृताः ।
जयन्ति संविदामोदसन्दर्भा दिक्प्रसर्पिणः ॥१०॥
तदास्वादभरावेशबृंहितां मतिषट्पदीम् ।
गुरोर्लक्ष्मणगुप्तस्य नादसंमोहिनीं नुमः ॥११॥

श्री सोमानन्द बोध (समुद्र) के उत्पल के सदृश श्री उत्पलदेव हैं। वे कमल के सदृश हैं। उनसे संविद् की सुगन्धि के सन्दर्भ दिग्दिगन्त में प्रसरित हैं। उस कमल की मकरन्द माधुरी के मधुर आस्वाद का आवेश (बड़ा ही विलक्षण है।) इससे उपबृंहित नाद में एक संमोहिनी शक्ति है। उस पर गुरु लक्ष्मणगुप्त की बुद्धि रूपी भ्रमरी बड़ी मुग्ध है। मैं उसको प्रणाम करता हूँ॥

इदानीम्

उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।

इत्याद्युक्त्या तस्याचार्यादपि गौरवातिरेकस्मृतेर्निजमपि पितरमाशीर्वादमुखेन परामृशति

यः पूर्णानन्दविश्रान्तसर्वशास्त्रार्थपारगः।
स श्रीचुखुलको दिश्यादिष्टं मे गुरुरुत्तमः॥ १२॥

'चुखुलक' इति लोकप्रसिद्धमस्य नामान्तरम्। 'गुरुरुत्तम' इति उत्तमत्वस्य आचार्यगौरवातिरेकस्मृतिरेव निमित्तम्, अत एव अन्यत्रापि

गुरुभ्योऽपि गरीयांसं जनकं चुखुलाभिधम्।'

इत्याद्युक्तम् ॥१२॥

एवं च तन्त्रप्रक्रियोपासन्नगुर्वभिमुखीकरणानन्तरं विश्रान्तिस्थानतया कुलप्रक्रियागुरुमपि उत्कर्षयति

श्री सोमानन्द शिवदृष्टि के रचयिता हैं। श्री उत्पलदेव उसके भाष्यकार हैं। गुरुवर श्री लक्ष्मणगुप्त आचार्य उत्पल के पुत्र और शिष्य भी हैं। महामाहेश्वर अभिनवगुप्त इन्हीं गुरुदेव लक्ष्मणगुप्त के प्रतिभाशाली शिष्य हैं। ग्रन्थकार ने इस श्लोक के द्वारा अपनी गुरुपरम्परा का स्मरण किया है ॥१०–११॥

"उपाध्यायों से दशगुना नमस्कार्य आचार्य होता है। सौ आचार्यों के बराबर पिता होता है" इस उक्ति के अनुसार अपने आचार्य से भी गौरव में अतिक्रान्ति करने वाले अपने पितृचरण के आशीर्वाद की कामना ग्रन्थकार कर रहे हैं—

श्री नरसिंहगुप्त का जनपद-प्रसिद्ध नाम 'चुखुलक' भी था। वे अभिनवगुप्त के लिये 'लक्ष्मणगुप्त' के ही समान गुरु भी थे। यदि एक ने नश्वर शरीर को जन्म दिया, तो दूसरे ने अभिनव को यशःशरीर दिया। वे पूर्ण संविद्–आनन्द में शाश्वत विश्राम करने वाले महापुरुष थे। सभी शास्त्रों में पारङ्गत थे। श्रीमदभिनव प्रार्थना करते हैं कि वे मेरे इष्ट मेरे उत्कर्ष का आशीर्वाद दें। एक स्थान पर कहा गया है—"गुरुजनों के भी गुरुवर्य मेरे जनक श्रीमान् चुखुलक थे" ॥१२॥

इस प्रकार तन्त्रप्रक्रिया की उपासना के अधिकारी सर्वसक्षम गुरुजनों की नमस्क्रिया के बाद विश्रान्ति के स्थान कुलप्रक्रिया में गुरु के उत्कर्ष का परामर्श कर रहे हैं—

जयताज्जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ
भगवत्या सह शंभुनाथ एकः ।
यदुदीरितशासनांशुभिर्मे
प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रमार्गः ॥१३॥

भगवत्याख्या अस्य दूती, कुलप्रक्रियायां हि दूतीमन्तरेण क्वचिदपि कर्मणि नाधिकार इत्यतस्तत्सहभावोपनिबन्धः ।

'योक्ता संवत्सरात्सिद्धिरिह पुंसां भयात्मनाम् ।
सा सिद्धिस्तत्त्वनिष्ठानां स्त्रीणां द्वादशभिर्दिनैः ॥
अतः सुरूपां सुभगां सुरूपां भाविताशयाम् ।
आदाय योषितं कुर्यादर्चनं यजनं हुतम् ॥'

इति । 'शास्त्रमार्गो' विमलो जातः इत्यनेनास्य त्रिकाद्यागमव्याख्यातृत्वमपि प्रकाशितम् । यदुक्तमनेनैव

'इत्यागमं सकलशास्त्रमहानिधाना-
च्छ्रीशंभनाथवदनादधिगम्य सम्यक् ।
शास्त्रे रहस्यरससंततिसुन्दरेऽस्मिन्
गम्भीरवाचि रचिता विवृतिर्मयेयम् ॥'

इति ॥ १३ ॥

भगवती नामक उसकी दूती है। दूती के विना कुलप्रक्रिया के किसी काम में अधिकार नहीं होता। इसीलिये दूती के सद्भाव का उपनिबन्धन नहीं किया गया है।

"भययुक्त संशयात्मा पुरुषों को एक वर्ष में जो सिद्धि होती है—वह तत्त्व में निष्ठ स्त्रियों की द्वादश दिनों में ही हो जातो है। इसलिये सुन्दर रूपवती सौभाग्यशालिनी भावपूर्ण हृदयों वालो उत्तम स्त्रियों को लेकर ही अर्चन पूजन यजन होम आदि क्रियायें होनी चाहिये।"

शास्त्रमार्ग की विमलता के माध्यम से त्रिकादि सभी आगमों की व्याख्यान शक्ति का प्रकाशन भी ग्रन्थकार ने किया है। उन्होंने ही कहा है—

"मैंने समस्त शास्त्रों के महानिधान श्री शम्भुनाथ से सारा आगमरहस्य जान लिया है। शास्त्र का रहस्य एक अलौकिक रस होता है। उससे सुन्दर इस आगमपरम्परा में मैंने यह ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति लिखी है" ॥१३॥

इदानीं स्वप्रवृत्तिप्रयोजनादि आचक्षाणो ग्रन्थकारो ग्रन्थकरणं प्रतिजानीते

सन्ति पद्धतयश्चित्राः स्रोतोभेदेषु भूयसा ।
अनुत्तरषडर्धार्थक्रमे त्वेकापि नेक्ष्यते ॥१४॥

न चात्र अन्यथा संभाव्यम् इत्यात्मन्याप्तत्वं प्रख्यापयन्नेवं प्रतिज्ञाकरणे सामर्थ्यं दर्शयति

इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः ।
अर्थितो रचये स्पष्टां पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम् ॥१५॥

श्रीभट्टनाथचरणाब्जयुगात्तथा
श्रीभट्टारिकांघ्रियुगलाद्गुरुसन्ततिर्या ।
बोधान्यपाशविषनुत्तदुपासनोत्थ-
बोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति ॥१६॥

तस्य गुरुपरम्परागतस्य ज्ञानस्य 'उपासनं' पुनः पुनः चेतसि विनिवेशनं तत उत्थितो योऽसावुपदेष्टव्यविषयो 'बोधः' साक्षात्कारस्तेन 'उज्ज्वलः' सम्यगवगतधर्मा सन् 'इदं' गुरूपदेशात्संशयविपर्यासादिरहितत्वेनाधिगतमनुत्तरत्रिकार्थप्रक्रियालक्षणं परान्प्रति चिख्यापयिषया 'करोति' उपदिशति

स्रोत भेद से आगमिक सिद्धान्तों और पद्धतियों के अनेक भेद हो सकते हैं। जहाँ तक अनुत्तर त्रिकदर्शन की परम्परा का प्रश्न है—यह सर्वोत्कृष्ट है। इसके सामने अन्य परम्परायें खरी नहीं उतरतीं ॥१४॥

यहाँ अपने आप्त होने की शक्ति के सामर्थ्य का प्रसङ्गवश उल्लेख कर रहे हैं—

इस सिद्धान्त की व्याख्या के लिये, हमारे शिष्यों और सहाध्यायियों ने बड़ा ही स्नेहपूर्ण आग्रह किया, फलतः मैंने इस पूर्णार्था प्रक्रिया की रचना का आरम्भ कर दिया ॥१५॥

गुरुपरम्परा से प्राप्त ज्ञान की उपासना, अर्थात् उस ज्ञान का बार-बार मन, बुद्धि में आकलन करना (आवश्यक है।) पुनः विषयबोध, अर्थात् ज्ञान का साक्षात्कार (होता है)। इस प्रक्रिया से शिष्य उज्ज्वल बन जाता है।

इत्यर्थः। 'अभिनवगुप्त' इति सकललोकप्रसिद्धनामोदीरणेनापि आप्तत्वमेव उपोद्बलितम्। उक्तं हि

'साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा चाप्तः।'

इति। तच्छब्दपरामृष्टं व्याचष्टे 'या गुरुसन्ततिः' इति, 'गुरुसन्ततिः' गुरुपारम्पर्यमविच्छिन्नतया स्थितं तदुपदिष्टं ज्ञानमित्यर्थः, सा च कीदृक्? इत्युक्तं—'बोधान्यपाशविषनुत्' इति

'यत्किञ्चित्परमाद्वैत-संवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात्।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते॥'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या 'बोधात्' पराच्छिवाद्यदख्यात्यात्मभेदप्रथात्मकम् 'अन्यत्' तदेव 'पाशः' स एव मोहकत्वात् 'विषं' तद् नुदति या सा।

उसमें ज्ञान की ज्योति जलने लगती है। श्रीमान् अभिनवगुप्त सम्यक् धर्म के ज्ञाता हो चुके हैं। अब वे संशय विपर्यास आदि दोषों से रहित इस अनुत्तर त्रिकप्रक्रिया के सिद्धान्त की स्थापना (दूसरों की हितकामना से तथा) ख्यापन की अभिलाषा से कर रहे हैं। यह एक प्रकार से उनका उपदेश ही है। इस पद्य में ग्रन्थकार ने साक्षात् अपने नाम का स्पष्ट उल्लेख किया है। यह नामोल्लेख भी लोकप्रसिद्ध होने का प्रमाण है। इससे भी इनकी आप्त रूप से प्रामाणिकता सिद्ध होती है। कहा गया है—

"वही पुरुष आप्त है, जिसने पदार्थ के तत्त्व के गुण धर्म का साक्षात्कार कर लिया है। यथार्थ द्रष्टा है। तत्त्व के ख्यापन की आकांक्षा से ही उपदेश में प्रवृत्त होता है।" यह परिभाषा पूरो तरह ग्रन्थकार पर लागू होती है।

"तदुपासन" शब्द में 'तद्' शब्द से गुरुपरम्परा का ही ग्रहण होता है। गुरुपरम्परा की अविच्छिन्न रूप से स्थिति में ही (ज्ञानोपलब्धि सम्भव है)। उसका विशेषण है—'बोधान्यपाशविषनुत्'। श्लोकार्थ है—

"जो कुछ परम अद्वैत संवित् स्वातन्त्र्य के सौन्दर्य से विभूषित परात्पर शिव के कथन से भिन्न है, वही पाश है"। इस दृष्टि के अनुसार 'बोध' रूप शिव के अतिरिक्त अख्याति रूप, आत्मा में भेद की प्रथा को प्रथित करने वाला अन्य ज्ञान ही पाश है और भेद रूपी मूर्च्छा देने के कारण वह 'विष' है। गुरुपरम्परा से प्राप्त बोध इस विष का निश्चित रूप से अपनोदन करता है। इस श्लोक में प्रयुक्त श्रीभट्टनाथ से तात्पर्य श्रीशम्भुनाथ से है। 'श्रीभट्टारिका' शब्द भगवती रूप उसकी दूती है। उन्होंने ही इसे यों कहा है—

तथा 'श्रीभट्टनाथः' इति श्रीशम्भुनाथः । 'श्रीभट्टारिका' इति भगवत्याख्या अस्य दूती । यदुक्तमनेनैव

'भट्टं भट्टारिकानाथं श्रीकण्ठं वृष्टभैरवम् ।
भूतिकलाश्रिया युक्तं नृसिंहं वीरमुत्कटम् ॥
नानाभिधानमाद्यन्तं वन्दे शंभुं महागुरुम् ।

इति ।

'स्त्रीमुखे निक्षिपेत्प्राज्ञः स्त्रीमुखाद्ग्राहयेत्पुनः ।'

इत्याद्युक्तेः कुलप्रक्रियायां दूतीमुखेनैव शिष्यस्य ज्ञानप्रतिपादनाम्नायाद् इह गुरुतद्दूत्योः समस्कन्धतया उपादानम् ॥१६॥

ननु सामान्येन त्रिकदर्शनप्रक्रियाकरणं प्रतिज्ञाय, संभवत्यपि तदर्था-

---

"भट्टारिकानाथ भट्ट श्रीकण्ठ साक्षात् भैरव स्वरूप और भूति कला की श्री से युक्त हैं। वे उत्कट वीर हैं, नृसिंह हैं, आद्यन्त अनेकानेक संज्ञाओं से ज्ञापित हैं। ऐसे महागुरु श्री शम्भुनाथ की मैं वन्दना करता हूँ।"

उक्ति है—"स्त्री मुख में ही पहले उपदेश रूपी हविष्य का निक्षेप होना चाहिये और स्त्री मुख से ही शिष्य को उद्ग्राहित कराना चाहिये। यही प्राज्ञ (गुरु) का कर्त्तव्य है।" इससे सिद्ध है कि कुलप्रक्रिया में दूती का कितना महत्त्व है। यही कुलाम्नाय भी है कि दूती के मुख से ही ज्ञान का प्रतिपादन हो। इस प्रकार गुरु और दूती, इन दोनों का सामानाधिकरण्य सिद्ध हो जाता है।

इस पद्य में ग्रन्थकार ने अपना नामोल्लेख किया है। इससे उनकी अहं भावना और योग्यता सिद्ध होती है। मैं प्रामाणिकता के साथ इस ज्ञानराशि का प्रयोग देश, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय के हित में कर सकूँगा, यही भाव लेकर ग्रन्थकार ने अपने नाम का प्रयोग किया है। पाश शब्द भेदभाव को व्यक्त करता है। संविद् स्वातन्त्र्य परम शिव का स्वभाव है। यह परम अद्वैत तत्त्व है। उसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, सब कुछ पाश है। यह मोहक होता है। इसकी मोहकता ही जहर है। लोकप्रसिद्ध ग्रन्थकार का यह प्रयास उसी जहर को दूर करने का महत्त्वपूर्ण उपक्रम है ॥१६॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ तो सामान्यतया त्रिकदर्शन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने की प्रतिज्ञा की गयी है। उन अर्थों का अभिधान करने वाले

भिधायिनि शास्त्रजाते किमिति श्रीमालिनीविजयोत्तरमेवाधिकृत्य तन्निर्वाहयिष्यते ? इत्याशङ्क्याह

न तदस्तीह यन्न श्रीमालिनीविजयोत्तरे ।
देवदेवेन निर्दिष्टं स्वशब्देनाथ लिङ्गतः ॥१७॥

'श्रीमालिनीविजयोत्तरे' इति नादि-फान्ताया मालिन्या 'विजयेन' सर्वोत्कर्षेण उत्तरति सर्वस्रोतोभ्यः प्लवते, सारभूतत्वात्सर्वशास्त्राणाम् ॥१७॥

एतदेवाह

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः ।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥१८॥

अन्य शास्त्रों के होते हुए भी यहाँ अधिकांशतया श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र का ही आश्रय लिया गया है। क्या उसे ही अधिकृत कर उस अर्थ के प्रकाशन का निर्वाह किया जा सकेगा ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

देवाधिदेव शिव ने अपने शब्दों में या सांकेतिक रूप से मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में जो कुछ निर्दिष्ट किया है, वह यहाँ नहीं है, यह बात नहीं है—अर्थात् वह सब कुछ है।

मालिनी और मातृका दोनों पारिभाषिक शब्द हैं। मालिनी का क्रम 'न' से 'फ' तक है। यह क्रम सर्वातिशायी है। अतएव जयनशील है। सभी स्रोतों के अमृत से सिक्त है। समस्त शास्त्रों का सार निष्कर्ष है। यह ज्ञान और क्रिया प्रधान शास्त्र है।

श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र तन्त्रवाङ्मय का प्रकाशस्तम्भ है। इसे परमेशमुखोद्गत शास्त्र भी कहते हैं। सम्पूर्ण हेयोपादेय विज्ञान उसमें प्रकाशित है। वह सब कुछ श्रीतन्त्रालोक में है—यह घोषणा स्वयं ग्रन्थकार इस पद्य द्वारा कर रहे हैं ॥१७॥

उक्त प्रक्रिया के महत्त्व को प्रस्तुत श्लोक में व्यक्त कर रहे हैं—

दश–शिवशासन प्रथमतः दश भेदों वाला है। ईशान, तत्पुरुष और सद्योजात की उद्बुभूषु अवस्था में तीन भेद, उद्भूत अवस्था में छः और इनका सम्मिलित एक रूप मिलाकर भेदप्रधान दश भेद माने जाते हैं।

इह खलु परपरामर्शसारबोधात्मिकायां परस्यां वाचि सर्वभावनिर्भरत्वात्सर्वं शास्त्रं परबोधात्मकतयैव उज्जृम्भमाणं सत्, पश्यन्तीदशायां वाच्यवाचकाविभागस्वभावत्वेन असाधारणतया अहंप्रत्यवमर्शात्मा अन्तरुदेति, अत एव हि तत्र प्रत्यवमर्शकेन प्रमात्रा परामृश्यमानो वाच्योऽर्थोऽहन्ताच्छादित एव स्फुरति, तदनु तदेव मध्यमाभूमिकायामन्तरेव वेद्यवेदकप्रपञ्चोदयाद्भिन्नवाच्यवाचकस्वभावतया उल्लसति। तत्र हि परमेश्वर एव

अष्टादश—वामदेव और अघोर इन पाँचों के एकैक सम्मिश्रण से रुद्र के १८ भेद हो जाते हैं। भेदाभेद प्रधान रुद्र के ये भेद प्रसिद्ध हैं।

वस्वष्ट—६४ भैरव के भेद भी प्रसिद्ध हैं। शिवशक्तिसंघट्ट रूप योगिनीवक्त्र ही दाहिना शिव का मुख है। इसमें उद्बुभूषु, उद्भूत, तिरोधित्सु और तिरोहितात्मक स्थिति में ४×४, अर्थात् १६ भेद होते हैं। वाम वक्त्र में जब इसी प्रकार परस्पर मेलन होता है, तो १६×४=६४ भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार दश, अठारह और चौसठ भेदमय भेद, भेदाभेद और अभेदप्रधान शैव शासन की परम्परा है। इन सबका सार त्रिकशास्त्र है और मालिनी का सिद्धान्त उसका भी सार भाग माना जाता है। कुछ साम्प्रदायिक विद्वान् २८, २४ आदि भेद भी मानते हैं। कुछ लोग कुलशास्त्र और कुछ लोग त्रिकशास्त्र और कुछ मालिनी को श्रेष्ठ मानते हैं।

'परावाक्' बोधात्मक परामर्श की परम-चरम अवस्था की प्रतीकात्मक संज्ञा है। इसमें जितने शास्त्र अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और समुल्लसित होते हैं, वे सभी सर्वभाव निर्भर ही होते हैं। सभी पारमार्थिक बोधसत्ता से ओत-प्रोत और उद्दीप्त होते हैं।

'पश्यन्ती' अवस्था में वाच्य-वाचक विभाग की कल्पना से परे, अविभाग दशा की अनुभूति संभूति से संवलित, असामान्य और चिन्मय प्रतिभा से विभूषित अहंप्रत्यवमर्श ही स्फुरित होता है। इसलिये उस दशा का प्रत्यवमर्श करने वाला प्रमाता धन्य हो जाता है। उससे परामृश्यमान जो वाच्य अर्थ होता है, वह भी 'अहन्ता' के महाभाव से ही भावित होता है।

उसके बाद मध्यमा वाक् की आन्तर अवस्था में और सूक्ष्म रूप में वेद्य-वेदक आदि अनेक प्रपञ्चों का उदय हो जाता है। वहीं वाच्य-वाचक भाव का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार परमेश्वर ही चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपों का आसूत्रण करते हैं। ये पाँचों एक प्रकार से उनके

चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियात्मकवक्त्रपञ्चकासूत्रणेन सदाशिवेश्वरदशामधिशयानस्तद्वक्त्रपञ्चकमेलनया पञ्चस्रोतोमयम् अभेद-भेददशोट्टङ्कनेन तत्तद्भेदप्रभेदवैचित्र्यात्मनिखिलं शास्त्रमवतारयति, यद्वहिर्वैखरीदशायां स्फुटतामियात्, तथा हि—प्रथममीशानतत्पुरुषसद्योजातैरेकैकस्य उद्बुभूषुभिः सद्भिर्भेदत्रयमुल्लासितम् उद्भूतैश्च—इत्येकैकभेदाः षट्, त्रिभिरप्येभिः संभूय उल्लासित एको भेदः, ईश-तत्पुरुषौ ईश-सद्योजातौ सद्योजात-तत्पुरुषौ इति द्वयात्मना संभूयापि एभिः त्रिभिर्भेदत्रयं समुल्लासितम्—इत्येते भेदप्रधाना दश शिवभेदाः । तदुक्तम्

'ईशतत्पुरुषाजातैरुद्भूतैरुद्बुभूषुभिः ।
एककैः षड्भिरेकेन त्रिकेण द्वयात्मकैस्त्रिभिः ॥
तदित्थं शिवभेदानां दशानामभवत्स्थितिः ।'

मुख हैं । सदाशिव और ईश्वरदशा में अवस्थित रह कर इन पाँचों के मेलन से पाँच स्रोतों वाली शास्त्रपरम्परा को सदाशिव ही अवतरित करते हैं । यह अभेद और भेद के अन्तर को उजागर करने वाली है । भेदों और भेदप्रभेदों के अनन्त वैचित्र्य के भाव से परिपूर्ण, निखिल वाङ्मय को उन्मीलित करने वाली यह भावदशा बड़ी विचित्र होती है ।

यही बाह्य अवस्था में वैखरी बनकर अभिव्यक्त होती है । यह स्फुट दशा मानी जाती है । सबसे पहले ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, इन तीनों में प्रत्येक की उद्बुभूषा को समझना चाहिये । होने की इच्छा बुभूषा कहलाती है । उत् उपसर्ग लगा देने पर उद्भव की आकांक्षा अर्थ हो जाता है । जिसमें यह उद्बुभूषा होती है, वह उद्बुभूषु कहलाता है । ईशान, तत्पुरुष और सद्योजात प्रत्येक तीनों उद्भूत होने की इच्छा के कारण उद्बुभूषु कहलाने लगते हैं । उस अवस्था में तीन भेद अपने आप उदित हो जाते हैं ।

ये जब उद्भूत हो जाते हैं, तो इनके एक-एक भेद ही रहते हैं । इस तरह तीन उद्बुभूषु और तीन उद्भूत, अर्थात् छ भेद हो जाते हैं । तीनों का एक संघट्ट भी एक भेद पैदा करता है । इस तरह सात भेद हुए । ये तीनों अलग-अलग तीन यामल रूपों में भी अभिव्यक्त होते हैं । १—ईश-तत्पुरुष, २—ईश-सद्योजात और ३—सद्योजात-तत्पुरुष । परिणामतः ६ + १ + ३ = १० दश शिव के भेद हो जाते हैं । ये भेदप्रधान शिव की दश अवस्थायें योगियों की अनुभूति के विषय हैं ।

इति। एषामेव च वामदेवाघोरमेलनया अष्टादश रुद्रभेदा भवन्ति। तथा च तत्रैककेन वामदेवाघोरात्मभेदेन भेदद्वयमेव, पञ्चविधत्वेऽपि ईशादेर्वक्त्रत्रयस्य शिवभेदेषु उक्तत्वात्, उक्तस्य च पुनर्वचनानुपपत्तेः, तथा द्वयात्मकत्वेन भेदत्रयस्य, तेन पञ्चानां त्र्यात्मकत्वेन भेदत्रयस्य शिवभेदेषु उक्तत्वात्। तत्पुरुष-सद्योजातयोस्तु एवं स्वभावाभावात्, ताभ्यां सह असङ्गतेर्भेदचतुष्टयाभावादीशवामौ, ईशाघोरौ, अघोर-वामौ इति द्वयात्मकं भेदत्रयमेव अवशिष्यत—इति त्रयो द्विकभेदाः। तथा पञ्चानामपि ईश-तत्पुरुषाजातवामाघोराणां त्र्यात्मकत्वेन संमीलनाया-मीशानस्य क्रमेण इतर-वक्त्रसंभेदे षट्, तत्पुरुषस्य त्रयः, तथा सद्यो-जातस्य तदवशिष्टवक्त्रसंभेदेऽपि एक एव—इति दशविधत्वेऽपि ईश-तत्पुरुष-सद्योजातात्मनः प्रथमत्रिकस्य शिवभेदेषु उक्तत्वाद् ईश-वामाघोरा-त्मनः शिष्टस्य त्रिकस्य व्यापारान्तरेण नियोक्ष्यमाणत्वाच्च त्र्यात्मक-भेदाष्टकमेवावशिष्यते—इत्यष्टावेव त्रिकभेदाः। अत एव एककथनं चिन्त्यमिति न वाच्यम्,—तत्पुरुषजात-वामाघोराणां हि द्वयात्मकतया चतुरात्मकतया वा ज्ञानजनने संयोगनिषेधो विवक्षितः, त्र्यात्मकतायामपि तथाभावे हि बहूनां भेदानां निषेधः प्रसज्यते—इति भेदसप्तककथनमपि।

ऊपर की व्याख्या स्पष्ट है और इसी का उपबृहण आगे जयरथ कर रहे हैं—

इन्हीं के वामदेव और अघोर के साथ सम्मेलन से अठारह भेद हो जाते हैं। जैसे—वामदेव और अघोर प्रत्येक मिलकर दो भेद हैं। पाँच तरह के भेद के बावजूद ईश, सद्योजात और तत्पुरुष रूप तीन मुखों का ही शिवभेदों के रूप में भी उल्लेख है। कही बात की पुनरुक्ति अनावश्यक है। इस आधार पर दो यामलों में तीन भेद अथवा पाँचों की तीन भेदवादिता की स्थिति में भी तीन भेदों का ही पृथक् पृथक् उल्लेख है।

तत्पुरुष और सद्योजात इन दोनों का त्र्यात्मकत्व स्वभाव विरुद्ध है। इन दोनों के साथ दूसरों की संगति न बैठने के कारण चार भेद नहीं हो सकते। इस तरह ईश-वामदेव, ईशान-अघोर, अघोर-वामदेव, यह यामल रूप तीन भेद ही सम्भव हैं। पाँचों ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर भेदों का ईशान के अन्य शिवभेदों के सहयोग से ६, तत्पुरुष से ३, सद्योजात से १, अर्थात् दश भेद हो जाने पर भी ईशान, तत्पुरुष और सद्योजात रूप प्रथम तीन भेदों

न्याय्यं न स्यात्—इत्यलं बहुना। तथा पञ्चानामप्येषां चतुरात्मकत्वेन संमीलनाया पञ्चविधत्वेऽपि नराजातवामाघोराणामुक्त्युक्त्या सङ्गत्यभावाच्च-त्वारश्चतुर्भेदाः, सर्वेषामप्येषां संमीलनायां पञ्चकभेद एक एव—इत्येवम् 'अष्टादश' भेदाभेदप्रधाना रुद्रभेदाः। तदुक्तं

'यदा त्रयाणां वक्त्राणां वामदक्षिणसंगतिः।
तदा सप्त द्विकभेदा अष्टौ चैव त्रिकात्मकाः॥
चतुष्काश्चापि चत्वारः पञ्चकस्त्वेकरूपकः।
इति विंशतिमध्यात्तु नराजातावसंगतिम्॥
वामघोरद्वये यातः स्वातन्त्र्यात्पूर्वपश्चिमौ।
ज्ञानं भजेते नैवेति भेदषोडशके स्थितम्॥
तत्रापि वामदेवीयमेकं तदुपरि स्थितम्।

के ही प्रायः विशेष उल्लेख के कारण ईशान, वामदेव और अघोर रूप त्रिक का दूसरी क्रियाओं में विनियोजन से तीन तीन के आठ भेद ही हो सकते हैं। पद्य में एकक शब्द का प्रयोग भी साभिप्राय है। तत्पुरुष, सद्योजात, वाम और अघोर, इन चारों का यामल रूप से या पृथक् रूप से संयोग सम्बन्धी वैमत्य है। इनके त्रिकों के भी पारस्परिक संयोग में अनवस्था होगी। आठ भेदों के स्थान पर सात भेद मानना भी उचित नहीं है।

इस प्रकार तीन भेदों की मुख्यता के साथ पाँच भेदों की मान्यता को लेकर जो यह विश्लेषण उपस्थापित किया गया है, वह पर्याप्त है। इन पाँचों मुखों की यदि ईशान-तत्पुरुष, तत्पुरुष-सद्योजात, सद्योजात-वाम और वाम-अघोर, यह चतुरात्मकता स्वीकार की जाय, तो भी अन्य मुखों से असम्मतियाँ यथावत् बनी रहेंगी। ईशान से संगति न होने के कारण तत्पुरुष, सद्योजात,. वाम और अघोर, इन चारों के चार और भेदपञ्चक के एकत्व की स्थिति में भी १ + १६ + १ = १८ भेदप्रधान रुद्रभेद शास्त्रकारों द्वारा मान्य हैं। इन्हीं विचारों का समर्थन उद्धृत श्लोकों द्वारा जयरथ कर रहे हैं—

मुखों की वाम और दक्षिण संगति से सात और आठ भेद उनके द्विक और त्रिक भेद से चार मुखों के चार और एकीकृत पञ्चक के एकल भेद से बीस अवस्थाओं का आकलन योगियों के अनुभवक्षेत्र का चमत्कार है। इन बीसों में तत्पुरुष और सद्योजात की वाम और अघोर से असंगति सम्भाव्य है। चार

स्वरूपं भैरवीयं च तेनाष्टादशधा स्थितिः ॥
रुद्रभेदस्य शास्त्रेषु शिवेनैवं निरूपिता ।'

इति । एतच्च श्रीश्रीकण्ठ्यामभिधानपूर्वं विस्तरत उक्तम्, तद्यथा

'स्रोतस्यूर्ध्वे भवेज्ज्ञानं शिवरुद्राभिधं द्विधा ।
कामजं योगजं चिन्त्यं मौकुटं चांशुमत्पुनः ॥
दीप्त..............................न्तरं पुनः ।
शिवभेदाः समाख्याता रुद्रभेदांस्त्विमाञ्छृणु ॥
विजयं चैव निःश्वासं मद्गीतं पारमेश्वरम् ।
मुखबिम्बं च सिद्धं च सन्तानं नारसिंहकम् ॥
चन्द्रांशुं वीरभद्रं च आग्नेयं च स्वयम्भुवम् ।
विसरं रौरवाः पञ्च विमलं किरणं तथा ॥
ललितं सौरभेयं च तन्त्राण्याहुर्महेश्वरि ।
अष्टाविंशतिरित्येवमूर्ध्वस्रोतोविनिर्गताः ॥'

अत्र चानेनैव

'..............................शिवैरुक्तः शिवाभिधः ।
भेदो रुद्रैश्च रुद्राख्य इति भेदो निरूपितः ॥'

---

१६ भेद, १ वाम और १ भैरवीय भेद लेकर १८ भेद तो सिद्ध ही हैं। ये स्वयं शिव निरूपित शास्त्र के तथ्य हैं। इसमें सन्देह के लिये स्थान नहीं है।

श्री श्रीकण्ठी के वचनों का उक्त विचारों के समर्थन में उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—"इस स्रोत अर्थात् प्रवाह परम्परा में आगे चलकर शिव और रुद्र ये दो प्रकार के ज्ञान प्राप्त होते हैं। शिव के कामज, योगज, चिन्त्य, मौकुट, अंशुमान्, दोप्त (कुछ खंडित) आदि भेद मिलते हैं। रुद्र के भेदों में विजय, निःश्वास, मद्गीत, पारमेश्वर, मुखबिम्ब, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह, चन्द्रांशु, वीरभद्र, आग्नेय, स्वायम्भुव और विसर, रौरव भेद रूप विमल, किरण, ललित और सौरभेय भेद से तन्त्र कुल २८ हैं। ये सभी ऊर्ध्व स्रोतों से प्राप्त हैं। ये सभी शैव तन्त्र हैं और शिव द्वारा उक्त भी हैं। शिव द्वारा उक्त शैव और रुद्र द्वारा उक्त रुद्र भेद हैं।"

८×८=६४ भैरवों के भेद हैं। अद्वय अवस्था में शिव और शक्ति के संघट्ट में योगिनीवक्त्र नामक दक्षिणमुख की उत्पत्ति स्वीकृत है। ये प्रत्येक भी

वसुभिः अष्टभिर्गुणिता 'अष्टौ' चतुःषष्टिर्भैरवभेदाः। तथा च अद्वयस्वभावे स्वरूपे शिवशक्तितत्संघट्टाख्ययोगिनीवक्त्रात्मनि दक्षिणवक्त्रे प्रत्येकमुद्बुभूषूद्भूत-तिरोधित्सु-तिरोहितात्मकतया चतूरूपत्वेन भेदषोडशात्मकमितरद्वक्त्र-चतुष्टयं यदा युगपदन्तर्लीनतामेति तदैषां परस्परमेलनया चतुःषष्टिरद्वयप्रधाना भैरवभेदाः। तदुक्तं

'यच्चान्ते दक्षिणं हार्दं लिङ्गं हृत्परमं मतम्।
तदाप्यन्तःकृताशेषस्प[सृ]ष्टभावसुनिर्भरम्॥
सर्वसंहारकत्वाच्च कृष्णं तिमिररूपधृत्।
भेदभावकमायीयतेजोंऽशग्रसनात्मकम्॥
तत्रान्तर्लीनतां याति यावद्वक्त्रचतुष्टयम्।
उद्बुभूषुस्तथोद्भूतं तिरोधित्सु तिरोहितम्।
इत्थं युगपदेवंतदभेदषोडशकात्मकम्।
दक्षे वैसर्गिके हार्दे स्वतन्त्रेऽथ शिवे विशत्॥
अष्टाष्टकात्म तच्छास्त्रं युगपद्भैरवाभिधम्।'

इति। एतच्च श्रीश्रीकण्ठ्यामभिधानपूर्वं विस्तरत उक्तम्। तद्यथा

उद्बुभूषु, उद्भूत, तिरोधित्सु और तिरोहितात्मक चार रूपों में व्यक्त होते हैं। १६ भेद वाले दूसरे चार मुखों का जब गुणन होता है, तब ६४ अद्वय प्रधान भैरव भेदों की परिकल्पना होती है।

इस बात की पुष्टि जयरथ पुनः उदाहरण द्वारा कर रहे हैं—"हृदय" शब्द का प्रयोग रहस्यात्मक है। स्फुरत्तात्मक स्पन्द, चित्, प्रतिभा ये सभी हृदय हैं। एक हार्द शैव लिङ्ग ही त्रिकोण में बीज का वपन करता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का हेतु है। वह सर्वसंहारक भी है। कृष्ण वर्ण का है। तिमिर के समान आवारक है। भेद दृष्टि द्वारा भ्रान्त करता है और मायीय है। तेज के अंश को ग्रस्त करता है।

यदि उसमें वक्त्रचतुष्टय की अन्तर्लीनता हो जाय, तो उद्बुभूषु, उद्भूत, तिरोधित्सु और तिरोहित भेदों की गणना का परिणाम १६ भेदों से व्यक्त हो जाता है। दक्ष, वैसर्गिक, हार्द और स्वतन्त्र शिव में उनका अनुप्रवेश है। इस प्रकार ६४ भेदों का यह भैरवशास्त्र गुरुजनों के कृपाप्रसाद से जाना जाता है।

'अन्यत्संक्षेपतो वक्ष्ये गीतं यत्परमेष्ठिना।
तच्च भेदैः प्रवक्ष्यामि चतुःषष्टि विभागशः॥
भैरवं यामलं चैव मताख्यं मङ्गलं तथा।
चक्राष्टकं शिखाष्टकं बहुरूपं च सप्तमम्॥
वागीशं चाष्टमं प्रोक्तमित्यष्टौ वीरवन्दिते।
एतत्सादाशिवं चक्रं कथयामि समासतः॥
स्वच्छन्दो भैरवश्चण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः।
असिताङ्गो महोच्छुष्मः कपालीशस्तथैव च॥
एते स्वच्छन्दरूपास्तु बहुरूपेण भाषिताः।
ब्रह्मयामलमित्युक्तं विष्णुयामलकं तथा॥
स्वच्छन्दश्च रुरुश्चैव षष्ठं चाथर्वणं स्मृतम्।
सप्तमं रुद्रमित्युक्तं वेतालं चाष्टमं स्मृतम्॥
अतः परं महादेवि मतभेदाञ्छृणुष्व मे।
रक्ताख्यं लम्पटाख्यं च मतं लक्ष्म्यास्तथैव च॥
पञ्चमं चालिका चैव पिङ्गलाद्यं च षष्ठकम्।
उत्फुल्लकं मतं चान्यद्विश्वाद्यं चाष्टमं स्मृतम्॥
चण्डभेदाः स्मृता ह्येते भैरवे वीरवन्दिते।
भैरवी प्रथमा प्रोक्ता पिचुतन्त्रसमुद्भवा॥
सा द्विधा भेदतः ख्याता तृतीया तत उच्यते।
ब्राह्मीकला चतुर्थी तु विजयाख्या च पञ्चमी॥
चन्द्राख्या चैव षष्ठी तु मङ्गला सर्वमङ्गला।
एष मङ्गलभेदोऽयं क्रोधेशेन तु भाषितः॥

पुनः श्री श्रीकण्ठी का वचन उद्‌धृत कर जयरथ अर्थ का उपबृंहण कर रहे हैं—"परमेष्ठी की उक्ति है कि भैरव, यामल, मत, मङ्गल, चक्राष्टक, शिखाष्टक, बहुरूप, वागीश यह ८ सादाशिव चक्र हैं। इसी प्रकार स्वच्छन्द, भैरव, चण्ड, क्रोध, उन्मत्तभैरव, असिताङ्ग, महोच्छुष्म और कपालीश, ये ८ स्वच्छन्द भैरव होते हैं।"

"ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, स्वच्छन्द, रुरु, आथर्वण, रुद्र, वेताल, ये शास्त्र विभाग हैं—जिनमें उन विषयों का विवेचन है। इससे अतिरिक्त चण्डभैरव के भी अनेक भेद निर्दिष्ट हैं। जैसे—चण्ड, रक्त, लम्पट, श्रीमत्, अवलिङ्ग, पिङ्गल, उत्फुल्लक और विश्वाद्य, ये आठ भेद हैं।

प्रथमं ,मन्त्रचक्रं तु वर्णचक्र द्वितीयकम् ।
तृतीयं शक्तिचक्रं तु कलाचक्रं चतुर्थकम् ॥
पञ्चमं बिन्दुचक्रं तु षष्ठं वै नादसंज्ञकम् ।
सप्तमं गुह्यचक्रं च खचक्रं चाष्टमं स्मृतम् ॥
एष वै चक्रभेदोऽयमसिताङ्गेन भाषितः ।
अन्धकं रुरुभेदं च अजाख्यं मूलसंज्ञकम् ॥
वर्णभण्ठं विडङ्गं च ज्वालिनं मातृरोदनम् ।
कीर्त्तिताः परमेशेन रुरुणा परमेश्वरि ॥
भैरवी चित्रिका चैव हंसाख्या च कदम्बिका ।
हृल्लेखा चन्द्रलेखा च विद्युल्लेखा च विद्युमान् ॥
एते वागीशभेदास्तु कपालीशेन भाषिताः ।
भैरवी तु शिखा प्रोक्ता वीणा चैव द्वितीयिका ॥
वीणामणिस्तृतीया तु संमोहं तु चतुर्थकम् ।
पञ्चमं डामरं नाम षष्ठ चैवाप्यथर्वकम् ॥
कबन्धं सप्तमं ख्यातं शिरश्छेदोऽष्टमः स्मृतः ।
एते देवि शिखाभेदा उन्मत्तेन च भाषिताः ॥
एतत्सादाशिव चक्रमष्टाष्टकविभेदतः ॥'

पिचुतन्त्रानुसार क्रोधेश द्वारा कथित भैरवी, ख्याता, ब्राह्मी, कला, विजया, चन्द्रा, मङ्गला, सर्वमङ्गला, ये भैरवी के आठ भेद माने जाते हैं। मन्त्रचक्र, वर्णचक्र, शक्तिचक्र, कलाचक्र, बिन्दुचक्र, नादचक्र, गुह्यचक्र, खचक्र, ये चक्र के आठ भेद शास्त्र स्वीकृत हैं। यह असिताङ्ग भैरव की उक्ति है।

अन्धक, रुरु, अज, मूल, वर्णभण्ठ, विडङ्ग, ज्वाली, मातृरोदन, ये रुरु द्वारा प्रतिपादित भैरव भेद हैं। भैरवी, चित्रिका, हंसा, कदम्बिका, हृल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्युल्लेखा और विद्युन्मालिनी, ये आठ वाणीशक्ति के भेद कपालीश द्वारा उक्त हैं। शिखा, वीणा, वीणामणि, संमोह, डामर, अथर्वक, कबन्ध, शिरच्छेद, ये शिखा भैरवी के भेद हैं और उन्मत्त भैरव द्वारा कथित हैं। यह पूरा का पूरा सादाशिवचक्र है, जो आठ अष्टकों में वर्णित है। यह चौसठ भैरव के भेद योगसिद्ध हैं। इस प्रकार भेद, उपभेदों की विचित्रिता से भरा हुआ शिव शाश्वत प्रकाश मात्र है।

इति। तैर्भिन्नं भेदोपभेदवैचित्र्यात्मना नानाप्रकारमित्यर्थः। यत्तु श्रीश्रीकण्ठ्यां तत्पुरुषवक्त्रमुद्दिश्य

'अष्टाविंशतिभेदैस्तु गारुडं हृदयं पुरा।'

इत्यादि। तथा

'पश्चिमे भूततन्त्राणि .... ।'

तथा

'दक्षिणे दक्षिणो मार्गश्चतुर्विंशतिभेदतः।'

इत्यादि। तथा

'वामदेवात्तु यज्जातमन्यत्तत्साम्[म्प्र]तं शृणु।'

इत्यादि अन्यभेदोपभेदवैचित्र्यमुक्तम्, तदेकैकस्य वक्त्रस्य पञ्चवक्त्रात्मकत्वाद् एतद्भेदजातोपभेदात्मकमेव—इति तत एव संगृहीतम् इति न पृथगिह आयस्तम्। तदुक्तम्

'एकैकं पञ्चवक्त्रं च वक्त्रं यस्मात्प्रगीयते।
दशाष्टादशभेदस्य ततो भेदेष्वसंख्यता॥'

इति। अतश्च भेद-भेदाभेदाभेदप्रतिपादकं शिवरुद्रभैरवाख्यं त्रिधैवेदं शास्त्रमुद्भूतम् इति सिद्धान्तः। तदुक्तं

'तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते॥
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना।'

श्री श्रीकण्ठी में तत्पुरुष वक्त्र को लक्ष्य कर यह कहा गया है कि गरुड रचित शास्त्र के अनुसार अट्ठाइस भेद ही हैं। साथ ही साथ १—पश्चिम वक्त्र में भूततन्त्र, २—दक्षिण में दक्षिण मार्ग, ३—वामदेव से उत्पन्न अन्य शास्त्रों के तीन प्रसङ्गों को भी उद्धृत किया है। इसमे भी भेद वैचित्र्य का ही आकलन होता है। यह तथ्य है कि एक एक मुख भी पञ्चवक्त्रात्मक ही होते हैं। इनके भेद ही उपभेदों के भी उत्स हैं। इतने विस्तार से ऊबकर आचार्य जयरथ स्वयं कह रहे हैं कि इन बातों का अध्ययन उन्हीं प्रसङ्गों से और ग्रन्थों से करना चाहिये।

यह भी कहा गया है कि "एक एक वक्त्र (मुख) या पञ्चवक्त्रों का एकक यह मुख्यतः दश और अठारह भेद वाले हैं और इनसे ही अनन्त भेदों का उल्लास होता है।" आनन्त्य ही शैव विस्तार है। इस प्रकार अभेद, भेद और भेदाभेद प्रतिपादक शिव, रुद्र और भैरव नामक तीन प्रकार का ही यह शैव-शास्त्र बना—यही सिद्धान्त मान्य है। इसे प्रमाणित करने के लिये जयरथ उदाहरण श्लोक उद्धृत कर रहे हैं—

"रुद्र, शिव और भैरव नाम से तीन प्रकार के ही शास्त्रों को शिव ने उत्पन्न किया। इसीलिये यह मान्य है कि शैवागम की ज्ञानसत्ता का महाप्रवाह त्रिस्रोतस ही है और भेद, भेदाभेद तथा अभेद मतवादों के अमृत से विश्व को

इति। एवं च भेदाद्यात्मकमपीदं शास्त्रं परमेश्वरेशवामाघोरात्मकं षष्ठं त्रिकं परादिदेवीत्रयविश्रान्तिधामतया क्रोडीकृत्य,

'पुष्पे गन्धस्तिल तैलं देहे जीवो जले रसः।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तःप्रतिष्ठितम्॥'

इत्याद्युक्त्या परमाद्वयामृतपरिप्लावितं विदध्यात्, अन्यथा ह्यस्य परपदप्राप्तिनिमित्तत्वं न स्यात्। तदुक्तं

'ततोऽपि संहृताशेषभावोपाधिसुनिर्भरः।
भैरवः परमार्थोद्यद्द्रवबृंहितशक्तिकः॥
ईशान-वाम-दक्षासु तासु शक्तित्रयं क्रमात्।
अपरादिपराप्रान्तं क्रोडीकृत्य त्रिकं स्थितः॥
ऊर्ध्ववामतदन्यानि प्रापय्याभेदभूमिकाम्॥'

सिक्त करता है। इस प्रकार भेदात्मक होते हुए भी यह शास्त्र वक्त्रों के आठ त्रिकों में से छठें त्रिक (ईश-वाम-अघोर) को और परा, परापरा और अपरा रूपी देवी त्रय को भी आत्मसात् करता है।" इसकी पुष्टि इस पद्य से करते हैं-

"फूलों में सुगन्ध, तिल में तैल, देह में जीव और जल में जैसे रस प्रतिष्ठित रहता है, उसी प्रकार शास्त्रों का यह सारा प्रसार शिव-हृदय में ही प्रतिष्ठित है।" इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शैव महाभाव का जो परम अमृत रूप अद्वय तत्त्व है, उससे यह सारा शास्त्रविस्तार परिप्लावित है। अन्यथा शिवशास्त्रों को 'परमपद प्राप्ति में ये कारण हैं' इस प्रकार की प्राप्तिनिमित्त रूप प्रसिद्धि नहीं प्राप्त होती। इसी पर यह कहा गया है कि "भैरव सम्पूर्ण भाव राशि का स्वात्म में ही उपसंहार कर अवस्थित परम तत्त्व है। इसमें पारमार्थिक अमृत के उपबृंहण की शक्ति का शाश्वत उल्लास है। ईशान, वाम और दक्षिण, इन तीनों की तीन शक्तियाँ अपरा, परापरा और परा स्थितियों को आत्मसात् कर अवस्थित हैं।" इसी आधार पर ऊर्ध्वमतवाद, वामतवाद और इनके अतिरिक्त कुल आदि विभिन्न तान्त्रिक मार्ग और शास्त्र, जो अपने मूल उद्गम की सुधासिंचित भूमि पर उद्भूत हुए, वे सभी प्रायः अद्वय भूमि की ओर ही संकेत करते हैं।

इस आशङ्का के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है कि इन तथ्यों की प्रामाणिकता के लिए कोई श्रुति उपलब्ध नहीं है। यहाँ तो गुरुपरम्परा ही सबसे बड़ा प्रमाण है। कहा गया है कि—

इति। ननु एवंविधा श्रुतिर्न काचिदुपलभ्यत इति किं प्रमाणम्। ननु अत्र उक्तमेवानेन गुरुपारम्पर्यलक्षणं प्रमाणम्। यदाह

'इत्थं मध्ये विभिन्नं तत्त्रिकमेव तथा तथा।
शास्त्रमस्मद्गुरुगृहे संप्रदायक्रमात्स्थितम्॥'

इति। ननु यदेवात्र पुंबुद्धिप्रभवत्वं चोद्यं तदेवोत्तरीकृतम्—इत्यपूर्वमिदं पाण्डित्यम्, तेनागमः कश्चन संवादनीयो येनैतत्समाहितं स्यात्, नैतद् अविगीनैव हि प्रसिद्धिरागम इत्युच्यते, यदुक्तं

'प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः।
विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमविगानतः॥

प्रसिद्धिरवगीता हि सत्या वागीश्वरी मता।
तथा यत्र यथा सिद्धं तद्ग्राह्यमविशङ्कितैः॥'

"यह त्रिक मार्ग ही बीच में विकसित मतवादों की विभिन्नता की विभा से विभूषित होकर सम्प्रदाय क्रम से हमारे गुरुगृहों में अवस्थित है।" यह जानने योग्य और ध्यान देने की बात है कि शङ्कालु हृदय प्रसिद्ध सत्य के विषय में भी सन्देह करता है। आगमशास्त्रों के लिये 'प्रसिद्धि ही आगम है' यह प्रचलित है। युक्ति सिद्ध तथ्य है कि "पुरुष की बुद्धि और मेधा की उर्वर भूमि से जो अनुत्तर सत्य उद्घाटित होता है, वह स्वयम् उत्तर बन जाता है। ऐसा पाण्डित्य तो अपूर्व ही माना जायेगा। संशयात्मा तो संशयात्मा ही रह जायेगा।" आगम कोई भी हो, संवादनीय भी है और समाधेय भी। समाहित अवस्था को ही पुष्ट करने वाली यह उक्ति है कि—'प्रसिद्धि ही आगम है'। प्रसिद्धि भी ऐसी, जो समीक्षा की कसौटी पर खरी उतरी हो, अविगीत हो। यही तथ्य 'प्रसिद्धिरागमो लोके' तथा 'तद्ग्राह्यमविशङ्कितैः' इन दो श्लोकों से सिद्ध है। इसका अर्थ भी उक्त विश्लेषण में सुव्यक्त है।

वही आगम परम्परा में विहित है। महागुरु रूप जितने आप्त पुरुष हैं, उन्होंने कभी इसकी निन्दा नहीं की है, वरन् इस परम्परा के समर्थन और विकास में योगदान ही किया है। इसलिये अतिरिक्त प्रमाणों की यहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

इति । सा चात्र विद्यत एवाविगानेन महात्मनां महागुरूणाम् इति किमत्र प्रमाणान्तरान्वेषणेन । यदि चार्वाग्दृशां भवादृशामेवंविधा श्रुतिः कर्णगोचरं न गता—तावतैव एतन्नोपपद्यते, इति न वक्तुं शक्यम् । नहि प्रमाणाभावात् प्रमेयस्याप्यभावः स्यात् । न चैते विप्रलम्भकाः येनैवमन्यथोपदिशेयुः, एतदुपदेशमूलतयैव निखिलस्य शैवशास्त्रागमार्थस्य प्रयोगदर्शनात् । तेन यथा मन्वादिस्मृतौ उत्सन्नशाखामूलत्वादष्टकादियागानां मूलभूता श्रुतिः कल्प्यते तथा इहापि ज्ञेयम् । नह्येवंविधां श्रुतिमदृष्ट्वा साक्षात्कृतनिखिल-शैवागमसतत्त्वास्त एवमुपदिशेयुः इत्यलं महागुरूणामुपदेशपरीक्षण-दुःशिक्षया ।

आप सदृश आधुनिक सन्दर्भों के विज्ञाता को भी यदि ऐसी कोई श्रुति नहीं सुन पड़ी, तो इससे कुछ नहीं बिगड़ता। जो सत्य है, तथ्य है—वही रहेगा। प्रमाण के अभाव में प्रमेय का अभाव कभी नहीं होता, इस सिद्धान्त पर पूर्वप्रश्नोपस्थाता को विचार करना चाहिये।

ये कोई वंचक और भूलभुलैया में डालने वाले सामान्य पुरुष भी न थे, जिन्होंने जो जी में आया, उपदेश दे दिया। इन आगमिक उपदेशों के मूल में निखिल शैव शास्त्र की प्रायोजनिकता निहित है। इसलिये जैसे मनुस्मृति आदि अष्टक आदि यागों की उच्छिन्न शाखा वाली श्रुति की कल्पना कर लेते हैं, उसी तरह यहाँ भी प्रमेय की प्रस्तुति के आधार पर प्रमाण की कल्पना स्वयं हो जाती है।

अष्टक यागों में प्रयोज्य मूल श्रुति के न रहने पर भी मूल श्रुति की कल्पना कर याग सम्पन्न करते हैं। उसी प्रकार यह ध्रुव सत्य है कि आगम परम्परा-सिद्ध महामाहेश्वर मेधासमृद्ध प्रतिभा-पुरुष गुरुजन विना मूलभूत प्रमाण के देखे या जाने, ऐसा जीवन्मुक्तिदायक महत्त्वपूर्ण पारमार्थिक उपदेश दे पाते। इसलिये अन्त में जयरथ कहते हैं कि बस ! बहुत हो गया, पर-रहस्यदर्शी गुरुजनों के प्रति ऐसी शङ्का नहीं होनी चाहिये। आगम-शास्त्रों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि—

ननु शास्त्राणां

'यतः शिवोद्भवाः सर्वे शिवधामफलप्रदाः ।'

इत्याद्युक्तेरेकत्वनियामककारणफलयोरैक्यमस्ति, इह किंनिबन्धनमेषामेवं नानात्वमुक्तम् ? सत्यं—किन्तु अनुग्राह्याशयभेदादेषां नानात्वं कल्पितम् । यदुक्तं

'सर्वमेतत्प्रवृत्त्यर्थं श्रोतॄणां तु विभेदतः ।
अर्थभेदात्तु भेदोऽयमुपचारात्प्रकल्प्यते ॥
फलभेदो न कल्प्योऽत्र कल्प्यश्चेदयथायथम् ।'

इति । ननु यद्येवं तत्

'वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद्वामं च दक्षिणम् ।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं नहि ॥'

"ये सभी शास्त्र शिव से ही उत्पन्न हैं और शैव महाभाव रूपी जीवन्मुक्ति का महाफल प्रदान करने वाले हैं।" इस उक्ति में कारण (शिव) और शिवधाम रूपी फलवत्ता में एकता ही है, तो वैचारिक स्तर पर इनके अनेक रूपो में उल्लसित होने के क्या कारण और कौन से आधार हैं ? उत्तर में कहते हैं कि—आपकी बात तो सही है; किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि—अनुग्रह करने वाला अनुग्रह योग्य भक्तों के आशय भी देखता है। वह उसी रूप में उसे अनुगृहीत करता है। इसीलिये यह अनेकता—यह अनन्तता दृष्टिगोचर होती है। कहा भी गया है—

"यह सारा आनन्त्य और भेदवाद औपचारिक है। अधिकारी, श्रद्धालु श्रोताओं के अनुसार भेद स्वाभाविक हो जाता है। कहीं अर्थभेद से भेद होते दीख पड़ते हैं; किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि फल में भेद नहीं होता। यदि कोई फलभेद की कल्पना करेगा, तो वह निश्चय ही यथार्थ से दूर की बात होगी।

पुनः शङ्का उपस्थित करते हैं कि—

"वेद आदि से श्रेष्ठ शैवशास्त्र हैं। शैव में भी वाम और दक्षिण तथा

इत्यादिना उक्तमेषां यथायथमुत्कृष्टत्वं युक्तं न स्यात् ? नैतत्–द्वारद्वारिभावेन एषामुपायोपेयभावस्य उक्तत्वात्, तेन परमाद्वयोपदेशप्रतिपादकमेव शास्त्रं शिवसद्भावलाभैकफलम्—इत्यवसेयम्। तदेव परमपदप्राप्तौ साक्षादुपायभूतत्वादुत्कृष्टम्। एतच्चानेनैव श्रीमालिनीश्लोकवार्तिकादौ वितत्य उक्तम्, तत्तत एव स्वयमवधार्यम्, ग्रन्थगौरवभयात्तु प्रतिपदं न संवादितम्। अत एवाह 'तत्सारं त्रिकशास्त्रम्' इति। तदुक्तं

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥'

इति। अनेनैवाशयेन च

दक्षिण से भी कौल मतवाद श्रेष्ठ है। कौलमत से श्रेष्ठ कोई है ही नहीं।" इस उक्ति में क्रमशः मतवादों की श्रेष्ठता बतलाई गई है। यह बात ठीक नहीं।

पूर्व पक्ष के इस संशय का समाधान करते हैं—कि यहाँ बुराई या हीनता प्रदर्शित करना लक्ष्य नहीं है, वरन् यह देखना है कि परम पद की प्राप्ति में कौन शास्त्र साक्षात् उपाय है। उसकी उत्कृष्टता साक्षात् उपाय होने के कारण है। उक्त श्लोक में द्वार और द्वारी के आधार पर उपाय और उपेय भाव की प्रतिष्ठा की गयी है। यह निश्चित है कि परम अद्वय भाव के उपदेश का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही शैव महाभाव रूपी फल प्रदान करने में सक्षम हो सकता है। एक द्वार से निकल कर दूसरे द्वार के माध्यम से जब गृहस्वामी सभी घरों का अवलोकन करता है, तब उसकी साजसज्जा का पता चलता है। उसी प्रकार क्रमशः इन शास्त्रों के स्वाध्याय से साधक को यह स्पष्ट हो जाता है कि कौलशास्त्र ही परम अद्वय भाव की उपलब्धि में साक्षात् उपाय है, तो वह स्वतः कह उठता है कि 'कौलात् परतरं नहि'। अर्थात् सर्वोत्कृष्ट साक्षात् उपाय है। 'श्रीमालिनीश्लोकवार्त्तिक' में ये सारी बातें विस्तारपूर्वक बतलायी गयी हैं। जिज्ञासु जन वहाँ से भी इसका अवधारण करें। व्यर्थ विस्तार को रोक कर नये विचार की पुनः अवतारणा जयरथ कर रहे हैं—

'वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित् ।
संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः ॥'

इत्यादि श्रीनिशाचारादावुक्तम् । तच्च सिद्धा-नामकमालिन्याख्यखण्ड-त्रयात्मकत्वात्त्रिविधम् । तत्र क्रियाप्रधानं सिद्धातन्त्रम्, ज्ञानप्रधानं नामकं तन्त्रम्, तदुभयमयं मालिनीमतम् इति तदेव मुख्यम्, यदाह 'तत्सारं मालिनी-मतम्' इति । एवं च, 'न तदस्तीह यन्न' इत्यादि युक्तमेवोक्तम् ॥१८॥

अतश्च सर्वसहत्वात्तदधिकारेणैव च प्रतिज्ञाया अपि निर्वाहो युक्त इत्याह

एक स्थान पर 'कौलात् परतरं नहि' कहा गया है, दूसरे स्थान पर 'तत्सारं त्रिकशास्त्रं' भी है । इसका तात्पर्य क्या है ?

श्लोकार्थ है कि—

"वेद से शैव, उससे वाम, फिर दक्षिण, उससे कुल, कुल से मत और मत से भी त्रिक सर्वोत्तम और पर है" । इसी आशय का एक दूसरा श्लोक भी जयरथ दे रहे हैं—

"वाम मार्ग में दीक्षा लेने के बाद भी परतत्त्ववेत्ता दैशिक विद्वान् को भी भैरव तन्त्रानुसारी दीक्षा देकर संस्कार सम्पन्न करना आवश्यक होता है । कुल मार्ग पर जाने के लिये कुल दीक्षा की और कुल दीक्षा प्राप्त कौल को परमाद्वयभाव के चिदैक्य की पराकाष्ठा पर जाने के लिये त्रिक के संस्कारों से संस्कृत करना परमावश्यक है ।" "यह निशाचर शास्त्र की उक्ति है ।

यह सिद्धा तन्त्र, नामक तन्त्र और मालिनी तन्त्र नाम तीन खण्डों में है । उनमें सिद्धा तन्त्र क्रिया प्रधान है । नामक तन्त्र ज्ञान प्रधान है । ज्ञान और क्रिया उभय भाव के प्राधान्य से संवलित मालिनी तन्त्र है । इन तीनों में मालिनी मत श्रेष्ठ है । इसीलिये 'तत्सारं मालिनीमतम्' की उक्ति अठारहवें पद में है । सत्रहवें श्लोक में भी यह घोषणा की गयी है—वह कोई ऐसा विषय नहीं है, जो यहाँ न हो ।

ये सारी बातें क्रमिक उत्कर्ष की तात्त्विक दृष्टि से ही कही गयी हैं और एकात्मक रूप से सत्य पर आधारित हैं ॥१८॥

सबके लिये मान्य होने के कारण गुरुके ही अधिकार से अपनी कृति की प्रतिज्ञा का निर्वाह उचित कह रहे हैं—

अतोऽत्रान्तर्गतं सर्वं संप्रदायोज्झितैर्बुधैः ।
अदृष्टं प्रकटीकुर्मो गुरुनाथाज्ञया वयम् ॥१९॥

'अत' इति उक्तयुक्त्यास्यैव शास्त्रस्य प्राधान्यात् । 'प्रकटीकुर्म' इति प्रक्रियाकरणेन । अतश्च 'प्रधाने हि कृतो यत्नः फलवान्भवति' इति भावः । 'गुरुनाथाज्ञया' इति—नहि तदाज्ञां विनात्र अधिकार एव भवेदिति भावः ॥१९॥

अन्यादृष्टप्रकटीकरणे च स्वात्मनि भगवत्प्रसाद एव निमित्तम् इति दर्शयितुमाह

अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या ।
त्रिनयनचरणसरोरुहचिन्तनलब्धप्रसिद्धिरिति ॥२०॥

त्रिनयनप्रसादासादितप्रकृष्टसिद्धेः किं नामासाध्यम् इति भावः ॥२०॥

'अतः' अर्थात् मालिनीविजयोत्तर तन्त्र की प्रधानता के कारण उसके अधिकार क्षेत्र में ही इसका प्रकटीकरण हो रहा है । प्रधान में किया यत्न सफल होता है । गुरुदेव की आज्ञा के विना इस महान् कार्य में अधिकार भी कैसे होता ?

गुरुदेव की आज्ञा के विना इस शास्त्र के रहस्यों का उद्घाटन नहीं किया जा सकता । इसलिये आप्त होने पर भी गुरु के आदेश के मिलने के उपरान्त ही इस अदृष्ट के प्रकटीकरण का यह कार्य सम्पन्न किया जा रहा है । साम्प्रदायिक संकुचित दृष्टि के कारण विशिष्ट तत्त्वार्थवाद से व्यक्ति वंचित रह जाता है ॥१९॥

अब तक अविचारित तत्त्व के और अननुभूत रहस्यार्थ के उद्घाटन की उद्घोषणा ग्रन्थकार कर रहे हैं—

अभिनवगुप्त की यह रचना गुरुदेव की आज्ञा से ही विरचित है । इसमें अनुशासनहीनता का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता । उनकी स्पष्ट आख्या (आज्ञा) है कि मैं इस अप्रतिम रहस्यार्थ का प्रकाशन करूँ ।

त्रिनयन शङ्कर की कृपा से प्राप्त प्रकृष्ट सिद्धि के बाद कुछ भी असाध्य नहीं है । मैंने भगवान् शंकर के चरणों की आराधना की है । उनके चरणारविन्द के सुचारु चिन्तन से मुझे त्रिकशास्त्र की सिद्धि प्राप्त है । अतएव मैं इस रहस्य को खोलने में पूरी तरह समर्थ हूँ ॥२०॥

एवं चेयं कृतिः सर्वेषामेव ग्राह्या भवेत्, इति प्रतिपादयितुमाह

श्रीशम्भुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसंकोचम् ।
अभिनवगुप्तहृदम्बुजमेतद्विचिनुत महेशपूजनहेतोः ॥२१॥

आदिवाक्यं

हृदयं शास्त्रात्मसतत्त्वं महेश्वरस्य पूजनं

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥'

इत्याद्युक्त्या तत्तद्दक्षप्रमाणज्ञप्तिक्रमेण स्वात्मतया प्रत्यभिज्ञानम् । अतश्च महावाक्यार्थेन एकमेवादिवाक्यात्मकं वाक्यम् इति दर्शयितुमाह 'आदि-वाक्यम्' इति ।

यह सबको सर्वात्मना स्वीकृत हो—इसके लिये प्रस्तुत श्लोक की अवतारणा कर रहे हैं—

यह पूरा ग्रन्थ अभिनवगुप्त के हृदय रूपी कुसुम का मकरन्द रस ही है । कोई भाग्यशाली साधक, जिसके हृदय में पूजा की इच्छा का उन्मेष हो रहा हो, उसे इस ग्रन्थ का प्रयत्नपूर्वक, अध्ययन और मनन करना चाहिये ।

इस श्लोक में सर्वप्रथम 'हृदय' की व्याख्या जयरथ कर रहे हैं । वह कमल है । "महेश्वर परमशिव की पूजा के लिये ऐसे कमल की आवश्यकता है । इसके चयन की उत्कण्ठा स्वयं ग्रन्थकार जागृत करना चाहते हैं ।

यह आदिवाक्य है ।

ग्रन्थ का अभिधेय, प्रयोजन, प्रवृत्तिनिमित्त और लक्ष्य सभी कुछ ग्रन्थ के आदि में व्यक्त करने की परम्परा है । यहाँ ग्रन्थ की प्रवृत्ति का कारण बतलाया गया है । 'आदि वाक्य' शब्द द्वारा महेश्वर की पूजा का महत्त्व स्पष्ट किया गया है ।

पूजा भी कैसी ? वह द्वैतप्रथा को प्रथित करने वाली मामूली फूलों से की जानेवाली पूजा ? नहीं ! परम-व्योम, जो समस्त विकल्पों से शून्य है, उसमें श्रद्धापूर्वक आत्मसत्ता का विलय करना ही पूजा है ।"

'एकमेवाद्वितीयम्' महावाक्य की तरह यह आदि वाक्य है ।

परमेश्वर के शक्तिपात के लिये पात्र बनना चाहिये । वह पात्रता शास्त्र के श्रवण-मनन-चिन्तन और आचरण से ही सम्भव है । इस शास्त्र में प्रवृत्ति का यही निमित्त है ।

इह यद्यपि परमेश्वरशक्तिपातमन्तरेण तच्छास्त्रश्रवणादावन्यत् प्रवृत्तिनिमित्तं नाभ्युपेयते, तथापि शास्त्रकाराणामियं शैली–इत्यभिधेयप्रयोजनादि प्रतिपादयितुं प्रवृत्तिहेतुतया अयमादिवाक्योपनिबन्धः। तत्र प्रथमश्लोकपञ्चकासूत्रितोऽनुत्तरषडर्धार्थक्रम इत्यनेन साक्षादभिहितश्च परम्परापरापरात्मतादिना बहुप्रकारस्त्रिकार्थस्तावदभिधेयः। तस्यै च कर्तृप्रतिपादनकौशलेन कौ[मौ]लागमस्य च समस्तशास्त्रप्राधान्याभिधानेन सातिशयत्वं प्रतिपादयितुं 'श्रीभट्टनाथ' इत्यादि श्लोकपञ्चकमुपात्तम्। स च गुरुपरम्परागतः।

'तस्माद्गुरुक्रमायातं विशन्नेति परं शिवम्।'

इत्याद्युक्तनीत्या निजप्रयोजनकारी भवति, इत्येतदङ्गतयैव पारम्पर्यसंदर्शनार्थं गुरुसंकीर्तनपरं श्लोकसप्तकमुट्टङ्कितम्। अतश्चास्यैव वक्ष्यमाणोपायक्रमेण स्वात्मतया प्रत्यभिज्ञानाज्जीवन्मुक्तिप्रदत्वं प्रयोजनं श्लोकान्तरासूत्रितमपि 'श्रीशम्भुनाथ' इत्यादिश्लोकेन साक्षादुक्तम्, एतदुद्दिश्य च को नाम न सचेताः परमेश्वरशक्तिपातपवित्रितः प्रवर्तत इत्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्, प्रवृत्तस्याप्येतदुपलब्धौ

शास्त्रकारों की शैली है कि अभिधेय, प्रयोजन, प्रवृत्तिनिमित्त और लक्ष्य के प्रतिपादन के लिये और ग्रन्थ के स्वाध्याय की प्रवृत्ति के लिये ऐसे आदि वाक्यों का प्रयोग करते हैं। ग्रन्थ के आदि के प्रथम पाँच श्लोकों में पिरोया गया अनुत्तर षडर्धमत ही अपर, परापर और पर रूपी त्रिकदर्शन है। वही इस ग्रन्थ का 'अभिधेय' है।

बड़ी कुशलता से अपने कर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार ने जीवसत्ता और चिरन्तन सत्ता के ऐक्य का प्रतिपादन किया है। कौल आगम की प्रधानता और अतिशयता का कथन करने के लिये पुनः 'श्रीभट्टनाथ' आदि पाँच श्लोकों की रचना की। इससे गुरु परम्परा भी ज्ञात हो जाती है।

"गुरु परम्परा से प्राप्त ज्ञान से ही परम शिवत्व को प्राप्त होता है।"

यह उल्लेख शास्त्र में है। गुरु परम्परा की पुष्टि के लिये ही इन्होंने गुरु-महत्त्व प्रतिपादक सात श्लोकों की रचना की है। इसी क्रम में स्वात्मप्रत्यभिज्ञान से ही जीवन्मुक्ति रूप 'प्रयोजन' का उल्लेख भी यहाँ स्पष्ट है। इस उद्देश्य से कौन ऐसा सहृदय पुरुष होगा, जो परमेश्वर शक्तिपात से पवित्र होकर जीवन्मुक्ति के महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति के लिये न प्रवृत्त हो जाय ? यहाँ 'प्रवृत्तिनिमित्त' का निर्देश ग्रन्थकार ने किया है।

'तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ।

इत्याद्युक्तेर्विघ्नाः संभवन्ति इत्येतन्निरासाय गणेशवटुकयोः स्तुतिः । 'अर्थितो रचये' इति प्रतिज्ञाताया प्रक्रियायाश्च

'तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणोपजीवनेन तन्त्रालोक इत्यभिधानम् । एवमभिधानाभिधेययोरभिधेयप्रयोजनयोश्च वाच्यवाचकसाध्यसाधनभावलक्षणः सम्बन्धश्चार्थाक्षिप्त इत्यनेकवाक्यसंमेलनात्मकमेकमेवादिवाक्यं प्रवृत्तिहेतुतया उक्तम् इति पिण्डार्थः ॥ २१ ॥

इह यद्यपि सर्ववादिनां मोक्ष एव उपादेयः, तत्प्रतिपक्षभूतः संसारश्च हेयः, तस्य च मिथ्याज्ञानं निमित्तं, तत्प्रतिकूलं च तत्त्वज्ञानम्—इति तत्साक्षात्कारेणैव अज्ञानापगमान्मोक्षावाप्तिः—इत्यत्राविवादः, तथापि तैस्तदेकनियतं ज्ञानाज्ञानयोः स्वरूपं न ज्ञातम् इति

जो भाग्यशाली साधक इस महत्त्वपूर्ण कार्य में प्रवृत्त हो और उसे यदि इस अनुग्रह की उपलब्धि हो भी जाय, तो भो उसे सावधान रहना चाहिये; क्योंकि—

"योजित करते नित अनित्य भोगों में उसे विनायक ।"

यह गुरुजनों का कथन है। यहाँ विघ्नों की सम्भावना रहती है। इसलिये विघ्न निवारण के लिये गणेश और वटुक इन दोनों की प्रार्थना अपेक्षित है।

पन्द्रहवें श्लोक में आप्तों, सहृदयों के आग्रह पर इस पूर्णार्था प्रक्रिया की रचना की प्रतिज्ञा ग्रन्थकार ने की है। उन्होंने कहा है—"शैवागम शासन में तन्त्रित, मेरे द्वारा तन्त्रालोक"। इसी उक्ति के आधार पर इस शैव विश्वकोष का नाम 'तन्त्रालोक' रखा गया। इस प्रकार अभिधान और अभिधेय तथा अभिधेय और प्रयोजन, इन दोनों में वाच्य-वाचक सम्बन्ध और साध्य-साधन भाव रूप सम्बन्ध है—यह स्वतः प्रतीत हो जाता है। अर्थ से यह अन्वर्थ आक्षिप्त हो जाता है। इस प्रकार अनेक कथ्यों का एक आदिवाक्य रूपी कथ्य तथ्यतः प्रकाशित हो रहा है। इसमें प्रवृत्ति का हेतु भी स्वतः अभिव्यक्त हो जाता है॥ २१ ॥

सभी मतवाद मोक्ष को उपादेय मानते हैं। इसका प्रतिपक्ष जगत् हेय है। मिथ्याज्ञान संसार का कारण है। इसके विपरोत तत्त्वज्ञान है। इसके मिलने

'भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।'

इत्याद्युक्त्या तदभ्युपगतो मोक्षो मोक्ष एव न भवति—इति दर्शयितुं शास्त्रान्तर-वैलक्षण्येन तत्परीक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात्प्राधान्यमपि कटाक्षयितुमुपक्रम एव बन्धमोक्षपरीक्षामुट्टङ्कयति ग्रन्थकारः

इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते ।
अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ॥२२॥

न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह

मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम ।
इति प्रोक्तं तथा च श्रीमालिनीविजयोत्तरे ॥२३॥

'अज्ञानं' तिमिरं पारमेश्वर स्वातन्त्र्यमात्रसमुल्लासितस्वरूपगोपनासतत्त्व-मात्मानात्मनोरन्यथाभिमानस्वभावम् अपूर्णं ज्ञानं, तदेव चाणवं 'मलं', न तु नवमाह्निकादौ निषेत्स्यमानं द्रव्यरूपम् । उक्तं च

पर ही अज्ञान दूर होने से मोक्ष होता है । इसमें किसी का कोई विवाद नहीं है । फिर भी ज्ञान और अज्ञान का निश्चित स्वरूप कोई नहीं जानता । "माया मोक्ष की इच्छा के बावजूद अमोक्ष में ही भरमा रही है ।" इसके अनुसार तो ज्ञात मोक्ष भी अमोक्ष है । अतः दूसरे शास्त्रों से विलक्षण परीक्षण हेतु बन्ध-मोक्ष स्पष्टीकरण सम्बन्धी उपक्रम कर रहे हैं—

दर्शन का प्रतिपादन करने वाले सभी शास्त्रों का यही कथन है कि संसृति (आवागमन) का मूल कारण अज्ञान है । साथ ही यह भी कहा है कि ज्ञान ही मोक्ष का एक मात्र कारण है ॥२२॥

यह बात ग्रन्थकार की स्वोपज्ञ (मात्र अपने ज्ञान पर ही आधारित) नहीं है—इसके प्रमाण में कहते हैं—

"मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में यह कहा गया है कि 'अज्ञान' ही मल है और संसार के अंकुर का कारण है ।"

'अज्ञान' अन्धकार है । पारमेश्वर स्वातन्त्र्य की अनुभूति से प्रकाशित 'स्व' रूप का यह गोपन करता है । आत्म और अनात्म सम्बन्धी व्यर्थ की उलझनों में डालने वाला है ।

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥'

इति । तच्च कीदृक् ? इत्याह—संसार इति । 'संसारस्य'

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम् ....।'

इत्याद्युक्तस्वरूपस्य मायीयस्य मलस्य

'संसारकारणं कर्म संसाराङ्कुर उच्यते ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या 'अङ्कुरः' कारणं कार्ममलं तस्य 'कारणम्' । तदुक्तं

'मलं कर्मनिमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।'

इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे प्रोक्तम् इत्येतदधिकारेणैवायं ग्रन्थः प्रवृत्त इत्युपोद्वलितम् ॥ २३ ॥

अज्ञानस्य पौरुषबौद्धात्मकत्वेन द्वैविध्येऽपि इह पौरुषमेव विवक्षितं स्यान्नान्यद् इत्याह

विशेषणेन बुद्धिस्थे संसारोत्तरकालिके ।
संभावनां निरस्यैतदभावे मोक्षमब्रवीत् ॥२४॥

उलझनों में डालने वाला है । वस्तुतः अपूर्ण ज्ञान ही अज्ञान है । इसे आणव मल भी कहते हैं । आगे के नौवें आदि आह्निकों में इसकी द्रव्यरूपता का निषेध है । कहा भी गया है—

'आणव मल' (अज्ञान) दो प्रकार का होता है । इससे अपने स्वरूप का बोध क्षीण हो जाता है । पहली अवस्था में स्वात्मस्वातन्त्र्य का ही बोध नहीं होता । दूसरी अवस्था में बोध के स्वातन्त्र्य की हानि हो जाती है; क्योंकि संकोच की प्रधानता हो जाती है"

अज्ञान कैसा होता है—इस प्रश्न का उत्तर है—'संसाराङ्कुर कारण' है । "मायोय मल जिसमें वेद्य की भिन्नता का भान प्रमुख होता है तथा कार्म मल जिसके द्वारा संसार अंकुरित होता है—ये दोनों संसाराङ्कुर कारण माने जाते हैं । कहा है—"कर्म का निमित्त भी मल ही होता है । नैमित्तिक इसके अतिरिक्त है" । ये सारी बातें मालिनीविजयोत्तर तन्त्र की हैं । उसी के आधार पर यह ग्रन्थ प्रवृत्त है और विषय की अवतारणा का वही आधार है ॥२३ ॥

पौरुष और बौद्ध दो प्रकार के अज्ञानों में केवल पौरुष की ही यहाँ विवक्षा है, दूसरे की नहीं । इसलिये कहते हैं—

संसार शरीर है । इसके उत्तरकाल में अज्ञान की संभावना नहीं है । उसके न रहने पर (पौरुष ज्ञान होने पर) मोक्ष होता है—यह गुरु कहते हैं ॥

'विशेषणेन' 'संसाराङ्कुरकारणम् इत्यनेन' नहि दुरध्यवसायरूपं बौद्धमज्ञानं कर्मणः कारणम्; अपि तु तत्तस्य—इति कथमेतद्विशेषणं संगच्छताम्, तद्धि सति कर्मकारणके शरीरे संभवति तस्य कार्यकरणात्मकत्वात्, बुद्धेश्च करण-वर्गान्तःपातित्वात्, अत एवोक्तं 'संसारोत्तरकालिक' इति,

'शरीरभुवनाकारो मायीयः परिकीर्तितः ।'

इत्याद्युक्तेः संसाराच्छरीरादनन्तरभाविनि इत्यर्थः। किं तत्संभावनानिरासेन इत्युक्तम्—'एतदभावे मोक्षमब्रवीत्' इति। नहि बौद्धाज्ञानमात्रनिवृत्तौ मोक्षो भवेत् 'यत्तस्मिन्निवृत्ते बौद्धमेव ज्ञानमुदेति' तस्य च शुद्धविकल्पात्मत्वेऽपि

'सर्वो विकल्पः संसारः..............................।'

इति नीत्या संसाराविर्भावकत्वमेव इति कथमेतदभावेऽपि एवं स्यात्। यदभिप्रायादितो बाह्यैरपि

'परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डितः ।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाऽप्यथ वाऽशुभे ॥'

---

२३ वें श्लोक का 'संसाराङ्कुरकारण' शब्द अज्ञान का विशेषण है। अज्ञान दो प्रकार का होता है। १—बौद्ध और २—पौरुष। बौद्ध में रहने वाला अज्ञान दुष्ट अध्यवसाय रूप होता है। यह कर्म का कारण नहीं होता; अपि तु कर्म ही अज्ञान के कारण होते हैं। इसलिये संसाराङ्कुरकारण बौद्ध अज्ञान का विशेषण नहीं माना जा सकता। बौद्ध अज्ञान कर्म द्वारा उत्पन्न शरीर में होता है। बुद्धि अन्तःकरण मानी जाती है। अतः "शरीर ही संसार है और मायीय है।" इसके न रहने पर अज्ञान की सम्भावना का निराकरण हो जाता है और तभी पौरुष अज्ञान के अभाव में हा मोक्ष सम्भव है—यह कहा जाता है।

बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति से ही मोक्ष नहीं होता; क्योंकि बौद्ध अज्ञान के नष्ट हो जाने पर बौद्ध ज्ञान ही उत्पन्न होगा। बौद्ध ज्ञान शुद्ध विकल्पात्मक होता है। शास्त्र का नियम है कि—

"सारा—विकल्प ही संसार रूप होता है"। फलतः बौद्ध ज्ञान भी संसार का ही आविर्भावक सिद्ध होता है। उसके अभाव में भी मोक्ष असंभव ही है।

अन्य विचारकों के मत भी कुछ इसी प्रकार के हैं—

"शुभ या अशुभ सभी विकल्प विकल्प ही हैं। विवेकशील पुरुष पारमार्थिक विकल्प के रस समुद्र में डूबने से बचे, इसी में कल्याण है।"

इत्याद्युक्तं, पौरुषे पुनरज्ञाने दीक्षादिना निवृत्ते सति यदि बौद्धं ज्ञानमुदियात्, तदा तस्य वक्ष्यमाणनीत्या जीवन्मुक्ति प्रत्यपि कारणत्वं भवेत्, केवलेन पुनस्तेन न किंचित्सेत्स्यति इत्युक्तप्रायम्। पौरुषं पुनर्ज्ञानमुदितं सत् अन्यनिरपेक्षमेव मोक्षकारणम्। यदुक्तं

'पाशाश्च पौरुषाः शोध्या दीक्षायां न तु धीगताः।
तेन तस्यां दोषवत्यामपि दीक्षा न निष्फला ॥'

इति। तच्च ज्ञानमात्रस्वभावम्, अख्यात्यभाव एव हि पूर्णा ख्यातिः, सैव च प्रकाशानन्दघनस्यात्मनस्तात्त्विकं स्वरूपं, तत्प्रथनमेव मोक्ष इति युक्तमुक्तम् –'एतदभावे मोक्षमब्रवीत्' इति ॥ २४ ॥

ननु अज्ञानशब्दस्य अपूर्णं ज्ञानमर्थः इत्यत्र किं निबन्धनं, ज्ञानाभावमात्रमेवास्तु इत्याशङ्क्याह

अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गतः।
स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः ॥२५॥

पौरुष अज्ञान दीक्षा से निवृत्त हो जाता है। उस दशा में यदि बौद्ध ज्ञान उत्पन्न हो तो सम्भवतः जीवन्मुक्ति के प्रति वह कारण बन सकता है; किन्तु केवल उससे भी कुछ बनने वाला नहीं। बल्कि पौरुष ज्ञान का बड़ा महत्त्व है। इसके उदित होने पर कुछ विचित्र घटित हो जाता है। वह स्वयं स्वतन्त्र रूप से मोक्ष का कारण है। कहा गया है कि—

"दीक्षा में पौरुष पाशों (मलों) के शोधन की आवश्यकता होती है। बुद्धिगत पाशों (मलों) का निराकरण तो विवेक से ही हो जाता है। दोषयुक्त बुद्धि यद्यपि ठीक नहीं है, फिर भी इस अवस्था की दीक्षा निष्फल नहीं जाती।"

मोक्ष का तो स्वभाव ही ज्ञान है। अख्याति के अभाव को ही पूर्ण ख्याति कहते हैं। प्रकाशानन्दघन आत्मा का तात्त्विक रूप पूर्ण ख्याति ही है। इसके प्रथन (संस्कार रूप से दृढ़ होने) को ही मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार यह कथन युक्तिसंगत ही है कि 'इस अज्ञान के अभाव में ही मोक्ष सम्भव है' ॥२४॥

प्रश्न है कि अज्ञान शब्द के अपूर्णज्ञान अर्थ में क्या प्रमाण है? इसका अर्थ तो ज्ञान का अभाव भी हो सकता है? इसके समाधान के लिए इस कारिका की अवतारणा करते हैं—

कोऽसावतिप्रसङ्ग इत्याह--'स हि' इत्यादि। तद्युक्तमुक्तमज्ञानशब्दस्य अपूर्णं ज्ञानमर्थ इति ॥ २५ ॥

तदाह

अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम् ।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम् ॥ २६ ॥

'अतो' यथोक्ताद्धेतोः 'ज्ञेयस्य' नीलसुखादेः,

'ज्ञेयस्य च परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः।'

इत्यादिवक्ष्यमाणस्वरूपस्य 'तत्त्वस्य' 'सामस्त्येन' तस्य सर्वत्राविशेषात् तदेकघनाकारत्वेन "अप्रथात्मकं' यद् इदं नीलम् इदं सुखम् इति द्वैतप्रथात्मकत्वादपूर्णं 'ज्ञानं' तदेव 'अज्ञानं' न पुनर्ज्ञानाभावमात्रम् इत्येतच्छिवसूत्रेषु 'भाषितम्' उक्तमित्यर्थः ॥ २६ ॥

तत्र चैतत्कुत्र दर्शितम् इत्याशङ्क्याह

चैतन्यमात्मा ज्ञानं च बन्ध इत्यत्र सूत्रयोः ।
संश्लेषेतरयोगाभ्यामयमर्थः प्रदर्शितः ॥ २७ ॥

अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। ज्ञानाभाव मानने से ऐसे स्थानों में भी इस अर्थ का प्रसङ्ग होगा जहाँ नहीं होना चाहिए। जैसे लोष्ठ [ढेला] शब्द में ज्ञानाभाव अर्थ मान लेने पर उसमें संसृति माननी पड़ेगी; किन्तु उसमें संसृति होती ही नहीं। यह सही है कि अज्ञान शब्द का अर्थ अपूर्ण ज्ञान ही है—ज्ञान का अभाव नहीं ॥ २५ ॥

शिवसूत्र का दूसरा ही सूत्र है—'ज्ञानं बन्धः'। किसी वस्तु का ज्ञान होता है। वह वस्तु कैसी है—यह ज्ञेय है--जानने योग्य है। उसका जानने वाला ज्ञाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी में सारा दर्शन-विज्ञान समाहित है। "ज्ञेय का परमतत्त्व प्रकाशात्मक शिव ही है" वह दो प्रकार का है। १--वस्तु, स्थान, नाम आदि द्वैत की प्रथा पर आधारित और २—परतत्त्व, चिदानन्दघन परमशिव सर्वत्र समस्तता और समरसता से भरपूर परमतत्त्व। इस द्वितीय तत्त्व की एकान्त सत्ता के विपरीत जब नीले, पीले, सुख-दुःख आदि द्वैत प्रथात्मक ज्ञान होते हैं तो ये ज्ञान ही अज्ञान बन जाते हैं। यही अपूर्ण ज्ञान है, ज्ञान का अभाव नहीं। यही अपूर्ण ज्ञान बन्ध बन जाता है, संसार के अंकुर का यही कारण है और संसृति का हेतु है। यही शिवसूत्र का कथ्य है ॥ २६ ॥

'संश्लेषेतरयोगाभ्याम् इति संहितया अन्यथा च आकारप्रश्लेषविश्लेषाभ्यां, तेन 'ज्ञानं बन्धः, अज्ञानं बन्धः' इति चायमर्थः, इत्यज्ञानशब्दस्य अपूर्णज्ञानाभिधानलक्षणः ।। २७ ।।

एतदेव व्याचष्टे

चैतन्यमिति भावान्तः शब्दस्वातन्त्र्यमात्रकम् ।
अनाक्षिप्तविशेषं सदाह सूत्रे पुरातने ।। २८ ।।
द्वितीयेन तु सूत्रेण क्रियां वा करणं च वा ।
ब्रुवता तस्य चिन्मात्ररूपस्य द्वैतमुच्यते ।। २९ ।।
द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद् बन्ध उच्यते ।
तत एव समुच्छेद्यमित्यावृत्त्या निरूपितम् ।। ३० ।।

वहाँ कैसे यह प्रमाणित है ? यही कह रहे हैं--

शिवसूत्र के पहले और दूसरे सूत्रों के संश्लेष और इतर योग रूप अन्वय से यह अर्थ स्पष्टतया प्रदर्शित है--

शिवसूत्र का पहला सूत्र है--चैतन्यमात्मा । दूसरा है--ज्ञानं बन्धः । इसको दो तरह से लिख सकते हैं । १-चैतन्यमात्माज्ञानंबन्धः और २--चैतन्यमात्मा । ज्ञानं बन्धः । पहला ढङ्ग 'संहिता' कहलाता है, अर्थात् मिलाकर लिखना । इसमें बीच में अर्थात् 'त्मा' और 'ज्ञा' के बीच में 'अ' का प्रश्लेष कर सकते हैं । तब ज्ञानम् अज्ञानम् बन जाता है और पदों को अलग-अलग विश्लेष के तौर पर लिखने पर ज्ञानम् रहता है । संश्लेष और दूसरे से योग अवस्थाओं में अज्ञानं बन्धः और ज्ञानं बन्धः, दो रूप हो जाते हैं । यहाँ अज्ञान का अर्थ अपूर्णज्ञान होता है तथा ज्ञान का अर्थ भी द्वैतप्रथात्मक ज्ञान हो जाता है । शिवसूत्र के इन सूत्रों ने रहस्यार्थ का स्पष्टीकरण कर दिया है ।। २७ ।।

यही व्याख्यायित कर रहे हैं--

विश्व में कुछ भी चेतनाशून्य नहीं है । सप्तशती का श्लोक है--'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्' । जगत् में चितिक्रिया सबमें सामान्यतया व्याप्त है । चैतन्य शब्द का विग्रह है--चेतयति इति चेतनः । पूर्ण ज्ञान वाला और पूर्ण क्रिया वाला ही चेतन होता है । 'चेतनस्य भावः चैतन्यम्' इस विग्रह के अनुसार चैतन्य का अर्थ है--पूर्णज्ञाता और पूर्ण कर्त्ता को भाव सत्ता । यह स्थिति परम ऐश्वर्यसम्पन्नता और पूर्ण स्वातन्त्र्य की द्योतक है ।

इह न किञ्चिदप्यचेतितं भवति इति चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति। चेतयति इति चेतनः पूर्णज्ञानक्रियावान्, तस्य भावः 'चैतन्यं' पूर्णज्ञानक्रिया-वत्त्वं, तदेव च परमैश्वर्यस्वभावं स्वातन्त्र्यमेव केवलं स्वातन्त्र्यमात्रकम्, अत एवाह 'अनाक्षिप्तविशेषम्' इति, 'अनाक्षिप्ताः' स्वसहचारिणोऽपि नित्यत्व-व्यापकत्वादयो 'विशेषा' भेदा येन तत्। भावप्रत्ययान्तो हि शब्दः सहचारि-धर्मान्तरनिवृत्तिमेव ब्रूते, अत एव द्रव्याभिधायिनः शब्दस्य विशेषः। यदाहुः

'धर्मान्तरप्रतिक्षेपाप्रतिक्षेपौ तयोर्द्वयोः।
संकेतभेदस्य पदं ज्ञातृवाञ्छानुरोधतः॥
भेदोऽयमेव सर्वत्र द्रव्यभावाभिधायिनोः।'

इति। 'द्वितीयेन' इति अर्थाद् द्वितीयसूत्रवर्तिना ज्ञानशब्देन, ज्ञप्तिः ज्ञानं, ज्ञायते येन इति ज्ञानं च इति व्युत्पत्त्या 'क्रियां, करणं' च प्राधान्येनाभि-दधता 'तस्य'—चैतन्यमात्मा—इत्युक्तस्वरूपस्य, अत एव चेतयते इति 'चित्' चितिक्रियायां कर्ता, तन्मात्रमेव केवलं 'रूपं' यस्य तस्य 'द्वैतमुच्यते' कर्तृ-कर्मणोः कर्तृकर्मक्रियाणां च भिन्नानामवच्छेदकानामागूरणाद् द्वैतप्रथासूत्रणं क्रियते, पूर्णमस्य रूपं नाख्याति इत्यर्थः।

'चैतन्यम् आत्मा' इस शिवसूत्र में केवल चैतन्य के प्रयोग को ही महत्त्व दिया गया है। वह नित्य भी है, व्यापक भी है। ये भेद यहाँ अनाक्षिप्त हैं। उनके आक्षेप की, उनको लेने की कोई आवश्यकता नहीं। चैतन्य शब्द ही पर्याप्त माना गया है। भाव प्रत्ययान्त शब्द में साथ रहने वाले अन्य गुण-धर्म गौण हो जाते हैं। 'तत्त्वार्थ प्रतिपादक शब्द ही विशिष्ट होता है।'

"द्रव्य और भाव वाचक शब्दों का यही भेद होता है। ज्ञाता की आकांक्षा के अनुरोध के आधार पर संकेतित अर्थ का हम आक्षेप कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं।"

जहाँ तक दूसरे सूत्र 'ज्ञानं बन्धः' का प्रश्न है। इसमें प्रयुक्त ज्ञान शब्द भी व्युत्पत्ति के अनुसार विभिन्न अर्थ व्यक्त करता है। 'ज्ञप्तिः ज्ञानं' विग्रह के अनुसार जानकारी ही ज्ञान है। 'ज्ञायते येन ज्ञानम्' के अनुसार करण कारक का अर्थ व्यक्त है। पहले विग्रह में क्रिया की प्रधानता है, दूसरे में करण की। इस तरह 'चैतन्य ही आत्मा है' इस सूत्रार्थ में कर्त्ता, कर्म और क्रियाओं के आकलन से प्रतीत होता है कि विभिन्न अवच्छेदक धर्मों का यहाँ समावेश है और उनकी ओर संकेत भी है। इससे द्वैत की प्रथा का ही आसूत्रण होता है। इसके पूर्णरूप का, अद्वैत का आख्यान नहीं है। चैतन्य में 'चेतयते इति चित्' इस विग्रह में चित् कर्त्ता, चिति क्रिया और चैतन्य कर्म का आगूरण स्पष्ट है।

'तत्' तस्मात्संविदद्वैतात्मनः पूर्णस्य रूपस्य अख्यानात् 'द्वैतप्रथा' एव 'अज्ञानम्' अपूर्ण ज्ञानमपूर्णत्वाच्च तदेव अपूर्णं मन्यता-शुभाशुभवासना-शरीरभुवनाकारस्वभावविविधसंकुचितज्ञानरूपतया मलत्रयात्मा 'बन्ध' इति उच्यते, बन्धरूपत्वादेव च तदज्ञानं 'समुच्छेद्यम्'

'मलं कर्म च मायीयमाणवमखिलं च यत्।
सर्वं हेयमिति प्रोक्तं..॥'

इत्युक्त्या हेयमित्यर्थः। नन्वत्र द्वैतप्रथात्मकत्वादपूर्णं ज्ञानमेव अज्ञानम् इत्येतत्कुतोऽवगतम् इत्याशङ्क्योक्तम् 'इत्यावृत्त्या निरूपितम्' इति। 'आवृत्त्या' इति अज्ञानम् इति संहितापाततः पुनरावर्तनेन इत्यर्थः॥ २८-३०॥

नन्वेवं मोक्षस्य लक्षणमभिधीयताम् इत्याशङ्क्याह

स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु तुच्छोऽतुच्छोऽपि कश्चन।
न मोक्षो नाम तन्नास्य पृथङ्नामापि गृह्यते॥ ३१॥

इस प्रकार संविद् अद्वैत रूप पूर्ण ज्ञान का, उसके चिन्मात्र रूप अद्वैत सत्ता का प्रथन गौण हो गया है और द्वैत आकलन प्रधान हो गया है। द्वैत प्रथा रूप अज्ञान अर्थात् अपूर्णज्ञान जिसको हम अपूर्णंम्मन्यता कहते हैं, शुभ-अशुभ वासनाओं से जो प्रभावित है तथा शरीर, भुवन रूप भेदवाद के संकोच से सिकुड़ा हुआ है, यह अपूर्णज्ञान, आणव आदि तीन मलों से युक्त रहने के कारण बन्ध कहलाता है। इसीलिये इसका समूल उन्मूलन आवश्यक है।

"तीन मल मायीय, कार्म और आणव हैं। ये सभी हेय हैं।"

द्वैत प्रथात्मक अपूर्ण ज्ञान का अर्थ तो दोनों शिवसूत्रों के संहितार्थ की आवृत्ति से ही स्वयंसिद्ध है॥ २८-३०॥

प्रश्न है कि तब मोक्ष का लक्षण क्या कहेंगे? इसका उत्तर दे रहे हैं—

स्वतन्त्र आत्मा के अतिरिक्त न कोई तुच्छ या अतुच्छ मोक्ष है। इसलिये उसका नाम यहाँ अलग से गृहीत नहीं है।

स्वातन्त्र्य के अतिरिक्त तुच्छ या अतुच्छ रूप कोई दूसरा मोक्ष नहीं है। यदि तुच्छ मोक्ष है, तो वह 'बन्ध' ही है। यदि अतुच्छ है, तो पारमार्थिक होने के कारण स्वतन्त्रात्मा मोक्ष ही है। इसीलिए—

न कश्चिदन्योऽस्ति इति वाक्यशेषः। यदि तुच्छस्तत्पूर्वोक्तनीत्या बन्ध एव स्यात्, अतुच्छश्चेत् पारमार्थिकत्वान्नास्य स्वतन्त्रात्मातिरेकः। यद्वक्ष्यति

'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।
स्वरूपं चात्मनः संवित् .... ॥'

इत्यादि। किमुक्तं भवति,—इह तावदात्मज्ञानं मोक्ष इत्यविवाद, अतो यदेवात्मनो लक्षणस्तदेव मोक्षस्य इति तन्नान्तरीयकत्वादेव अस्य लक्षणसिद्धेः पृथक् लक्षणं न कृतम। अत एव 'नामापि' इति अपिशब्देन लक्षणादेः पुनः का वार्ता इत्यावेदितम् ॥ ३१ ॥

एवमप्यस्य तद्वैलक्षण्यं कटाक्षीकर्तुं दर्शनान्तरोक्तस्य मोक्षस्य स्वरूपमभिधातुमुपक्रमते

यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य पूर्णपूर्णप्रथात्मकम्।
यदुत्तरोत्तरं ज्ञानं तत्तत्संसारशान्तिदम् ॥ ३२ ॥

'यत् पुनः 'ज्ञेयस्य' कला-तत्त्व-भुवनाद्यात्मनोऽध्वनः यत् 'सतत्त्वम' ऊर्ध्वोर्ध्वमन्योन्यं च भेदेनावस्थानं, तस्य 'उत्तरोत्तरम्' उपर्युपरिभावेन तत्तद्भुवनाद्युल्लङ्घनक्रमेण तत्तदवच्छेदापगमाद् यथायथमतिशयाद् द्वैतप्रथात्मकत्वात् संकुचितत्वेऽपि 'पूर्णपूर्णप्रथात्मकं ज्ञानम्' [उदेति] तदधरीकृततत्त्वजालोल्लङ्घनात्।

"स्वरूप प्रथन के अतिरिक्त कोई मोक्ष नहीं होता, आत्मा संविद् रूप ही है ...... ।"

यह शास्त्र में कहा गया है। आत्म ज्ञान ही मोक्ष है—यह निर्विवाद सत्य सिद्धान्त है। इसलिए जो आत्मा का लक्षण है, वही मोक्ष का भी लक्षण है। यहाँ नान्तरीयकता है। अन्तर का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि इसकी पृथक् परिभाषा नहीं की गयी है ॥ ३१ ॥

इतना होने पर भी उसकी विलक्षणता की ओर दृष्टिपात करने के लिये अन्य दर्शनों के अनुसार मोक्ष क्या है, इस प्रकरण की अवतारणा कर रहे हैं—

आगमों में ६ अध्वा प्रसिद्ध हैं। इनमें वर्ण, पद और मन्त्र वाचक हैं विमर्शात्मक हैं। कला, तत्त्व और भुवन अध्वा वाच्य हैं, ज्ञेय हैं। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्त्यतीता रूप पाँच कलाओं से घिरे ज्ञेय मात्र के आकलन से एक दूसरे से ऊपर ऊपर उत्तरोत्तर भेदात्मक ज्ञान उदित होता है। एक के बाद एक को अतिक्रान्त करते हुए जो ज्ञान होता है, वह यद्यपि संकुचित ही होता है, फिर भी पूर्ण पूर्ण विस्तार की जानकारी से भरा ही रहता है। यह परमेश्वर का प्रकाश-विमर्शमय यामल उल्लास है।

'चतुर्दशविधं यच्च प्रोक्तं संसारमण्डलम् ।'

इत्याद्युक्तेः 'तस्य तस्य' चतुर्दशविधयोन्यात्मनः 'संसारस्य' 'शान्तिदं' तत उन्मोचकमित्यर्थः । ज्ञानस्य हि मोचनमेव धर्मः; किन्तु संकुचितस्या-संकुचितत्वम् ॥ ६२ ॥

एतदेव दर्शयति

रागाद्यकलुषोऽस्म्यन्तःशून्योऽहं कर्तृतोज्झितः ।
इत्थं समासव्यासाभ्यां ज्ञानं मुञ्चति तावतः ॥ ३३ ॥

'इत्थं' प्रथमार्धनिरूपितस्वरूपं 'ज्ञानं' 'तावतः' परिमिताद् बन्धाद् अर्थाद् बौद्धादीन्मुञ्चति इति सम्बन्धः । तत्र 'रागाद्यकलुषोऽहं भवामि' इति ज्ञानं योगाचाराणाम् । यदाहुः

'रागादिकलुषं चित्तं संसारस्तद्विमुक्तता ।
संक्षेपात्कथितो मोक्षः प्रहीनावरणैर्जिनैः ॥'

इति ।

"संसार को १४ भुवनों का एक मण्डल माना जाता है ।" उन १४ भुवनों के रूप में प्रतिष्ठित संसार का यह उत्तरोत्तर ज्ञान एक प्रकार की शान्ति ही प्रदान करता है । अर्थात् उनके जान लेने पर उनसे विराग ही होता है, जिससे यह ज्ञान ही उनका उन्मोचक बन जाता है । ज्ञान का तो धर्म ही है अज्ञान से छुड़ाना । संकोच में विकोच उत्पन्न करना ॥ ३२ ॥

यही स्पष्ट कर रहे हैं—

मैं राग आदि से मुक्त हूँ—शुद्ध हूँ, आन्तरिक कश्मलों से मुक्त हूँ, कर्तृत्व आदि अहंभाव से मुक्त हूँ, इस प्रकार का ज्ञान परिमित बन्धन से उन्मुक्त कर देता है । समास और व्यास भेद से जानकारी की दो पद्धतियाँ हैं, जिनसे किसी तथ्य का संक्षेप या विस्तार से अवगम होता है । यहाँ संक्षेप में कुछ दार्शनिक दृष्टियों का स्पष्टीकरण जयरथ कर रहे हैं:—

योगाचार मतवाद विमर्श—राग आदि के कश्मल से मैं रहित हो रहा हूँ—इस प्रकार का आकलन योगाचार मतवादी करते हैं । उनका ही कथन है—"रागादि से कलुषित चित्त ही संसार है । उनसे विमुक्ति ही मोक्ष है । आवरण मुक्त जन यही मानते हैं ।" उनके अनुसार चित्त स्वभावतः प्रभास्वर होता है । मल आगन्तुक होते हैं । ये प्रकृतिगत आवरण प्रदान करते हैं । उनके

तथा

'प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः।
तेषामपाये सर्वार्थं तज्ज्योतिरविनश्वरम् ॥'

इति। अयमत्रार्थः—प्रकृतिप्रभास्वरस्य चित्तस्य अनाद्यविद्यावशाद्रागादिभिरागन्तुकैर्मलैरावृतत्वेन संसाराविर्भावेऽपि भावनाद्यात्मकमार्गानुष्ठानबलात्तदागन्तुकमलप्रहाणेन आश्रयपरावृत्त्या अविनश्वरज्योतीरूपस्वरूपाभिव्यक्तिर्मोक्ष इति तदयुक्तं,—भावना ह्यत्रभवद्भिः कारणमिष्यते, सा क्षणक्षयिणां चित्तक्षणानां विशेषमाधातुं नोत्सहते, तस्याः स्थिरैकाश्रयगतत्वेन विशेषाधानक्षमत्वात्। तथा हि—स्थायिनस्तिलादयो भावाः स्थायिभिरेव सुमनोभिर्वास्यन्ते, तथेयमपि स्यात्, अतश्च प्रतिक्षणमपूर्वत्वेन उपजायमानस्य निरन्वयविनाशिलङ्घनाभ्यासवद् अनासादितातिशयस्य चित्तक्षणस्य प्रभास्वरचित्तक्षणोपजननाय भावना न प्रभवेद् इत्यनया कोऽर्थः।

नष्ट हो जाने पर वह अविनश्वर ज्योति स्वतः प्रकाशमान हो जाती है। यही मोक्ष है। चित्त मल का आश्रय है। मलों के नष्ट होने पर प्रभास्वरता अपने आप आ जाती है।"

इसको समझें—१—चित्त स्वभावतः प्रभास्वर होता है। २—अनादि अविद्या के प्रभाव से राग आदि आगन्तुक मल से चित्त आवृत हो जाता है। ३—फलतः संसार का आविर्भाव होता है। ४—भावनाद्यात्मक मार्ग के अनुष्ठान से आगन्तुक मल नष्ट हो जाते हैं। ५—मल के नष्ट होने से मलाश्रय चित्त में परिवर्तन होता है और वह शुद्ध हो जाता है। ६—परिणामस्वरूप अविनश्वर ज्योति की अभिव्यक्ति हो जाती है। ७—यह अभिव्यक्ति ही मोक्ष है।

इन सात विन्दुओं में समाहित योगाचार मतवाद की मान्यता को शैव मतवादी अयुक्त मानते हैं। वे कहते हैं—आपके मत से भावना ही कारण है। पर विचार करें—भावना प्रतिक्षण क्षीण होने वाले और क्षय को प्राप्त चित्तक्षणों के विशेष आधान में अनिवार्यतः असमर्थ है। जब भावना को कोई स्थिर आश्रय प्राप्त होता है, तभी वह विशेष आधान में समर्थ होती है।

जैसे तिल को फूलों से वासित करने की समस्या है। तिल आदि पदार्थ भी स्थायी हैं और फूल भी स्थायी हैं। यहाँ स्थिर एकाश्रयता मिल जाती है और पुष्पवासन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। भावना के सम्बन्ध में यह स्थिर एकाश्रयता प्राप्त नहीं है।

समलाश्च चित्तक्षणाः स्वारसिक्याः सदृशारम्भणशक्तेः स्वसदृशानेव चित्तक्षणानुत्पादयितुं क्षमन्ते, न विसदृशान् प्रभास्वरान्। एवं च चित्तक्षणभङ्गुरत्वान्मलप्रहाणायैव भावना न प्रगल्भेत इत्याश्रयपरावृत्तेः का वार्त्ता इति कृत क्षणिकवादिनां मोक्षेण। बन्धमोक्षौ च स्थिरैकादिपक्षे युज्येते, बद्धो हि मोक्षाय प्रवर्तते. प्राप्य च निवृत्तो भवति इति, सन्तानश्चैको न विद्यते तस्य भेदाभेदविकल्पोपहतत्वात्। 'अन्तः' संविद्रूपतायामपि 'शून्योऽहं भवामि' इति ज्ञानं माध्यमिकानाम्। ते खलु सर्वभावनैः स्वाभाव्यवादिनः संविदोऽपि नैःस्वाभाव्यान्मिथ्यात्वमभिदधतस्तच्छून्यतायामेव मोक्षमाचक्षीरन्। यदाहुः

चित्त के क्षण प्रतिक्षण अपूर्वभाव से उत्पन्न होते हैं। वे अन्वयविहीन, विनाशी, बच्चे की उछल कूद की तरह किसी अतिशयता को प्राप्त नहीं कर पाते और समाप्त हो जाते हैं। ऐसे महत्त्वहीन चित्त के क्षण से प्रभास्वर चित्त के क्षण को उत्पन्न करने में भावना कभो समर्थ नहीं हो सकती। इसलिये ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय में ऐसी भावना का क्या अर्थ ?

दूसरो बात विचारणीय है कि चित्त के क्षण तो मलयुक्त भी हो सकते हैं। वे अपने स्वारसिक सदृश उत्पादन शक्ति से अपने समान ही मल युक्त चित्तक्षण उत्पन्न कर सकते हैं। अपने से विरुद्ध धर्म वाले प्रभास्वर क्षणों की उत्पत्ति नहीं कर सकते। इस प्रकार चित्त क्षण के विनशनशील स्वभाव के कारण मल निराकरण में भी भावना असमर्थ ही है। इस प्रकार भावना के द्वारा या अनुष्ठान के द्वारा आगन्तुक मलों के नष्ट होने और मूलाश्रय परावृत्ति से प्रभास्वर ज्योति को बातें युक्तियुक्त प्रतीत नहों हातीं। परिणामतः क्षणिकवादी योगाचार का दृष्टिकोण अमान्य ही है।

माध्यमिक दृष्टिकोण –

बन्ध और मोक्ष दोनों एक-एक स्थिर पक्ष पर आधारित हैं। बद्ध मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है। मोक्ष पाकर वह बन्ध से निवृत्त हो जाता है। भेद और अभेद विकल्पों से अपहत होने के कारण कहीं किसी परम्परा या विशिष्ट मान्यता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। संविद् अनुभूति के आन्तरिक रहस्यक्षणों में 'मैं शून्य ही हो रहा हूँ'—यहो ज्ञान स्तर माध्यमिकों का है।

सर्वभाव के द्वारा निःस्वभाव की उपलब्धि होती है—यह सिद्धान्त मानने वाले ये लोग संविद् शक्ति में भी निःस्वभावः की बात करते हैं। निःस्वभावता

'चित्तमात्रमिदं विश्वमिति या देशना मुनेः।
तत्त्रासपरिहारार्थं बालानां सा न तत्त्वतः॥
सापि ध्वस्ता महाभागैश्चित्तमात्रव्यवस्थितिः।"

इति तदप्युक्तं,--संविदो हि मिथ्यात्वेन स्वतन्त्ररूपापाकरणेऽपि मिथ्यात्त्वे सत्तैव न भवेत्, तस्याः नीलादिवत् परतन्त्ररूपत्वाभावात्, नीलादीनां हि मिथ्यात्वेन स्वतन्त्ररूपापाकरणेऽपि संविदात्मतयाऽस्त्यवस्थानं, संविदि तु स्फुरत्तामात्रसारायां मिथ्यात्वादसत्त्वमेव स्यात्। इति न किंचित्स्फुरेद् इति मूर्छैव स्याद् इति। न च संविदः स्फुरत्तामात्रसाररूपाया अपह्नवः शक्यक्रिय इति यत्किंचिदेतत्।

के कारण उसके मिथ्यात्व का अभिधान करते हैं तथा उसी शून्यता में मोक्ष की घोषणा करते हैं। उनका कहना है कि--

"मुनि की देशना के अनुसार यह विश्व चित्त मात्र ही है। विश्व के भय से छुटकारा पाने के लिए वे यह भी कहते हैं कि यह देशना अज्ञानियों के लिये तात्त्विक नहीं है। इस प्रकार अपनी मान्यता को स्वयम् उच्छिन्न करने वाले ये महाभाग चित्त मात्र की विश्वरूपता की बात को भी ध्वस्त कर देते हैं।"

इनका यह सारा दृष्टिकोण सदोष ही है। यदि संविद् को मिथ्या मान लिया जाय और उसके स्वातन्त्र्य को अस्वीकार कर दिया जाय, तो सत्ता कहाँ रहेगी? नील आदि पदार्थ परतन्त्र हैं, परप्रकाश्य हैं। संविद् स्वतन्त्र है और स्वप्रकाश है।

नील आदि पदार्थों में मिथ्यात्व मानने पर भी, उनमें स्वातन्त्र्य सत्ता की अस्वीकृति के बाद भी संविद् रूप से उनकी सत्ता तो रहती ही है। संविद् शक्ति को महास्फुरत्ता रूप मानते हैं। उसे ही यदि मिथ्या मान लिया जाय तो अनस्तित्व का संकट पैदा हो जायेगा। तब तो कहीं कुछ भी स्फुरित नहीं हो सकेगा और अस्फुरण ही तो मूर्च्छा है। इसलिये यह निश्चित है कि शाश्वत स्पन्दनमयी, परमशिव की प्रतिभा रूपा विश्वहृदया इस महास्फुरणशालिनी सत्ता का कभी भी अपह्नव नहीं किया जा सकता। संविद् शक्ति को मिथ्या नहीं माना जा सकता। संविद् शक्ति ही ध्रुव सत्य है। इस प्रकार माध्यमिक मतवाद स्वतः निःसार हो जाता है। उक्त दोनों विचार महायान मतवाद के हैं।

अथ

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्त्वैरशेषतः ।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या ग्राह्यग्राहकभावादिना कल्पितेन रूपेण शून्यं, न तु संविदापि इति चेत्, एवं ह्युच्यमाने विज्ञानवादे एवाभ्युपगमः स्यात्, सोऽपि हि कल्पित-परतन्त्रादिरूपशून्यत्वेन

'इत्यन्तःकरणस्यैव विचित्रात्मावभासिनः ।
अविभाविततत्त्वस्य विस्फूर्जितमिदं जगत् ॥'

इत्याद्युक्तेर्विज्ञप्तिमेव परमार्थसतीमभ्युपागमत् इति न नवं किंचिदायुष्मतो-त्प्रेक्षितम् ।

विज्ञानवादी दृष्टिकोण में बुद्धि, चित्त, मन या विज्ञान को ही मान्यता दी जाती है। ये लोग बौद्धदर्शन में चार भावनाओं का आचार स्वीकार करते हैं। पुनः यह (अनु) योग भी करते हैं कि आन्तरिक पदार्थ में शून्यता क्यों ? इसलिये योग और आचार के कारण ये योगाचार मतवादी ही विज्ञानवादी भी कहलाते हैं। विज्ञानवाद में जो यह कहा गया है कि—

"जो समस्त आलम्बन धर्मों से, समस्त सत्त्वों से और समस्त क्लेशाशयों शून्य है, वह भी परमार्थतः शून्य नहीं है।"

इस औचित्यपूर्ण आप्त उक्ति के अनुसार ग्राह्य-ग्राहक भाव आदि सम्बन्धों से कल्पित रूप से ही शून्य का आकलन होता है—'संविद्' से शून्यता की बात तो बिलकुल नहीं है—यदि यह स्थिति मानी जाय तो विज्ञानवाद की भी यही मान्यता है। वह भी कल्पित परतन्त्रादि रूप से शून्यत्व को स्वीकार करता है—ग्राह्य-ग्राहक भाव में पारतन्त्र्य अनिवार्यतः बैठा हुआ है।

"अन्तःकरण का विस्फूर्जन ही यह संसार है। बाह्यपदार्थों की शून्यता के साथ अन्तःकरण की शून्यता स्वीकार करने योग्य नहीं है। स्वयं वेदन की स्वीकृति तो परम आवश्यक है। यही संविद् का महत्त्व है।" स्वयं-वेदन संविद् का धर्म है। यदि इसे नहीं मानेंगे तो संसार में अन्धता का निराकरण कैसे कर सकते हैं ? इसीलिये अन्तःकरण को आश्चर्यरूप से अव-भासित मानना पड़ता है। वह ऐसा तत्त्व है, जिसकी विभावना, जिसको समझना कठिन है। इसलिये जगत् की ज्ञप्ति पारमार्थिक है—यह स्वीकृति कोई नई बात नहीं रह जाती।

तत्र चोक्तो दोषः 'अकर्ताहं भवामि' इति ज्ञानं सांख्यानाम्। ते हि निष्क्रियमेवात्मानमभ्युपागमन्, अन्यथा हि तस्य चैतन्यं न स्यात्—अचेतनानामेव क्षीरादीनां क्रियावस्त्वोपलब्धेः। अयुक्तं चैतत्—अकर्तृत्वे हि पुरुषस्य अनिर्मोक्षः स्यात्। अकिंचित्करत्वे हि पुरुषस्योत्पन्नेऽपि विवेकदर्शने स्वरूपेणावस्थानं न स्यात्,—प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात्, तं प्रत्यपि पुनः संभावनायाः संभवात्। न च प्रकृतेः 'दृष्टाहमनेन' इति 'न पुनरतदर्थमहं प्रवर्ते' इत्यनुसन्धानमस्त्याचैतन्यादस्याः—प्रेक्षाकारित्वाभावात्। एवं चेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे यथा पुनस्तदर्थं प्रवर्तते, तथा कृतायामपि विवेकख्यातौ पुनरपि तदर्थं प्रवर्तिष्यते, स्वभावस्यानपेतत्वात्। एवमपि कृतमकृतं न भवति—इति संकुचितमपि ज्ञानं बौद्धादीनां निजोचितामर्थक्रियां विदध्यात्। तथा हि बौद्धाः

सांख्यवादी कहता है कि 'मैं अकर्त्ता हो चुका हूँ' इस प्रकार का ज्ञान (ही वास्तविक) है। वे आत्मा की निष्क्रियता मानते हैं। विना निष्क्रिय माने उसमें चैतन्य का आधान कैसे माना जा सकता है ? क्षीर आदि में भी क्रिया दीख पड़ती है।

यह मान्यता ठीक नहीं। पुरुष को यदि निष्क्रिय माना जायगा, तो अनिर्मोक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। जब उसे कुछ करने वाला ही नहीं मानेंगे तो, पुरुष सम्बन्धी विवेक के जागृत होने पर भी 'स्व' रूप में स्थिति कैसे हो सकेगी ? क्योंकि प्रकृति का स्वभाव ही प्रवृत्ति है। वह अपने उत्तरदायित्व में उदासीन नहीं हो सकती; परन्तु इस तरह उसमें भी औदासीन्य की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

'मैं इसके द्वारा दृष्ट हूँ', 'इसके लिये मैं प्रवृत्त होता हूँ' इस प्रकार के अनुसन्धान प्रकृति में नहीं होते।

क्योंकि वह जड़ है—चैतन्य और प्रेक्षा की वृत्ति दोनों उसमें नहीं होते। कान से शब्द सुन पड़ते हैं। शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। पुनः पुनः उस अर्थ में स्वाभाविक प्रवर्त्तन होता है। विवेक ख्याति हो जाने पर भविष्य में भी प्रवृति का क्रम चलता ही रहता है। यह सब 'स्वभाव' का ही चमत्कार है।

ऐसा होने पर भी जो कृत है, वह अकृत नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार संकुचित ज्ञान भी बौद्धमतवादियों को अर्थक्रिया से समन्वित करता है ओर अपने स्तर पर इन्हें भी प्रभावित करता है। बौद्ध कहते हैं कि—

'एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या बुद्धिवृत्त्यात्मकं ज्ञानमेव तत्त्वं प्रतिपन्नाः इति बुद्धितत्त्व-प्राप्तिरेवैषां मोक्षः। तदुक्तं

'ब्रह्मा तत्राधिपत्वेन बुद्धितत्त्वे व्यवस्थितः।
सर्वज्ञं च तमेवाहुबौद्धानां परमं पदम् ॥'

इति। अत एवैषां बुद्धितत्त्वाधोवर्तिनः संसारस्य शान्तिः। एवं च 'ज्ञानं मुञ्चति तावतः' इति युक्तमुक्तम्। सांख्याश्च सुख-दुःखाद्यात्मकप्रकृतिपृथग्भावेन पुंस एव स्वरूपेणावस्थानं तत्त्वं प्रतिपन्नाः इति पुंस्तत्त्वप्राप्तिरेवैषां मोक्षः। तदुक्तं

'पौरुषं चैव सांख्यानां सुखदुःखादिवर्जितम्।

"एक ही संविद् रूप (ज्ञान होता है, फिरभी) हर्ष, विषाद आदि अनेक आकार प्रकार के विवर्त्त दीख पड़ते हैं"।

इस आप्त युक्ति के अनुसार बुद्धि की वृत्ति से उत्पन्न होने वाले बौद्ध ज्ञान रूपी तत्त्व को ही ये प्राप्त कर पाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बुद्धितत्त्व की प्राप्ति ही इनका मोक्ष है। इसोलिये कहा गया है—

"बुद्धि तत्त्व में स्वामित्व की भूमिका का निर्वाह ब्रह्मा करते हैं। बौद्धों का यहो मोक्ष है, परम पद है।" इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धि तत्त्व से भी इनके विमर्श स्तर निम्न है। इनकी शान्ति का भी यहो स्वरूप है। श्लोक में 'ज्ञानं मुञ्चति तावतः' यह उक्ति इसी अर्थ में चरितार्थ है कि बौद्धों का (प्रथम अर्धाली में प्रतिपादित) ज्ञान भी इन्हें परिमित बन्धन से ही—मुक्त कर पाता है। जिस स्तर का ज्ञान, उसी स्तर का मोक्ष।

सांख्य के अनुसार दूसरी विचारणोय बात है—प्रकृति की परिभाषा। प्रकृति विकृति है। सुखदुःखात्मक है। प्रकृति से पृथक् पुरुष की स्वरूपोपलब्धि ही इनका मोक्ष है। इसीलिये कहा गया है—

"सांख्यों के अनुसार सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित पौरुष ज्ञान हो मोक्ष है"।

आत्मा के अस्तित्व को अस्वोकार करने की अपेक्षा आत्मभाव को महत्त्व देना उत्तम है। इस दृष्टि से सांख्यवादी बौद्धों की अपेक्षा पूर्णप्रथा से प्रथित आत्मज्ञान को स्वीकार करते हैं। अनुभूति का यह स्तर बुद्धि तत्त्व से ऊपर है। पुरुष तत्त्व की प्राप्ति ही इसका लक्ष्य है। इससे स्पष्ट हो जाता है

इति। नैरात्म्यदृष्टेश्चात्मदृष्टिर्विशिष्यते, इति सांख्यानां बौद्धेभ्यः पूर्णप्रथात्मकं ज्ञानम् इत्येषां बुद्धितत्त्वोर्ध्ववर्तिपुंस्तत्त्वप्राप्तिः। एवं च पूर्णप्रथात्मकमुत्तरोत्तरं ज्ञानम्, इत्यादिः पूर्वसूत्रप्रतिज्ञातोऽर्थो निर्वाहितः। एवं सांख्यपातञ्जलयोः प्रकृतिपृथग्भावेन पुंज्ञानस्य साम्येऽपि सांख्येभ्यः पातञ्जलानामीश्वरप्रणिधानात् तद्विशिष्यते, इति तेषां पुंस्तत्त्वोर्ध्ववर्तिनियतितत्त्वप्राप्तिरुक्ता।

'षड्विंशकं तु देवेशि योगशास्त्रे परं पदम्।'

इति। एवं च मौसलपाशुपतादीनामपि यथायथं ज्ञानातिशयादूर्ध्वोर्ध्वतत्त्वावाप्तिः परं पदम् इति। तदुक्तं

'मौसुले कारुके चैव मायातत्त्वं प्रकीर्तितम्।'

इति। यथा

'व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं परमं पदम्।'

इति। तत्रैवं बौद्धादीनां मायीयादेव मलादंशांशिकया, मौसुलानां

कि श्लोक ३२ में 'ज्ञान उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ अपनी पूर्ण प्रथा को प्राप्त कर विकस्वर हो जाता है और परम शान्ति प्रदान करता है।' इस उक्ति का पूर्णतः निर्वाह किया गया है।

सांख्य और पातञ्जल योग दोनों प्रकृति से पृथक् पुरुष के ज्ञान को अपना लक्ष्य मानते हैं। इस दृष्टि से उनमें साम्य दीख पड़ता है। सांख्यों की अपेक्षा पातञ्जल योग कुछ उत्कृष्ट एवं विशिष्ट है; क्योंकि पातञ्जल योग ईश्वरप्रणिधान की बात स्वीकार करते हैं। हमारी दृष्टि से ये योग पुरुष तत्त्व के ऊपरी स्तर की अनुभूति रखते हैं। वह स्तर नियति तत्त्व का है। कहा गया है कि "योगशास्त्र में २६ वाँ परम पद का स्तर है।" इस तरह के विवेचन से यह साफ होने लगता है कि मौसुल और पाशुपत आदि मतवादों के अनुसार उत्तरोत्तर ज्ञान की ऊर्ध्व तत्त्ववादिता उनके लिये मोक्ष्य का स्तर मानी जाती है। कहा गया है कि,

"मौसुल और कारुक मतवादों में मायातत्त्व ही उच्चस्तरीय ज्ञान है" तथा "पाशुपत व्रत में ईश्वर ही परम पद के रूप में मान्य है।" इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि बौद्ध और इनके समान विचार रखने वालों को मायीय मल से आंशिक आंशिक रूप से इनका ज्ञान मुक्त करता है। मौसुल मतवादियों का ज्ञान उन्हें कार्ममल से मुक्त करता है।

कार्मादपि पाशुपतानाम् अनात्मनि आत्माभिमानात् आणवादपि मलान्मोचकं ज्ञानम् इत्युक्तं 'समासव्यासाभ्याम् इति ॥ ३३ ॥

ननु स्वदर्शनौचित्येन एवं बन्धविगलनेऽपि किमिति नासौ मुक्तः इत्याशंक्याह

तस्मान्मुक्तोऽप्यवच्छेदादवच्छेदान्तरस्थितेः ।
अमुक्त एव मुक्तस्तु सर्वावच्छेदवर्जितः ॥ ३४ ॥

'.........अध्वा बन्धस्य कारणम् ।'

इत्युक्तेः अध्वा तावद्बन्धकः । तत्र बौद्धादयो बुद्धितत्त्वान्तबन्धविगलनात् तन्मुक्ता अपि तदूर्ध्ववर्त्यध्वान्तरावच्छेदस्थितेरमुक्ता एव, अत एवैषां पुनरपि सर्गारम्भे सृज्यमानत्वात् संसाराविर्भावो,-बन्धकारणस्य निःशेषेणाप्रक्षयात् ।

पाशुपत मतवाद मानने वालों का ज्ञान अनात्म में भी आत्माभिमान के कारण आणव मलों से मुक्त करता है। इसीलिये कारिका में समास-व्यासमयी उपासना पद्धतियों का संकेत किया गया है ॥ ३३ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि अपने अपने मान्य दर्शनों के आधार पर उपासकों के बन्ध के शिथिल होने पर उनकी मुक्ति क्यों नहीं होती ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

एक अवच्छेद से मुक्त हो जाने पर भी अन्य अवच्छेद वहाँ बने ही रहते हैं। इसलिये वे अमुक्त ही रह जाते हैं। वस्तुतः मुक्त वही कहा जा सकता है, जो समस्त अवच्छेदों से मुक्त हो जाता है।

अवच्छेद विभिन्न अध्वावर्ग में आने वाले आणव आदि मलों को पुष्ट करने वाले वे आकर्षण हैं, जिनसे प्रभावित होकर पशुपति पुद्गल और पशु बन जाता है। देश और काल की शक्तियाँ ही अवच्छेद उत्पन्न करती हैं। इससे भेदवाद का विस्तार होता है। एक ही वस्तु दर्पण में दूसरी तरह, पानी में और तेल में विभिन्न प्रकार से प्रतिबिम्बित होती है। देश और काल ही सारे अवच्छेदों के कारण हैं। इनसे मुक्त, मात्र महायोगी ही हो सकते हैं। वर्ण, कला, पद, तत्त्व, मन्त्र और भुवन भी अवच्छेदक होते हैं। सिद्ध गुरुजन इनसे सर्वथा मुक्त होते हैं।

(शास्त्र के अनुसार) "बन्धन के कारण तो अध्वा ही हैं।" 'अध्वा' के बन्धक होने के फलस्वरूप 'अध्वा' के निचले स्तर तथा ऊपरी स्तर के अनुसार मुक्ति भी प्रभावित होगी। 'बुद्धितत्त्व' 'तत्त्वाध्वा' तथा प्रतिष्ठा

यद्वक्ष्यति

'सांख्यवेदादिसंसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे ।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी ॥'

इति । श्रीस्वच्छन्दशास्त्रेऽपि

'लौकिकानां पुनः सृष्टिः पुनः संहार एव च ।
संसारचक्रमारूढा भवन्ति घटयन्त्रवत् ॥'

इत्यादि सामान्येनाभिधाय

'मुक्तं च प्रतिबन्धात्तं पुनर्बध्नाति चेश्वरः ।
बन्धः संसारतो भूयो यावद्देवं न विन्दति ॥' इति ।

बौद्धाद्यवान्तरदर्शनमुक्तोपलक्षणपरतया विशेषणोक्तम् । यः पुनर्निःशेष-प्रक्षीणसर्वाध्वबन्धः स एव साक्षान्मुक्तः इत्याह 'मुक्तस्तु सर्वावच्छेदवर्जितः, इति ।

कला के अन्तर्गत है । बौद्धों का स्तर बुद्धि तत्त्व में ही समाप्त होता है । परिणामतः बुद्धितत्त्व से नीचे के जितने तत्त्व हैं, उनसे मुक्ति तो स्वाभाविक है । पर बुद्धि तत्त्व के ऊपर परमशिव पर्यन्त जितने अध्वा हैं, उनकी दृष्टि से तो वे अमुक्त ही हैं—यह निश्चित है ।

इसलिये सृष्टि के आरम्भ में ये पुनः आवागमन चक्र की क्रमिकता में पड़ेंगे ही—इसमें कोई संशय नहीं । संसार में इनका आविर्भाव अवश्यम्भावी है । वस्तुतः मुक्त तो वही है, जिसके बन्धन के सभी कारणों का निःशेष रूप से पूर्णतया प्रक्षय हो जाय । समस्त अध्वा की सीमाओं को पार कर स्वयं परम माहेश्वर पद पर प्रतिष्ठित हो जाय । कथ्य है कि –

"सांख्य और वेद सम्प्रदायानुसार सिद्ध पुरुषों को प्रलयरात्रि की समाप्ति और सृजन की आदि सन्धिवेला में स्वयं भगवान् श्रीकण्ठ सृष्ट करते ही हैं । [इसलिये यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि] सम्यक् मुक्ति ऐसी नहीं होती । (सम्यक् मुक्ति की अवस्था में स्वयं शिवरूपता प्राप्त कर लेने पर सर्ग चक्र में आना नितान्त असम्भव है) । स्वच्छन्द शास्त्र का भी वचन है—

"लौकिक साधकों को ही सृजन और संहार का उपहार मिलता है । कुएँ में लगे 'रहट' के जलपात्रों की तरह उन्हें ऊपर और नीचे आना ही पड़ता है । संसार चक्र में आरूढ़ होना ही पड़ता है ।"

सामान्यतया इतना कह कर पुनः उद्धरण से पुष्ट कर रहे हैं—

"मुक्त को प्रतिबन्ध के कारण 'ईश्वर' पुनः बन्धनग्रस्त करते हैं । बद्ध पुरुष तब तक संसार में रहेगा, जब तक साधना के बल पर स्वात्मसंविद् रूप चिदैक्य भाव को उपलब्ध नहीं होता ।"

यदुक्तं

'सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां तु परं पदम् ।' इति । तथा

'शैवः सिद्धो भाति मूर्ध्नीतरेषां मुक्तः सृष्टौ पुनरभ्येति नाधः ।' इति ॥३४॥

अत्र चैवं विधमेव पूर्ण ज्ञानं निमित्तम् इत्याह

यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य ज्ञानं सर्वात्मनोज्झितम् ।
अवच्छेदैर्न तत्कुत्राप्यज्ञानंसत्यमुक्तिदम् ॥ ३५ ॥

'अवच्छेदैः' संकोचाधायिभिरिदन्तापरामर्शैः 'सर्वात्मना' सर्वप्रकारं वासनामात्रेणापि यत् 'उज्झितं' पराहन्तापरामर्शसारमित्यर्थः । अत एव च पूर्णप्रथात्मकत्वात् 'न तत् कुत्राप्यज्ञानम्' अतश्च 'सत्यां' मुक्त्याभास-

---

यह बात खास तौर से बौद्ध आदि अवान्तर दर्शनों के अनुसार मुक्त पुरुषों को लक्ष्य कर कही गयी है। जो भाग्यशाली साधक समस्त ६ प्रकार के अध्वा-बन्धनों को ध्वस्त कर चुका है, वह तो साक्षात् मुक्त ही है। इसीलिये यह कहा गया है कि 'वही मुक्त है, जो सभी अवच्छेदों को उच्छिन्न कर चुका है। कहा गया है कि,

"समस्त अध्वाओं की सीमा को पारकर जो पद या अवस्था आती है, वही शैव साधकों का परम पद है।" तथा यह भी कि—

"सिद्ध शैव अन्य मुक्तों के शीर्ष पर प्रतिष्ठित होता है। वह मुक्त है। वह सृष्टि के निम्न स्तर पर नहीं उत्तर सकता। अर्थात् आवागमन के संसृति चक्र में पतित नहीं होता ॥ ३४॥

यहाँ अर्थात् मुक्ति में पूर्णज्ञान ही निमित्त है। इसलिये नई कारिका की अवतारणा करते हैं—

अवच्छेदों से सर्वथा रहित ज्ञेय का ज्ञान ही सच्चो मुक्ति देने वाला है। अज्ञान कभी वास्तविक मुक्ति नहीं दे सकता। इसो तथ्य की पुष्टि इस श्लोक से की गयी है। अवच्छेद पूर्णता को तोड़ते हैं। संकुचित विचारों को जन्म देते हैं। संकोच को बढ़ाने वाले सारे सांसारिक परामर्श अवच्छेद हैं। मुक्ति की चाह रखने वाले साधकों के ये शत्रु हैं। साधक के लिये यह आवश्यक है कि, वह इनसे हर तरह से बचे। इदन्ता परामर्श का लेशमात्र संस्कार भी न रहे। सर्वत्र पराहन्तापरामर्श का प्रकाश उल्लसित हो। ज्ञेय रूप जितने और जैसे भी पदार्थ हैं, उनमें अवच्छेद बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाय—ऐसा परामर्श ही सच्चा ज्ञान है। यही ज्ञान वास्तविक मुक्ति दे सकता है।

विलक्षणां 'मुक्ति' ददाति, अहंपरामर्शसारप्रमात्रैकात्म्येन स्फुरति इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

इदानीमुद्दिष्टयोर्ज्ञानाज्ञानयोरेव स्वरूपं विभजति

नानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः ।
द्विधा पौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने ॥ ३६ ॥

'शिवशासने' इति पञ्चस्रोतोरूपे पारमेश्वरदर्शने इत्यर्थः। एतद्धि सर्वत्रैवाविशेषेणोक्तम् ॥ ३६ ॥

तदेव लक्षयति

तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ ।
स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम् ॥ ३७ ॥
संकोचिदृक्क्रियारूपं तत्पशोरविकल्पितम् ।

अथ-शब्द आनन्तर्ये, उद्देशानन्तरं हि लक्षणपरीक्षयोरवसरः इत्याशयः। 'तत्र' द्विविधयोर्ज्ञानाज्ञानयोर्मध्यात्। '............पुंसः प्रादुर्भवत्परम्।'

इसके विपरीत ज्ञान अज्ञान है। अवच्छेदात्मक है। इदन्ता का परामर्श करने वाला है। संकोच बुद्धि को बढ़ाने वाला है। वह सत्य सनातन आनन्दमयी अहं परामर्शात्मक चिदैक्यात्मक मुक्ति नहीं दे सकता। जीवशिवैक्य संभूति की संभावना भी इसमें नहीं होती ॥ ३५ ॥

इस प्रकार की घोषणा करने के बाद ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं—

शिवशासन शैवदर्शन के अर्थ में प्रयुक्त है। यह दर्शन पंचस्रोतस् दर्शन कहलाता है। ईशान, सद्योजात, तत्पुरुष, अघोर और वामदेव पाँच मुखों से इसका प्रवर्त्तन हुआ है। सामान्यतया सर्वत्र यह तथ्य स्पष्ट रूप से व्यक्त है। ज्ञान और अज्ञान की चर्चा ऊपर के श्लोक में है। पौरुष और बौद्ध भेद से ये दोनों प्रत्येक दो प्रकार के होते हैं। १-पौरुष ज्ञान और बौद्ध ज्ञान तथा २-पौरुष अज्ञान और बौद्ध अज्ञान ॥ ३६ ॥

इसी लक्ष्य से उनके लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं—

पुरुष का अज्ञान 'मल' है। वह शिव से ही उत्पन्न है। इससे 'स्व' का पूरा का पूरा चिदात्मक उल्लास आवृत हो जाता है। शिवता पर आवरण बनकर छा जाता है। परम शिव की दृक् (ज्ञान) और क्रिया शक्तियों का

इत्यस्यात्मनोऽपि यत्समनन्तरोक्तस्वरूपं मलाख्यमनन्यसाधारणानवच्छिन्नज्ञान-क्रियायोगिपरप्रमातृरूपाच्छिवादेव जातमुद्भूतमित्यर्थः। परमेश्वर एव हि स्वस्वातन्त्र्यात्पूर्णज्ञत्वकर्तृत्वाद्यपहस्तनेन अख्यात्यात्मकाणवमलाविर्भाविन स्वात्मानमावृणुयात्।

तदुक्तं

'परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य।

देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥ (प० सा० १५ का०)

मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान्पशुर्भवति।'(प०सा०१६ का०)इति।

वक्ष्यति च' **तेन स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भितम्।'**

इति। तदेव पशोराणवादिमलत्रययोगिनोऽपि तस्य मातुर्देशकालाद्यवच्छिन्नत्वान्नियतदृक्क्रियास्वाभासालोचनात्मकं ज्ञानम्। परमेश्वर एव हि सर्वज्ञताद्यपहस्तनेन अणुतां प्रापितस्य स्वात्मनः पुनरपि कलादियोगं कृतवान्, येनास्य नियतं ज्ञत्व-कर्तृत्वाद्यभियुक्तं।

संकोच कर लेता है। पशुपति 'पशु' मात्र रह जाता है। पशु का यह अविकल्पित वैवश्य है।

श्लोक में अथ शब्द का प्रयोग अभिप्रायपूर्वक किया गया है। पहले ज्ञान अज्ञान का शब्दतः कथन किया गया और अब उनके लक्षणों की परीक्षा का प्रारम्भ हो रहा है। तत्र शब्द ज्ञान और अज्ञान दोनों की परिवेश सीमा का द्योतन करता है। उद्धरण से स्पष्ट करते हैं—

"..................यह (परप्रमाता रूप) पुरुष से उत्पन्न हुआ।"

श्लोक में 'तज्जम्' शब्द का विग्रह है—'तस्मात् जातम्' अर्थात् यह अज्ञान रूपी मल भी उसी शाश्वत और अखण्ड ज्ञान और क्रिया से युक्त पर-प्रमाता रूप शिव से ही उत्पन्न है।

अपने स्वातन्त्र्य गुण, धर्म के कारण परम शिव अपने पूर्णज्ञात्तृव और सर्वकर्त्तृत्व का अपहस्तन कर देते हैं। संकोच का आश्रय ले लेते हैं तथा अल्पज्ञत्व और किंचित्कर्तृत्व को अपना लेते हैं। फलस्वरूप अख्याति रूप आणव मल का आविर्भाव हो जाता है। आणव मल ही उनका आवरण बन जाता है। कहा गया है—

"महेश की अघटित घटना पटीयसी 'स्वतन्त्रता' शक्ति दिव्य माया शक्ति ही है। वही शिव के स्वात्म को आवृत करती है। माया के प्रभात्र के कारण बोध मलिन हो जाता है। पुमान् परमेश्वर पाशबद्ध हो ज़ाने के कारण

तदुक्तं 'असूत सा कलातत्त्वं यद्योगादभवत्पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो विद्यारागौ ततोऽसृजत् ॥
विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे ।
रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ॥
नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम् ।
कालोऽपि कलयत्येनं तुट्यादिभिरवस्थितः ॥'

इति । ज्ञानस्वरूपस्य प्रथममुद्देशेऽपि अवश्योच्छेद्यत्वप्रतिपादनार्थमादावज्ञानस्वरूपं निरूपितम् ॥ ३७ ॥

पशु बन जाता है ॥" [प० सा० १५-१६] आगे भी इसकी इस प्रकार पुष्टि करेंगे—

'स्व' रूप स्वातन्त्र्य ही मल का महाप्रसार है।" यही आणव, कार्म और मायीय नामक तीन मल हैं। इनसे युक्त पशुप्रमाता देश और काल के प्रभाव के कारण अपनी अखण्डता को भूल जाता है। नियत वस्तुनिष्ठ ज्ञान क्रिया में व्यापृत हो जाता है। उसी में रम जाता है। स्व के आभास का आलोचन करने वाला खण्डित ज्ञान ही उल्लसित होता है (यह ज्ञान निश्चय ही अज्ञान है)। परमेश्वर के ५ गुण हैं। वह सर्वकर्तृत्व सम्पन्न है, सर्वज्ञ है, पूर्ण है, नित्य है और सर्वव्यापक है। इन गुणों का तिरस्कार कर अणुता को अपना लेता है। माया के ५ सन्तानों से सम्पर्क कर लेता है। परिणामतः किञ्चित्कर्तृत्व सम्पन्न, अल्पज्ञ, अपूर्ण, कालकवलित और ३॥ हाथ के शरीर में रह जाता है। इससे नियत पदार्थों को जान पाता है तथा कुछ कुछ कर पाता है। इसी तथ्य का समर्थन निम्न तीन श्लोकों से होता है—

"माया ने 'कला' तत्त्व को उत्पन्न किया। जिसके सम्पर्क से पुरुष कुछ उत्पन्न क्रियाओं को करने में समर्थ हुआ। पुनः माया ने 'विद्या' और 'राग' तत्त्व को उत्पन्न किया। 'विद्या' कार्य-कारण भाव भावित कर्म का विवेचन करती है, जिससे पुद्गल को अपने कर्म की जानकारी होती है। 'राग' इसका रञ्जन कर सीमित अशुचि सम्बन्धों को अपनाने पर विवश करता है और पुमान् अपूर्ण बन जाता है। 'नियति' इसे उन-उन कामों में लगाती रहती है, जिससे इसकी व्यापकता नष्ट हो जाती है। 'काल' तुटि पल विपल आदि के आकलन में फँसा लेता है।"

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि पहले ज्ञान के स्वरूप की प्रासङ्गिक चर्चा होनी चाहिये थी। पर ऐसा नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि मोक्ष

ननु पुंसः बुद्धिवृत्त्यात्मकं ज्ञानं निर्विकल्पकम् इत्युच्यते' तत् कथमेतत् बुद्ध्यंशोपनिपाति न स्यात् इत्याशंक्याह

तदज्ञानं न बुद्धयंशोऽध्यवसायाद्यभावतः ॥ ३८ ॥

एवमपि हि बुद्धेः 'अध्यवसायो बुद्धिः'

इत्याद्युक्तेरध्यवसाय एव मुख्यं रूपं, कथमस्य एतदभावे तद्धर्मत्वं स्यात् ॥ ३८ ॥

अत एवाह

अहमित्थमिदं वेद्मीत्येवमध्यवसायिनी ।
षट्कञ्चुकाबिलाणूत्थप्रतिबिम्बनतो यदा ॥ ३९ ॥
धीर्जायते तदा तादृग्ज्ञानमज्ञानशब्दितम् ।
बौद्धं तस्य च तत्पौंस्नं पोषणीयं च पोष्टृच ॥४०॥

अस्याश्चैवमध्यवसाययोगित्वे हेतुः 'षट्कञ्चुक' इति । षट्कञ्चुकैः

'कालकलानियतिबलाद् रागाविद्यावशेन संबद्धः ।
अधुनैव किंचिदेवेदमेव सर्वात्मनैव जानामि ।
मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् ॥'

(प० सा० १६ उ० १७)

की प्राप्ति में जो बाधक है—उसके निराकरण को ही प्राथमिकता देनी चाहिये। इसीलिये पहले अज्ञान के स्वरूप का ही निरूपण किया गया ॥ ३७ ॥

प्रश्न है कि पुरुष का बुद्धि वृत्ति रूप ज्ञान तो निर्विकल्पक होता है। पुरुष का यह ज्ञान क्या बुद्धयंश पर आश्रित नहीं होता ? इसका उत्तर देते हैं—

वास्तव में बुद्धि अध्यवसाय रूप होती है। कहा गया है—

'अध्यवसाय ही बुद्धि हैं'। अर्थात् बुद्धि का अध्यवसाय ही प्रमुखरूप है। अध्यवसाय के अभाव में अज्ञान में बुद्धि का धर्म नहीं आ सकता ॥३८॥

इसलिये कहते हैं—

में 'ऐसा' है यह जानता हूँ' इसमें ज्ञत्व का अध्यवसाय है। पर इस पर माया सहित छः कञ्चुकों से कंचुकित अणु के अणुत्व में स्थित चिन्मयत्व का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। इस प्रकार यह जानने की बुद्धि इदमात्मक वस्तु की जानकारी दे रही है। यह जानकारी वाला ज्ञान भी वस्तुतः अज्ञान ही है। यह ज्ञान उसका बौद्ध ज्ञान है। पुमान में होने से यह पौंस्न है। यह पोषणीय (कार्य) भी है और पोष्टृ (कारण) भी है ॥

इत्यादिना निरूपितस्वरूपैः 'आविलः' प्रतिनियतज्ञत्वकर्तृत्वाद्युत्पत्त्या म्लानप्रायो योऽसौ 'अणुः' परिमितात्मा, ततो जातात् 'प्रतिबिम्बनात्' चिच्छायासंक्रमणात् इत्यर्थः। एवं ह्यस्याः पुंबोधव्यक्तिभूमित्वादेवंस्वभावो भवेत् इति भावः। 'तादृक्' इति एवमध्यवसायरूपम्। अनयोश्च परस्परं कार्यकारणभावं दर्शयितुमाह 'तस्य' इत्यादि, 'तस्य' इति बौद्धस्य, 'पौस्नं' पुंसि भवं पौरुषम् इत्यर्थः। 'पोषणीयं' कार्यम् इत्यर्थः। कामशोकाद्यावेशभाजो हि तन्मयतानुसंधानादिना तत्तदर्थसाक्षात्कारात्मकमविकल्पकं ज्ञानमुदियात्।
यदाहुः

'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव॥'

इति। 'पोष्टृ' इति कारणम्। स्वप्नादावपि अनुभव एव हि प्राच्यो निमित्तं, नहि नारिकेलद्वीपवासिनो वह्निविकल्पादाविच्छापि भवेत् ॥ ३९ ॥ ४० ॥

बुद्धिका अध्यवसाय से योग यहाँ क्यों और कैसे—इसके लिये षट्-कञ्चुक शब्द का प्रयोग किया गया है। षट्कञ्चुकों की पुष्टि का उद्धरण यहाँ दे रहे हैं—

"काल, कला और नियति के बल से, राग और अशुद्ध विद्या के वश में पड़ने से सम्बद्ध पशु (सोचता है) 'मैं इसी समय यह जो कुछ है, यह सर्वात्मना जानता हूँ"। ऊपर के ५ कंचुक 'माया' से मिलाकर छः कञ्चुक होते हैं। इनसे प्रभावित अणु पुरुष की अन्तरङ्ग जानकारी का यह एक उदाहरण है"।

काम शोक आदि आवेशों से आविष्ट साधक तन्मयता का अनुसन्धान करता है। इससे उन-उन अर्थों का कभी-कभी साक्षात्कार भी होता है। अविकल्पक ज्ञान भी उदित हो सकता है। इस विषय से सम्बन्धित उद्धरण दे रहे हैं—

"काम, शोक, भय, उन्माद, चौर वृत्ति, स्वप्न आदि से उपप्लुत अणु असम्भवको भी सम्भव ही नहीं मानते वरन् अपने सामने ही उपस्थित की तरह देखने लगते हैं"।

स्वप्न आदि में अनुभव ही पहला निमित्त बनता है। भला नारियलों से भरे द्वीप का रहने वाला आग की वैकल्पिकता की क्या बात करेगा? ॥ ३९ ॥ ४० ॥

एवमज्ञानं निरूप्य, ज्ञानमपि द्विविधं निरूपयितुमाह

क्षीणे तु पशुसंस्कारे पुंसः प्राप्तपरस्थितेः ।
विकस्वरं तद्विज्ञानं पौरुषं निर्विकल्पकम् ।। ४१ ।।
विकस्वराविकल्पात्मज्ञानौचित्येन यावता ।
तद्बौद्धं यस्य तत्पौंस्नं प्राग्वत्पोष्यं च पोष्टृ च ।। ४२ ।।

पशोराणवस्यापि वासनामात्रक्षयाभिधानात् 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' इति न्यायेन कार्ममायीययोरपि प्रक्षयान्निवृत्तनिखिलबन्धस्य 'पुंसः' अत एव प्राप्तपरमचिदैकात्म्यस्य 'विकस्वरं' पराहन्ताविमर्शात्मकं 'निर्विकल्पकं' कृत्रिमाहंकारादिविकल्पविलक्षणं ज्ञानं पौरुषं भवति इति वाक्यार्थः ।

औचित्येन' इति तद्वत् पूर्णनात्मना इत्यर्थः। अतश्च 'सर्वो ममायं विभवः' इत्येवंरूपत्वमस्याः । 'यस्य' इति बौद्धज्ञानस्य। प्राग्वत्' इति यथैवाज्ञानयोः परस्परं पोष्यपोषकभावस्तथैव इत्यर्थः । तथैव पूर्णापूर्णत्वेन पुनः विशेषो ग्राह्यः, अन्यथा हि ज्ञानाज्ञानयोः स्वरूपमेवाभिहितं न स्यात् ॥ ४१ ॥ २ ॥

नन्वेवंविधमज्ञानं तावदनाद्येवावस्थितम् इति नास्ति विवादः, एतदभावात्मकं ज्ञानं पुनः कदा समुदियात्, एतदभावे च किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

तत्र दीक्षादिना पौंस्नमज्ञानं ध्वंसि यद्यपि ।
तथापि तच्छरीरान्ते तज्ज्ञानं व्यज्यते स्फुटम् ।। ४३ ।।

इस प्रकार अज्ञान का निरूपण कर ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—इसके निरूपण का उपक्रम कर रहे हैं—

पशु संस्कार के क्षीण हो जाने पर और (अपनी स्वाभाविक) परात्पर स्थिति प्राप्त हो जाने पर एक अन्यन्त विकसित निर्विकल्पक विज्ञान प्राप्त होता है। वही पौरुष ज्ञान है।

विकस्वर अविकल्पात्मक ज्ञान के औचित्य से जो ज्ञान होता है, वह बौद्ध ज्ञान है। उसका विमर्श ही पौंस्न ज्ञान है। पहले श्लोकों में उक्त अज्ञानों का जैसे पोष्य पोषक भाव है—उसी तरह बौद्ध और पौंस्न में भी पोष्य पोषक भाव है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

यद्यप्युक्तस्वरूपं 'पौंस्नमज्ञानं'

'दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपया दीक्षया नश्यत्येव 'तथापि' 'तत' अज्ञानाभावमात्ररूपमात्मज्ञानं व्यक्त्युन्मुखमपि

'.................................प्रारब्धेकं न शोधयेत् ।'

इत्याद्युक्तेरिदं शरीरारम्भकस्य कार्ममलस्य सद्भावात् 'तस्य' वर्तमानशरीरस्य 'अन्ते स्फुटं व्यज्यते' '................................ **देहपाते शिवं व्रजेत् ।'**
इत्याद्युक्त्या साक्षात्कारात्म स्फुरति इत्यर्थः । आदिशब्दाच्च शेषवृत्त्या ग्रहणं, न तु तीव्रतरशक्तिपातादेः, तद्धि दीक्षायां निमित्तम् इति तद्वचनेनैवास्य ग्रहः सिद्धः, न चास्मिन्दीक्षातोऽन्यत्किंचिन्मुक्तौ निमित्तम् । तदुक्तं

'तस्मात्प्रविततादु बन्धात्परस्थानविरोधकात् ।
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ॥'

इस प्रकार का अज्ञान तो अनादिकाल से ही अवस्थित है । इसमें किसी का कोई विवाद नहीं । प्रश्न तो यह है कि यह अभावात्मक ज्ञान पुनः कहाँ से उदित हो आया ? इस अभाव में कारण क्या है ? इसका समाधान कर रहे हैं—

यदपि दीक्षा आदि के द्वारा पौंस्न अज्ञान नष्ट हो जाता है फिर भी वर्त्तमान **शरीरके** अन्त होने पर वह अपूर्व ज्ञान व्यक्त अर्थात् प्रकाशित हो जाता है । यह सही है कि पौरुष अज्ञान दीक्षा से नष्ट होता है । दीक्षा से सम्बन्धित प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत करते हैं—

"गुरु द्वारा ज्ञान-सद्भाव दिया जाता है । पशु की आवरण-विकृत वासना नष्ट हो जाती है । इस तरह इसमें दान और क्षय दो कार्य साथ-साथ होते हैं । इसीलिये इस क्रियातन्त्र का नाम दीक्षा रखा गया है" ।

ऐसी दीक्षा से पौरुष अज्ञान अनिवार्य रूप से नष्ट होता ही है । तथापि दीक्षा के बाद होने वाला आत्मज्ञान, मात्र अज्ञान के अभाव के समान ही रहता है । यद्यपि वह ज्ञान व्यक्त्युन्मुख होता है पर अभिक्रम का शोधक नहीं बन पाता । उस अवस्था में केवल आत्म तत्त्व की ओर उन्मुखता तो होती है पर कठिनाई यह होती है कि—

'प्रारब्ध से प्राप्त शरीर के उद्रेक का शोधन वह कैसे करे' ? क्योंकि कार्ममल से ही शरोर का प्रारम्भ होता है । शरीर मिलता है । शरीर के रहते कार्म मल तो अस्तित्व में रहता ही है ।

इति । तीव्रतमशक्तिपातादौ पुनरनुपायादिक्रमेण दीक्षा भवेत्, येनास्य तत्कालमेवापवर्गः । यदुक्तं

'तत्संबन्धात्ततः कश्चित्तत्क्षणादपवृज्यते ।'

इति दीक्षानिरपेक्षमेव पुनरेतत् मुक्तौ निमित्तम् इति न संभाव्यम्, एवं श्रुतिविरोधः स्यात् ।

'तस्य दीक्षां विनैवात्मसंस्कारपरिणामतः ।
सम्यग्ज्ञानं भवेत्सर्वशास्त्रेषु परिनिष्ठितम् ॥'

इसलिये इस वर्त्तमान शरीर के न रहने पर ही अन्त में (मृत्यु के बाद ही) वह स्फुट रूप से व्यक्त हो पाता है । कहा भी गया है—

'............देह छूट जाने पर वह (दीक्षा के द्वारा ज्ञान होने के कारण) साक्षात् शिव सायुज्य प्राप्त करता है' ।

इस उक्ति के अनुसार वह आत्मज्ञान आत्म साक्षात्कार रूप से स्फुरित होता है । श्लोक में 'दीक्षादि' शब्द में 'आदि' के प्रयोग का क्या कारण है ? केवल दीक्षा से ही यह सुपरिणाम होता है—'आदि' की काई आवश्यकता नहीं । इसका समाधान करते हैं कि दीक्षा प्रक्रिया में अवशिष्ट व्यापारों का ही आकलन आदि शब्द से करना उचित है । आदि शब्द की सीमा में 'तीव्रतर शक्तिपात' जैसे महत्वपूर्ण प्रयोग नहीं आ सकते । वे तो तत्काल स्वात्म साक्षात् कराने में समर्थ हैं ।

वह अज्ञानाभाव रूप ज्ञान ही दीक्षा का भी निमित्त है। वहाँ 'तद्' शब्द के प्रयोग से हो उसका ग्रहण हो जाता है । वास्तविकता यह है कि आत्मसाक्षात्कार में समर्थ आत्मज्ञान में दीक्षा के अतिरिक्त दूसरा कोई निमित्त हा नहीं सकता । इसी के समर्थन में उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"परम्परा से विस्तार प्राप्त कर रहा (आवागमनका) बन्धन; 'परस्थान' अर्थात् मुक्ति का विरोधी है । इससे मात्र दीक्षा ही मुक्त करती है । साथ ही शैव धाम की प्राप्ति भी कराती है ।"

तीव्रतम शक्तिपात आदि प्रक्रिया में अनुपाय विज्ञान के क्रमानुसार दीक्षा होती है । उससे तत्काल अपवर्ग प्राप्त हो जाता है । कहा गया है—

'अनुपाय विज्ञान के क्रमानुसार तीव्रतम शक्तिपात को अवस्था में ही कोई (भाग्यवान्) साधक तत्काल पूर्णतया विरक्त हो जाता है' ।

इसमें दीक्षा प्रक्रिया की अपेक्षा नहीं रहती । दीक्षा-निरपेक्ष मुक्ति में तीव्रतम शक्तिपात हो निमित्त है । यह नहीं सोच लेना चाहिये । ऐसा होने पर इस आगमोपनिषद् रूप श्रुति का विरोध उपस्थित हो जायेगा—

इत्यादौ पुनर्बाह्यक्रियादीक्षाभिप्रायेण तन्निषेधो विवक्षितः, अन्यथा ह्यत्रात्मसंस्कारशब्दार्थं एव कथं संगच्छताम् इत्यलं बहुना ॥ ४३ ॥

ननु यद्येवं दीक्षया देहान्त एव मुक्तिर्भवेत्; तत्कथं 'जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ' इत्याद्युक्तम् इत्याशङ्क्याह

बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम् ।
विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता ॥ ४४ ॥

'बौद्धज्ञानेन' इति परमेश्वराद्वयशास्त्रश्रवणाद्युद्भूतेन ।

तदुक्तं

'गुरुणैव यदा काले संप्रदायो निरूपितः ।
तदाप्रभृति मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम् ॥'

इति । एतच्च दीक्षिताधिकारेणैव ज्ञेयम्, नहि अकृतदीक्षस्य शास्त्रश्रवणेऽप्यधिकारः इति कुतस्तदवबोधनिमित्तकोऽपि तज्ज्ञानाविर्भावः स्यात् । तदुक्तं

"उस साधक की दीक्षा के बिना ही आत्मसंस्कार के फलस्वरूप समस्त शास्त्रों में परिनिष्ठित सम्यग् ज्ञान होता है" इस कथन में दीक्षा का जो विरोध परिलक्षित हो रहा है, वह निषेध, मात्र क्रियामयी दीक्षा की दृष्टि से है ॥ ४३ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस प्रकार की दीक्षा से मरने के बाद ही मुक्ति होगी तो यह कैसे कहा गया है कि "वह जीते जी ही मुक्त है ? इस शङ्का का समाधान कर रहे हैं--

बौद्ध ज्ञान से जिस समय बौद्ध अज्ञान का बढ़ाव सर्वथा विलीन हो जाता है, उस समय साधक की मुक्ति उसके लिये हस्तामलकवत् हो जाती है। मुक्ति पर उसका अधिकार हो जाता है।

बौद्ध ज्ञान पारमेश्वर अद्वैत शास्त्र के श्रवण मनन से उद्भूत होता है' उक्ति है कि--'गुरुदेव द्वारा जिस समय सम्प्रदाय का निरूपण किया गया' तब से ही शिष्य मुक्त है। शरीर रूप से वह केवल यन्त्रवत् स्थित है'। यह सब दीक्षा प्राप्त साधक की अधिकारिता के आधार पर ही निर्भर करता है। जिसने दीक्षा प्राप्त ही नहीं की उसका तो शास्त्र के सुनने का भी अधिकार नहीं। शास्त्रज्ञान से प्राप्त बोध से जीवन्मुक्ति की तो कोई बात ही नहीं। कहा गया है—

'अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छिवपद्धतिम् ।'

इति। न च अप्रध्वस्तपौरुषाज्ञानस्य अनेन किंचिद्भवति इत्युक्तप्रायम्, अन्यथा हि प्रेक्षावतां दीक्षायां प्रवृत्तिरेव न स्यात्—साध्यस्यार्थस्य अत एव स्रष्टुर-भावात्, अत एव दीक्षायां शिथिलास्थत्वं न वाच्यं, तस्या एव मुक्तिं प्रति मूलकारणत्वात्। एवं दीक्षादिना पौंस्नं ज्ञानमभिव्यक्त्युन्मुखमपि न तदेव मुक्तिप्रदं—देहान्ते तदभिव्यक्तेरुक्तत्वात्, इदं पुनस्तदेव इति ततोऽस्य प्राधान्य-मपि कटाक्षितम् ॥ ४४ ॥

नकेवलमेतदेवास्य ततः प्राधान्यनिमित्तं यावदन्यदपि इत्याह

दीक्षापि बौद्धविज्ञानपूर्वा सत्यं विमोचिका ।
तेन तत्रापि बौद्धस्य ज्ञानस्यास्ति प्रधानता ॥ ४५ ॥

इह　**'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान्गुरुरुत्तमः ।'**

'अदीक्षित व्यक्तियों के सामने इस शैवोपनिषद् का उच्चारण भी न करे'।

जिस पुरुषका पौरुष अज्ञान अभी नष्ट नहीं हुआ है, उसका इस श्रवण से भी कुछ होनेवाला नहीं। यह तथ्य कहा जा चुका है। यदि ऐसा न होता तो सामाजिकों की प्रवृत्ति दीक्षामें कभी होती ही नहीं। साध्य लक्ष्य की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि एक विज्ञ सर्जक रहे, मार्गदर्शक कर्त्ता रहे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दीक्षा के प्रति आस्था में शिथिलता की बात भी नहीं होनी चाहिये। क्योंकि दीक्षा ही मुक्ति की मूल कारण है।

इस प्रकार दीक्षा आदि के द्वारा पौरुष ज्ञान जब अभिव्यक्तिकी ओर अग्रसर होता है, उसी समय वह मुक्तिप्रद नहीं बन जाता। अपितु देहान्त के बाद ही मुक्तिप्रद होता है। तभी अभिव्यक्ति की उन्मुखता के परिणाम रूप मुक्ति प्राप्त हो सकती है। मुक्ति भी तभी हस्तामलक बन सकती है, जब दीक्षा हो जाती है, तभी मुक्तिका द्वार भी खुल जाता है। यहाँ दीक्षाकी प्रधानताकी ओर संकेत है ॥ ४४ ॥

केवल इसकी प्रधानता का यही कारण नहीं है। कुछ और भी कारण हैं उनका प्रकाशन कर रहे हैं—

दीक्षा भी बौद्धविज्ञान के उल्लसित करने पर ही मुक्तिप्रद होती है। इसलिये दीक्षा में बौद्ध ज्ञान की ही प्रधानता होती है।

"इस उपनिषद् मार्ग में अन्य सभी अपेक्षित लक्षणों से हीन होते हुए भी यदि पुरुष ज्ञानवान् है, तो वह उत्तम गुरु है।" इस उक्ति के अनुसार दीक्षा

इत्याद्युक्तेरधिगतशास्त्रार्थस्यैव हि गुरोर्दीक्षायाम् अधिकारः, अत एव तस्य

'शिवशास्त्रविधानज्ञं ज्ञानज्ञेयविशारदम् ।'

इति लक्षणं प्राधान्येनोक्तं, अन्यथा पुनः

'शास्त्रहीने न सिद्धिः स्याद्दीक्षायां वीरवन्दिते ।'

इत्याद्युक्त्या दीक्षा विमोचिकैव न स्यात्, तेन इति दीक्षायां बौद्धस्य ज्ञानस्य कारणत्वात्, नहि तेन विना तस्या निष्पत्तिरेव स्यात् ॥ ४५ ॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव इत्याह

ज्ञानाज्ञानगतं चैतद्द्वित्वं स्वायंम्भुवे रुरौ ।
मतङ्गादौ कृतं श्रीमत्खेटपालादिदैशिकैः ॥ ४६ ॥

में उसीका अधिकार है, जो सर्व शास्त्रपारंगत परिनिष्ठित ज्ञानवान् हो । अत एव उसका—

"शिवशास्त्र के समस्त (समयसिद्ध) विधानों को जानने वाले ज्ञान और ज्ञेय रहस्यों के विशारद को (गुरुत्व का अधिकार है ।" यह लक्षण प्रधान रूप से निर्दिष्ट है । अन्यथा–"हे वीर शैवों से वन्दनीय प्रिये, शास्त्र हीन गुरु से मिली दीक्षा सिद्ध नहीं होती ।" इस आप्तवचन के अनुसार दीक्षा मुक्ति प्रद नहीं हो सकती । इसलिये यह निश्चय है कि दीक्षा में बौद्धज्ञान की कारणता महत्त्व-पूर्ण है । विना दीक्षा के मुक्ति असम्भव है ॥ ४५ ॥

यह बात केवल श्रीमदभिनवगुप्त की अपनीबुद्धिकी उपज नहीं—इसी को उदाहरणों से सिद्ध करने के लिये कारिका का अवतरण कर रहें हैं—

बौद्ध और पौंस्न ज्ञान और अज्ञान से सम्बन्धित प्रकरण तन्त्रालोक के इस आह्निक के श्लोक ३९-४० से प्रारम्भ है । यहाँ रुरु और मतङ्गशास्त्रों में इस द्वित्वके सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, सन्दर्भवश उसकी चर्चा कर रहे हैं । स्वायम्भुव की उक्ति है कि "आत्ममल जिसे माया कहते हैं, उसके प्रभाव से कर्म का बन्धन प्राप्त होता है । उससे मुक्त होने के लिये तथा शिवत्व की अभिव्यक्ति के लिये शैव ज्ञान प्रवृत्त होता है ।" तथा "पुरुष का अनादि मल ही पशुत्व है । उसके प्रभाव से अज्ञान रूप पौरुष-पाश पुरुष को बन्धन देता है । अक्षय मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुष को इससे सदा सतर्क रहना चाहिये ।"

तदुक्तं श्रीस्वायम्भुवे

'अथात्ममलमायाख्यकर्मबन्धविमुक्तये ।
व्यक्तये च शिवत्वस्य शिवज्ञानं प्रवर्तते ॥' इति ।

'अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम् ।
तत्सङ्कावशोऽज्ञादिः पाशौघः पौरुषः स्मृतः ॥
तस्मात्तत्त्वतो ज्ञेयं मोक्षमक्षयमिच्छता ।' इति च ।

श्रीरुरावपि **'यजन्ति विविधैर्यज्ञैर्मन्त्रतत्त्वविशारदाः ।**
गुरुतन्त्राद्यनुज्ञातदीक्षासिच्छिन्नसंशयाः ॥' इति ।
'न मीमांस्या विचार्या वा मन्त्राः स्वल्पधिया नरैः ।
प्रमाणमागमं कृत्वा श्रद्धातव्या विचक्षणैः ॥
सर्वे मन्त्रात्मका देवाः सर्वे मन्त्राः शिवात्मकाः ।
शिवात्मकमिदं ज्ञात्वा शिवमेवानुचिन्तयेत् ॥ इति च ।

श्रीमतङ्गेऽपि **'ततः स भगवानीशः स्फुरन्माणिक्यशेखरः ।**
वाक्यानलसमुत्थेन ज्वालावीर्येण मन्त्रराट् ॥
प्रददाह मुनेः सर्वमज्ञानं तृणराशिवत् ।' इति ।
'शिववक्त्राम्बुजोद्भूतममलं सर्वतोमुखम् ॥

रुरु शास्त्र में भी कहा गया है कि "मन्त्रतत्त्व विशारद विविध यज्ञों द्वारा यजन करते हैं। वे गुरुदेव की समर्थित पद्धति द्वारा निर्दिष्ट होते हैं, दीक्षा लेते हैं और इसी दीक्षा रूपी तलवार से समस्त संशयों को काट डालते हैं। "स्वल्प बुद्धि पुरुषों द्वारा मन्त्रों की मीमांसा नहीं करनी चाहिये। मन्त्र के सम्बन्ध में अपने विचार नहीं थोपने चाहिये। आगमप्रामाण्य के आधार पर विचक्षण गुरुस्तरीय वेत्ता ही इस पर विचार करें। सभी देव मन्त्रात्मक होते हैं। सभी मन्त्र शिवात्मक होते हैं। यह सब कुछ शिवरूप है— यह सोचकर शिव का ही अनुचिन्तन करना चाहिये।"

मातङ्ग शास्त्र में भी कहा गया है कि "इसके बाद माणिक्य मण्डित-शिर भगवान् शिव ने वाक्-अग्नि से उत्पन्न तैजस शक्ति के द्वारा मुनिके अज्ञान को उसी प्रकार जला डाला जैसे आग से तृण राशि जल जाती है।" तथा "शिव के मुख कमल से उत्पन्न अत्यन्त निर्मल, सर्वतः प्रसरित, शिवत्त्व को जागृत करने वाले अज्ञान नाशक ज्ञान के द्वारा ही सिद्ध उस अनामय परम तत्त्व का दर्शन, सरलता से करते हैं"।

शिवत्वोन्मीलन तथ्य ज्ञानमज्ञाननाशनम् ।
अनेन सिद्धाः पश्यन्ति यत्तत्पदमनामयम् ॥' इति च ।

आदिशब्देन चिल्लाचक्रेश्वरीमतादेर्ग्रहणम् । तदुक्तं तत्र

'बौद्धं च पौरुषेयं च द्विविधं तन्मलं स्मृतम् ।
तत्र दीक्षादिना याति पौरुषेयं मलं क्षयम् ॥
बौद्धमक्षयमेवास्ते तावत्तावत्समुद्रितम् ।
यावन्न बौद्धमेवास्य सजातीयविलापकम् ॥
ज्ञानमभ्युदितं सम्यक्सारेतरविभागकृत् ।'

इति । पौंस्नज्ञानाभिव्यञ्जने दीक्षा तावन्न प्रभवेद्यावदस्य बौद्धं ज्ञानं पूर्वभावि न स्यात्, येनास्य ततोऽपि प्राधान्यमुक्तम् ॥ ४६ ॥

एवं बौद्धमपि ज्ञानं पारमेश्वरं शास्त्रमन्तरेण कुतः समुदियात् इति तदेव मूलकारणत्वादिह प्रधानम् इत्याह

तथाविधावसायात्मबौद्धविज्ञानसम्पदे ।
शास्त्रमेव प्रधानं यज्ज्ञेयतत्त्वप्रदर्शकम् ॥ ४७ ॥

श्लोक में आदिशब्द के प्रयोग के बल पर चिल्ला चक्रेश्वरी आदि मत-वादों का भी ग्रहण होता है । वहाँ कहा गया है कि "बौद्ध और पौंस्न दो प्रकार के मल होते हैं । दीक्षा आदि से पौंस्न मल क्षय हो जाते हैं । बौद्ध ज्ञान कभी नाश नहीं होता । जब तक सजातीय विलापक बौद्ध ज्ञान का अभ्युदय नहीं होता, तब तक मोक्ष का महाप्रकाश नहीं दीख पड़ता ।

पौरुष ज्ञान के अभिव्यञ्जन में दीक्षा तब तक समर्थ नहीं होती, जब तक इसके पहले बौद्ध ज्ञान की भूमिका नहीं होती । यही कारण है कि इसकी प्रधानता का उससे बढ़कर उल्लेख किया गया है ॥ ४६ ॥

बौद्ध ज्ञान भी शैव उपनिषद् के स्वाध्याय के बिना कैसे उदित हो सकता है ? यह सिद्ध है कि शास्त्र का स्वाध्याय ही बौद्ध ज्ञान का मूल कारण है । इसलिये वही प्रधान है ।

इसी का समर्थन करते हैं—

ऐसे अध्यवसायात्मक बौद्धविज्ञान की ऐश्वर्यलक्ष्मी की उत्पत्ति के लिये शैव शास्त्र ही प्रधान कारण है, क्योंकि ज्ञेय तत्त्व का यही प्रदर्शक है ।

'संपदे' इति तां जनयितुम् इत्यर्थः। यतो 'ज्ञेयस्य' नीलसुखादेः 'तत्त्वं' प्रकाशमानत्वान्यथानुपपत्त्या प्रकाशात्मकशिवस्वभावत्वम्, तस्य प्रदर्शकम्, पराद्वयोपदेशकारित्वा तदभिधायकम् इत्यर्थः। अत एव चास्य तदप्रदर्शकतया शास्त्रान्तरेभ्यो वैलक्षण्यमपि कटाक्षितम् ॥ ४७ ॥

ननु भवत्वेवम्, अत्र पुनः किं निमित्तं यत्पौंस्नाज्ञाननिवृत्तौ देहान्ते मुक्तिः, बौद्धाज्ञाननिवृत्तौ तु तदैव इत्याशङ्क्याह

दीक्षया गलितेऽप्यन्तरज्ञाने पौरुषात्मनि ।

धीगतस्यानिवृत्तत्वाद्विकल्पोऽपि हि संभवेत् ॥ ४८ ॥

'धीगतस्य' इति अज्ञानस्य। 'विकल्पो हि' भेदप्रथात्मकः स चैव अख्यातिरूपत्वादज्ञानम् इति बहूक्तम् ॥ ४८ ॥

'सम्पद्' शब्द का यह चतुर्थ्यन्त रूप विज्ञान-श्री की उत्पत्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त है। ज्ञेय का अर्थ है—द्वैत प्रथा के प्रतीक नील आदि वस्तु और सुख दुःख आदि द्वन्द्व। 'तत्त्व' से तात्पर्य है—वस्तु का स्वभाव। प्रकाशमानता विना प्रकाश के नहीं हो सकती। इसलिये प्रकाशात्मक शिव से प्रकाशमान होने के कारण तत्त्व वस्तुतः शिव स्वभावत्व ही सिद्ध होता है। यही तथ्य प्रदर्शक शैव शास्त्र है; क्योंकि यही शास्त्र परात्पर अद्वयज्ञान का उपदेश करता है। वैखरी वाक् का आश्रय लेकर उसका अभिधान भी करता है। इसलिये शैव महाभाव का बोध करा देने के कारण इस शास्त्र को अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विलक्षणता भी स्पष्ट हो जाती है ॥ ४७ ॥

अच्छी बात है। मान लिया। फिर भी पौरुष अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर देहत्याग के बाद मुक्ति होती है—इसमें क्या निमित्त है? बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति की तो वहा स्थिति होगी? इस आशङ्का का समाधान करते हैं—

पौरुष अज्ञान के दीक्षा के द्वारा निवृत्त हो जाने पर भी यदि बौद्ध अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ तो (भेद प्रथात्मक अख्याति रूप) विकल्प भी उत्पन्न हो सकते हैं।

बुद्धि गत अज्ञान कठिन होता है। उसके रह जाने पर विकल्प की ही सम्भावना रहती है। विकल्प हमेशा भेदवाद के जनक होते हैं। इससे अज्ञान और बढ़ता ही है। इसे ही शास्त्र की भाषा में अख्याति कहते हैं। अख्याति अज्ञान रूप ही होती है ॥ ४८ ॥

ननु धीगतमज्ञानं यदि न निवृत्तं तदात्मनः किमायातम् इत्याशङ्क्याह

देहसद्भावपर्यन्तमात्मभावो यतो धियि ।
देहान्तेऽपि न मोक्षः स्यात्पौरुषाज्ञानहानितः ॥ ४९ ॥

दीक्षितस्यापि हि नियतकालं बुद्धावात्मग्रहो भवेद् इति तयोरभेदाद् बौद्धमप्यज्ञानमात्मन्युपचितं संभवेद् इति भावः। अत एव देहान्ते बुद्धावात्मग्रहव्युपरमात् पौरुषस्याज्ञानस्य दीक्षादिना पूर्वमेव प्रध्वस्तत्वान्मोक्ष इति युक्तमुक्तं 'तच्छरीरान्ते तज्ज्ञानं व्यज्यते स्फुटम्' इति ॥ ४९ ॥

एवं विकल्पोऽत्र संभवन्मुक्तौ व्यवधायक इति न तदेव मुक्तिः, तस्य पुनरसंभवे सत्यपि देहे मुक्तिः इत्याह

बौद्धाज्ञाननिवृत्तौ तु विकल्पोन्मूलनाद् ध्रुवम् ।
तदैव मोक्ष इत्युक्तं धात्रा श्रीमन्निशाटने ॥ ५० ॥

न चैतदप्रमाणकम् इत्याह 'इत्युक्तम्' इत्यादि ॥ ५० ॥

यदि बुद्धिगत अज्ञान नहीं भी निवृत्त हुआ हो, तो आत्मा को क्या ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं--

चूँकि देह सत्ता पर्यन्त बुद्धि में आत्मभाव रहता है। इसलिये पौरुष अज्ञान के न रहने पर यदि देहान्त भी हो जाय तो भो मोक्ष असम्भव हो जायगा। दीक्षा लेने पर भी समय प्रभाव से बुद्धि में आत्मा का संस्कार रहता है। इस प्रकार दोनों से अभेदानुभूति के कारण बौद्ध अज्ञान भी आत्मा में बढ़ सकता है। इसलिये देह के त्याग के बाद बुद्धि में होने वाले आत्मभाव की समाप्ति पर तथा पौरुष ज्ञान के दीक्षा आदि के द्वारा पहले ही प्रध्वस्त होने के कारण मोक्ष स्वभावतः चरितार्थ हो जाता है। इस प्रकार य हकहना कि 'इस शरीर के अन्त हो जाने पर वह मोक्ष रूप ज्ञान स्फुरण प्रव्यक्त हो जाता है'-- एकदम सही उक्ति है ॥ ४९ ॥

इस तरह यदि यहाँ विकल्प हो जाता तो सम्भावित मुक्ति में वह अवश्य बाधक बनता। फिर देहान्त के बाद मुक्ति मिल ही नहीं सकती। पर यह ध्यान देने की बात है कि उसके असम्भव होने पर भी देह की स्थिति में भी मुक्ति सम्भाव्य है। श्रीमन्निशाटन शास्त्र में धाता ने यह कहा है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति की दशा में अनिवार्यतः विकल्पों का उन्मूलन हो जाने से उसी समय

विकल्पयुक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत् ।
इतरस्तु तदैवेति शास्त्रस्यात्र प्रधानतः ॥ ५१ ॥

'इतर' इति निर्विकल्पः । 'तदैव' इति देहसद्भावे इत्यर्थः । यदुक्तं तत्रैव

'विकल्पयुक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत् ।'
'विकल्पहीनचित्तस्तु ह्यात्मानं शिवमव्ययम् ॥
पश्यते भावशुद्ध्या यो जीवन्मुक्तो न संशयः ।'

इति । इदानीं प्राक्प्रतिज्ञातं शास्त्रस्यैव प्राधान्यं निगमयति—इति इत्यादिना, 'इतिशब्दः' काकाक्षिन्यायेन योज्यः तेन श्रीनिशाटनग्रन्थसमाप्तौ हेतौ च व्याख्येयः । स च 'ज्ञेयतत्त्वप्रदर्शकम्' इत्यादिना प्रागप्युक्तः ॥ ५१ ॥

मुक्ति मिल जाती है, अर्थात् मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाता है। यह अपनी बात नहीं, अपितु प्रामाणिक बात है—इसीलिये श्लोक में 'इत्युक्तं' शब्द का प्रयोग हुआ है ॥ ५० ॥

विकल्प से भरा हुआ चित्त पिण्डपात अर्थात् मृत्यु के उपरान्त शिवत्व को उपलब्ध होता है, और निर्विकल्प चित्त तत्काल। इस कथन के प्रधानतः शास्त्र ही प्रमाण हैं।

इतर का अर्थ निर्विकल्पक चित्त से है। तदेव अर्थात् देह के रहते ही; क्योंकि वहीं कथित है--

"विकल्प युक्त चित्त वाला पुरुष पिण्डपात के उपरान्त शिवत्व को उपलब्ध होता है; किन्तु विकल्पों से रहित चित्त वाला पुरुष अव्यक्त आत्मा शिव को तत्काल पा लेता है। इस प्रकार भावशुद्धि पूर्वक जा दार्शनिक अनुभूति कर लेता है, वही निःसंशय जोवन्मुक्त है।"

अब पहले ही कथित शास्त्र की प्रधानता का निगमन कर रहे हैं—श्लोक में 'इति' शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में है—ग्रन्थ की (श्रीनिशाटन) समाप्ति के अर्थ में और शास्त्र ही हेतु है-इस अर्थ में भी। यह प्रयोग काकाक्षि न्याय के अनुसार होता है। कौए को आँख का गोलक दायें-बायें दोनों ओर आता जाता रहता है। यही काकाक्षि न्याय है; क्योंकि 'वह ज्ञेय तत्त्व का प्रदर्शक है।' यह पहले के श्लोक में कहा जा चुका है ॥ ५१ ॥

ननु किं नाम ज्ञेयस्य तत्त्वं यत्प्रदर्श्यमानं शास्त्रप्राधान्यावगमकमपि स्याद् इत्याशङ्क्याह

ज्ञेयस्य हि परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः ।
नह्यप्रकाशरूपस्य प्राकाश्यं वस्तुतापि वा ॥ ५२ ॥

'ज्ञेयस्य' नीलादेर्नीलतेव प्रकाशमानता न तावदात्मभूता, तथात्वे हि सर्वदेव सर्वान्प्रति च स्यान्न तु कदाचित्कंचित्प्रति इति सर्वेऽपि सर्वज्ञाः स्युः । अतश्च अस्य प्रकाशते, मम प्रकाशते इति प्रकाशात्मप्रमातृसंलग्नैव सा युज्यते इति नासौ स्वातन्त्र्येण पर्यवसितस्वरूपो नीलादिः, शिव एव प्रकाशात्मकः प्रमाता, तदतिरिक्तस्य अन्यस्य भेदाभेदविकल्पोपहतत्वात्, अतश्च नीलादेर्ज्ञेयस्य प्रकाशमानत्वात् स एव परमार्थ इत्युक्तं 'प्रकाशात्मकः शिवः परं तत्त्वम्' इति । नन्वसौ स्वयमतथारूपोऽपि प्रकाशसंबन्धात्तथा भविष्यति इत्याशङ्क्याह 'नहि' इत्यादि । प्रकाशसंबन्धेनापि हि प्रकाशमानो नीलादिः स्वयं प्रकाशरूप एव सन्

प्रश्न होता है कि वह कौन-सा ज्ञेय तत्त्व है, जो प्रदर्श्यमान और शास्त्र की प्रधानता का अवगमक भी है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ज्ञेय का सबसे परम तत्त्व वही है, जो प्रकाशात्मक शिव है। (यह सिद्धान्त है कि) अप्रकाश रूप वस्तु का प्रकाशन नहीं हो सकता। उसकी वस्तु धर्मता भी सिद्ध नहीं हो सकती।

नील-पीत आदि पदार्थ ज्ञेय हैं। इनमें नीलिमा और पीतिमा धर्म हैं। वही उसकी प्रकाशमानता है। नील में नीलिमा प्रकाशित हो रही है। पीत में पीतिमा प्रकाशित हो रही है। यह ध्यान देने की बात है कि वह नीलिमा या पीतिमा नील पदार्थ की आत्मा नहीं है। यदि ऐसा होता तो हमेशा सबके प्रति या सब में यह होती, कदाचित् किसी के प्रति या किसी में न होती। इस तरह मानने पर तो सभी सर्वज्ञ ही हो जायेंगे। इसलिये 'इसको प्रकाशित हो रहा है।' 'मुझे प्रकाशित हो रहा है।' यह अनुभव प्रकाश रूप प्रमाता से ही सम्पृक्त लगता है। यही युक्त और उचित भी है। इससे सिद्ध हुआ कि यह नील पीत आदि स्वतन्त्र रूप से इस निर्णायक रूप में व्यक्त नहीं हैं। वस्तुतः प्रकाशात्मक शिव ही प्रमाता हैं। उनके अतिरिक्त अन्य समस्त इदमात्मक उल्लास भेदाभेद रूप विकल्पों के दोषों से उपहत हैं।

इसलिये नील आदि ज्ञेय वस्तुओं के प्रकाशक होने के कारण वही परम तत्त्व है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कहा गया है—'प्रकाशात्मक शिव ही परात्पर तत्त्व हैं।' इस पर शङ्का होती है कि सम्भव है कि वह स्वयम्

प्रकाशते, नहि अप्रकाशरूपश्च प्रकाशते च इति स्यात्, नहि अश्वेतः प्रासादः श्वेतते, न चैवं वस्तुत्वमप्यस्य स्यात्, नहि प्रकाशरूपतामपहाय अन्यद्वस्तु संभवेद् इति भावः ॥ ५२ ॥

एवं च न केवलं नीलादेर्ज्ञेयस्य भावस्य प्रकाशमानत्वात्प्रकाशात्मकः शिवस्तत्त्वं यावत्तदभावस्यापि इत्याह

अवस्तुतापि भावानां चमत्कारैकगोचरा ।
यत्कुड्यसदृशी नेयं धीरवस्त्वेतदित्यपि ॥ ५३ ॥

यतो 'नास्त्यत्र घट' इत्येवंरूपापि बुद्धिर्बोधस्वभावत्वात्कुड्यादिजड-पदार्थविलक्षणा अत एव घटाद्यभावोऽपि बुद्ध्यमानत्वात्परमानन्दैकघनबोधात्म-कशिवस्वभाव एव इत्यर्थः । तदाहुः

'अबोधोऽपि बुद्ध्यमानो बोधात्मभूत ईश्वर एव ।'

इति ॥ ५३ ॥

ऐसा न हो और प्रकाशात्मक शिव के सम्बन्ध से ऐसा हो जाता हो। इसका उत्तर श्लोक के उत्तरार्ध में दे रहे हैं, 'नहि' वाली दूसरी पंक्ति से। प्रकाश से सम्बन्ध नहीं होने पर प्रकाशमान नील आदि पदार्थ स्वयं प्रकाश रूप से कभी उल्लसित नहीं होते। इसी प्रकार अप्रकाश रूप पदार्थ भी कभी प्रकाशित नहीं होते। यह स्वाभाविक है। एक राजमहल है। वह अश्वेत है। चूनाकली नहीं हुई है। वह सफेद कभी नहीं दीखता। यह भी शङ्का नहीं की जा सकती कि प्रकाश रूप शिव वस्तु है; क्योंकि प्रकाशरूपता का परित्याग कर दूसरा पदार्थ बनने की कोई सम्भावना इसमें नहीं है ॥ ५२ ॥

और इस प्रकार न केवल नील आदि ज्ञेय पदार्थ सत्ता के प्रकाशक होने के कारण शिव तत्त्व प्रकाशात्मक है, वरन् उसके अभाव का भी वह प्रकाशक है। इसलिये कहते हैं —

पदार्थों की अपदार्थता भी विशिष्ट चमत्कारों का साक्षात्कार करातो है। यह किसी स्थिर भित्ति सदृश नहीं होती, जिसके विषय में यह कहा जाय कि यह अमुक वस्तु है।

जैसे जब यह कहते हैं कि 'घड़ा यहाँ नहीं है' इस वाक्यार्थ का अभा-वात्मक अवबोध बुद्धि में हो रहा है। यह अनुभूति दीवार सदृश जड़ पदार्थों की भावात्मक अनुभूति से विलक्षण है। अतः घड़े आदि पदार्थों का अभाव भी बोध का विषय बनता है। यह बुद्धि की विषयता चमत्कार सदृश ही है। परमानन्द-

ननु सिद्धे प्रकाशे भावाभावरूपस्य ज्ञेयस्य तदेकपरमार्थत्वं सिद्ध्येत्, स एव पुनः केन प्रमाणेन सिद्ध इत्याशङ्क्याह

प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते ।
अनपह्नवनीयत्वात् किं तस्मिन्मानकल्पनैः ॥ ५४ ॥

अपूर्वार्थविषयं खलु प्रमाणम् । यदाहुः

'अनधिगतविषयं प्रमाणमज्ञातार्थप्रकाशो वा' इति ।

प्रकाशस्य अपूर्वत्वेन प्रकाशो नास्ति सर्वदैव तस्य प्रकाशमानत्वेन 'अनपह्नवनीयत्वात्' इति व्यर्थं तत्र प्रमाणपरिकल्पनम् । तथा हि तदा तस्य अपूर्वत्वेन प्रकाशः स्यात्, यद्यसौ पूर्वमनधिगतत्वेन अप्रकाशमानः स्यात्, तथाभावश्च तद्रहितपूर्वकालस्मृतौ सत्यां भवेत्, स्मृतिरपि एवंरूपमनुभवं

घन, एकमात्र सर्वव्यापक तत्त्व के समान ही बोधात्मक है। अतएव शिव के स्वभाव के भी समान ही है। इसी आधार पर कहते हैं—

"अबोध भी बुध्यमान है। यह बोध रूप ईश्वर ही है" ॥५३॥

प्रश्न होता है कि प्रकाश तो सिद्ध है। भावाभावरूप ज्ञेय की भी भावरूप और अभावरूप (एक प्रतिनियत) परमार्थता सिद्ध हो। वही एकमात्र किस प्रमाण से सिद्ध है—इस सन्देह का निराकरण कर रहे हैं—

यह जो प्रकाश है—सर्वत्र (समान रूप से) प्रकाशित है। इसका स्वरूप गोपन नहीं किया जा सकता। यह अनपह्नवनीय है। इसलिये इसके लिये किसी प्रमाण की कल्पना से क्या (लाभ) ?

'प्रमाण अपूर्वार्थविषय होता है।' अर्थात् आग के जलने में धुआँ प्रमाण है। विना आग के धुआँ असम्भव है। इसके अतिरिक्त इसके पहले नहीं था। आग जली और धुआँ हुआ। इसलिये अपूर्व अर्थ का विषय धुआँ बन जाता है। और भी कहते हैं—

"अनधिगत विषय अथवा अज्ञातार्थ का प्रकाशक प्रमाण होता है" किसी दूसरे विषय में वह अधिगत नहीं होता। जो अर्थ जानकारी में नहीं है, उसी अर्थ का प्रकाशन करता है। वही प्रमाण है। प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रकाश प्रकाश के अपूर्वत्व से प्रकाशित नहीं है। जैसे आग जलने के पहले धुआँ नहीं है। प्रकाश शाश्वत प्रकाशमान है। यहाँ पूर्व, अपूर्व, अज्ञातार्थ प्रकाशन अथवा विषय का अज्ञान आदि अनुभूति नहीं है। इसका अपह्नव नहीं हो सकता। इसे छिपाया नहीं जा सकता। इसलिये इस सम्बन्ध में प्रमाण की परिकल्पना व्यर्थ है।

विना नोत्पद्यते, अनुभूतविषयासंप्रमोषात्मकत्वात्तस्याः, न च प्रकाशरहितत्वेन पूर्वकालमनुभवोऽस्ति, तस्यैवानुभवस्य प्रकाशात्मकत्वात्, स एव हि प्रकाश इति कथं पूर्वमपि तदभावः, अतश्च सर्वदास्य अवभासमानत्वेन आदिसिद्धत्वाद् न प्रमाणसव्यपेक्षा सिद्धिः। स एव च 'प्रकाश एव प्रकाशकः प्रमाता' इति नीत्या परप्रमातृरूपः परमेश्वरः शिव इति युक्तमुक्तम् 'ज्ञेयस्य च परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः।' इति ॥ ५४ ॥

न केवलमेतत्सिद्धौ प्रमाणानामनुपयोगो यावत्प्रत्युत एषां तदधीना सिद्धिः इत्याह

प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते ।
तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः ॥ ५५ ॥

ऐसी स्थिति में जो पहले नहीं है (अपूर्व है), उसका विचार करें। क्या पहले प्रकाश नहीं था ? यदि नहीं था और अब हुआ है तो प्रमाण की आवश्यकता पड़ेगी कि क्या प्रमाण है कि यह प्रकाश है ? यदि यह पहले अनधिगत था--अप्राप्त था—अप्रकाशमान था तो अपूर्व माना जायेगा।

दूसरी बात जो विचारणीय है—वह है—स्मृति। जिस समय प्रकाश नहीं था, उस समय की स्मृति भी मस्तिष्क में रहनी चाहिये। तभी उसका अभाव सही होगा। पहले धुआँ नहीं था। यह तो याद ही है। अब हुआ है। यह भी तथ्य है कि स्मृति ऐसे भावात्मक या अभावात्मक अनुभवों के विना नहीं होती। स्मृति का स्वभाव है कि अनुभूत विषयों का संप्रमोष वह नहीं करती। उन्हें छिपा नहीं सकती, चुरा नहीं सकती।

यह निश्चित सत्य है कि किसी ऐसे काल का अनुभव नहीं है, जिसमें प्रकाश न रहा हो। वह अनुभव भी प्रकाश रूप ही है। यह वही प्रकाश है, इसका पहले अभाव कैसा ? इत्यादि विचारों से यह सिद्ध है कि यह अनवरत अवभासमान है। आदि सिद्ध है। इसमें प्रमाण सापेक्ष सिद्धि नहीं अपितु यह स्वतः प्रामाण्य सिद्ध है।

वही प्रकाश ही प्रकाशक प्रमाता भी है। इस सिद्धान्त के अनुसार परप्रमाता रूप परमेश्वर शिव ही वह प्रकाश है। इसलिये यह उचित ही कहा है कि ज्ञेय का सर्वातिशायी तत्त्व वही है, जो प्रकाशात्मक शिव है ॥५४॥

न केवल इसकी सिद्धि में प्रमाण अनुपयोगी हैं, प्रत्युत प्रमाणों की सिद्धि भी इसी के वश में है। इसलिये कहते हैं—

प्रमाण भी जो वस्तु मात्र के जीवन का विस्तार करते हैं, उनसे भी परे जीव है—वही परमेश्वर है।

इह वस्तूनां नीलपीतादीनां प्रकाशनिरपेक्षेण स्वस्वरूपेण तावत्स्वयमन्योन्यं वा न कश्चिद्विशेषः। नहि स्वात्मनि नीलं नीलं पीतं वा पीतम्। यदि नाम हि स्वात्मनि नीलं पीतं स्यात्पीतं वा नीलम्, तत्किमिव न विरुद्धमापतेत। अथ यथैव यत्प्रकाशते तथैव तत्स्वात्मनि परिनिष्ठितं स्याद् इति न नीलं पीतम्, पीतं वा नीलम्, इति चेत्—एवं तर्ह्येषां स्वात्मनि विशेषो न कश्चिदुक्तः स्यात्, अपि तु प्रकाशते इति—इति प्रकाश एवैषां रूपं तत्तन्नियतस्वरूपप्रतिष्ठानिबन्धनत्वात् जीवित वितनुयाद् येन नीलमिदं पीतमिदम् इति सिद्ध्येत्। स च नीलाद्युपरागेण नियतरूपतामवलम्बमानः प्रमाणशब्दव्यपदेश्यां भवेत्। न चास्य स्वात्मसिद्धिं प्रति अन्यदपेक्षणीयं—प्रकाशरूपत्वात्, प्रकाशस्य च स्वपरप्रकाशकत्वात्, तथा-भूतोऽप्यसौ प्रकाशो विमर्शरूपतां विना नार्थस्य आत्मनो वा प्रकाशरूपतायां प्रतिष्ठास्पदं स्यात्, नहि प्रकाश इत्येवासौ स्वपरात्मनोः प्रतिष्ठापको भवेत्, एवं हि नीलमपि नीलम्

यहाँ वस्तु मात्र में चाहे वह नील हों, पीत हों, प्रकाश की अपेक्षा से रहित उनके अपने स्वरूप में अथवा उनमें परस्पर भी कोई विशेष नहीं। स्वात्म स्थिति में नील वस्तु नील नहीं और पीत भी पीत नहीं। यदि स्वात्म दशा में नीला पीला हो जाय अथवा पीला ही नीला हो जाय, तो एक विरोध स्थिति तो उत्पन्न हो ही सकती है।

सोचना यह है कि जिस प्रकार या जैसा जो प्रकाशित होता है, स्वात्म दशा में भी वह वैसा ही परिनिष्ठित रहता है। इस प्रकार नीला, पीला नहीं हो सकता और पीला नीला। यदि यह हो तो भी वस्तुओं की स्वात्म दशा में कोई विशेष बात नहीं हो सकती, वरन् इतना ही कि यह प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार प्रकाश ही इनका वास्तविक रूप है। वही उनके नियत निर्धारित स्वरूप की प्रतिष्ठा का निबन्धन भी करता है। उनको जीवन देता है। इसी कारण नील द्रव्य नील रहता है और पीला पीला। यह बात तभी सिद्ध हो सकती है। वह द्रव्य नीलेपन और पीलेपन के आवरण से गृहीत होकर एक निश्चित आकार का आश्रय प्राप्त कर स्वयं प्रमाण रूप से जाना सुना जाता है।

उसकी स्वात्मरूपता की सिद्धि के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वह स्वयं प्रकाश रूप है। प्रकाश अपना और दूसरे का भी प्रकाशक होता है। ऐसा होने पर भी यह प्रकाश विमर्श के विना न तो स्वयं का न हो पर का भी प्रकाशक होने को प्रतिष्ठा का अधिकार पा सकता है। चूंकि वह प्रकाश है। इसलिये स्व और पर का प्रतिष्ठापक नहीं बन सकता। अन्यथा

इत्येव कृत्वा तथा स्यात्। तस्मात्स्वपरप्रकाशतासिद्धौ तस्यापि अहंपरामर्शात्मा जीवितभूतः प्रकाशोऽभ्युपगमनीयो-येन सर्वं सिद्ध्येत्। यदुक्तं

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।'

इति। स एव च परप्रकाशात्मा परमेश्वरः शिव इत्युक्तं 'तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः' इति ॥ ५५ ॥

एवमादिसिद्धत्वादस्य न केवलं साधकं प्रमाणमकिंचित्करम्, यावद्बाधकमपि इत्याह

सर्वापह्नवहेवाक-धर्माप्येवं हि वर्तते।
ज्ञानमात्मार्थमित्येतन्नेति मां प्रति भासते ॥ ५६ ॥

नील पदार्थ भी 'मैं नील नहीं हूँ'—यह कहकर ही अनील हो सकता है। इसलिये अपनी प्रकाशता और दूसरों की प्रकाशमानता की सिद्धि के लिये प्रकाश को भी अहमात्मक परामर्श रूप जीवनात्मक स्पन्दशीलता के चमत्कार का अभ्युपगम करना ही होगा। उसी से सबकी सिद्धि सम्भव है। कहा गया है—

"प्रकाश की आत्म विश्रान्ति ही अहंभाव रूप से उक्त है"

वही पर प्रकाश रूप परमेश्वर शिव है। इसीलिये यह भी कहा गया है कि उन नील पीत आदि पदार्थों का भी प्राणभूत वही परमेश्वर शिव है ॥५५॥

इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि प्रकाश आदि सिद्ध है। इसके सम्बन्ध में साधक प्रमाण तो व्यर्थ हैं ही, बाधक भी व्यर्थ ही हैं। इसीलिये कहते हैं—

सर्वशून्यवादी बौद्ध होता है। अपह्नव गोपन अर्थ में प्रयुक्त होता है। अपह्नव को यदि अभाव माना जायगा तो वह भी शून्यता के ही सदृश होगा। पर शैव शास्त्र में शिव स्वतन्त्र शक्ति से स्वरूप गोपन कर जीव बनता है। यहाँ अभाव है भी और नहीं भी है। हेवाक शब्द भी श्लिष्ट है। खेल, आग्रह और शिवत्व ये तीन अर्थ इसके हैं। खेल अर्थ में सर्वापह्नव का अर्थ आँखमिचौनी, स्वरूप गोपन होगा। यही हेवाक है। क्रीड़ा है। आग्रह अर्थ में स्वरूप गोपन में उसे आनन्द आता है और उसी गोपन क्रिया का वह आग्रही है। शिवत्व अर्थ में ह्=हार्धकला, ए = योनि, वाक्=वाणी का मूल। तीनों का समस्त शब्द हेवाक। शिव का यह विश्वमयत्व है।

'सर्वेषां' ज्ञातृज्ञानज्ञेयानाम् 'अपह्नवो' निराकरणं तत 'हेवाक' एव 'धर्मः' स्वभावो यस्यासौ बौद्धः। तत्र त्रयाभाववादिनो माध्यमिकाः। ज्ञातृज्ञेयाभाववादिनो योगाचाराः। ज्ञात्रभाववादिनो वैभाषिकाः। सोऽपि 'ह्येवं ज्ञानमात्मार्थम्' इत्येतद् मां संवेदनस्वभावत्वाद् विचारयितारं प्रति नेति भासते– नास्ति इति प्रतीतिरूपो वर्तते अवतिष्ठते इत्यर्थः, तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावाक्षिप्तः सिद्धः। नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात्, स च स्वतःसिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव ॥ ५६ ॥

माध्यमिक बौद्ध ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों का अभाव मानता है। यह सर्वशून्यवादी है। यत् सत् तत् क्षणिकम् इनका सिद्धान्त है। ये अर्धजरतीय न्याय नहीं मानते।

योगाचारी विज्ञानवादी हैं। ज्ञाता—ज्ञेय दो का ही अभाव मानते हैं। ज्ञाता या स्वयं वेदन को स्वीकार करते हैं। शून्य की प्रतीति देने वाली जानकारी (ज्ञान) ही बौद्ध न्याय का आधार है। वैभाषिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी हैं। 'समुदय' इनकी मान्यता का आधार है। ज्ञानम् आत्मार्थम् का यही अर्थ है कि ज्ञान स्वयम् अपने स्वभाव के अनुसार होता है। 'मां प्रति भासते इति न, इस विग्रह के अनुसार ज्ञान स्वयं भासित है। इस प्रकार के उक्त विमर्श में अभाववाद और सद्भाववाद का अन्तर स्पष्टतया स्फुरित है।

हेवाक बौद्ध तन्त्र का एक पारिभाषिक शब्द भी है। इसके अनुसार शून्यता ही धर्म रूप से मान्य है। उसमें सर्व का अपह्नव निहित है।

बौद्ध मतवाद की दृष्टि से राग आदि ज्ञान की परम्परा वासना मानी जाती है। इस वासना के नष्ट हो जाने से जो स्थिति प्राप्त होती है, वही यहाँ मुक्ति है। इस प्रकार होने वाला ज्ञान स्वभाव वश होता है। 'मैं' रूप जो संवेदन करने वाला प्रमाता होता है, उसके प्रति वह प्रतिभासित नहीं होता, पर 'वह नहीं है' इस प्रतीति रूपता में तो वह होता है।

प्रसङ्गतः यह स्पष्ट है कि बौद्ध मतानुसार आत्मा का निराकरण हुआ। पर संवेदन रूपा जो अभावात्मक प्रतीति है वह क्या है? वह तो प्रकाश रूपा है और वही प्रकाशात्मक शिव है। जहाँ निराकरण नहीं करते वहाँ साधक प्रमाण होते हैं। जैसे वे शिव के प्रमाण रूप में व्यर्थ सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार चारों बौद्धमतवादों की दृष्टि में प्रमुख निराकरणकारी बाधक प्रमाण भी व्यर्थ ही हैं।

अतश्च तत्र व्यर्थमेव बौद्धस्यापि प्रमाणस्य परिकल्पनम् इत्याह

अपह्नुतौ साधने वा वस्तूनामाद्यमीदृशम् ।

यत्तत्र के प्रमाणानामुपपत्त्युपयोगिते ।। ५७ ।।

'वस्तूनां' ज्ञातृज्ञानज्ञेयात्मनाम् 'आद्यम्' आद्यसिद्धत्वात् 'ईदृशं' परप्रमातृरूपं 'तत्र' इति आदिसिद्धे प्रमातरि। प्रमेयं खलु प्रमिण्वत्प्रमाणमुच्यते, प्रमेयं च विभिन्नप्रकाशाधीनसिद्धिकमिदन्ताविमृश्यं च भवति। न चैवंरूपत्वं प्रमातुर्येन प्रमाणपरिच्छेद्यः स्यात्, स हि अर्थपरिच्छेदादौ प्रवृत्तः स्वप्रकाशरूपत्वान्न प्रकाशाद्भिन्नो, नापीदन्ताविमृश्यः-अहंप्रत्यवमर्शमयत्वात्, स च यदि प्रमाणप्रमेयः स्यात्, तत्रापि प्रमितिक्रियायां प्रमात्रा अपरेण भाव्यम्, तत्राप्यन्येन इत्यनवस्थानं स्यात्, तस्मान्नात्र प्रमाणस्य प्रवृत्तौ काचिदुपपत्तिः।

इससे दोनों अवस्थाओं में साधक साधयिता अथवा बाधक साधयिता रहेंगे ही। तभी अर्थों की साध्यता सम्भव है और यह साध्यता स्वतः सिद्ध प्रकाशात्मा परमेश्वर शिव ही है ॥५६॥

इसकी सिद्धि के लिये बौद्ध प्रमाण की परिकल्पना व्यर्थ ही है। इसलिये कहते हैं—

चाहे अपह्नुति हो या साधन हो, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप वस्तुओं का आदि (अस्तित्व) ऐसा ही (परप्रमाता रूप ही) है कि उसमें (यह देखना पड़ता है कि) प्रमाणों की उपपत्ति क्या है और उपयोगिता क्या है ?

वस्तु तो तीन प्रकार के ही हैं। १—ज्ञाता, २—ज्ञेय और ३—ज्ञान। इनका आद्य रूप क्या था ? सृष्टि के आदि में केवल पर प्रमाता ही उल्लसित था। इसलिये समस्त वस्तुओं का आदि मूल वही है यह आद्यसिद्ध है। ऐसी स्थिति में अर्थात् आदि सिद्ध पर प्रमाता की स्थिति में उसके साधन के लिये प्रमाण की बात तो निरर्थक ही होगी।

प्रमेय को प्रमाणित करने वाला ही प्रमाण होता है। सारे प्रमेय भी अनन्त हैं और उनकी सिद्धि प्रकाश के अधीन ही होती है। प्रकाश से ही वे प्रकाशमान हो सकते हैं अन्यथा नहीं। समस्त प्रमेयों का विमर्श इदमात्मक होता है।

पर प्रमाता किसी अवस्था में भी प्रमाण के द्वारा परिच्छेद्य नहीं होता। पदार्थ पदार्थ के पार्थक्य के कारण वहाँ तो अवच्छेद या परिच्छेद होता है; क्योंकि अलगाव ही परिच्छेद है। प्रमाणों से प्रमेय परिच्छेद्य होते हैं, पर एकमात्र प्रमाता में यह असम्भव है। संविद् स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण वह अनन्त

यस्तु भावनोपदेशादौ 'सकृद्विभातोऽयमात्मा प्रमाता' इत्यादिरिदन्तया व्यवहारः स न वास्तवः-तत्र तस्य साक्षादप्रतीतेः, अहन्ताव्यवधानेन हि तत्रासौ प्रतीयते इत्यास्ताम्, एतद्धि पदे पदे वितनिष्यते। प्रमाणानुपयोगस्त्वादिसिद्धत्वात् समनन्तरमेव दर्शितः, इति न पुनर्वितानितः ॥ ५७ ॥

न केवलमत्र युक्तिरेवास्ति यावदागमोऽपि इत्याह

कामिके तत एवोक्तं हेतुवादविर्वाजतम्।
तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ॥ ५८ ॥

अर्थों में, सर्व के सर्वात्मक अनन्त अनन्त प्रमेयोल्लास में प्रवृत्त रहना है। स्व-प्रकाश रूप होने से प्रकाश से वह भिन्न हो ही नहीं सकता। न वह इदन्ता विमर्श की परिधि में ही आता है; क्योंकि उसका स्वभाव ही अहंप्रत्यवमर्शात्मक होता है।

यदि उसे प्रमाणों से प्रमेय कोई मानेगा ता उसे यह भी सोचना होगा कि प्रमिति की क्रिया तो प्रमाता में होती है। यहाँ कौन होगा जिसमें प्रमिति क्रिया का प्रकल्पन किया जाय? इस प्रकार अनन्त प्रमाता मानने पड़ेंगे और एक अनवस्था का दोष भी आ खड़ा होगा। इसलिए यहाँ किसी अवस्था में प्रमाण की प्रवृत्ति—या उपपत्ति नहीं हो सकती।

भावना के कारण या किसी के उपदेश के आधार पर यदि किसी साधक को ऐसा अनुभव हो कि 'एक बार यह आत्मा मुझे अवभासित हुआ है' और वही प्रमाता है तो उसका यह अनुभव भी इदमात्मक हो माना जायेगा। इसलिये यह अवास्तविक अनुभूति मानी जायेगी; क्योंकि उसकी साक्षात् प्रतीति वह नहीं होती। इस प्रकार की अनुभूतियों के समय अहन्ता का व्यवधान स्वाभाविक है। इस समय जो भी अनुभव होगा वह अवास्तविक हो होगा। यदि उसे प्रतीति हुई और उस पर पूर्वपक्ष का बल है तो उसे यह भी सोचना पड़ेगा कि आत्मा के आनन्त्य के भवजाल में वह फँस कर ही न रह जाय?

प्रमाण की अनुपयोगिता तो आदि सिद्ध ही है। यह तथ्य तो पहले ही व्यक्त किया जा चुका है। इसलिये इसके अधिक विस्तार की अत्र आवश्यकता नहीं ॥५७॥

यह केवल युक्तिसिद्ध तर्क नहीं अपितु आगम भी इसकी पुष्टि करते हैं। वही श्लोक में व्यक्त है—

कामिक तन्त्र में भी यही कहा गया है कि उस पर प्रमाता के विषय में प्रमाणों की उपपत्ति और उपयोगिता दोनों व्यर्थ हैं। साथ ही हेतुवाद अर्थात्

परस्य तदपेक्षत्वात्स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ।

तत इति तत्र प्रमाणानामुपपत्त्युपयोगयोरभावात्, हेतोः अनुमानस्य वादेन विवर्जितम् । अत एवाह–तस्य इत्यादि, परस्य प्रमाणादेः, अत इति परानपेक्षत्वलक्षणाद्धेतोः ॥ ५८ ॥

एवमस्य परानपेक्षत्वाद्यथा न प्रमाणान्यवच्छेदकानि, तथा प्रमेयाण्यपि इत्याह

अनपेक्षस्य वशिनो देशकालाकृतिक्रमाः ॥ ५९ ॥
नियता नेति स विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः शिवः ।

वशिनः स्वतन्त्रस्य इति विशेषणद्वारेण हेतुः । अत्रापीति परानपेक्षस्य, प्रकाशात्मनः शिवस्य हि देशकालाकारैर्भेदाभेदविकल्पोपहतत्वादवच्छेदाधानमशक्यम् इत्युक्तं नियता न इति । अत एव च स एवंविधः इत्याह–विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः इति । विभुः इति देशावच्छेदशून्यत्वात् । नित्य इति अतीतादिकालावच्छेदविगलनात् । विश्वाकृतिः इति चिदचिदाद्याकारवैचित्र्योल्लासकत्वात् ॥ ५९ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति

विभुत्वात्सर्वगो नित्यभावादाद्यन्तवर्जितः ॥ ६० ॥

अनुमान इत्यादि से भी वह रहित है। वह देवाधिदेव स्वतन्त्र निरपेक्ष तत्त्व है। प्रमाण को ही उसकी अपेक्षा हो सकती है, उसको प्रमाण की नहीं। अतएव वह परमेश्वरतत्त्व स्वतन्त्र रूप से ही उल्लसित है।

श्लोक में ततः का अर्थ है—प्रमाणों की उपपत्ति और उपयोगिता के अभाव का कारण। वह हेतुवाद से विवर्जित है। अतः परानपेक्षता के कारण वह स्वातन्त्र्य सम्पन्न परमेश्वर ही सर्वत्र अवस्थित है ॥५८॥

इस प्रकार उसकी परानपेक्षता के कारण जैसे अवच्छेदक प्रमाण व्यर्थ हैं, उसी तरह प्रमेयों के आनन्त्य भी उसके अवच्छेदक नहीं हो सकते। इसलिये कहते हैं—

शिव को किसी की अपेक्षा नहीं। वह स्ववशी स्वतन्त्र है। उसमें देश, काल, आकार के क्रम नियत नहीं हैं। वह विभु है, विश्वाकृति है।

वह शिव वशी है। वशी स्वतन्त्र का विशेषण शब्द है। स्वातन्त्र्य उसका गुण है। परानपेक्षता भी उसकी स्वतन्त्रता ही है। प्रकाश रूप होने के कारण,

विश्वाकृतित्वाच्चिदचित्तद्वैचित्र्यावभासकः ॥ ६१ ॥

अत एवास्यागमेषु नानारूपत्वमुच्यते इत्याह

ततोऽस्य बहुरूपत्वमुक्तं दीक्षोत्तरादिके ॥ ६२ ॥

तदेवाह

भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च ।

बिन्दुनादादिसंभिन्नः षड्विधः शिव उच्यते ॥ ६३ ॥

भुवनं तत्तद्भुवनाधिष्ठेयं भोगाधाररूपम् । विग्रहशब्देन उपचाराद्विग्रहिणो लक्ष्यन्ते । तेषां च रुद्रक्षेत्रज्ञादिनानारूपत्वेऽपि तत्तत्सिद्धिदानसामर्थ्यादिह रुद्रादीनि कारणान्येव । ज्योतिः बिन्दुः

'कदम्बगोलकाकारः स्फुरत्तारकसन्निभः ।'

इत्यादिनास्य ज्योतीरूपत्वेनाभिधानात् । खं शून्यं–शक्ति-व्यापिनी-समनालक्षणम् । शब्दो नादात्मा । मन्त्रः अकारोकारमकारात्मा । अस्य विशेषणं बिन्दुनादादिसंभिन्न इति ।

शिव में देश, काल, आकार रूप भेदवादिता रूप विकल्पों के न रहने के कारण किसी प्रकार की पार्थक्य प्रथा का आधान नहीं किया जा सकता । इसीलिये नियतत्व का निषेध करते हैं । सर्वशक्ति और ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण वह विभु है । नित्य है । देशावच्छेद शून्य है । भूत, अतीत आदि विभाजक काल की कलाओं से वह अकलित है । चिद् और अचित्, चेतन और जड़ आदि आकारों के वैचित्र्य से शोभित उल्लसित है । वही इस वैचित्र्य का उल्लासक भी है । इससे देशावच्छेद, कालावच्छेद और आकारावच्छेद शून्यता का समर्थन हो जाता है ॥५९॥

इसी तथ्य का विस्तार कर रहे हैं--

विभु है । इसलिये सर्वव्यापक है । नित्य है । इसलिये अनादि और अनन्त है । विश्वाकृति है । अतएव चिद् रूप, अचिद्रप भी है । इनकी समस्त विचित्रताओं का अवभासन भो वही करता है । इसी अर्थ का अवबोधक यह पद्य भी है —

स्वात्म फलक पर स्वात्म तूलिका से रचता नव चित्र निराला ।

नित्य सर्वविभु सूर्यों को भी सदा प्रकाशित करने वाला ॥६०-६१॥

इसीलिये आगमों में इसकी अनेक रूपता वर्णित है—वही कहते हैं—

'बिन्दुर्नादस्तथा व्योम मन्त्रो भुवनविग्रहौ ।
षड्वस्त्वात्मा शिवो ध्येयः फलभेदेन साधकैः ॥' इति । तथा
'उन्मना तु परो भावः स्थूलस्तस्यापरो मतः ।
पुनः शून्यं च व्योमात्मा संस्पर्शं च ततः परम् ॥
शब्दो ज्योतिस्तथा मन्त्राः कारणा भुवनानि च ।' इति । तथा
व्योम-विग्रह-बिन्द्वर्ण-भुवनाध्वविभेदतः ।
लक्ष्यभेदः स्मृतः षोढा ....॥' इत्यादि ॥ ६१-६३ ॥

भुवन, विग्रह, ज्योति, आकाश, शब्द और मन्त्र भेद से शिव छः प्रकार के माने जाते हैं। विन्दु और नाद से संवलित होना मन्त्र के लिये आवश्यक है।

भुवन भोग के आधार होते हैं। निवृत्ति कला में १०८, प्रतिष्ठा कला में ५६, विद्या कला में २७, शान्ता कला में १८ और शान्त्यतीता कला में मात्र शिव तत्त्व। यह अध्वा का एक अङ्ग है। भुवनाध्वा में रैभव, ब्राह्म, देवयोनि, बुद्धि, राक्षस, औम, गान्धर्व और सुचारु आदि अनन्त भुवनों का उल्लेख है। स्वच्छन्द तन्त्र १०।६८४-९७४ में कहा है कि अनन्त भुवनों का समूह भी शक्ति तत्त्व में शाश्वत वर्त्तमान है।

विग्रह का अर्थ शरीर होता है। रुद्र और क्षेत्रज्ञ आदि सिद्धिप्रद और कारण रूप भी हैं। इसे शास्त्र को भाषा में मूर्त्ति कहते हैं। स्वच्छन्द तन्त्र १०।९७६ में पञ्चाष्टक[1] संख्या का उल्लेख है। विग्रह से विग्रही का भी ग्रहण होता है। ज्योतिष् तत्त्व भी अनन्त हैं। मूल ज्योति तो विन्दु ही है। कहा गया है—कदम्बपुष्प के गोलक सदृश तथा नवोदित तारा के सदृश विन्दु होता है। इसीलिये इसे ज्योति शब्द से व्यक्त किया है।

आकाश भी शिव स्वरूप ही है। याग की दृष्टि से शक्ति-व्यापिनी और समना के सहस्रार क्षेत्र में यह अवस्थित है। शब्द नाद रूप ही है। मन्त्र मूलतः अ+ऊ+म् का संघट्ट है।

इस प्रकार शिव छः प्रकार के हैं। विन्दु और नाद से शाश्वत समन्वय रहता है। यह विन्दुनादादि संभिन्न शब्द मन्त्र शब्द का विशेषण है। मन्त्र हमेशा विन्दु नाद समन्वित है। यह शब्द शिव का भी विशेषण हो सकता है। विन्दु और नाद दोनों का अलग से भी कथन होता है। जैसे—"विन्दु, नाद, व्योम, मन्त्र, भुवन और विग्रह इन छः वस्तुओं में रूपायित शिव फल भेदानुसार साधकों द्वारा ध्येय हैं।"

---

१. मालिनीवि० तन्त्रे—५।१५।

अत्र च

'यो यत्राभिलषेद्भोगान्स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाक्..॥'

इति न्यायेन यस्य यत्र निष्ठा तस्य तत्प्राप्तिर्भवति इत्याह

यो यदात्मकतानिष्ठस्तद्भावं स प्रपद्यते ।
व्योमादिशब्दविज्ञानात्परो मोक्षो न संशयः ॥ ६४ ॥

यः साधको, यस्य भुवनादेः, आत्मकतायां तद्रूपतायां निष्ठितः, स तद्भावं—तत्तद्भुवनादिरूपत्वेन नियतां सिद्धिमेति इत्यर्थः । तदुक्तं

'भुवनं चिन्तयेद्यस्तु वक्ष्यमाणकरूपकम् ।
भुवनेशत्वमाप्नोति ....॥'

इस उद्धरण में मूल श्लोक में पठित ज्योति और शब्द का ग्रहण नहीं है। ज्योति के लिये 'विन्दु' और शब्द के लिये 'नाद' का प्रयोग किया गया है। तथा—

"उन्मना पर (सर्वातिशायी) भाव है। अपर भाव स्थूल भाव है। फिर शून्य तो व्योम रूप ही है। इसके बाद संस्पर्श (व्योम की अपेक्षा स्थूल) है। फिर शब्द, ज्योति और मन्त्र, आकार और भुवन[1] यह सभी शिव रूप ही हैं।" तथा—

व्योम, विग्रह, विन्दु, वर्ण, भुवनाध्वा (और मन्त्र) यह ६ प्रकार का लक्ष्य रूप शिव का भेद (प्रतीत होता) है। इत्यादि ॥६२-६३॥

"जो साधक जहाँ जिस भोग का अभिलाष करता है, वहीं नियोजित होता है और सिद्धि प्राप्त करता है.........॥"

इस आप्तवचन के अनुसार जिसकी जहाँ निष्ठा होती है, उसको उसकी प्राप्ति होती ही है। इसलिये कहते हैं—

जो साधक जिस भुवन आदि ६ भेदों में से किसी की प्राप्ति में निष्ठा रखता है, वह उन उन रूपों की सिद्धि अवश्य प्राप्त करता है। आकाश आदि शब्द, विज्ञान परविमर्शरूप स्पन्दानुभूति हो—या उनका अनुभव हो, उससे पर अर्थात् शिवैक्य रूप मुक्ति की प्राप्ति में किसी प्रकार का संशय नहीं।

---

१. मा० वि० तन्त्रे—५।३२

भुवनं चिन्तयेद्यस्तु इत्याद्युपक्रम्य

ब्रह्मादिकारणानां तु विग्रहं यः सदा स्मरेत् ।
पूर्वोक्तलक्षणं यच्च तन्मयत्वमवाप्नुयात् ॥
मन्त्रैश्च मन्त्रसिद्धिस्तु जपहोमार्चनाद्भवेत् ।
पूर्वोक्तरूपकध्यानात्सिद्धयत्यत्र न संशयः ॥
ज्योतिर्ध्यानात्तु योगीन्द्रो योगसिद्धिमवाप्नुयात् ।
तन्मयत्वं तदाप्नोति योगिनामधिपो भवेत् ॥
शून्यध्यानात्तु शून्यात्मा व्यापी सर्वमतिर्भवेत् ।
समना ध्यानयोगेन योगी सर्वज्ञतां व्रजेत् ॥

इति । येषां षण्णामपि शिवात्मकत्वात् ।

'..**शिवं ध्यात्वा तु तन्मयः ।'**

इत्याद्युक्तेः शिवैकमयतयैकैकानुप्रवेशेऽपि शिवात्मकस्वरूपलाभो भवेद् इत्याह **'व्योमादि शब्दविज्ञानात्'** इत्यादि । व्योमादीनाम् एषां षण्णां शब्दानां शब्दनं शब्दः–परो विमर्शः, तदात्मकतया यद् विज्ञानम्–अनुभवः, तस्मात् परो विमर्शैकसारशिवैकात्म्यापत्तिलक्षो मोक्षो निःसंशयं भवेद् इति **वाक्यार्थः ।**

'यः' शब्द साधक के लिये सर्वनाम है । यदात्मकता अर्थात् जिस भुवन आदि रूप में निष्ठित है—आस्थावान् है, वह उस भाव को अर्थात् भुवन आदि रूप को नियत रूप से पा लेता है । इसीलिये कहा गया है—

"जो साधक भुवन का चिन्तन करता है (जो वक्ष्यमाण भी है) वह भुवनेशत्व की प्राप्ति करता है ।" यह उपक्रम करके—

"ब्रह्मा आदि देवों के कारणरूप विग्रह का जो सदा स्मरण करता है, अवश्य ही वह तन्मय होने के कारण उसे पा लेता है । मन्त्रों से मन्त्र की सिद्धि होती है । इसमें जप, होम और अर्चन आवश्यक है । पूर्वोक्त रूप से ध्यान करने पर ध्येय की अवश्य प्राप्ति होती है । ज्योति के ध्यान से योगी योग की सिद्धि प्राप्त करता है और तादात्म्य के द्वारा योगियों के चक्र का चूडामणि बन जाता है । शून्य ध्यान से शून्य रूप सर्वव्यापक और सर्वत्र गतित्व की शक्ति पा लेता है । समना के ध्यान से सर्वज्ञ बन जाता है ।

उक्त सभी छः रूप शिवात्मक हैं । इसलिये—

"............शिव का ध्यान करने पर तन्मय हो जाता है ॥"

इस प्रकार शिवमयता के कारण एक एक रूपों में अनुप्रवेश होने पर भी शिवात्मक पर-रूप का लाभ भी मिलता रहेगा ।

व्योमादिषट्क इति पाठे तु व्योमादेः षट्कस्य विशिष्टादनवच्छिन्नाज्ज्ञानाद् इति व्याख्येयम् । न च अत्र भुवनादीनां क्रमो विवक्षित इतीह व्योमादि इति प्रयुक्तम् ॥ ६४ ॥

ननु यद्ययं विश्वाकृतिस्तत्कथमस्य षड्विधत्वमेवोक्तम् इत्याशङ्क्याह

विश्वाकृतित्वे देवस्य तदेतच्चोपलक्षणम् ।
अनवच्छिन्नतारूढावबच्छेदलयेऽस्य च ॥ ६५ ॥

उपलक्षणम् एव भवति, अनेनैव निखिलविश्वसंग्रहसिद्धेः। केवलमेतद्विश्वाकारतायामेवास्योपलक्षणं यावदन्यत्रापि इत्याह—अनवच्छिन्नतारूढौ इत्यादि। अवच्छेदलये इति अवच्छेदानां संकोचाधायिनां भुवनादीनां लये विश्वोत्तीर्णतायाम् इत्यर्थः ।

इसीलिये श्लोक की अर्धाली में कहते हैं—

'व्योमादिशब्दविज्ञानात्' अर्थात् व्योम आदि ६ रूपों का शब्दन अर्थात् विमर्श रूप से ध्वनन, अर्थात् शिवात्मक विमर्श के विज्ञान से (अनुभव से) पर विमर्श हो जिसका परमार्थ है, ऐसा जो शिवैक्य भाव, उसकी प्राप्ति हो जाती है । यह शिवैक्य भाव ही तो मोक्ष है । यह मोक्ष अवश्यंभावी है ।

कई पुस्तकों में 'व्योमादि शब्द' की जगह 'व्योमादिषट्क' पाठ है । इसके अनुसार विशिष्ट अनवच्छिन्न शाश्वत ज्ञान अर्थ में विज्ञान शब्द का प्रयोग है । इन छः शिव रूपों का जो क्रम श्लोक में है—वही क्रम साधना आदि में भी है—यह बात नहीं । यहाँ किसी क्रम की क्रमिकता का प्रश्न ही नहीं । इसीलिये अर्धाली में 'व्योम आदि' शब्द में पहले व्योम ही कथित है—भुवन नहीं ॥६४॥

प्रश्न है कि शिव तो विश्वमय है । विश्वाकृति शब्द (श्लोक ६१) का उसके लिये प्रयोग भी है । ऐसे शिव के लिये 'छः प्रकार का है ।' यह कथन क्यों ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

'छः प्रकार के शिव हैं' यह कथन तो विश्वाकार होने का उपलक्षण मात्र है । इससे उसके समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्ति का भाव संगृहीत हो जाता है । इस कथन से तो उसकी निरन्तरता भी उपलक्षित होती है । जितने भी अवच्छेदक वेद्य हैं, जो संकोच के प्रतीक हैं, उनके लय हो जाने से परमेश्वर की विश्वोत्तीर्णता हो जाती है । उस अर्थ का भी यह उपलक्षण है । आशय यह कि विश्वमयता में भी उसके स्वरूप में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है ।

विश्वमयत्वेऽप्यस्य स्वस्वरूपान्न प्रच्याव इत्याशयः। नन्वेवमुभयथापि अस्य नियतात्मकत्वावगमादवच्छेद एवोक्तो भवेद् इत्याशङ्क्योक्तम् अनवच्छिन्नता-रूढाविति। अस्य हि विश्वमयत्वे विश्वोत्तीर्णत्वादनवच्छिन्नतायामेव प्ररोहो भवेत्, एक एव हि स्वतन्त्रो बोधस्तथा तथा प्रस्फुरेद् इति ॥ ६५ ॥

ननु कथमेकदेव एकस्य विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णत्वं संगच्छते इत्या-शङ्काशान्त्यर्थमागमं संवादयति —

उक्तं च कामिके देवः सर्वाकृतिनिराकृतिः।
जलदर्पणवत्तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम् ॥ ६६ ॥

दर्पणाद्यन्तःप्रतिबिम्बितं घटादि यथा दर्पणादिव्यतिरेकेण प्रकाशमान-मपि दर्पणाद्यनतिरिक्तमेव, अन्यथा दर्पणघटयोरन्योन्यं वैविक्त्येन भानं स्यात् तथैव प्रकाशात्मना शिवेनापि स्थावरजङ्गमात्मकमिदं विश्वं स्वेच्छया

श्लोक में परमेश्वर की तीन अवस्थाओं का आकलन है। १–विश्वा-कृतित्व, २–अनवच्छिन्नता की रूढि और ३–अवच्छेद लय दशा। छः प्रकार के शिव के कथन से इन तीनों अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रश्न होता है कि आपने छः प्रकार की जो गणना की, उसमें नियतात्मकता की अनुभूति तो होती ही है। कभी वह भुवनात्मक, कभी विग्रहात्मक, कभी ज्योतीरूपात्मक आदि। इससे उसमें अवच्छेद भी प्रतीत होता है। इसका उत्तर स्पष्ट है। छः रूप के कथन से वह विश्वमय मालूम होता है, पर इससे कोई अन्तर नहीं आता। चूंकि वह विश्वोत्तीर्ण भी है। इसलिये इससे उसके शाश्वत निरवच्छिन्न रूपत्व की अनुभूति का ही अंकुर फूटता है। निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि एक ही स्वतन्त्र शैव बोध उन-उन रूपों में प्रस्फुरित होने के कारण वह प्रतिनियत रूपों वाला, पार्थक्य प्रथा से प्रथित तो लगता है, पर वास्तव में वह एक ही है ॥ ६५ ॥

क्या एक समय में ही शिव का विश्वमयत्व और विश्वोत्तीर्णत्व उचित है? इस आशङ्का के समाधान के लिये अन्य आगमिक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं –

कामिक तन्त्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि देवेश्वर शिव सर्वाकृति विश्व-मय और निराकृति विश्वोत्तीर्ण (उभय रूप में भी एक ही) हैं। शीशे में जल या घट की तरह (जल से अलग रहते हुए भी शीशे में प्रतिबिम्ब की तरह) उससे सारा चराचर जगत् व्याप्त है।

रूपातिरिक्तायमानत्वेन अवभासितं सद् व्याप्तं प्रकाशमानतान्यथानुपपत्त्या स्वस्वरूपानतिरेकेणैव क्रोडीकृतम्, अत एवायं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मय इत्युभयथापि न कश्चिद्दोषः। अत एवोक्तं सर्वाकृतिर्निराकृतिरिति। सर्वाकृतिः विश्वमयः, निराकृतिः विश्वोत्तीर्णः। आवृत्त्या तत्त्वेऽपि तदुत्तीर्ण इति च। तदेवमयमेक एव प्रकाशात्मा परमेश्वरः सर्वतो जृम्भते इतीश्वराद्वयमेव परमार्थतः ॥ ६६ ॥

ननु भावानां तदपेक्षया पृथक् प्रकाशानुपपत्तेर्मा नाम तदतिरेकेण सत्ताऽभूद् इति भावापेक्षया प्रकाशात्मक एक एवेश्वर इत्यास्तां तावदेतत्।

यत्पुनर्विभुत्वादि धर्मजातं तस्योक्तम्, तदपेक्षया धर्मधर्मिणोर्धर्माणां च परस्परभेदस्य अनपह्नवनीयत्वाद् योऽयं भेद उल्लसितः, स कथं वार्यते, येन एक एवेश्वर इत्यद्वयवादनिर्वाहः स्याद् इत्याशङ्क्याह

न चास्य विभुताद्योऽयं धर्मोऽन्योन्यं विभिद्यते।

न च विभुताद्योऽयम् अस्य स्वरूपातिरिक्तस्तदतिशायकः कश्चिद् धर्म अपि तु स्वरूपमेवैतत्। विभुत्वं हि व्यापकत्वमुच्यते, तच्च स्वव्यतिरिक्ते व्याप्ये सति स्यात्। न च परं प्रकाशमपेक्ष्य दिगादि किंचित्संभवेद् इति किं नाम व्याप्नुयात्।

दर्पण अलग वस्तु है। घड़ा अलग वस्तु है। दर्पण में भी घड़ा प्रतिबिम्बित है। शीशे में भासित घड़ा और अलग रखा घड़ा दोनों में क्या अन्तर है? शीशे में भासित घड़ा शीशे के अतिरिक्त कुछ नहीं है। दर्पण और घड़े का अलग भान नहीं है। अन्तर मानने पर पृथक् भान होना चाहिये, जो नहीं होता।

उसी तरह प्रकाशात्मक शिव भी स्थावर जङ्गमात्मक इस विश्व को स्वेच्छा से अपने रूप के अतिरिक्त लगने वाले की तरह प्रतिभासित करते हैं। पर वस्तुतः शिव के स्व स्वरूप के अतिरिक्त वह नहीं है। इसलिये शिव विश्वमय होते हुए भी विश्वोत्तीर्ण है और विश्वोत्तीर्ण होते हुए भी यह विश्वमय है। इन दोनों रूपों में उल्लसित शिव के स्वरूप में किसी प्रकार के विकार की सम्भावना ही नहीं है।

श्लोक में इसीलिये लिखा है–'सर्वाकृति विश्वमय और निराकृति विश्वोत्तीर्ण (वह दोनों है)।' आवृत्ति से तदात्मक भी और तदुत्तीर्ण भी वही है। इस प्रकार वह परमेश्वर एक रहते हुए भी प्रकाशरूप से सर्वत्र उल्लसित है। उक्त विचार के अनुसार पारमार्थिक रूप से 'ईश्वराद्वयवाद' सिद्धान्त की ही प्रतिष्ठा यहाँ हो रही है ॥ ६६ ॥

नित्यत्वमपि नास्य धर्मः, तस्य कालत्रयानुगामिरूपत्वात्, अस्य चाकाल-कलितत्वात्। यदभिप्रायेणेव 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इत्याद्युक्तम्। एवं विश्वाकृतित्वमपि।

नहि एतदपेक्षया विश्वं नाम किंचिदस्ति, यदाकारत्वमप्यस्य स्यात्। एवं चैषां परप्रकाशापेक्षया कथंचिद्भेदायोगात्पारस्परिकोऽपि भेदो नास्ति, इत्युक्तं 'न चान्योन्यं विभिद्यते' इति।

ननु यद्येवं तत्कथमस्य विभुर्नित्यो विश्वाकृतिः इत्यादिधर्मभेद उक्त इत्याशङ्क्याह

एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते ॥ ६७ ॥
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः।

प्रश्न उपस्थित होता है कि भाव मात्र का उसकी अपेक्षा पृथक् प्रकाशन अनुपपन्न माना जाता है। इससे उसके अतिरिक्त उस वस्तु की सत्ता हो ही नहीं सकती। भाव की अपेक्षा से एक ही प्रकाशात्मक परमेश्वर है—यह तथ्य मान्य है। पर उसको तो विभु भी कहा गया है। अन्य विशेषणविशिष्ट भी वह है ही। यहाँ धर्म और धर्मी भाव है। धर्मी में परस्पर भेद होता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यहाँ धर्मगत भेदवाद का उल्लास तो हो ही रहा है। इसका निवारण कैसे किया जाय, ताकि एक ही ईश्वर है—इस अद्वयवाद की प्रतिष्ठा की जा सके ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं।

परमेश्वर की विभुता उसका आद्य धर्म है। यह धर्म धर्मी से पृथक् नहीं है। अतः (परमेश्वर के अन्य धर्म) एक दूसरे से अलग नहीं है।

परमेश्वर की विभुता उसके स्वरूप के अतिरिक्त नहीं। या उसमें अतिशयत्व उत्पन्न करने वाला कोई अलग गुण नहीं अपितु यह तो उसका स्वरूप ही है। विभु का अर्थ सर्वव्यापक होता है। व्याप्य-व्यापक भाव तिल और तैल में है। तिल व्याप्य है। तैल व्यापक है। यहाँ तैल के अतिरिक्त तिल व्याप्य है। दिक् को व्याप्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि परम प्रकाश की अपेक्षा दिक् का कोई अस्तित्व ही नहीं। फिर वह कहाँ व्याप्त होगा। प्रकाश तो स्वयं सर्वत्र भरा हुआ है।

अस्य खलु एक एवासौ अहंप्रत्ययवमर्शाख्यो हि स्वभावभूतो धर्मोऽस्ति, यः सर्वं विभुत्वादिधर्मजातमाक्षिपेत्। अत्रायमर्थः—अयं हि नाम प्रकाशस्य अहंप्रत्यवमर्श उच्यते यदयं स्वस्य परस्य वा प्रकाशने परं नापेक्षते इति। अत एवास्य स्वातन्त्र्यरूपं तत्तद्देशकालाद्यवभाससहस्रोल्लासनसामर्थ्यं स्यात्, येनास्य स्वसमुल्लासितोऽपि संकुचितः प्रमातृवर्गः स्वापेक्षया व्यापकत्वनित्यत्वादि व्यवहरेत्, वस्तुतः पुनरप्यहंप्रत्यवमर्शाख्या स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्यास्ति येन
'स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।' (प्र०१अ०५ आ० १३ श्लो०)
इत्याद्युक्तम्। अत एवाह तेन इत्यादि॥ ६७॥

नित्यता भी परमेश्वर का धर्म नहीं है। परमेश्वर प्रकाश रूप से शाश्वत सर्वत्र अनुगमन कर रहा है। और अकाल कलित है। काल से अकलित है। इसी अभिप्राय से कहा गया था—'सकृत् विभात यह आत्मा इत्यादि।' इसी प्रकार उसका विश्वाकार होना भी है। उसकी अपेक्षा विश्व नाम की कोई चीज है ही नहीं, जिसका कोई अलग आकार भी हो।

इस प्रकार विभुता, नित्यता, सर्वाकाररूपता आदि शब्दों से कथित अर्थ के पर-प्रकाश की अपेक्षा किसी प्रकार के भेद की कल्पना भी नहीं की जा सकती। न हो इन धर्मों में कोई पारस्परिक भेद ही कल्पित है। इसीलिये कहा गया है कि ये परस्पर भी अभिन्न हैं।

प्रश्न है कि यदि ऐसी बात है तो फिर अलग-अलग शब्दों से उसके धर्म भेद की बात ही क्यों? इस पर कहते हैं—

परमेश्वर शिव का एक ही स्वभावभूत धर्म अहंप्रत्यवमर्श है। यह धर्म सभी अनन्त धर्मों का आक्षेप कर लेता है। इससे यह स्पष्ट है कि वह स्वातन्त्र्य शक्ति से युक्त है। यही इसकी तात्त्विक विधि या आञ्जस विधि है।

परम शिव का एक ही अहंप्रत्यवमर्श रूप धर्म है। यह सभी विभुत्व आदि धर्मों का आक्षेप कर लेता है। तात्पर्य यह कि प्रकाश का यही स्वभावभूत धर्म है। वह अहं का शाश्वत् प्रत्यवमर्श करता है। यह अपने या दूसरे अर्थों के प्रकाशन में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता। इसका स्वातन्त्र्य ही पृथक्-पृथक् देश, काल आदि अनन्त-अनन्त अवभासों को उल्लसित करने की शक्ति से संवलित है। परिणामतः इससे ही समुल्लासित संकुचित प्रमाता वर्ग अपेक्षित व्यापकता, नित्यता आदि का व्यवहार करता है। वस्तुतः

ननु सर्वत्रैवास्य इच्छाद्यनन्तशक्तियोगित्वमुक्तमिति तत्कथमिहैकयैव स्वातन्त्र्याख्यया शक्त्या योग उच्यते ? इत्याशङ्क्याह

बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ॥ ६८ ॥

स्वातन्त्र्यशक्तिरेव हि तत्तदेषणीयाद्युपाधिवशान्नानात्वं न व्यवह्रियते इति तच्छक्तियोगितेवास्यानन्तशक्तित्वम्। यदुक्तम्

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥
एकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'एवमेषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनन्तताम् ।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ॥' इति ॥ ६८ ॥

अहंप्रत्यवमर्शात्मक स्वातन्त्र्य ही इसकी शक्ति है, जिसके आधार पर—

"परमात्मा का स्वातन्त्र्य ही उसका मुख्य ऐश्वर्य है।"

[प्र० १ अ० ५ आ० १३ श्लो०]

इत्यादि कहा गया है। वह स्वातन्त्र्य शक्ति से संवलित परमेश्वर स्वयं समुल्लसित रहता हुआ सर्व को भी उल्लसित करता है—यह आञ्जस अर्थात् तात्त्विक प्रक्रिया है। अञ्जसा शब्द से शीघ्रता और तात्त्विकता दोनों अर्थों का बोध होता है ॥ ६७ ॥

शिव के सम्बन्ध में इच्छा आदि अनन्त शक्तियों से वह समन्वित है—यह सभी आगमों में कहा गया है। तो यहाँ क्यों एक स्वातन्त्र्य शक्ति से ही उसका योग है—ऐसा उक्त है ? इसका समाधान करते हैं—

स्वातन्त्र्य शक्ति से युक्त होना ही उसकी अनन्त शक्तिमत्ता का द्योतक है।

क्योंकि परमेश्वर की स्वतन्त्रता रूपो शक्ति ही समस्त एषणीय ज्ञेय कार्यादि उपाधियों से अलंकृत होकर अनन्त प्रार्थक्य प्रथा से प्रथित और व्यवहृत होती है। इससे यह कहना उचित है कि उस स्वातन्त्र्य शक्ति का योग ही उसकी अनन्त शक्ति का चमत्कार है। कहा गया है—

'जगत् के विधाता की जो शाश्वत शक्ति कही जाती है, हे देवि ! उस सृष्टि के सर्जन करने की वह इच्छा शक्ति ही है। वह यद्यपि एक है फिर भी अनन्त रूप कैसे ग्रहण करती है ? तो यह सुनो।' इसी उपक्रम में आगे कहा है कि 'इस प्रकार यह दो रूपों वाली होकर भी अनन्त भेदों से भिन्न-भिन्न भी दीख पड़ती है। चिन्तामणि की तरह सर्वशक्तिमतो यह इच्छा शक्ति अर्थों की उपाधि के भेद के कारण इन रूपों में परिवर्तित होती रहती है' ॥ ६८ ॥

ननु एवमपीश्वराद्वयवादो न निर्व्यूढस्तदतिरिक्तायाः स्वातन्त्र्यशक्तेर-
प्यभिधानाद् इत्याशंक्याह

शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम् ।
तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने ॥ ६९ ॥

यतो भावस्य यस्य कस्यचन सतः पदार्थस्य स्वमेव रूपं फलभेदाद् भेदारोपेण शक्तिः इति प्रमातृभिः परिकल्प्यते, न त्वसौ वस्तुतः पदार्थान्तरं किंचित्, अतः शक्तिशक्तिमत्परिकल्पनेऽपि क्रियमाणे, स एव अद्वयमयो विभुः– न काचिदद्वयखण्डना इति यावत् । तदुक्तं

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः' इति ॥ ६९ ॥

नन्वेवमस्तु, यन्न शक्तिशक्तिमतोर्भेद इति, शक्तीनां पुनः परस्परं भेद एव भवति इति पुनः स दोषस्तदवस्थ एव इत्याशङ्क्याह

मातृक्लृप्ते हि देवस्य तत्र तत्र वपुष्यलम् ।
को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव ॥ ७० ॥

इस तरह भी ईश्वराद्वयवाद सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि उसके अतिरिक्त उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति का अस्तित्व तो मान ही रहे हैं। इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

पदार्थ का प्रमाता द्वारा कल्पित उसका अपना रूप ही शक्ति है। इसलिये शक्ति और शक्तिमान् की परिकल्पना के बावजूद शक्तिमान् की अद्वय स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

क्योंकि भाव में अर्थात् किसी पदार्थ में फल भेद से आरोपित भेद सदृश उसका अपना रूप ही शक्ति है। यह परिकल्पना प्रमाताओं द्वारा की जाती है। वस्तुतः यह कोई पृथक् पदार्थान्तर नहीं है। इसलिये शक्ति और शक्तिमान् की परिकल्पना के बाद भी यहाँ कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्वातन्त्र्य शक्ति संवलित वही आनन्दघन अद्वैत तत्त्व रूप विभु परमशिव अखण्डरूप से उल्लसित रहता है। यहाँ खण्डता को कोई स्थान ही नहीं प्राप्त है। कहा गया है—

"फलभेद से आरोपित भेदरूप से पदार्थात्मा ही शक्ति है" इति ॥६९॥

ठीक है कि शक्ति और शक्तिमान् का भेद नहीं है; किन्तु शक्तियों में तो परस्पर भेद होता ही है। इस प्रकार भेदवाद का दोष तो ज्यों का त्यों बना ही रह जाता है। इसका उत्तर दे रहे हैं—

यथा वह्नेः दाह-पाकादिफलभेदाद् दाहिका पाचिका च शक्तिर्भेदेन कल्पितापि, वस्तुतः शक्तिमदेकस्वभावत्वान्न परस्परस्य स्वरूपं भेत्तुमलम्। पृथक्सिद्धं हि वस्तु वस्त्वन्तरं भिनत्ति, नहि शक्तेः शक्तिमदतिरेकेण पृथक्सिद्धिरेवास्ति इति किं केन भेद्यम्, वह्नेरेव हि दाहादिसमर्थं स्वरूपं तथा परिकल्पितम्। एवं परमेश्वरस्य परिकल्पितेऽपि शक्तीनामानन्त्ये न कश्चिद्भेद इति न कदाचिदीश्वराद्वयवादक्षतिः ॥ ७० ॥

ननु एवं-परिकल्पितोऽपि शक्तीनां भेदो भासत एव इति कथं तदपह्नव इत्याशंक्याह

न चासौ परमार्थेन न किंचिद्भासनावृते ।
नह्यस्ति किंचित्तच्छक्तितद्वद्भेदोऽपि वास्तवः ॥७१॥

दिव्य विभु के मातृकल्पित शरीर में कल्पनानुसार वहाँ वहाँ वस्तुतः कोई भेद नहीं। आग के दाहक धर्म और पाचक धर्म में क्या भेद है ?

जैसे आग में दाह भो है और पाचक धर्म भी है। यहाँ फल भेद है। दाहिका शक्ति और पाचिका शक्तियों की भेदात्मक परिकल्पना भी है। पर विना दाह क्रिया के पाक क्रिया का अर्थ ही क्या है ? इसलिये इन शक्तियों से सम्पन्न अग्नि में और इन शक्तियों में कोई अन्तर नहीं। इनका पारस्परिक अभेदत्व तोड़ा नहीं जा सकता।

यह नियम है कि 'पृथक् सिद्ध वस्तु दूसरी वस्तु को भेदभिन्न करती है।' यहाँ शक्तिमान् के अतिरिक्त शक्ति की पृथक् सिद्धि ही नहीं है। इसलिये कैसे भेद हो ? अग्नि का दाहक स्वरूप पृथक् परिकल्पित है। पाचकत्व पृथक् परिकल्पित है। पर दोनों में वस्तुतः कोई भेद नहीं।

इसी तरह परमेश्वर की अनन्त शक्तियों की परिकल्पना के बावजूद उनमें कोई भेद है ही नहीं। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि ईश्वराद्वयवाद में कोई विकृति नहीं ॥ ७० ॥

उक्त परिकल्पना के होने पर भी दाहकत्व पाचकत्व आदि की तरह शक्तियों में भेद तो भासित हो ही रहा है। इस भेद का अपह्नव कैसे हो ? इसका समाधान कर रहे हैं—

आभासन के अतिरिक्त कोई पारमार्थिक भेद नहीं होता, पर भासनात्मक भेद तो पारमार्थिक है। शक्ति और शक्तिमान् में भी कोई वास्तविक भेद नहीं होता, ऐसी बात नहीं। भासनात्मक भेद है।

भानमन्तरेण अन्यत्किंचिन्नास्ति इत्यसौ भेदोऽपि भासमानत्वाद्वस्तुतो न न किंचित्, अपि तु परमार्थसन्नेव इति शक्तीनां तद्वतश्च भेदोऽपि पारमार्थिक एव इति वाक्यार्थः। एवं भेदस्य भानैकस्वभावत्वान्न ततोऽतिरेक इति नाद्वयवादक्षतिः, नापि शक्तीनां तद्वतश्च भेदेन स्थितस्य व्यवहारस्यापह्नव इति सर्वं सुस्थम् ॥ ७१ ॥

ननु परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्याख्या शक्तिरेकैवास्ति इत्युक्तम्, इच्छादयस्तु किं तद्विस्फूर्जितमात्रम्, उत स्वतन्त्राणि शक्त्यन्तराणि ? इत्याशङ्क्याह

स्वशक्त्युद्रेकजनकं तादात्म्याद्वस्तुनो हि यत् ।

शक्तिस्तदपि देव्येवं भान्त्यप्यन्यस्वरूपिणी ॥ ७२ ॥

यह प्रकाश का एक चमत्कार ही है। न रहने पर भासित होना, पर वास्तव में कुछ न होना ही आश्चर्यजनक तथ्य है। भासित होता है पर होता नहीं। भेद भासित होता है पर भेद होता ही नहीं। इसका अर्थ है कि यह भेद है पर भासनात्मक स्तर तक ही होता है। कह सकते हैं कि भेद भी पारमार्थिक है। भेद का स्वभाव ही भासनात्मक होता है। भासना के अतिरिक्त उसमें कोई भी रूपातिरेक नहीं होता।

इस मान्यता के अनुसार अद्वयवाद में कोई अन्तर नहीं होता। इसी तरह शक्ति और शक्तिमान् की भेदात्मक स्थिति का भी गोपन नहीं किया जा सकता। भेदात्मकता भासमानता के स्तर तक तो पारमार्थिक है, पर अभेद सत्ता में इससे कोई विकार नहीं आ सकता ॥ ७१ ॥

परमेश्वर की स्वातन्त्र्य नामक शक्ति एक ही है। यह उक्त है। इच्छा आदि क्या उसका विस्फूर्जित रूप मात्र है या स्वतन्त्र अन्य शक्तियाँ हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

(अग्नि आदि) वस्तुओं की जो स्वयम् अपनी शक्ति की उद्रेक जनक (दशा है-वह) तादात्म्य से ही (अवभासित) है। इसी तरह अन्य रूपों में भासमान शक्ति देवी का ही यह (इच्छादि शक्तियों का) उच्छलन है।

'यत्' शब्द अपनी शक्ति को उच्छलित करने वाले बल के लिये प्रयुक्त है। यही अवान्तर शक्ति की अचरजभरी अवस्था है। विचित्रता है। अग्नि आदि वस्तुओं में भी यह वैचित्र्य होता है। पदार्थ में एक ऐसी शक्ति होती है जिसकी प्रवृत्ति का कुछ निमित्त होता है। उसी के अनुसार उसका नाम पड़ता है। वह क्रियात्मक होती है। सामान्यतया वह उसमें रहती ही है।

यद् नाम हि अवान्तरशक्तिवैचित्र्यं वह्न्यादेः वस्तुनः—स्वस्याः शक्तेः इति व्यपदेशप्रवृत्तिनिमित्तभूताया निर्विशेषक्रियामात्रनिष्ठायाः सामर्थ्यलक्षणायाः शक्तेः उद्रेको दाहपाकादिविशेषरूपशक्त्यन्तरात्मतयोच्छलनं तस्य जनकम् अवभासकम्, तदपि तादात्म्याद् एवं-विधस्वशक्त्येकरूपत्वाद्यथोक्तरूपा स्वैव शक्तिः इति संबन्धः। समर्थो हि वह्निः सर्वं दाहादिकार्यजातं कुर्याद् इत्यभिप्रायः। एवं परमेश्वरस्यापि इच्छाद्यवान्तरशक्तिरूपतयावभासमानापि शक्तिर्देवी तत्तद्भेदोल्लासेऽपि परप्रकाशाभिन्नस्वभावत्वाद् द्योतमानावभासा स्वातन्त्र्याख्यैव इति युक्तमुक्तम्-'एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते।' इति। एवमेकैवास्य स्वातन्त्र्याख्या शक्तिस्तथा तथा सृष्टेन भेदेन भायाद् इति सिद्धम् ॥ ७२ ॥

उससे वस्तु के सामर्थ्य का द्योतन होता है। वह पदार्थ की शक्ति मानी जाती है। उसी का उद्रेक या उच्छलन या अभिव्यंजन या उल्लास होता है।

आग को ही लें। इसमें जलाने की शक्ति है। इसमें ज्वाला का उद्रेक होता है। ज्वाला सामान्य क्रिया है। यह अग्नि की शक्ति है जो उच्छलित होती है। गर्मी से परिपाक होता है। पकाना भी सामान्य क्रिया है। पकाने की शक्ति उल्लसित होतीं है। उच्छलन होता है। इस प्रकार के उच्छलन का जनक कौन है? यह सब कैसे होता है? उत्तर देते हैं—'तादात्म्यात्'। तादात्म्य से होता है। इस प्रकार का बल उसमें है। उसी से उद्रेक होता है। वह बल ही उछलता रहता है। वह पदार्थ की तदात्मक शक्ति है। कह सकते हैं कि आग स्वयं ताकतवर है। वही जलाती है-वही पकाती है। वह वही है।

इसी तथ्य को परमेश्वर पक्ष में भी चरितार्थ करें। अन्य अवान्तर रूपों में स्वयं भासमान वह देवी शक्ति हीं है। वहीं इच्छा रूप में उछलतीं है। क्रिया रूप में स्वयं सक्रिय रहती है। ज्ञान रूप से विज्ञान का उपहार अर्पित करती है। यह उसका स्वयमात्मक भेदोल्लास है। पर वह परम प्रकाश रूप परमेश्वर से सदा अभिन्न स्वभाव वाली भीं है। शाश्वत द्योतमान है। सदा अवभासमान है तथा उसका अवभासन भी सदा विद्योतित होता रहता है। उसकी इन शक्तियों को ही स्वातन्त्र्य शक्ति कहते हैं। वह उसकीं स्वेच्छा शक्ति है। स्वतन्त्रता है। उसका यह अपना तन्त्र है। इसीलिये पहले कह आये हैं—"एक ही उसका यह स्वातन्त्र्य रूप धर्म है जो सब कुछ का आक्षेप कर लेता है।" यही, ऐसी ही, समस्त आश्चर्यों की आधार भूमि यह 'स्वातन्त्र्य' नामक शक्ति है। सर्जन के समस्त भेदोल्लास में वह स्वयंप्रभा शक्ति दीप्तिमन्त रहती है। यह निर्विवाद सिद्ध सत्य है ॥ ७२ ॥

न केवलं शक्तिरेवास्यैवंकल्पितेन भेदेनावभासते यावत्स्वयमपीत्याह

शिवश्चालुप्तविभवस्तथा सृष्टोऽवभासते ।
स्वसंविन्मातृमकुरे स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु ॥ ७३ ॥

शिवश्च स्वा संकुचिता संवित् लक्षणं यस्यासौ बुद्धयादौ गृहीतात्मग्रहः परिनिष्ठितः प्रमाता स एव स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बसहिष्णुत्वेन मकुरः तस्मिन् भावनोपदेशादौ स्वस्वातन्त्र्यात् तथा भाव्यमानत्वादिना कल्पितेन भेदेन सृष्टः प्रमेयतामापादित इव अवभासते, न चैवमप्यसौ प्रमात्रेकरूपत्वात् तथा भवति इत्युक्तम्—अलुप्तविभव इति, अपरिहृतप्रमातृभाव इत्यर्थः। तदुक्तं

'स्वातन्त्र्यादद्वयात्मानं स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु ।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥' (ई० प्र० १-५-१६)

इति ॥ ७३ ॥

न केवल शक्ति ही इस प्रकार प्रकल्पित (पर अकल्पित) भेद से अवभासित होती है; अपितु स्वयं परमेश्वर भी इसी तरह भासमान् है। इस तथ्य को कह रहे हैं—

अपनी (संकुचित) संवित् बुद्धि में स्वयं को प्रमाता (स्वीकार करता है। इसी प्रमातृता) के दर्पण में भावना आदि स्थितियों में अपनी स्वतन्त्रता के कारण (अपने ही) सृष्ट के समान भासित होता है। (ऐसा होता हुआ भी वह) शिव अलुप्त विभव ही रहता है। एक मात्र पर प्रमाता की उसकी ऐश्वर्य शक्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है। क्षीण नहीं होती।

शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति बड़ी विचित्र है। उसकी संवित् शक्ति भी संकुचित हो जाती है। संवित् रूपी बुद्धि में एक आग्रह उत्पन्न होता है—'मैं एक प्रमाता हूँ।' यह संकुचित चमत्कार उसमें नयी भावनाओं को जन्म देता है। चूँकि शिव स्वच्छ होता है। उसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण की शक्ति भी होती है। इसलिये उसकी प्रमातृता ही दर्पण बन जाती है। वह भावनाओं में बहने लगता है। स्वतन्त्रता शक्ति के कारण अपने को कल्पित भेदभिन्न निर्मित प्रमाता मानने लगता है। उसे आभास होने लगता है कि मैं सृष्ट हूँ-सृष्टि रचना का एक अङ्ग हूँ। एक सत्य ध्यान देने योग्य है कि इतना होने पर भी वह वैसा होता नहीं, अपितु स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण उसका विभुत्व विलुप्त नहीं होता। वह शिव शिव ही रहता है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा १-५-१६ कारिका में यही तथ्य इस तरह कहा गया है—

एतदेवोपसंहरति

तस्माद्येन मुखेनैष भात्यनंशोऽपि तत्तथा ।
शक्तिरित्येष वस्त्वेव शक्तितद्वत्क्रमः स्फुटः ॥ ७४ ॥

तस्माद् उभयोरपि शिवशक्त्योस्तथा सृष्टेन भेदेन अवभासनोपपत्तेर्हेतोरपि शिवः प्रकाशमात्रैकरूपत्वाद् अनंशोऽपि येन भुवनाद्यन्यतमांशलक्षणेन मुखेन भावनादौ भासते तद् मुखं

'......................... **शैवी मुखमिहोच्यते ।**'

इत्याद्युक्त्या तथा शिवप्राप्त्युपायतया शक्तिरेव, नहि एतदवगमादौ उपायान्तरमस्ति उपपद्यते वा । अतश्च शक्तिशक्तिमतोरुपायोपेयभावात्मा क्रमः सम्यगेव स्फुटः, न कश्चिदत्र संशय इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अतश्च अनयोरसावुपायोपेयभावस्तत्र तत्र आगमेषु उद्घोष्यते इत्याह

"स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण अद्वय रूप स्वात्म को स्वतन्त्र भावनादि व्यापारों में वह सर्वसमर्थ विभु ईश आदि संकल्पों के द्वारा उसी रूप में अपने को ढालकर सारा व्यवहार सम्पन्न करता है ।" ॥ ७३ ॥

इस तरह उक्त विमर्श का उपसंहार कर रहे हैं—

(शिव और शक्ति के सृष्ट भेद) के कारण जिस मुख से अनंश होते हुए भी वह (अंश रूप) भासित होता है, वह मुख भी शक्ति ही है। यही वस्तुतथ्य है। शक्ति और तद्वत् अर्थात् शक्तिमान् का यह क्रम (मुख या उपाय रूपी क्रम) स्पष्ट ही है। अर्थात् शक्ति उपाय है और शिव उपेय है।

शिव और शक्ति दोनों में प्रकल्पित भेदमय अवभासन की योग्यता है। इसके फलस्वरूप संकोच स्वीकार करता है। फिर भी शिव का प्रकाश मात्र एक ही रूप है। इसलिये वह अनंश अखण्ड है। ऐसा होते हुए भी वह भुवन, विग्रह, ज्योति और आकाश आदि पृथक् पृथक् अंशरूप से भी भावना आदि द्वारा भासित होता है। इन भुवन आदि को शास्त्र की भाषा में मुख कहते हैं—

"............शास्त्र में उन्हें शैवीमुख कहते हैं।" इस कथन से यह सिद्ध होता है कि शिव की प्राप्ति की उपायरूपा शक्ति ही है। इस प्रकार के अवगम के लिये किसी उपायान्तर में योग्यता नहीं है। इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति और शक्तिमान् में उपायोपेय भाव रूप क्रम है। इसमें किसी प्रकार की संशीति का लेशमात्र भी नहीं है ॥ ७४ ॥

श्रीमत्किरणशास्त्रे च तत्प्रश्नोत्तरपूर्वकम् ।
अनुभावो विकल्पोऽपि मानसो न मनः शिवे ॥ ७५ ॥
अविज्ञाय शिवं दीक्षा कथमित्यत्र चोत्तरम् ।

तद् इति शिवागमे शक्तेरुपायत्वमुक्तम् इति वाक्यशेषः। एतदेव च शब्दार्थरूपत्वेन शास्त्रस्य द्वैविध्येन प्रवृत्तेरर्थद्वारेण दर्शयति अनुभाव इत्यादिना। तत्र गरुडेन

'शिवतत्त्वं कथं शून्यं तच्छून्यं नाक्षगोचरः ।
प्रत्यक्षं चाक्षविज्ञानं तदतीतं न किंचन' ॥

इति प्रत्यक्षागोचरत्वाच्छिवतत्त्वं न किंचिद् इति पृष्टे, भगवता

'माया हेया शिवो ग्राह्यो ग्राहकः पुरुषः स्मृतः ।
मायाधर्मैः शिवः शून्यः........................ ॥' इत्यादिना

इसलिये इनमें यह उपायोपेय भाव स्थान स्थान पर आगमों में घोषित किया गया है। यही कह रहे हैं –

श्रीकिरण शास्त्र में भी शक्ति का उपायत्व वर्णित है। यह प्रश्नोत्तर सरणी में है। गरुड भी अनुभाव को विकल्प से उत्पन्न मानते हैं। विकल्प मानस होता है। शिव तत्त्व में मन का अनुप्रवेश ही नहीं होता। (इसलिये मानस विकल्प उसके ज्ञान में उपाय नहीं)। जो इस (अमनस्क अरूप) शिव को नहीं जानता वह दीक्षक गुरु नहीं हो सकता। (इसलिये शक्ति ही उपाय है) यहाँ उत्तर है।

यह श्लोक कई सन्दर्भों को समाहित करता है। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये उनकी चर्चा यहाँ की गयी है। ग्रन्थकार का कहना है कि शिवरूप उपेय की जानकारी में शक्ति ही उपाय है। पहले प्रश्न उपस्थित है, फिर उत्तर दिया गया है।

शास्त्र की दो तरह से प्रवृत्ति होती है—१. शब्दतः और २. अर्थतः। यहाँ अर्थ को माध्यम बनाकर दूसरी अर्धाली प्रवृत्त है। गरुड प्रश्न करते हैं—

"(भगवन्) शिव तत्त्व (है क्या) ? वह तो शून्य है। जो शून्य है, उसका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता जो प्रत्यक्ष है वही इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय हो सकता है। इसके अतिरिक्त तो कुछ नहीं होता।" इस तरह प्रत्यक्ष रूप अगोचर होने के कारण शिव तत्त्व कुछ नहीं होता। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—

"माया हेय है। शिव ही उपादेय है। ग्राहक ही पुरुष होता है। शिव

'अतीन्द्रियं च यद्वस्तु तत्राप्यनुभवो न किम् ।
अनुभावो मनोऽध्यक्षः प्रसिद्धः क्षुद्यथा च तृट् ॥'

इत्यन्तेन शिवतत्त्वस्य बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वेऽपि मानसप्रत्यक्षविषयत्वात् किंचित्त्वेन प्रतिसमाहितम् । एतच्च पुनरप्याशङ्क्य गरुडेन

'अनुभावो विकल्पोत्थो विकल्पो मानसः स च ।
समनस्कं च तज्ज्ञेयममनस्कमरूपकम् ॥
अज्ञात्वा दैशिकस्तत्त्वं कथं दीक्षां करोत्यसौ ।
ज्ञेयः सर्वात्मनैवार्थः स ज्ञेयो नैव सर्वथा ॥'

इत्यादिना पृष्टम् । एतत्प्रश्नार्थ एव ग्रन्थकृता संक्षेपचिकीर्षया स्ववचसोपनिबद्धः । अत्रायमर्थः—यन्नाम बुभुक्षादिन्यायेन शिवस्य मानसप्रत्यक्षविषयत्वमुक्तं तत्र मानसोऽनुभवः

'संकल्पकमत्र मनः................................।'

माया के समस्त अवच्छेदों से शून्य है, अर्थात् रहित है ।" यहाँ से शुरूकर—

"जो वस्तु अतीन्द्रिय होती है, वहाँ भी क्या अनुभव कुछ नहीं होता ? अनुभव तो मन द्वारा इन्द्रियप्रत्यक्ष होता है । यह बात प्रसिद्ध है । जैसे भूख और प्यास ।" यहाँ तक की उक्ति द्वारा शिव तत्त्व को बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न मानते हुए भी मानस प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार करते हैं । भूख और प्यास का उदाहरण देकर उसको (कुछ अनुभूत सा है) यह कहकर गरुड का समाधान करते हैं ।

इन बातों को अपने मन में रखकर गरुड पुनः पूछते हैं—

"अनुभाव विकल्प से उदित होता है । विकल्प मानस अर्थात् मन से उत्पन्न होते हैं । ऐसा जो वैकल्पिक मानस प्रत्यक्ष है, वह समनस्क है । वही ज्ञेय है । जो अमनस्क है—अरूप है (वह ज्ञेय नहीं है) उसे न जान कर दैशिक गुरु कैसे दीक्षा देते हैं ? जो सर्वात्मना ज्ञेय अर्थ है (उसकी दीक्षा दी जा सकती है) पर वह तो सर्वथा अज्ञेय तत्त्व ही है ।"

इस प्रश्न का अर्थ सुव्यक्त करने के लिये ग्रन्थकार ने संक्षेप की इच्छा से अपनी वाणी में यह तथ्य उपनिबद्ध किया है । अर्थात् भूख और प्यास के अनुभव के आधार पर यहाँ शिव का मानस प्रत्यक्ष विषयत्व वर्णित है—वह मानस अनुभव "यहाँ मन संकल्पक है......................।"

इति नीत्या संकल्पात्मकत्वाद् विकल्पः तस्य चार्थासंस्पर्शित्वं **रूपम्** इति मनः तावत् शिवे न प्रमाणम्, यत्र च न प्रमाणं प्रवर्तते, तत्र ज्ञातं भवेद् इत्यज्ञाते शिवतत्त्वे कथं दीक्षा स्यात्, दैशिको हि परं तत्त्वं ज्ञात्वा तत्र दीक्षया दीक्ष्यं योजयेत्। अत एव 'गुरौ ज्ञानम्' इत्याद्युक्तम्। इति शब्दः प्रश्नसमाप्तौ। अत्र इति गरुडोक्ते प्रश्ने। उत्तरम् इति भगवदुक्तं प्रतिसमाधानम् ॥ ७५ ॥

तदेवाह

क्षुधाद्यनुभवो नैव विकल्पो नहि मानसः ॥ ७६ ॥

न-शब्दो भिन्नक्रमः, तेन प्रश्ननिषेधविषयत्वेन योज्यः, नायं प्रश्न इति। हि-शब्दो हेतौ यतो बुभुक्षादीनां विकल्पात्मक एव मानसोऽनुभवो न भवति इत्यर्थः। आसां हि प्रथममविकल्पकमानसप्रत्यक्षविषयत्वमप्यस्ति, अन्यथा तत्पृष्ठभाविनो **बुभुक्षेयम्** इति विकल्पस्योदयो न स्यात्। सविकल्पकमानस-प्रत्यक्षविषयत्वेऽप्यासां न कश्चिद्दोषः, तस्य वस्त्वाश्रयत्वेन प्रमाणत्वाभ्युपगमात्। एवं शिवोऽपि मानसप्रत्यक्षगोचरो भवत्येव, किं तु शक्तिद्वारेण इति विशेषः। यदुक्तं तत्रैवोत्तरग्रन्थे

इस नियम के अनुसार संकल्पात्मक है। विकल्प संकल्प के अर्थ का स्पर्श भी कर पाने वाला रूप है। इस तरह संकल्प विकल्पात्मक मन शिव में प्रमाण नहीं हो सकता। और जहाँ प्रमाण प्रवृत्त नहीं होते, वह तत्त्व जाना नहीं जा सकता। इसलिये अज्ञात शिव तत्त्व की दीक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

जो दैशिक गुरु होता है। वह तो उस परम तत्त्व को तत्त्वतः जानकर ही दीक्षा देकर दीक्ष्य शिष्य को (शिवत्व से) योजित करता है। इसीलिये कहा गया है कि 'ज्ञान गुरु में ही रहता है' उसी से ज्ञान मिल सकता है। इस प्रकार गरुड के प्रश्न के उत्तर प्रस्तुत किया गया है। यह उत्तर भी सामान्य उत्तर नहीं अपितु भगवान् द्वारा किया हुआ गरुड का समाधान है ॥ ७५ ॥

इसी बात को इस श्लोक में कहते हैं—

क्षुधा आदि का अनुभव केवल विकल्प ही नहीं है। क्योंकि पहले इनका विकल्पात्मक मानस अनुभव ही नहीं होता।

'न' का प्रयोग यहाँ क्रम भिन्नता के द्योतन के लिये है। इस तरह का क्रमिक प्रश्न यहाँ नहीं बनता। हि शब्द का प्रयोग हेतु अर्थ में हैं। भूख प्यास आदि का केवल विकल्पात्मक मानस अनुभव ही नहीं होता। अपितु इनका पहले अविकल्पक मानस प्रत्यक्ष होता है। अन्यथा उसी के पीछे यह भूख है ऐसे

'क्षुधाद्यनुभवो यत्र विकल्पस्तत्र नो भवेत् ।
वस्त्वाश्रयो विकल्पोऽपि तद्वस्तु घटवन्न च ।।
विकल्पो मानसः सूक्ष्मः शून्यशक्तिलयं गतः ।
तद्गतस्त्वन्यविच्छिन्नस्तेनासौ चित्तवर्जितः ।।
ज्ञानं चात्मेन्द्रियाश्लेषात्कर्ता ह्यात्मा मनः क्रिया ।
शिवः साध्योऽत्र मन्तव्यो विभुरप्येकधर्मतः ।।' इति ।

यत्तु अस्य शून्यत्वमुक्तं तन्मायाक्षयोपचारेण तद्धर्मैः परिणामित्वादिभिः शून्यत्वाच्छून्यम् इत्युक्तम् । अन्यापेक्षया तु तदशून्यमेवेत्यथविाप्तम् । अतश्च शिवं शक्तिद्वारेण ज्ञात्वा देशिकस्तत्र दीक्षया दीक्ष्यं योजयति इति न काचित्क्षतिः।।७६।।

मानस विकल्प का उदय कैसे होता है ? यदि कोई इन्हें मानस प्रत्यक्ष का भी विषय माने तो इनमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता; क्योंकि सविकल्पक मानस प्रत्यक्ष केवल वस्तु के ही आश्रित होते हैं। वस्तु ही इसमें प्रमाण है।

इसी प्रकार शिव का भी मानस प्रत्यक्ष होता है; किन्तु यह गोचरता शक्ति के द्वारा होती है। यही बात आगे के ग्रन्थ में इस तरह वर्णित है—

"जहाँ क्षुधा-पिपासा (भूख-प्यास) की अनुभूति होती है, वहाँ विकल्प नहीं होता। विकल्प वस्तु के ही आश्रित होता है। जैसे घड़ा। घड़ा देखकर उसका अनुभव प्रत्यक्ष गोचर है। पर भूख-प्यास की स्थिति में वस्तु की आश्रयता की तरह स्थिति नहीं होती। विकल्प यदि मानस है, तो वह सूक्ष्मता की ही स्थिति है। शून्य में व्याप्त शक्ति सत्ता के माध्यम से ही वह तल्लीन मानस अनुभूति (पीछे व्यक्त होती) है। शक्ति गत है। दूसरे विकल्पों से विशिष्ट है। इसलिये (कह सकते हैं कि) वह मानस नहीं है। ज्ञान सदा आत्मा और इन्द्रियों के मिलन से होता है। आत्मा कर्त्ता है। मन उस कर्त्ता की क्रिया है। शिव ही परम साध्य है। वही विभु है। वह शाक्त और एक रूप है। शक्ति के माध्यम से वह भी अनुभूति का विषय बनता है।"

शिव की शून्यता की जो बात की जाती है, वह माया के प्रभाव के समाप्त होने के ही अर्थ में है और केवल उपचारात्मक उक्ति है। माया परिणामी है। यह उसका धर्म है। सृजन, कुछ समय का मध्यावस्थान और फिर संहार। इस परम्परा में भी संहार रूप शून्यता का उल्लास तो शाश्वत है ही। इसी अर्थ में शून्य शब्द का प्रयोग यहाँ है। दूसरे की अपेक्षा तो उसकी शून्यता का सर्वथा अभाव ही है।

ननु सर्वात्मनार्थो ज्ञातो भवति न तु अंशेन, विकल्पश्च सर्वात्मना अर्थं ज्ञातुं न शक्नोति—नियतांशाभिनिवेशित्वात् तस्य, अतः शिवस्तेन शक्तिद्वारेण विषयीकृतोऽपि सर्वात्मना तद्गोचरीभावाभावान्न ज्ञात इति प्रश्नशेषमाशङ्क्याह

रसाद्यनध्यक्षत्वेऽपि रूपादेव यथा तरुम् ।
विकल्पो वेत्ति तद्वत्तु नादबिन्द्वादिना शिवम् ।। ७७ ।।

विकल्पः अत्र निर्विकल्पकपृष्ठभावी ग्राह्यः । तेन स तरुं रूपरसाद्यात्मकमपि रूपाद्यात्मनैव गृह्णाति न रसाद्यात्मनापि नियतत्वात्तद्ग्रहणस्य, नहि सर्वात्मत्वेन अगृहीतत्वाद् अगृहीत एवासौ इति वक्तुं युज्यते, अनुभवविरोधात् । तद्वद् नादबिन्द्वाद्यात्मकशक्तिद्वारेण शिवोऽपि ज्ञात एव भवति इति सिद्धान्तः ।

अतः ऐसे अशून्य शिव को शक्ति के द्वारा साक्षात्कार करने के उपरान्त ही दैशिक गुरु दीक्षा देता है । शिष्य के जीवत्व को शिवत्व से योजित करता है । इस प्रकार उसकी स्थिति में, अनुभूति में या दीक्षा में किसी प्रकार की कोई त्रुटि नहीं होती ।। ७६ ।।

यहाँ पुनः शङ्का उत्पन्न होती है । कोई विषय ज्ञात है—तभी कह सकते हैं, जब वह सर्वात्मना ज्ञात हो जाय । आंशिक जानकारी को जानकारी नहीं कह सकते । विकल्प भी सब तरह वस्तु को जानने या जनाने वाला नहीं होता; क्योंकि वह वस्तु के किसी खास अंश के रूप पर ही आश्रित होता है ।

उसी तरह शिव भी शक्ति के द्वारा जब ज्ञान के विषय बनते हैं, तो वह सर्वात्मना गोचर नहीं होते । इसलिये 'शिवः ज्ञातः' यह कथन आंशिक सत्य हो सकता है—पूरा नहीं । इन आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

रस का रसना के द्वारा इन्द्रिय प्रत्यक्ष न रहने पर भी जैसे सभी रूप के आधार पर ही यह वृक्ष है—ऐसी विकल्पजन्य जानकारी हो जाती है, उसी प्रकार नाद और विन्दु आदि के द्वारा शिव को भी जान लेते हैं ।

यह ध्यान देने की बात है, भूख लगने की अनुभूति निर्विकल्पक अनुभूति होती है । उसके पीछे ही ऐन्द्रयिक अनुभूति का विकल्प उत्पन्न होता है । इसी अर्थ में यहाँ विकल्प शब्द का प्रयोग किया गया है । इसी तरह पेड़ यद्यपि रूपवान् भी है और रसवान् भी है । उसमें अन्य गुण भी हैं । पर पेड़ को रूपात्मक रूप से ही ग्रहण कर लेते हैं । इसका ज्ञान हो जाता है । उसके खट्टे-मीठेपन की जानकारी की जरूरत ही नहीं होती । वास्तव में इनका ग्रहण भी नियत ही है ।

तदुक्तं तत्रैव

> 'प्रत्यक्षेण यथा वृक्षो रूपमात्राद्विगृह्यते ।
> रसादयो गृहीता नो तथेशो ज्ञानशक्तितः ॥
> गृह्यते तत्त्वभावेन वस्तुभावविवर्जनात् ।'

इति । तथा

> 'बिन्दुर्नादस्तथा शक्तिः शून्यत्वे परिकल्पिताः ।
> चेतसः स्थितिहेत्वर्थं पुर्नित्यं स्थिरं भवेत् ॥
> अतीन्द्रियः सुसूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मा शक्तिः स तद्गतः ।
> ज्ञानशक्तिर्मता सापि तज्ज्ञानाज्ज्ञात एव सः ॥

इति । एवं शक्तिरेव परतत्त्वाधिगमे परमुपाय इति सिद्धम् । सा च भुवनादि-रूपतया अनन्तप्रकारा इत्युक्तप्रायम् ॥ ७७ ॥

रस का ज्ञान रसना ही कर सकती है । रूप का ज्ञान केवल नेत्र ही कर सकते हैं । वहाँ रूपात्मक ग्रहण तो है पर पूरे तरु का ज्ञान सम्भव हो जाता है । जबकि सर्वात्मना यह ग्रहण नहीं होता । ऐसा होने पर हम यह कह सकते हैं कि पेड़ का ग्रहण तो हुआ ही नहीं । पर ऐसा हम नहीं कहते । अनुभव में तो पेड़ आ ही जाता है । यदि ग्रहण न मानेंगे तो अनुभव का ही विरोध होने लगेगा । इसी प्रकार नाद शक्ति के द्वारा या विन्दु आदि शक्तियों के द्वारा शिव ज्ञात हो जाते हैं—यह सिद्धान्त स्वीकृत है । इस तथ्य को उसी जगह यों कहते हैं—

"प्रत्यक्ष रूप से जैसे वृक्ष-रसादि के गृहीत न होने पर भी रूप मात्र से ही इन्द्रियगोचर हो जाता है, उसी तरह शिव भी ज्ञान शक्ति के द्वारा अनुभूत हो जाता है । यह अनुभूति तात्त्विक होती है । यहाँ अनुभूति में वस्तु भावना का सर्वथा अभाव होता है ।" और भी—

"विन्दु, नाद और शक्ति तीनों शून्य रूप में परिकल्पित हैं । चित्त की स्थिरता के लिये ही वह (शिव) नित्य और स्थिर (वस्तु) होता है । आत्यन्तिक सूक्ष्मता के कारण वह इन्द्रिय जगत् को अतिक्रान्त करता है । इन्द्रियों से परे है । शक्ति (भी) सूक्ष्म (तत्त्व) है । शिव उसी शक्ति में रमण करता है । वही ज्ञान शक्ति है । ज्ञान शक्ति के ज्ञान से वह परम पुरुष ज्ञात हो जाता है ।"

एवं यत्किंचन जडाजडात्मकविश्ववैचित्र्यम्, यच्च तद्विषयं सृष्ट्यादि जाग्रदाद्यवस्थादि वा तत्सर्वं परमेश्वरस्य शक्तिस्फार एव इत्याह

बहुशक्तित्वमस्योक्तं शिवस्य यदतो महान् ।
कलातत्त्वपुरार्णाणुपदादिर्भेदविस्तरः ॥ ७८ ॥
सृष्टिस्थितितिरोधानसंहारानुग्रहादि च ।
तुर्यमित्यपि देवस्य बहुशक्तित्वजृम्भितम् ॥ ७९ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तान्यतदतीतानि यान्यपि ।
तान्यप्यमुष्य नाथस्य स्वातन्त्र्यलहरीभरः ॥ ८० ॥
महामन्त्रेशमन्त्रेशमन्त्राः शिवपुरोगमाः ।
अकलौ सकलश्चेति शिवस्यैव विभूतयः ॥ ८१ ॥

पदादि इति आदिशब्देन भूतभावग्रहणम् । सृष्टिस्थिति इत्यनेन कृत्यभेद उक्तः । तुर्यमित्यन्यच्छब्दवाच्यं सृष्ट्यादीनामन्तर्वर्ति पूर्णं रूपम् । अनेन चतुष्टयार्थस्यापि आसूत्रणं कृतम्, तेन स्थितौ संहारे तिरोधानानुग्रहयोरन्तर्भावः कार्यो येनैतत्स्यात्, अन्यत्तुर्यम्, जाग्रत्स्वप्न इत्यनेन अवस्थाभेद उक्तः । अकलौ इति विज्ञानाकलप्रलयाकलौ । अनेन प्रमातृभेदः ॥ ७८-८१ ॥

इस प्रकार (यह सिद्ध होता है कि) शक्ति ही परम चरम तत्त्व परम शिव की अधिगति में सर्वश्रेष्ठ उपाय है। यह शक्ति 'भुवन, आकाश, मन्त्र आदि अनन्त रूपों में अनन्त प्रकार से अवस्थित है' ॥ ७७ ॥

इस मान्यता के अनुसार जो कुछ जड़-चेतन रूप यह विश्व वैचित्र्य है तथा जो यह विचित्रताओं से भरी सृष्टि रचना है, जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति आदि अवस्थायें हैं, ये सभी उसी परमेश्वर परम शिव के स्फार रूप ही हैं। उसी आधार पर कहते हैं—

शिव की अनन्त शक्तियों का (शास्त्रों में) कथन है। यह (आनन्त्य) उससे निष्पन्न कला, तत्त्व, भुवन, वर्ण, अणु (मन्त्र) और पद नामक षडध्व और पञ्च महाभूतात्मक महा विस्तार है ॥ ७८ ॥

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह नामक उसके पाँच कृत्य हैं। स्थिति में तिरोधान का और संहार में अनुग्रह का अन्तर्भाव कर देने पर तुर्य अर्थात् चतुर्थ प्रकाशक रूप कृत्य का महान् उज्जृम्भण उसी की शक्ति का (चमत्कार) है ॥ ७९ ॥

तदेवं वैचित्र्यभाजः षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकस्य जगतश्चिदानन्दैकघनः परमार्थः शिव एवानुप्राणकतया वर्तत इत्याह

तत्त्वग्रामस्य सर्वस्य धर्मः स्यादनपायवान् ।
आत्मैव हि स्वभावात्मेत्युक्तं श्रीत्रिशिरोमते ॥ ८२ ॥

द्विविधो हि धर्मः पदार्थस्य—प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च । आद्यो यथा सामान्यम्, नहि गोत्वमन्तरेण गौः गौरेव भवति । द्वितीयो यथा गुणः, शुक्लादिर्हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिनष्टि । एवमिह आत्मैव तत्त्वसमूहस्य प्राणप्रदत्वात् स्वभावभूतो धर्मः, अत एव अनपायवान् नित्यावियुक्त इत्युक्तम् । हि शब्दो हेतौ । नन्वत्र किं प्रमाणम् इत्याशङ्क्योक्तम् 'इत्युक्तं त्रिशिरोमत' इति ॥८२॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य नामक चार अवस्थायें और इनके परे की अतीत अवस्थायें—ये सब उसी सर्व शक्तिमान् की शक्ति रत्नाकर के अमर लहराव हैं ॥ ८० ॥

महामन्त्रेश्वर, मन्त्रेश्वर, और मन्त्र नामक प्रमाताओं के भी महा-प्रमाता शिव हैं । अकल (विज्ञानाकल-प्रलयाकल) और सकल ये कुल सात प्रमाता हैं । (शिव के अतिरिक्त छः) उसी की विभूतियाँ हैं ॥८१ ॥

आदि शब्द से भूत भाव का ग्रहण किया गया है । ७९ श्लोक में कृत्य भेद वर्णित है । तुर्य शब्द का अलग उल्लेख सृष्टि आदि के अन्तर्गत पूर्णरूपता का अर्थ बतलाने के लिये है । तुर्य शब्द से पुरुषार्थ चतुष्टय का भी बोध होता है । जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के बाद एक चौथी अवस्था का भी इससे अर्थ निकल रहा है । अकल शब्द से विज्ञानाकल और प्रलयाकल दोनों का ग्रहण किया गया है । यह प्रमाताओं के भेद हैं ॥ ७८-८१ ॥

इस प्रकार विचित्रताओं से भरे छत्तीस तत्त्वात्मक इस जगत् का वही चिदानन्दघन परमेश्वर शिव ही परम पुरुषार्थ है । वही सबका अनुप्राणन करता है । इस तथ्य को व्यक्त कर रहे हैं—

इस छत्तीस तत्त्वात्मक विश्व का अविनश्वर धर्म आत्मा ही है । वही सबका 'स्व' भाव है । त्रैशिरस् शास्त्र का भी यही मत है ॥

पदार्थों के दो प्रकार के धर्म होते हैं । १–प्राण प्रदान करने वाला धर्म और २–विशेष आधान करने का कारण रूप धर्म । पहला सामान्य धर्म है । जैसे गाय में गोत्व (गायपन) धर्म । गोत्व के विना गाय गाय नहीं हो सकती । दूसरा जैसे गुण । गाय उजली है, लाल है या काली है । उसमें सफेद होना

तत्रत्यमेव ग्रन्थं शास्त्रस्य शब्दार्थरूपतया द्वैविध्येन प्रवृत्तेरुभयथाप्याह

हृदिस्थं सर्वदेहस्थं स्वभावस्थं सुसूक्ष्मकम् ।
सामूह्यं चैव तत्त्वानां ग्रामशब्देन कीर्तितम् ॥ ८३ ॥

समूह एव सामूह्यम् । ग्रामशब्दो हि समूहार्थवृत्तिः ।

'कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपकम् ।'

इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । तच्च सर्वत्र बाह्ये देहे चान्तः साधारणासाधारणतया द्वैविध्येन वर्तमानम् इत्यर्थः । अत एव स्वभावे स्थावरजङ्गमाद्यात्मनि नियते रूपे स्थितम् । एवमपि हृदि बोधे स्थितम्, तदैकात्म्येन परिस्फुरद् इति यावत्, अत एव सुसूक्ष्मम् अपरिच्छेद्यम् ॥ ८३ ॥

धवलत्व, लाल होना गौरत्व या काली होना कृष्णत्व धर्म हैं । ये एक दूसरे को अलग करते हैं । गाय की विशेषता का कथन करते हैं । विशेष आधान (आरोपण या कथन) के ये गुण ही कारण हैं ।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में आत्मा ही समस्त तत्त्वग्राम को प्राण प्रदान करने वाला धर्म स्वयंसिद्ध है । वह तत्त्व समुदाय का स्वभाव है, अपना धर्म है । इसीलिये वह अपाय (नश्वर) नहीं, अनपायवान् है-शाश्वत धर्म है । वह कभी किसो अवस्था में पदार्थ से वियुक्त नहीं होता ।

'हि' शब्द श्लोक में हेतु अर्थ में प्रयुक्त है । इस मान्यता का क्या प्रमाण है-इस प्रश्न का उत्तर भी श्लोक में देते हैं-त्रैशिर शास्त्र में इसका उल्लेख है । त्रिशिरा सिद्धान्त भी इसी का पोषक है ॥ ८२ ॥

शब्द और अर्थ दो माध्यमों से शास्त्र प्रवृत्त हैं । इसलिये दोनों दृष्टिकोणों से उसी ग्रन्थ को उद्धृत कर रहे हैं—

हृदय में, सभी देहों में, स्वभाव में भी वह (ऐकात्म्य भाव से) अवस्थित है । और (अनुत्तर) सूक्ष्म है । सभी तत्त्वों का सामूह्य (राशि या गण भाव) है—इसी समूहता को 'ग्राम' शब्द से कहा गया है । ग्राम का अर्थ होता है, वृन्द, झुण्ड, समूह या सन्दोह । तत्त्वग्राम का तात्पर्य विश्वरूपता में है ।

सामूह्य शब्द का विग्रह है—'समूह एव सामूह्यम्' ग्राम शब्द समुदाय अर्थ में ही प्रवृत्त होता है ।

"सम्पूर्ण राशि राशि तत्त्वों को स्वरूपतः आत्मसात् करने वाले को" ऐसे प्रयोगों से भी यही सिद्ध होता है । वह सर्वत्र विद्यमान है । बाह्य शरीर में भी है और अन्दर भी वही है । वह सामान्य भी है और असामान्य भी है ।

तत्त्वग्रामस्थ चास्य न संकुचित आत्मा धर्मः, अपि तु पर इत्याह

आत्मैव धर्म इत्युक्तः शिवामृतपरिप्लुतः ।

शिवामृतपरिप्लुत इति परानन्दचमत्कारमय इत्यर्थः। एवं स एव परमुपेय इति तत्रैवावधातव्यम् इत्यपि सूचितम्।

कश्च अत्र उपायो, येनैतत्साक्षात्कारो भवेद् इत्याह

प्रकाशावस्थितं ज्ञानं भावाभावादिमध्यतः ॥ ८४ ॥

स्वस्थाने वर्तनं ज्ञेयं द्रष्टृत्वं विगतावृति ।

विविक्तवस्तुकथितशुद्धविज्ञाननिर्मलः ॥ ८५ ॥

ग्रामधर्मवृत्तिरुक्तस्तस्य सर्वं प्रसिद्धयति ।

आदिशब्दाद्भावोऽपि, तेन भावाभावयोः भावयोर्वा यद् मध्यम् अन्तरालं तदवलम्ब्य प्रकाशे स्वात्मन्येव, न पुनर्भावाभावादिस्वरूपे अवस्थितं यद् ज्ञानम्,

---

दोनों रूपों से (सबको अपने में स्थित कर वर्त्तमान है)।

सभी स्थावर और जङ्गमों के नियत निर्धारित रूपों में वही शोभमान है। वह बोध रूप से भी उल्लसित है। इस प्रकार अन्दर और बाहर सर्वत्र ऐकात्म्य भाव से अवस्थित परम तत्त्व है। शाश्वत परिस्फुरित है।

जहाँ वह देहों में स्थूलभाव से स्फुरित है—वहीं अत्यन्त सूक्ष्मता से भी सब में ओत प्रोत है। कभी भी उसका परिच्छेद नहीं किया जा सकता। वहाँ पार्थक्य प्रथा का प्रवेश नहीं हो सकता; क्योंकि वह शाश्वत रूप से अपरिच्छेद्य तत्त्व है॥ ८३॥

इस समग्र तत्त्व समुदाय का संकुचित आत्मा धर्म नहीं है अपितु परम आत्मा है। इसी तथ्य को श्लोक के माध्यम से कह रहे हैं—

शिवत्व के अमृत से सराबोर स्वयं तन्मय आत्मा ही इस समस्त तत्त्व राशि का 'धर्म' (स्वभाव) है।

शिवामृत शब्द समझने योग्य सत्य है। अनुत्तर तत्त्व का आनन्दमय परम उल्लास ही शिवत्व की सुधा है। इसमें एक रहस्यात्मक चमत्कार होता है। वही चमत्कारमयता साधक को इस सुधा से सराबोर कर देती है। इस कथन से यह सिद्ध है कि वही परम उपेय धर्म है।

वह कौन सा उपाय है, जिसके द्वारा उसका साक्षात्कार हो ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

दो भावों और भावाभावों के मध्य में प्रकाश रूप स्वात्म में अवस्थित

तस्य स्वस्य आत्मनः स्थाने स्थितौ वर्तनं ज्ञेयं—ग्रामधर्मविषये वृत्तिर्ज्ञातव्या इत्यर्थः। इदमत्र तात्पर्यम्—भावद्वयस्य भावाभावयोर्वा प्रतीतिकाले मध्यं तद्द्वयावच्छेदहेतुं शून्यमुपलभ्य तद्भावाभावादि युगपत्त्यक्त्वा तत्रैव सावधानस्य परमोपेये शिवामृतपरिप्लुते परमात्मनि वृत्तिर्जायते इति। तदुक्तं

'उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत्।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते॥
भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत्।
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना॥'

इति। ज्ञेयम् इति काकाक्षिन्यायेन योज्यम्। तेन वर्तनमपि परमार्थसाक्षात्कार-रूपं द्रष्टृत्वं ज्ञेयम्, तच्च विगतावृति विगता निवृत्ता भावाभावाद्यात्मकबाह्यरूपा आवृतिः यस्य तत्, बाह्यदेशाद्यवच्छेदशून्यम् इति यावत्। अथ च विगता परापरात्मना कालेन रहिता कलनात्मिका आवृतिः यस्य तत्, अकालकलितम् इत्यर्थः। तदुक्तं

स्वात्म का स्वयं अपने स्थान में वर्त्तन ज्ञेय (जानने योग्य) है। (वह वर्त्तन) द्रष्टा-साक्षी (रूप से होता) है। (उस अवस्था में) भावाभावादि स्पर्श रूप (इधर-उधर स्थानों पर भटकन रूप) आवृत्ति नहीं होती। वह विवित्त अर्थात् अवच्छेद शून्य (महासत्ता और स्फुरणशीलता रूप) वस्तु (सभी आगमों में) कथित है।

वह (अत्यन्त) शुद्ध (पराहन्तापरामर्शमय) विज्ञान है। इस प्रकार के विज्ञान से निर्मल यह ग्रामधर्म वृत्ति है। (यह श्रीकण्ठ सदृश महागुरुजनों द्वारा) उक्त है। उसके अन्तःप्रवेश से सब कुछ सिद्ध हो जाता है।

श्लोक में 'भावाभाव' के साथ आदि शब्द का प्रयोग है। यह शब्द केवल भाव दशा का द्योतक है। अभाव, भावाभाव और भाव, इन तीनों में अभाव का कोई अर्थ नहीं, भाव रूप और भावाभाव रूप वस्तुओं में साधक को अपनी साधना सम्पन्न करनी होती है। इन दोनों का मध्यावस्थान ही स्वात्म स्थिति की प्रकाश-विश्रान्ति दशा है। दोनों के अन्तराल में स्व प्रकाश रूप परम ज्ञान शाश्वत उल्लसित है। उसी आत्म स्थान में आगमिक साधक का वर्त्तन (साधना की पराकाष्ठा) ही ज्ञेय है। साधक इसे ही ग्रामधर्मवृत्ति कहते हैं।

तात्पर्य यह कि भाव-भाव के बीच में या भावाभाव और भावाभाव के बीच में जब यह अनुभूति होने लगे कि यह उन दोनों के प्रभाव से रहित शून्य दशा है, तो उन दोनों को छोड़कर सावधान साधक मध्य में ही एक परम प्राप्तव्य

'अपरः षोडशो यावत्कालः सप्तदशः परः ।
परापरस्तु यः कालः स प्रियेऽष्टादशः प्रभुः ॥
प्राण एकं त्रिधा कालं कृत्वा चैव त्यजेत्पुनः ।' इति ।

तथा विगता पदैकादशकात्मिका आवृतिः यस्य तत्, तत्प्रतिनियततत्तद्-ब्रह्माद्याकारोज्झितम् इति यावत् । यदुक्तं

'पदैकादशिका सा च प्राणे चरति नित्यशः ।
अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ॥
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ।
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनैकादशी स्मृता ॥'

इति । अत एव च उन्मनाभिन्नप्रमातृरूपं परमार्थसाक्षात्काररलक्षणमेतद्भवति इति पिण्डार्थः । तदुक्तं

'उन्मना तु ततोऽतीता तदतीतं निरामयम् ।'

इति । अत एव तत्तद्देशकलाकारैः विविक्तम् अवच्छेदशून्यं यद् वस्तु महा-सत्तात्मपरं तत्त्वम्, तत्र कथितं सर्वागमेषु अविगानेन उक्तं यत् शुद्धं पराहंपरामर्श-मयं विज्ञानं तेन निर्मलः तदेकात्म्यापत्त्या खिलीकृतनिखिलबन्धो ग्रामधर्मवृत्तिः

शैवसुधा से सराबोर पर-प्रकाश रूप स्वात्म में वर्त्तन करने लगता है । उसी में उसकी वृत्ति हो जाती है, यही बात यहाँ कही गयी है—

"दोनों भावों का ज्ञान हो जाने पर (अच्छी तरह) जानकर 'मध्य' का समाश्रय करना चाहिये । एक साथ ही दोनों को छोड़कर मध्य में रमण कर जाय । उसी मध्य में परम तत्त्व प्रकाशित होता है । भावों से सम्पर्क टूटते ही अब तक (वासनावृत एवम्) अवरुद्ध चित् शक्ति (प्रज्वलित हो उठती है)। कभी दूसरे भावों में उसका अनुप्रवेश नहीं होता । उस समय उस मध्यावस्थान में समस्त वासनावासित भावनाओं को अतिक्रान्त करने वाली (पराहन्तापरा-मर्शमयी) चिदैक्य संवित् विकसित हो जाती है ।"

काकाक्षिन्याय से ज्ञेय शब्द दोनों ओर अपना अर्थ चरितार्थ करता है । इससे वर्त्तन भी परमार्थ साक्षात्कार रूप द्रष्टृत्व के सदृश ज्ञेय हो जाता है । साथ ही विगतावृत्ति भी होता है । अर्थात् भावात्मक या भावाभावात्मक जो बाह्य जगत् का वर्त्तन है वह निवृत्त हो जाता है और साक्षी भाव सिद्ध हो जाता है । इससे देश, काल, आकार रूप अवच्छेद नहीं रह जाते । पर-अपर, पूर्व-पर आदि समय सम्बन्धी आकलन समाप्त हो जाता है और एक अकाल कलित अवस्था की उपलब्धि हो जाती है । कहा गया है—

'भैरवाद्भैरवीं प्राप्तः..........................।'

इत्याद्युक्तेरस्मद्गुरुभिरप्युक्त इति श्रीकण्ठस्येयमुक्तिः। तदुक्तं तत्र

'चतुर्थं संप्रवक्ष्यामि ग्रामधर्मविभेदतः।'

इत्याद्युपक्रम्य

'हृदिस्थं सर्वदेहस्थं स्वभावस्थं सुसूक्ष्मकम्।
सामूह्यं चैव तत्त्वानां ग्रामशब्देन कीर्तितम्॥
आत्मा वै धर्म इत्युक्तो ग्रामधर्मः प्रकीर्तितः।
प्रकाशावस्थितं ज्ञानं भावाभावादिमध्यतः॥
स्वस्थाने वर्तनं ज्ञेयं वर्तनं वृत्तिरुच्यते।
वृत्तिस्तु स्वपदं ज्ञात्वा द्रष्टृत्वं परिपठ्यते॥

"काल तीन प्रकार से कलित होता है। १—अपर १६ कलात्मक, २—परापर १७ कलात्मक और ३—पर १८ कलात्मक होता है। यह प्रभु शक्ति वाला है। काल एक ही है। प्राण इसे तीन प्रकार का बना देता है। साधक इस त्रिप्रकारता का परित्याग करने की साधना करे।"

इस आधार पर विगतावृति शब्द से एकादश पदों पर आने जाने की आवृति की समाप्ति भी सूचित होती है। यह आवृति प्राणाचार में सम्पन्न होती है। साधक सामान्य प्राणचार से कुण्डलिनी की ओर अपनी यात्रा जब शुरू करता है तो चक्रों को पारकर आज्ञा में पहुँचता है। वहाँ 'अ' से समना तक की एकादश पदात्मिका महायात्रा साधना का विषय है। इस यात्रा के ११ पड़ाव प्रतिनियत विभिन्न देवों के रूप में प्रत्यक्ष होते हैं। साक्षी साधक इन सबको पार करता है। तब यह आवृति समाप्त हो जाती है। जैसा कि कहा गया है —

ग्यारह स्थानों वाली आवृति प्राण में ही नित्य चरितार्थ होती है। अ, उ, म्, विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति व्यापिनी और समना। यही एकादश पद हैं।"

इसलिये यह कह सकते हैं कि यह स्वात्मवर्त्तन उन्मना से भिन्न होता है। इसके प्रमाता अलग होते हैं। उनके लिये यह परमार्थ का साक्षात्कार रूप ही होता है। कहा गया है—

उन्मना दशा तो इस एकादश पदात्मिका आवृति से अतीत पद है। उन्मना से भी अतीत निरामय तत्त्व है।"

प्रबुद्धं　तद्विजानीयाद्बाह्यावरणवर्जितम् ।
परापरविनियुक्तमेकादशपदोज्झितम्　॥
स्वात्मन्यात्मनि यज्ज्ञानं शिवामृतपरिप्लुतम् ।
विविक्तवस्तुकथितशुद्धविज्ञाननिर्मलः　॥
ग्रामधर्मवत्तिरुक्तस्तन्त्रेऽस्मिन्सर्वथोदितः ।' इति । एतदेव च
'अथवा शिवमन्विच्छेत्साधकः परतत्त्ववित् ।' इत्यादि ।
'स्थितिः कार्या तु तत्त्वस्था मध्यशक्तिप्रभान्विता ।'

इत्यन्ततत्रत्यग्रन्थार्थगर्भीकारेण ग्रन्थान्तरमुपक्षेप्तुकामो ग्रन्थकारः स्वोक्त्या योजयति 'तस्य सर्वं प्रसिद्धयति' इति —तस्य ग्रामधर्मवृत्तेः प्राणापानगतित्रोटनेन मध्यधामानुप्रवेशात् प्राप्तपरशक्तिसामरस्यस्य सर्वं बाह्यमाभ्यन्तरं च प्रकर्षेण शिवाभेदमयत्वेन सिद्धयति प्रथते इत्यर्थः । तदुक्तं

इससे सिद्ध हो जाता है कि उन उन सीमाओं को, उन उन कालखण्डों और अनन्त अनन्त रूपों से अतीत, समस्त प्रथा के प्रभाव से प्रक्षीण जो वस्तु तत्त्व है वही महासत्तात्मक परम तत्त्व है। यह सिद्धान्त विना किसी क्षोदक्षेम के विना दुर्लोचना किये ही सभी आगमों में कथित है। यह शुद्ध पराहन्ता-परामर्श का विज्ञान है। इसलिये अत्यन्त निर्मल है। चिदैक्यदार्ढ्य की संस्कृति द्वारा साधक समस्त जागतिक बन्धनों से विमुक्त हो जाता है। ग्रामधर्मवृत्ति के क्रम में यह सब घटित होता है —

"भैरव भाव से भैरवी भाव को प्राप्त करता है।" इत्यादि कथन के द्वारा हमारे पूर्व गुरु श्रीकण्ठ की भी यही मान्यता है। यह सिद्ध होता है। वहाँ कहा गया है—

"मैं ग्रामधर्म के भेद से चतुर्थ (सिद्धान्त का वर्णन कर रहा हूँ)" से से लेकर—

तत्त्वों के "हृदयस्थ, सर्वदेहस्थ, स्वभावस्थ, सुसूक्ष्म और सामूह्य भाव 'ग्राम' शब्द से कथित हैं। आत्मा ही निश्चय रूप से धर्म है। यही ग्रामधर्म है। प्रकाश रूप स्वात्म में विद्यमान ज्ञान ही स्वात्मतत्त्व है। भाव-भाव और भावा-भाव तथा भावाभाव के बीच से (निकलकर) उक्त स्वात्म स्थान रूप पराहन्ता-विमर्श में वर्त्तन ही वस्तुतः ज्ञेय है। यह ग्रामधर्मवृत्ति है। वृत्ति का अर्थ है स्वात्म अवस्थान को समझकर द्रष्टृत्व अर्थात् द्रष्टा भाव को प्राप्त करना।

'शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृते ।
काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ।।' इति ॥ ८४-८५ ॥

अत आह

ऊर्ध्वं त्यक्त्वाधो विशेत्स रामस्थो मध्यदेशगः ।।८६।।

ऊर्ध्वम् इति ऊर्ध्ववाहित्वात्प्राणम्, अध इति अधोवाहित्वादपानम्, त्यक्त्वा इति तद्गतिं त्रोटयित्वा, स ग्रामधर्मवृत्तिरर्थात् मध्यनाडीं प्रविशेत् । स च कीदृशः मध्यदेशगः मध्यनाडिकाया अपि यद् मध्यं तत्रस्था या बिससूत्राकारा शक्तिः तस्या देशः अन्तर्व्योमरूप एकदेशस्तम् गच्छति जानाति यः सः—तदेकतानतया तन्निष्ठ इति यावत् । तदुक्तं

'मध्यनाडी - मध्यसंस्थबिससूत्राभरूपया ।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ।।'

वही साधक प्रबुद्ध है, जो बाहरी वासनात्मक आवरण से विमुक्त हो । परापर रूप से ऊपर तथा एकादश पदात्मक वृत्ति से भी ऊपर स्वात्म तत्त्व में अवस्थान का जो ज्ञान शैव सुधा से शाश्वत ओत-प्रोत है, वही सर्वविच्छेद शून्य वस्तु है । सभी आगमों में वह प्रतिपादित है । शुद्ध पराहन्तापरामर्श रूप विज्ञान के द्वारा अत्यन्त निर्मल है । इस तन्त्र परम्परा में सब तरह से प्रमाणित, व्यक्त, सिद्ध और समर्थित यह सिद्धान्त है । यह सब ग्रामधर्मवृत्ति है ।"

यही बात—"परमतत्त्ववेत्ता साधक शिव की ही आकांक्षा करे" तथा "मध्यावस्थान की शक्ति के चमत्कार से परम तत्त्व में स्वात्म स्थिति (सुदृढ) करनी चाहिये ।" इस उक्ति से भी सिद्ध है । यहाँ तक के उद्धरण से ग्रन्थकार ने समस्त कथनीय विषयों का अपने कथन में अन्तर्भाव कर लिया है । अब दूसरे ग्रन्थ के उद्धरण देना नहीं चाहते । इसलिये अन्त में अपनी बात "तस्य सर्वं प्रसिद्ध्यति" कहकर पूरी कर ली है । उस ग्रामधर्मवृत्ति की प्राण-अपान गति को तोड़ देने से मध्य धाम में अनुप्रवेश हो जाता है । इससे बड़ी शक्ति मिलती है । परम शक्ति-शिव रूप सामरस्य की अनुभूति साधक को हो जाती है । ऐसे साधक को सारा बाहर भीतर, पूरी तरह शिव महाभावमय रूप से सिद्ध हो जाता है । परमशिव की ऐकात्म्यप्रथा प्रथित हो जाती है । कहा गया है—"जागतिकता के बन्धन से बँधे, रुग्ण तथा काष्ठ और कुड्य में प्रक्षिप्त, जंग लगे लौह 'मन' के लिये पारस स्पर्श के समान है, जिससे मन का लोहा भी स्वर्ण बन जाता है ॥ ८४-८५ ॥

इति। अत एवोक्तं रामस्थ इति

'.....................एकाकी न रमाम्यहम्।'

इत्याद्युक्त्या रमते तत्तज्जडाजडात्मना विश्ववैचित्र्यात्मना क्रीडति इति रामः परमात्मा, तत्र तिष्ठति तद्रूपतया परिस्फुरति इत्यर्थः। तदुक्तं त्रिशिरोभैरवे

'सेव्यमानमधोऽर्ध्वं तु प्राणापानोत्थरूढधीः।
ऊर्ध्वं त्यक्त्वा तु प्रविशेद्रामस्थोऽत्रात एव च॥'

तत्रैवागूरणेन भगवत्या

'रामः किमुच्यते देव योऽत्रस्थः स च कः प्रभो।
तस्याभ्यासः कथं नाम ब्रूहि सर्वं महेश्वर॥'

इति पृष्टे, भगवता

'रामस्थं परमेशानि योगं यत्कीर्तितं मया।
कथयामि यथातथ्यमभ्यासस्तस्य योगतः॥'

इत्यन्तेन प्रतिज्ञाय, तत्समाधानं बहुना ग्रन्थेन कृतम्॥ ८६॥

इसीलिये कहा गया है—

प्राण रूपी ऊर्ध्व तथा अपान रूपी अधोगति को तोड़कर साधक मध्य नाड़ी में अनुप्रवेश करे (उसमें भी नाड़ीगत सूक्ष्म नाड़ी कुण्डलिनी के) मध्य में अवस्थान करे। ऐसा सिद्ध साधक ही (विश्व वैचित्र्य में रमने वाले) राम में अवस्थित है, अर्थात् परम शिव भाव में प्रतिष्ठित रहता है॥ ८६॥

ऊर्ध्व वाह करने के कारण 'ऊर्ध्व' शब्द का अर्थ 'प्राण' और अधोवाही होने कारण अधः शब्द से 'अपान' अर्थ लिया गया है। त्यक्त्वा का अर्थ छोड़-कर होता है; किन्तु यहाँ प्राण और अपान की गतियों को तोड़कर अर्थ होना चाहिये। स का अर्थ वह साधक जो ग्राम धर्म वृत्ति अपना चुका है। वह मध्य नाड़ी में प्रवेश करे। उसी का विशेषण शब्द है 'मध्यदेशगः' मध्य नाड़ी का भी बिचला भाग। वहाँ कमलनाल में उल्लसित बिसतन्तु के समान, शक्ति रहती है। उसी का वह (अन्तर्व्योमरूप) देश है। उसमें साधक की गति हो जाती है। इस गति से वह उस देश का ज्ञाता बन जाता है। ऐसा वह साधक एकनिष्ठ भाव से उसमें स्वयम् उल्लसित हो जाता है। कहा गया है—

"शक्ति मध्य नाडी के बीच में बिस तन्तु के समान शोभमान रहती है। ध्यानकर्त्ता उसका ध्यान करता है। अन्तर्व्योम रूपिणी उस देवी के द्वारा ही वह परम देव शिव प्रकाशित होता है।"

इह च तदेव ग्रन्थकारः शब्दार्थद्वारेण पठति

गतिः स्थानं स्वप्नजाग्रदुन्मेषणनिमेषणे ।
धावनं प्लवनं चैव आयासः शक्तिवेदनम् ॥ ८७ ॥
बुद्धिभेदास्तथा भावाः संज्ञाः कर्माण्यनेकशः ।
एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परमकारणम् ॥ ८८ ॥

स्वप्नः विकल्पः, जाग्रत् ज्ञानम्, उन्मेषणम् ईश्वरदशा, निमेषणं सदाशिवदशा, आयासः 'अय गतौ' गत्यर्थो ज्ञानार्थः तेन अयः अयनं ज्ञानं तस्यासः क्षेपो निवृत्तिः—अज्ञानम् इत्यर्थः। धर्माद्या—अष्टौ बुद्धिधर्माः, संज्ञाः—यादृच्छिका डित्थादयः, कर्माणि—व्यापाराः । अनेन च गत्यादिना चतुर्दशकेन सकलविश्वस्वीकारः कृतः। यच्चैतद्गत्यादि एष रामः—सकलविश्वावभासनक्रीडापरः परमात्मा परमेश्वरः, अत एवोक्तं 'व्यापकोऽत्र शिवः परमाकारणम्' इति, अत्र इति गत्याद्युपलक्षिते विश्वस्मिन्, शिवस्यैव हि अयमशेषविश्वात्मा स्फार इति भावः । तदुक्तं

यही ध्यान में रखकर मूल श्लोक में 'रामस्थः' शब्द का प्रयोग किया गया है। (उसका स्वभाव है , '......मैं अकेले रमण नहीं करता ।' इस तरह की उक्ति से (यह अर्थ निकलता है कि) जड़-चेतन रूप से विश्व को विचित्रताओं का आधार और आकार बनकर वही खेल रहा है। ऐसा रमण करने वाला परमात्मा शिव ही है। उस राम में वह स्वयं प्रतिष्ठित हो जाता है। तद्रूप होकर उल्लसित होने लगता है। त्रिशिरो भैरव शास्त्र में भी यह बात इस तरह कही गयी है—

"प्राण और अपान की ऊपर और नीचे की स्वीकृत गतियों से ऊपर उठकर स्थितप्रज्ञ साधक वज्रिणी, चित्रिणी और कुण्डलिनी के मध्य में प्रवेश कर जाता है। इसलिये उसे ही रामस्थ कहते हैं।"

वही माँ परमाम्बा भगवती शक्ति आगूरण (आक्षेप) पूर्वक शिव से प्रश्न करती है कि "हे देव राम किसे कहते हैं ? वह कौन तत्त्व है जो यहाँ अवस्थित है, उसे क्या कहते हैं ? उसका क्या नाम है। हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ! आप यह बताने की कृपा करें कि उसकी प्राप्ति का अभ्यास कैसे किया जाय ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

"हे देवि ! हे परमेश्वरी ! मैंने जिस रामस्थ योग की चर्चा की है, मैं इसे यथातथ रूप से स्पष्ट करता हूँ। साथ ही अभ्यास योग का भी निर्देश

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितः ।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ।।' इति ।। ८७-८८ ।।

कथं चात्र तदैकात्म्यापत्तिलक्षणा स्थितिर्भवति इत्याह

कल्मषक्षीणमनसा स्मृतिमात्रनिरोधनात् ।
ध्यायते परमं ध्येयं गमागमपदे स्थितम् ।। ८९ ।।
परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि ।

येन क्षीणं कल्मषं तत्तद्भेदावभासकालुष्यं यस्य तादृशं मनो, मनुते इति मनो विमर्शात्मावबोधो यस्य तेन

'सर्वो विकल्पः स्मृतिः........ ....।'

करता हूँ ।" आदि से इस श्लोक तक इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर उसका समाधान भी बहुत ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है ।। ८६ ।।

ग्रन्थकार यहाँ वही तथ्य शब्द और अर्थ के माध्यम से कह रहे हैं—

गति, स्थान, विकल्प रूप स्वप्न, ज्ञान रूप जाग्रत्, उन्मेषण, निवेषण, धावन, प्लवन, आयास, शक्तिवेदन, बुद्धि और उसके भेद, भाव, सारी संज्ञायें, और सारे कर्म ये चौदह (शब्दतः और अर्थतः दोनो दृष्टियों से) राम ही हैं। इस रूप में भी परम कारण रूप शिव ही व्यापक हैं।

जगत् तो निरन्तर गतिशील है। स्थान देश है। यह गति के विपरीत है। गति भी राम और अगति भी राम। संसार के सारे विकल्प जो स्वप्न बनकर आते हैं। जानकारी तो जागृति में ही होती है। चाहे वह भौतिक हो या अभौतिक। भौतिक जानकारी अज्ञान हो है। आत्मिक जागृति ही वास्तविक ज्ञान है। तभी इस स्तर से उन्मेषण होता है। उन्मेष में ही पारमेश्वर भाव उपलब्ध होते हैं। निमेषण में शिव सदाशिव दशा अपना लेते हैं और अस्फुटता वहाँ अपना घर बना लेती है। आयास शब्द 'अय' धातु से बनता है। अय का अर्थ है 'गति'। गति का अर्थ ज्ञान भी होता है। अय से अयन शब्द बनता है। यह ज्ञानार्थक भी है। इसका आस (असु क्षेपणे धातु) अर्थात् क्षेपण अर्थ है। ज्ञान का क्षेपण अज्ञान बन जाता है। धर्म आदि ८ बुद्धि के भेद हैं। ये सभी बुद्धि भेद शब्द से आकलित हैं। भाव अर्थात् क्रिया अथवा उत्पत्ति के प्रतीक वस्तु। उनकी संज्ञायें अर्थात् सांसारिक वस्तुओं के नाम। सारे कर्म जागतिक व्यापार। ये सभी गति से लेकर कर्म तक चौदह वस्तुएँ भी राम हैं।

इति नीत्या स्मृतिरेव केवला स्मृतिमात्रं शरीरमुखहस्ताद्यात्मकं विकल्पनम्, तस्य निरोधनम्--आकाराद्युल्लेखशून्यत्वेन प्रतिहननं तदवलम्ब्य, तत्तन्नियताकारसंकोचाभावात् परमं ध्येयं शिवलक्षणं परमकारणं ध्यायते स्वात्माभेदेन परामृश्यते। यदुक्तं

'ध्यानं या निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना॥'

इति। एवंविधो ध्याता, गमो गमनं गतिः, अगमश्च अगतिः स्थानम्, ताभ्यामुपलक्षिते पदे समनन्तरोक्ते चतुर्दशविधे आश्रये स्थितम्, अत एव परं पूर्णम्, अत एव च भैरवाख्यं शिवं व्रजति--तत्समावेशमाप्नोति इत्यर्थः। न केवलमयं ध्यानादेव शिवं व्रजति यावज्जपादपि इत्युक्तं--जपादपि इति॥ ८९॥

इन चौदहों में सारा विश्व समाया हुआ है। यह सारा प्रसार ही 'राम' तत्त्व है। यह प्रसार क्या है? विश्व को आभासमान करने की एक क्रीड़ा। इस क्रीड़ा को, खेल को, इस कौतुक को करने वाला भी वही राम है, रमने वाला है। वही परमात्मा परमेश्वर है। गति आदि से उपलक्षित इस विश्व में सम्पूर्ण विश्वात्मक यह विस्फार भी उसी का चमत्कार है। इसीलिये कहा गया है कि 'वही व्यापक परशिव इस विस्फार का परम कारण भी है। कहा गया है—

"समस्त इन्द्रियार्थ रूप विषयों में अवस्थित (वही परम तत्त्व है)। जितनी ही इसकी विवेचना करते हैं—इसे निरूपित करने का प्रयत्न करते हैं—वहाँ वहाँ वही मिलता है। शिव के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं।॥ ८७॥

उसमें ऐकात्म्य रूप तादात्म्य को लक्षित करने वाली स्थिति कैसे होती है—इस तथ्य को कह रहे हैं—

निर्मल मन से विकल्पों को निर्मूल कर अभेद भाव से परम ध्यातव्य शिव का ध्यान करने से, संसृति में ओत प्रोत, सर्वत्र अवस्थित उस भैरव रूप परम शिव में गति हो जाती है—समावेश हो जाता है। न केवल ध्यान से ही अपितु जप से भी भैरव समावेश अवश्यम्भावी है।

समस्त विश्व भेद के अवभासों से भरा हुआ है। यह भेद बुद्धि ही कालुष्य है। कल्मष है। साधक इस दोष से रहित होते हैं। वे क्षीणकल्मष मन वाले होते हैं। उनको विमर्श रूप बोध हो जाता है। शरीर में मुख हाथ आदि की स्मृति के विकल्प से सारा विश्व ग्रस्त है। "सारा विकल्प ही स्मृति है।"

कोऽसौ जपो नाम इत्याशङ्क्याह

तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ॥ ९० ॥

तस्य शिवस्य, स्वरूपं परावाक्स्वभावम् आत्मरूपम् अर्थाद् भूयो भूयः परामृश्यमानं जपः, अत एव भावाभावपदच्युतः—पूर्वोक्तनीत्या तन्मध्यस्फुरत्संवित्परामर्शमात्रसार इत्यर्थः। तदुक्तं

'भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥'

इति। एवं ग्रामधर्मवृत्तिरेव रामस्थ इत्युक्तं स्यात्। तदुक्तं श्रीत्रिशिरोभैरवे

इसके अनुसार स्मृति मात्र का अर्थात् इस विकल्पात्मक संस्कार का निरोधन आवश्यक है। जैसे श्यामपट पर लिखी लकीर मिटा देने पर कुछ नहीं रहता है, उसी प्रकार भेदात्मक विकल्प को मिटा देने पर साधक निर्मल हो जाता है।

अब वह रूपादि नियत-प्रतिनियत संकोचों से रहित होकर शिव रूप परम कारण भगवान् के ध्यान में रम जाता है। रामस्थ हो जाता है। स्वात्म से अभिन्न परमात्म में स्थित होना उसका 'स्व'भाव बन जाता है। इसी परामर्श में वह लीन रहता है। कहा गया है—

"ध्यान निश्चल बुद्धि है। इसमें आकारात्मक (संकोच) समाप्त रहता है। वह निराश्रित अर्थात् स्वतन्त्र और पराश्रय निरपेक्ष होता है। (अनेकानेक इष्टों और उनके चित्रों में) मुख हाथ इत्यादि अंगों की कल्पना ध्यान नहीं है।"

इस प्रकार का ध्यान करने वाला साधक गति रूप (गत्यात्मक) और अगति रूप (स्थित्यात्मक) पूर्वोक्त १४ स्थानों में (एक प्रकार से व्याप्त सा) रहने की स्थिति बना चुका होता है। वह भैरव रूप शिव समावेश में स्थिर हो जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि यह भैरव समावेश केवल ध्यान से ही नहीं अपितु जप से भी होता है ॥ ८९ ॥

यह जप नामक क्या पदार्थ है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

उस परम कारण शिव का आत्म रूप ही जप है। भावाभाव (प्राणापानादि गत्यात्मक) पद की सीमा को पार कर जाने की दशा जहाँ चिदैक्य परामर्श हो—वही जप है।

'गच्छंस्तिष्ठन्स्वपञ्जाग्रदुन्मिषन्निमिषंस्तथा ।
धावनं प्लवनं चैव आयासः शक्तिवेदनम् ।।
बुद्धिभेदास्तथा भावाः संज्ञाः कर्माण्यनेकशः ।
एतच्चतुर्दशविधं रामं तु परिकीर्तितम् ।।
व्यापितं देवदेवेन शिवेन परमात्मना ।
सर्वभावान्तरस्थेन अनेकाकारलक्ष्मणा ।।
कल्मषक्षीणमनसा स्मृतिमात्रनिरोधनात् ।
ध्यायते परमं ध्येयं गमागमपदे स्थितम् ।।
परं शिवं तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि ।
तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः ।।'

इति ।। ९० ।।

शिव का स्वात्मरूप वस्तुतः परावाक् है । परावाक् का शाश्वत परामर्श ही जप है । इस परामर्श दशा में भावाभावात्मक पद में स्थिति नहीं रहती; अपितु मध्यावस्थान की दशा प्राप्त हो जाती है । भाव और भावाभाव दोनों की स्थिति संकोचात्मक होती है । साधक इसका त्रोटन करता है और बीच में विराजमान हो जाता है । वहीं पर संवित् का अमृत परामर्श होता है । वही जप है । कहा गया है—

'बारम्बार उस परम भाव में जो भावना भावित की जाती है—वही जप है । एक प्रकार से यह स्वयं नाद है । यह मन्त्रात्मक होता है । ऐसा परामर्श ही या नाद ही जपने योग्य है । जप्य की जगह जप पाठ भी है । वहाँ ऐसा ही जप होता है—यह अर्थ होगा ।''

उक्त विचार से यह निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामधर्म-वृत्ति साधक ही रामस्थ है । यही बात त्रिशिरोभैरव ग्रन्थ में यों प्रतिपादित है—

''गति, स्थान, स्वप्न, जाग्रत्, उन्मेष, निमेष, धावन, प्लवन, आयास, शक्तिवेदन, बुद्धि व उसके भेद, भाव, संज्ञायें और सारे कर्म ये १४ राम कहे गये हैं । यह सारा प्रसार, सभी भावों के अन्तर में स्थित, सर्वाकार देवदेव, परमात्मा शिव से व्याप्त है । क्षीण कल्मष मन से विकल्पात्मक अंशांशिक कल्पनाओं के निरोध से और मध्यावस्थान के माध्यम से वह परम शिव ध्यातव्य है । न केवल ध्यान से ही; अपितु जप से भी भैरव रूप शिव में समावेश होता है । भावाभाव पद से ऊपर उठकर उसका परामर्श करना ही जप है''।। ९० ।।

ननु प्रायः सर्वत्रैव ध्यानस्य व्यतिरिक्तसाकारध्येयविषयत्वं, जपस्य विकल्पात्मकवाचकवाच्यजप्यनिष्ठत्वं चोक्तम्, इह पुनः स्वात्माभेदेन परामर्शमात्रमेवोभयो रूपम् इति किमेतद् इत्याशंक्याह

तदत्रापि तदीयेन स्वातन्त्र्येणोपकल्पितः ।
दूरासन्नादिको भेदश्चित्स्वातन्त्र्यव्यपेक्षया ॥ ९१ ॥

इह पराहंपरामर्शमात्रसारत्वात् स्वतन्त्रप्रकाशात्मा परमेश्वर एव परमार्थ इति तत्प्राप्तौ उपदेश्यभेदेन तदुपकल्पितमेव उपायानां नानात्वम्, तेन चित्स्वातन्त्र्यप्रधानतया उल्लसित उपाय आसन्न इत्युच्यते, अन्यथा तु इतर इत्याह दूर इति। एवमपि उपेयासन्नतया कस्यचिदेव उपायत्वम् इति नाशङ्क्यम्—उपायोपेयभावस्य द्वारद्वारिभावेन वक्ष्यमाणत्वात् ॥९१॥

प्रश्न है कि ध्यान का विषय साकार ध्येय है। ऐसे जप में विकल्पात्मक वाच्यवाचक जप्यनिष्ठता ही मुख्य है किन्तु यहाँ स्वात्माभेद परामर्श मात्र ही ध्यान और जप दोनों का रूप है, यह कथित है। यह क्यों ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

उपासना की इस प्रक्रिया में उस (स्वतन्त्रात्मा) परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के कारण ही दूर और आसन्न आदि भेद उपकल्पित हैं। पराहन्ता परामर्श रूप चित् के स्वातन्त्र्य की अपेक्षा से ही (ये भेद हो जाते हैं)।

अत्रापि शब्द से ध्यान और जप उपासना की प्रक्रिया का संकेत है। इस प्रक्रिया में जो भेद होंगे, वे स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण ही सम्भव हैं। यह सत्य है कि स्वतन्त्र प्रकाशात्मक परमेश्वर ही परमार्थ तत्त्व स्वीकृत है। वह पराहन्तापरामर्श रूप से शाश्वत उल्लसित है। उसकी प्राप्ति के लिये शिष्य साधक को गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है। गुरु, शिष्य की योग्यता के अनुसार ही उपदेश देता है। उसकी प्राप्ति के उपाय बतलाता है। जिस उपाय में चित् स्वातन्त्र्य की प्रधानता होती है, वह उपाय आसन्न उपाय होता है। इसके विपरीत दूरगामी उपाय होता है। यही उपायों का नानात्व है। दूर और आसन्न आदि इसके भेद हैं। यह उपाय सम्बन्धी भेद हैं। उपेय तो चित्स्वातन्त्र्य संवलित परम-परमार्थ शिव ही है।

उपेय जहाँ आसन्न हैं, वहाँ किसी-किसी की ही उपायता कल्पित की जा सकती है। यह सन्देह निराधार है क्योंकि उपायोपेय भाव में द्वार और द्वारी भाव-सम्बन्ध होता है। यहाँ उपेय परमार्थ की प्राप्ति में शिष्य की योग्यता

एतदेवोपसंहरति

एवं स्वातन्त्र्यपूर्णत्वादतिदुर्घटकार्ययम् ।
केन नाम न रूपेण भासते परमेश्वरः ॥ ९२ ॥

रूपेण इति तत्तत्स्वशक्त्यात्मना इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अत एवाह

निरावरणमाभाति भात्यावृतनिजात्मकः ।
आवृतानावृतो भाति बहुधा भेदसंगमात् ॥ ९३ ॥
इति शक्तित्रयं नाथे स्वातन्त्र्यापरनामकम् ।
इच्छादिभिरभिख्याभिर्गुरुभिः प्रकटीकृतम् ॥ ९४ ॥

की अपेक्षा होती है। गुरु ही इसमें प्रमाण होता है। यह तथ्य विश्लेषण का विषय है ॥ ९१ ॥

इसी विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

इस प्रकार स्वातन्त्र्य स्वभाव और पूर्ण स्वभाव परमेश्वर वह अघटित घटना पटीयान् (स्वयं सिद्ध) है। ऐसा (आश्चर्य जनककर्तृत्वसम्पन्न) परमेश्वर किस रूप से नहीं भासित हो रहा है ? अर्थात् सर्वरूपों में वही भासमान है ॥

'रूपेण' इस शब्द के माध्यम से ग्रन्थकार यह कहना चाहते है कि जिन जिन रूपों में वह भासित है, उन उन रूपों में भासित होने की शक्ति उसमें है। उसी शक्ति रूप से वह भासित होता है। यही उसका स्वातन्त्र्य है। रूपों रूपों में भासमान होने पर भी वह अंशांशिक नहीं होता क्योंकि वह सदा पूर्ण है ॥ ९२ ॥

इसीलिये कहते हैं—

१–वह निरावरण रूप से भासमान है। २–वह स्वयम् आवृतात्मक रूप से भासित है और ३–वह आवृतानावृत रूप से भी भासित होता है। क्योंकि उसमें नानात्व का संगम है ॥

इन तीन शक्तियों का वह प्रतीक है। इन तीनों शक्तियों का उसमें होना ही उसका स्वातन्त्र्य है। इन तीनों शक्तियों को ही गुरुजनों ने एषणीय आदि नामों से अभिहित किया है—

निरावरण कहने का तात्पर्य है कि वह शुद्ध प्रकाश रूप है। आवृत कथन यह सिद्ध करता है कि भेद की कलुषता का उसमें जब उदय रहता है,

निरावरणम् इति शुद्धप्रकाशमयत्वात्, आवृत इति भेदकालुष्योदयात्, आवृतानावृत इति शुद्धज्ञानमयत्वेऽपि भेदकालुष्यासूत्रणात्, अत एव परापर-परापरत्वं बहुधा इति एषणीयादिनानात्वाद् अनेकप्रकारम् इत्यर्थः। निरावरण-त्वेऽपि हि निषेध्यमानत्वाद् भेदस्य वासनामात्रेणावस्थानम्। इति शब्दः स्वरूप-परामर्शकः, तेन एतदेव अवभासमानं निरावरणत्वादि परादिरूपं शक्तित्रयं गुरुभिः एतच्छास्त्रावतारकैः इच्छादिसंज्ञाभिः परमेश्वरविषयतया उन्मीलितमपि स्वातन्त्र्यशक्त्यभिधानमेव इति 'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता' इति निर्वाहितम् ॥ ९३-९४ ॥

तब भी वह भासित होता है। आवृतानावृत का अर्थ है कि शुद्धज्ञान मय होने पर भी वह भेदवादिता की प्रार्थक्य प्रथा से प्रथित होता हुआ भासमान है। इसीलिये उसे पर, अपर और परापर तीनों रूपों से भासित मानते हैं।

'बहुधा' प्रयोग से भेदवाद की अनन्तता सूचित होती है। वह एषणीय भी है। वह ज्ञेय भी है। वह कार्य भी है। इन रूपों में वह एक होते हुए भी अनेक है, यह सिद्ध हो जाता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि निरावरण भास-मानता में तो भेद की कल्पना भी नहीं की जा सकती? इसका उत्तर यह है कि जिस समय वह निरावरण भासित होता है, उस समय भी वासना मात्र से भेद विद्यमान है। यह ध्यान देने की बात है कि निषेध वहीं होता है, जहाँ प्रवृत्ति की वासना विद्यमान रहती है। निर् उपसर्ग आवरण की वासनात्मक उपस्थिति की सूचना भी देता रहता है। इससे भेदवादिता से सदा सावधान रहते हुए उस परमार्थ का साक्षात्कार करना श्रेयस्कर है ॥ ९३ ॥

इति शब्द यहाँ शिव के स्वरूप का परामर्शक है। इसी प्रत्यवमर्श से यह प्रतीत होता है कि शिव में यह तीनों शक्तियाँ शाश्वत समुल्लसित हैं। जहाँ वह निरावरण भासमान है, वहाँ पर है। यहाँ अपर है। परम शिव में यह तीनों शक्तियाँ हैं। यह सुनिश्चित है।

इस शास्त्र के संवर्धक गुरुजनों ने यह प्रकटित किया है कि इच्छा आदि तीन रूपों में उन्मीलित शक्तियाँ ही इन तीन रूपों में प्रोल्लसित हैं। इन्हें वे दूसरे शब्दों में स्वातन्त्र्य कहते हैं। इस कथन से इस उक्ति का भी निर्वाह हो जाता है, जिसमें कहा गया है कि 'इस परमेश्वर की अनन्त शक्तिमत्ता भी वही है। उसकी शक्तियों में शाश्वत अभिन्नता है ॥ ९४ ॥

बहुशक्तित्वमेव च एतदभिधायकानां प्रवृत्तिनिमित्तम् इत्याह

देवो ह्यन्वर्थशास्त्रोक्तैः शब्दैः समुपदिश्यते ।
महाभैरवदेवोऽयं पतिर्यः परमः शिवः ॥ ९५ ॥

अन्वर्थैः व्युत्पन्नैः निरुक्तैः, शास्त्रोक्तैः सामयिकैः ॥ ९५ ॥

तदेवाह

विश्वं बिभर्ति पूरणधारणयोगेन तेन च भ्रियते ।
सविमर्शतया रवरूपतश्च संसारभीरुहितकृच्च ॥ ९६ ॥
संसारभीतिजनिताद्रवात्परामर्शतोऽपि हृदि जातः ।
प्रकटीभूतं भवभयविमर्शनं शक्तिपाततो येन ॥ ९७ ॥

इस कथन का प्रवृत्ति-निमित्त उसका बहुशक्तित्व ही है—यही कर रहे हैं—वह दिव्यशक्ति सम्पन्न शिव अन्वर्थ शास्त्रों में उक्त शब्दों द्वारा ही समुपदिष्ट होता है। वही महाभैरव देव भी है। वही (सबका) पति है। वही परमशिव है।

अन्वर्थ शास्त्र व्युत्पत्तिपरक निरुक्त शास्त्र होते हैं। उनकी व्युत्पन्न व्याख्याओं में प्रयुक्त शब्दों के द्वारा ही उसका उपदेश होता है। ये सारी शास्त्रोक्त चर्चायें सामयिक होती हैं। सामयिक का दो अर्थ हैं। १–तात्कालिक और २–समय अर्थात् शिष्य के द्वारा चरितव्य मान्य नियम संयम पूर्ण सिद्धान्त से समन्वित। निष्कर्षतः गुरुजनों से उपदेश ग्रहणकर नियम संयम पूर्ण भाव से महाभैरव देव रूप परमशिव का साक्षात्कार करना चाहिये ॥ ९५ ॥

इसी बात को कह रहे हैं—

पूरण धारण योग से वह (महाभैरव देव) विश्व का भरण पोषण करता है। विश्व के द्वारा वह धारित और पोषित भी होता है। विमर्श स्वभाव के कारण और रव (शब्द) रूप होने के कारण वह संसार से भीत (साधकों) का हितकारक भी हैं।

चिदाकाशमय स्वात्मभित्ति में विश्वरूपी आलेख के उल्लास का विधायक यह महाभैरव देव है। अत एव यह विश्व का स्वात्मरूप से ही भरण करता विश्वमय होने के कारण वह सर्वत्र स्फुरित भी हैं। परिणामतः विश्व के द्वारा वह स्वयं पोषित भी होता है और भरण भावित भी होता हैं। विमर्श तो उसकी शक्ति ही है। स्वभावतः उसमें विश्व संभरण का प्रत्यवमर्श शाश्वत स्फुरित होता

नक्षत्रप्रेरककालतत्त्वसंशोषकारिणो ये च ।
कालग्राससमाधानरसिकमनःसु तेषु च प्रकटः ॥ ९८ ॥
संकोचिपशुजनभिये यासां रवणं स्वकरणदेवीनाम् ।
अन्तर्बहिश्चतुर्विभखेचर्यादिकगणस्यापि ॥ ९९ ॥
तस्य स्वामी संसारवृत्तिविघटनमहाभीमः ।

बिभर्ति—धारयति पोषयति च स्वात्मभित्तिसंलग्नत्वेन तदुल्लासनात् । तेन इति विश्वेन, भ्रियते इति धार्यते पोष्यते च—तस्य विश्वमयत्वेनैव सर्वत्र स्फुरणात् । रवरूपतः इति शब्दनस्वाभाव्यात्, तेन भरणाद्रवणाच्च भैरवः इत्ययं निरुक्तम् । भीरूणाम् अयं हितकृद् इति भैरवः, भीरुत्वे च निमित्तं संसारः तेन संसारिणामभयप्रद इत्यर्थः । भयं भीः संसारत्रासः, तया जनितो योऽसौ

रहता हैं । इसी से 'भरण' का व्यापार प्रवर्त्तित होता हैं । रव रूप होने से सदैव 'रवण' भी करता है । निष्कर्षतः भरण और रवण के कारण वह 'भैरव' है—यह व्याख्या निरुक्त सिद्ध है । विग्रह है—भरणात् रवणात् च भैरवः ।

संसार में बड़ा भय भी है । श्रुति कहती है 'महद् भयं वज्रमुद्यतम्' उससे डरने वाले 'भीरु' कहलाते हैं । ऐसे भीरु (सकल पुरुषों) का यह हित चिन्तक ही नहीं कल्याणकारी भी है । भीरुत्व का निमित्त भी यह संसार ही है । संसार में रहने वाले प्रत्येक संसारी को यह अभय प्रदान करने वाला परम कृपालु महाभैरव देव सर्वदा उपास्य है । भीरूणां हितकृत् इति भैरवः यह नैरुक्त प्रक्रिया समर्थित विग्रह है ॥ ९६ ॥

संसार के भय से उत्पन्न क्रन्दन के परामर्श से भी (वह) हृदय में उत्पन्न होता है । संसार के भय से ग्रस्त साधक के हृदय में जो विमर्श स्फुरित होता है, वह भी शक्तिपात से ही होता है । यह सब उसी के द्वारा सम्भव है ।

संसार का भय एक प्रकार का त्रास ही है । इस आर्त्तभाव रूप त्रास से भगवद् विषयक करुण पुकार फूट पड़ती है । साधक क्रन्दन कर उठता है । यही शास्त्र की भाषा में 'रव' है । हूक से उठा रुदन है । चाहे वह पपीहे की पुकार वाला हो या परामर्श भूमि पर उपास्य की चिदैक्य चिन्ता करने वाला हो--दोनों के हृदयों की पारमार्थिक आधारशिला पर वही भैरव देव स्फुरित होता है । इसका विग्रह है—भिया जातः रवः भीरवः । ततो जातः भैरवः ॥

रवो भगवद्विषय आक्रन्दः परामर्शो वा ततो जात इति भैरवः, तेनाक्रन्दवतां परामर्शवतां च हृदि परमार्थभूमौ स्फुरित इति यावत्। भवाद्भयं भीस्तस्य रवो विवेचनं विमर्शनं तस्य शक्तिपातमुखेन अयं कारणम् इति भैरवः, संसार-वैमुख्येऽपि अयमेव निमित्तम् इति भावः। भानि नक्षत्राणि ईरयति प्रेरयति इति भेरः कालः, तस्य तत्त्वं क्षणाद्यात्मकं स्वरूपम्, तस्य सम्यङ् निःशेषेण शोषम् अभिभवं कुर्वन्ति इति कालं वायन्ति इति भेरवाः—कालग्राससमाधिरूढा-वधाना योगिनः, तेषु अयं स्वामी तत्त्वेन प्रकटः स्फुरितः इति भैरवः। संकोचिनो भेदप्रथामयस्य पशुजनस्य भिये तत्तत्सुखदुःखाद्युपजननत्रासाय रवणं शब्दराशिसमुत्थकादिकलाविमर्शमयो रवो यासां ताः स्वकरणदेव्य इन्द्रियशक्तयः, तथा अन्तर्बहिः प्रमातृप्रमेयाद्यात्मा चतुर्विधः चतुष्प्रकारः

भवसे भीतिका विमर्शन भी एक प्रकार का रव है। एक प्रकार का मध्यमावाक्-विकसित विवेचन है। ऐसे विवेचक-विमर्शक साधक पर शक्ति-पात हो जाता है। उस शक्तिपात में भी यही कारण है। शक्तिपात के द्वारा स्फुरण में भी वही कारण है। इस तरह संसार के वैमुख्य में भी और स्वात्म परामर्श में भी वही कारण है—यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। विग्रह है—भियः रवात् जातः भैरवः। ऐसा यह भैरव है ॥९७॥

नक्षत्रों का यह प्रेरक है। वही कालतत्त्व है। उसका सम्यक् शोष करने वाले 'भेरव' कहलाते हैं। काल को ग्रास बनाकर समाधि में आनन्द लेने वाले योगियों के उन मनों में यह (महाभैरव तत्त्व) स्वतः प्रकट है॥

नक्षत्र का पर्यायवाची शब्द भ है। उनको प्रेरणा देने वाला काल है। भानि नक्षत्राणि ईरयति इस विग्रह के अनुसार निष्पन्न 'भेर' शब्द काल अर्थ व्यक्त करता है। काल के तत्त्व तुटि से युगकल्प पर्यन्त हैं। ऐसे काल का अच्छी तरह शोषण करने वाले योगी होते हैं। अब विगृह बनेगा—'भेरं कालं वायन्ति इति भेरवाः योगिनः।' भेरवेषु प्रकटः इति भैरवः।' इस विगृह के अनुसार यह सिद्ध हो जाता है कि परमेश्वर साक्षात् योगियों को प्रत्यक्ष हैं। उनके प्रकट होने के स्थान का निर्देश दूसरी पंक्ति में कर रहे हैं। श्वास साधना के माध्यम से योगी लोग ऊर्ध्व और अधः श्वास की गति को समाप्त कर सुषुम्ना के माध्यम से कुण्डलिनी को जागृत कर सहस्रार में अवस्थित हो जाते हैं। यह उनकी समाधि होती है। उसका रस लेने के कारण वे समाधि रस-रसिक कहे जाते हैं। साम्मनस्य दशा में वे मन में और औन्मनस दशा में विमर्श में स्फुरित होते हैं। ऐसे परम देव ही महाभैरव हैं ॥९८॥

खेचर्यादिको गणः खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचर्यो भीरवास्तासामयं स्वामी भैरवः। महाभीम इति भीषणः, तेनात्र भैरवशब्दः संकेतितः इति भावः॥९६-९९

एतदेवोपसंहरति

भैरव इति गुरुभिरिमैरन्वर्थैः संस्तुतः शास्त्रे ॥१००॥

गुरुभिः तत्तच्छास्त्रावतारकैः, इमैः एभिः समनन्तरोक्तैः अन्वर्थैः अर्थानुगतैर्वाचकैः, संस्तुतः परिचितः शास्त्रे विशेषानुपादानात् सर्वत्रैव अर्थादुक्तः। अथ च अन्वर्थैः सम्यक् सकलजगद्भरणादिसामर्थ्यप्रतिपादनद्वारेण स्तुत इत्यर्थः, यदुक्तं

'भियात्सर्वं रवयति सर्वदा व्यापकोऽखिले।
इति भैरवशब्दस्य सततोच्चारणाच्छिवः॥' इति।

संकोच से प्रभावित पशुओं के भय के लिये जिन अपनी कारण देवियों का रवण होता है, यह स्वाभाविक है। चार प्रकार की खेचरी-गोचरी आदि देवियों के गण रूप ('भीरव' के स्वामी) भैरव का भी खतरा होता है।

कंचुकों के प्रभाव से भावित शिव, भेदप्रथासे प्रथित होकर पाशबद्ध पशु (अणु) बन जाते हैं। इन पशु रूप सामान्य मानवों के (ही नहीं अपितु समस्त जीव समुदाय) के नाना प्रकार के सुख दुःख आदि, नाना योनि समुत्पन्न स्थिति तथा नाना क्लेश राशि के त्रास के लिये (या इनके निराकरण के लिये) उन संसारियों की करण देवियाँ (इन्द्रियाँ) ही रवण करती हैं। इन्द्रियों के रवण का विशिष्ट तात्पर्य है। यह सृष्टि ही शब्दमयी मानी जाती है। 'सकलशब्दमयी किल ते तनुः' उक्ति से यही ध्वनित है। शब्द के माध्यम से ही मन और इन्द्रियाँ अपने विषय का विमर्श कर पाती हैं। इसमें माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति जन्य परीशानियों का विमर्शात्मक स्पन्दन अनुभूति रूप से स्फुरित होता ही है। यह अनुभूत्यात्मक विमर्श ही इन्द्रियों का 'रव' है। उक्त भाव समुदाय का विग्रह बनेगा। भिये रवणं भीरवः। इन्द्रियों को करण देवियाँ भी कहते हैं। विश्व के दो रूप ध्यान देने योग्य हैं। १--आन्तरिक और दूसरा २—बाह्य। ये दोनों रूप प्रमाता, प्रमेय, प्रमा और प्रमाण भेद से चार प्रकार के होते हैं। चार प्रकार का ही खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी नामक शक्तियों का गण भी है। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य रूप से वितत ये सारे रूप 'भीरव' हैं। दोनों पंक्तियों से नैरुक्त प्रक्रिया व्याकृत नया विग्रह होगा--("उपर्युक्तानां) भीरवाणां स्वामी भैरवः। करण देवियों का और चतुर्विध शक्तियों का 'रवण' भीरव तथा इनका स्वामी 'भैरव' है ॥९९॥

तथा '..............................भरणाद्धुरितस्थितिः ।'

इति इमैः इति चिन्त्यम् । गुरुगदितैरिति तु श्रेष्ठः पाठः ॥ १०० ॥

हेयेत्यादिना देवशब्दस्य निर्वचनमाह

हेयोपादेयकथाविरहे स्वानन्दघनतयोच्छलनम् ।
क्रीडा सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा तथा स्वतन्त्रत्वम् ॥१०१॥
व्यवहरणमभिन्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन संजल्पः ।
निखिलावभासनाच्च द्योतनमस्य स्तुतिर्यतः सकलम् ॥१०२॥

उक्त चार श्लोकों में प्रतिपादित विचार का उपसंहार कर रहे है—

उक्त गण के स्वामी संसार की वृत्तियों के विघटन (विनाश और विशिष्ट रचना) के कारण महाभीम हैं। शास्त्र में गुरुजनों ने इन्हीं नैरुक्त अन्वर्थों के माध्यम से उनकी संस्तुति की है। वही भैरव हैं।

सांसारिक द्वन्द्वात्मकता के त्रास और अन्तर्बाह्य पार्थक्य के कारण इस भैरव शब्द से 'महाभीम' है, अत्यन्त भीषण है, इस प्रकार नैरुक्त प्रक्रिया के आधार पर 'भैरव' रूप का विश्लेषण किया गया है। वही पूर्वोक्त गणों का स्वामी है, अर्थात् सर्वसमर्थ है।

उन उन शास्त्रों के रचयिता तत्त्ववेत्ता माहेश्वर आचार्यों के द्वारा इन निरुक्त समर्थित अर्थों के अनुगत (वाचक) संकेतों द्वारा वह महाभैरव देव यहाँ व्याख्यायितहै। शास्त्र में विशेष रूप से इसका उपादान नहीं है। परिणामतः वह अर्थ के माध्यम से ही कथित है। अर्थानुगत वाचक शब्दों के द्वारा जो अर्थ किया गया है, उससे ही वह प्रतिपादित है। अन्वर्थों के माध्यम से यह भी ज्ञात होता है कि वह महाभैरव विश्व के भरण करने और पोषण की शक्ति से संवलित है। सारा शास्त्रीय प्रतिपादन यही संस्तुति करता है कि वह इन विशेषताओं द्वारा ही उपास्य है। कहा गया है—

"वह सर्वका (अस्तित्वमात्रका, विश्वका) भरण-पोषण करता है। वह रवण प्रक्रिया का प्रवर्त्तक है। भरण और रवण के कारण वह भैरव है। वह सब कुछ प्रदान करने में समर्थ है। जो भरण कर सकता है-वही सब कुछ दे भी सकता है। वह इस स्थावर जंगम, जड़ चेतन, दृश्यादृश्य और सूक्ष्म-स्थूल सब में समान रूप से व्यापक है। ऐसा वह भैरव है। इस भैरव शब्द के सतत उच्चारण से, जप से अथवा कीर्तन से कल्याण ही कल्याण है। अर्थात् ऐसा साधक स्वयं साक्षात् शिव (ही हो जाता है।)" तथा (और भी कहा गया है।)—

तत्प्रवणमात्मलाभात्प्रभृति समस्तेऽपि कर्तव्ये ।
बोधात्मकः समस्तक्रियामयो दृक्क्रियागुणश्च गतिः ॥१०३॥

स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् शिवादिक्षित्यन्ताशेषविश्वात्मनोल्लासनमेव अस्य क्रीडा सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा, तथा स्वतन्त्रत्वं व्यवहरणम् इति अभिन्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन संजल्पः, क्रीडेति देव्यति क्रीडति इति देवः। न चात्र क्रीडातिरिक्तं निमित्तम् इत्याह हेय इत्यादिना। नहि किंचिदुपादातुं हातुं वा जगत्सर्गादौ ईश्वरः प्रवर्तते, अत एव स्वानन्दघनत्वमेवात्र हेतुरुपात्तः अत एव चास्य स्वतन्त्रत्वमेव, सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा विजिगीषुता, विजिगीषोर्हि कथं

"........वह भरण करता है। इससे यह सिद्ध है कि वह (शाश्वत) भरण करने वाला है अर्थात् सर्वदा सर्वथा परिपूर्ण है।"

श्लोक में इमैः' शब्द प्रयोग व्याकरण दृष्टया अशुद्ध प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में भी गुरुगदित है। गुरुदेव द्वारा श्लोक में प्रयुक्त है। गुरुदेव के मुखारविन्द के मकरन्द से मनोज्ञ होने के कारण इसे श्रेष्ठ पाठ मान कर ही इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता ! ॥१००॥

क्रीडा और उसके स्वातन्त्र्य की परिभाषा कर रहे हैं—हेय और उपादेय की अनुभूति का लेश मात्र भी वहाँ नहीं होता। स्वात्म में सार्वात्म्यानुभूति रूप आनन्दका शाश्वत स्फुरण उसका स्वभाव है। स्वातन्त्र्य और अनुत्तर उत्कर्ष में भी (विश्वमयत्वरूप) वर्तन का अभिलाष अर्थात् विश्व प्रत्यवमर्श रूप क्रीडा करने में वह समर्थ है। शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त ३६ तत्त्वों के उल्लास में सदा तत्पर है। यही उसका देवत्व है। दिव धातु से निष्पन्न देव शब्द में क्रीड़ा का अर्थ निहित है।

अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के महाप्रभाव के कारण शिव तत्त्व से पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त निखिल विश्व का स्वात्मरूप से उल्लास करना हो उसका स्वभाव है। यही उसकी क्रीडा है। क्रीडा का तात्पर्य है-सर्वातिशायी रूप से सबसे बढ़ कर वर्त्तन का अभिलाष। स्वातन्त्र्य का अर्थ है 'स्वतन्त्रता पूर्वक व्यवहार ! इससे स्पष्ट हो जाता है कि अभिन्न रहते हुए भिन्न की तरह व्यवच्छेदात्मक आनन्दानुभूति पूर्ण विश्वमयता में स्वात्म अभिव्यक्ति करना उसके स्वातन्त्र्य का ही माहात्म्य है।

स्वतन्त्र व्यवहार का तात्पर्य है कि स्वात्म में यद्यपि अद्वय भाव से 'सर्व' की अवस्थिति है पर भेदमयता रूप पार्थक्यप्रथा का भी प्रथन यहाँ हो रहा है।

नु नाम सर्वानेवाभिभूय अहं वर्ते इतीयमेव इच्छा भवति। तथा-शब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये तेन दीव्यति विजिगीषते इति देवः देवशब्दस्य सर्वस्मात् अभिन्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन 'अहमिदं जानामि' इति योऽयमस्य संजल्पः तद्व्यवहरणम् अपारमार्थिकेन रूपेण स्फुरणम् इत्यर्थः, तेन दीव्यति व्यवहरति इति देवः। निखिलस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो निखिले चास्य यत् अवभासनं तत् द्योतनं, तेन दिव्यति द्योतते द्योतयति इति वा देवः। यतः सकलमिदं जगत् स्वरूपलाभात्प्रभृति समस्तेतिकर्तव्यतायां तदायत्तप्रवृत्ति इत्यस्य स्तुतिः। सर्वे हि शिवमन्त्रमहेश्वरादयः तत्परतन्त्रवृत्तित्वादुन्मुखतया प्रह्वा एव इति भावः। अस्य इति कर्मणि षष्ठी, तेन दीव्यते स्तूयते इति देवः। समस्ता पूर्णा विमर्शलक्षणा क्रिया प्रकृता यस्यासौ, दृक्क्रिये गुणः शक्तियंस्यासौ, यतोऽयमेवंविधः ततोऽस्य गतिः—विशेषानुपादानात् सर्वत्र ज्ञानं प्रसरणं च इति सर्वज्ञः सर्वव्यापकश्च इति सिद्धम्, तेन दिव्यति, जानाति, प्रसरति च इति वा देवः ॥ १०१-१०३ ॥

जहाँ तक क्रीडा का प्रश्न है, वह तो देव शब्द से व्यक्त हो जाता है। देवृ धातु देवन अर्थ में प्रयुक्त है। भ्वादि दिवादि और चुरादि प्रकरणों में भी क्रीडार्थक प्रेरणार्थक या पूजनार्थक दिव्‌धातुएं प्रयोग में आती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि क्रीडा के अतिरिक्त इस जगत् का कोई कारण नहीं है। १०१ वें श्लोक में हेय और उपादेय मात्र के विरह की चर्चा इसी लिये की गयी है। यह सिद्धान्त है कि इस सर्ग के सृजन आदि व्यापारों में ईश्वर कुछ छोड़ने के लिये या कुछ ग्रहण करने के लिये प्रवृत नहीं होता! अपि तु स्वात्मानन्द घनत्व ही इसका एक मात्र कारण है। यही इसका स्वातन्त्र्य है।

मैं सबसे आगे सबको अतिक्रान्त कर अत्यन्त उत्कर्ष संवलित हो कर जीवन का सानन्द उपभोग करूँ, समस्त शत्रु समुदाय को परास्त कर विजय का उल्लास प्राप्त करूँ, यह इच्छा अत्यन्त स्वाभाविक है। मैं सबको अपने वश में कर आत्मभिमान पूर्वक व्यवहार करूँ–यह इच्छा किसी के हृदय में क्यों होती है? यह इस सन्दर्भ में विचारणीय है। श्लोक का 'तथा' शब्द भी कुछ संकेत करता है। वह कहता है कि पूर्व की अपेक्षा ही, समाहार है। यहाँ पहले कही हुई बातें भी एकत्र कर अर्थ की योजना होनी चाहिये। इस तरह दिव धातु में क्रीडा के साथ विजगीषा भी ग्राह्य है। सबसे बढ़ कर सबको अपने वश में रखकर स्वयम् का विजयाभिलाष ही विजिगीषा है। और विजिगीषु ही देव हो सकता है।

एतदेवोपसंहरति

इति निर्वचनैः शिवतनु–शास्त्रे गुरुभिः स्मृतो देवः ।

गुरुभिः इति बृहस्पतिपादैः स्मृत इति

'एवं वामो देवः स दीव्यति क्रीडति प्रभुर्यस्मात् ।'

इत्यादिना

'अविहतगतिः स यस्माद्देवस्तस्मात्सदाशिवो गीतः ।'

इत्यन्तेन ग्रन्थेन व्यावर्णितः इत्यर्थः ॥

'देव' शब्द का तात्पर्य सबसे अभिन्नता के साथ स्वात्म में बीज रूप से बिलगाव के संस्कार की विद्यमानता भी है। यह भेद है–'मैं यह जानता हूँ। इस अनुभूति के समान ही ज्ञाता का संजल्प अर्थात् व्यवहार होता है। स्वयम् पारमार्थिक रहते हुए भी यह अपारमार्थिक स्फुरण ही पृथक्ता का बीज है। इसी लिये 'दीव्यति' से व्यवहार करता है–यह अर्थ स्फुरित होता है। निखिल प्रमातृ वर्ग और समग्र प्रमेय वर्ग का निखिल में ही अवभासन उसके देवत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उसका द्योतन भी यही सिद्ध करता है। फलतः दीव्यति, द्योतते, द्योतयति आदि क्रियाओं का कर्ता ही देव है–यह स्पष्ट है। क्योंकि यह सारा संसार स्वात्म स्वरूप की उपलब्धि से लेकर सारी इतिकर्त्तव्यता में जो प्रवृत्त है, वह उसके अधिकार में रह कर ही है। यही उसकी स्तुति है। उसकी आयत्तता परवशता की स्वीकृति ही स्तुति है। इस लिये यह कहना सर्वथा उचित है कि समस्त तत्त्ववाद के प्रतिनिधि प्रमाता शिव, मन्त्र; मन्त्रमहेश्वर आदि सभी परतन्त्र वृत्ति के परिवेश में ही उल्लसित हैं। ये सभी उसी परम प्रकाश परम शिव की ओर ही उन्मुख हैं–उसके प्रति ही प्रवण हैं, प्रह्व है, विनीत भाव से उल्लसित हैं।

'अस्य' शब्द 'इदम्' शब्द से षष्ठी विभक्ति लगा कर बनता है। हिन्दी व्याकरण में विभक्त्यर्थ का विचार अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार यहाँ षष्ठी विभक्ति अर्थात् सम्बन्धकारक कर्म में है। इससे परस्मैपद की जगह 'य' लगाकर आत्मनेपदी विग्रह होगा–'दीव्यते यः सर्वैः सः देवः'। इस प्रकार देव शब्द के माध्यम में सारा रहस्यार्थ अभिव्यक्त करने के उपरान्त आचार्य जयरथ उसके बोधात्मक और सर्वव्यापक स्वरूप का विवेचन कर रहे हैं।

वह बोध रूप ही है। प्रकाशमय ज्ञानात्मकता का वह आलोक-ललाम विग्रह है। इसीलिये वह सर्वज्ञ है। इच्छा रूप क्रीडा का कौतुकी भी वही, ज्ञान रूप

शासनेत्यादिना पतिशिवशब्दयोर्निवचनमाह

शासनरोधनपालनपाचनयोगात्स सर्वमुपकुरुते ।
तेन पतिः श्रेयोमय एव शिवो नाशिवं किमपि तव ॥१०४॥

शासनं शास्त्रोपदेशादिना बोध्यानां बोधनं। रोधनं संसारिणां त्रिलय-शक्त्या आघ्रातत्वात् तत्रैवावस्थापनं। पालनं यथास्थितस्य विश्ववैचित्र्यस्य नियतनियन्त्रणया तथैव स्थापनात्मकं संरक्षणं। पाचनं कर्मणां कर्मिणः प्रति फलदानौन्मुख्यजननम्—

प्रकाश का प्रतीक सर्वज्ञ भी वही और समस्त क्रियामय भी वही (देव) है। समस्त का तात्पर्य पूर्णता से है। क्रिया तो विमर्श ही है। यह विमर्श ही उसका स्वभाव है। परम शिव की दो शक्तियाँ हैं। १-दृक् (ज्ञान) ओर २-क्रिया (विमर्श) ये दोनो उसके गुण हैं। शक्तियाँ हैं। इस प्रकार चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया मय वह परम शिव है, यह सिद्ध हो जाता है।

तीनो श्लोकों में वर्णित विषय क्या सिद्ध करते हैं? इसका निष्कर्ष क्या है? इनके उत्तर में केवल एक शब्द में दे रहे हैं 'गतिः' से। ज्ञान, गमन, प्राप्ति और मोक्ष ये चारों गति के अर्थ यहाँ परम शिव देव में चरितार्थ हैं। केवल गति सामान्य शब्द का ही व्यवहार यहाँ किया गया है। किसी विशेष शब्द से कथन नहीं है। इस लिये गति से सामान्य अर्थ रूप ज्ञान मान लेने में कोई हर्ज नहीं। ज्ञान प्रकाश रूप होता है। अपनी किरणें फैलाता है। इस लिये किरण जाल का प्रसार भी अर्थ की परिधि में आ जाता है। इससे उसकी सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसलिये दीव्यति क्रीडा की (इच्छा करता है), जानाति (जाता है) और प्रसरति (विश्वमयता का उल्लास करता है) इन तीनों का कौतुकी 'वही देव है। 'देव शब्द पर आधृत इस व्याख्या में उसके पंचकृत्यों की ओर भी संकेत है॥ १०१-११३ ॥

इसी विषयका उपसंहार कर रहे हैं—

'शिवतनु' शास्त्र में गुरुवर्य बृहस्पति ने उक्त निर्वचनों के आधार पर ही (उस सर्वशिक्तमान् को) 'देव' कहा है।

"इस तरह वह वामदेव" क्रीडा करता है, (विजिगीषा करता है, व्यवहार करता है, द्योतित होता है और मोदमग्न रहता है। स्वात्म में विश्व को विवश रखता है, कान्ति का प्रसार करता और गतिशील रहता है। इस लिये वह प्रभु है।" इत्यादि। और भी कहा है—

उक्तं हि

'स्वापेऽप्यास्ते बोधयन्बोधयोग्यान् रोध्यान्रुन्धन्पाचयन्कर्मिकर्म ।
मायाशक्तीर्व्यक्तियोग्याः प्रकुर्वन् सर्वं पश्यन् यद्यथावस्तुजातम् ॥'

इति। तेन इति रक्षणार्थपर्यवसायिनोऽपि पतिशब्दस्य शासनादिकारकत्वेन हेतुना इत्यर्थः। अत एव पाति रक्षति इति पतिः। श्रेयोमयः पराद्वयस्वभावत्वात्। अशिवम् इति द्वैतम् ॥ १०४ ॥

"वह अविहत गति है। इस लिये उसे सदा शिव कहते हैं।" यहाँ तक उक्त विषय का विवेचन निगमन और विश्लेषण उस ग्रन्थ में किया गया है ॥

शासन इत्यादि श्लोक के माध्यम से पति शब्द का विमर्श कर रहे हैं–

शासन, रोधन, पालन, पाचन योग से वह सबको उपकृत करता है। इससे वह पति है, रक्षक है और श्रेयः साधक है। इसलिये वह शिव है। उसके महापरिवेश में अशिव कुछ भी नहीं है ॥

शासन का अर्थ शास्त्रका उपदेश और उसके द्वारा साधकों का उद्बोधन है। विषय ग्रस्त अणु रूप सकल पुरुष विलय शक्ति द्वारा मानों सूँघ लिये जाते हैं। जैसे सुरभि सूँघने से हृदय में अवस्थित सी हो जाती है, वैसे ही सूँघे हुए अणु उसी विलय में अवस्थित हो जाते हैं। विश्व वैचित्र्य जैसा है, उसे उसी रूप में नियति के द्वारा नियन्त्रित कर उसी प्रकार रखना और उसको संरक्षण देना 'पालन' है। कर्म की परम्परा में विषयोन्मुख प्राणी फलाकाँक्षा से सदा कर्मोन्मुख रहता है। फल देने की ओर अणु जनों की यह उन्मुखता ही पाचन है। क्योंकि यही कहा गया है—

"मोह निद्रा में मुग्ध अणु रूप सकल पुरुष समुदाय में जितने वे सभी हैं बोध के (उपदेश के या माग दर्शन के) अधिकारी हैं, उनको ज्ञान का प्रकाश देते हुए (उन्हें कृतार्थ करता है। यह उसका बोधन या शासन है।) रोध्यों का रोधन, कर्म में फल की आशा से लगे लोगों को कर्म फल प्रदान, मायात्मक शक्तियों को अभिव्यक्ति योग्य बना कर सबका पालन, जा जिस रूप में है, उस समस्त वस्तु समुदाय को रखते हुए उपकृत करता है।

श्लोक में प्रयुक्त 'तेन' शब्द शक्ति समुच्चय की ओर संकेत करता है। इन सब रक्षण, रोधन, पालन आदि समर्थ्य से संवलित होने के कारण वह शक्तिमान् पति है। वह शासन आदि सभी काम करता है। इसलिये 'पाति (रक्षति) इति पतिः' विग्रह के अनुसार वह पति है। उसका स्वभाव पराद्वय भावात्मक है। इस लिये वह स्वयं श्रेयस् रूप ही है। परम अद्वैत भाव में

ननु एवमपि किं विशेषणयोगेन, इत्याशङ्क्याह

ईदृग्रूपं कियदपि रुद्रोपेन्द्रादिषु स्फुरद्येन ।
तेनावच्छेदनुदे परममहत्पदविशेषणमुपात्तम् ॥ १०५ ॥

ईदृक् इति भैरवादिशब्देष्वन्वर्थगत्या दर्शितम् । कियत् इति किंचिदेव, न तु सर्वम्, एतत् हि अंशांशिकया सर्वत्रैव संभवेत् इति भावः । अत एव अन्यव्यवच्छेदेन सर्वातिशयप्रतिपादनार्थं परममहत्पदलक्षणं विशेषणमुक्तम् ॥ १०५ ॥

ननु अज्ञानं संसृतौ निमित्तं, ज्ञानं च मोक्षे, स्वस्वरूपाख्यातिश्चाज्ञानं तत्ख्यातिश्च ज्ञानं, स्वात्मनश्च स्वरूपं परः प्रकाशः, स एव च स्वं रूपं स्वेच्छया

समाहित होना ही सर्वोत्तम श्रेय है। यही शिवत्व है। शिवत्व का साधक है। इसलिये 'शिव' है। वहाँ 'अशिव' कुछ भी नहीं है। द्वैत और द्वन्द्व ही अशिव है। शिव में अशिवत्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शिव का 'स्व' भाव ही सर्वत्र उल्लसित है ॥१०४॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसे सर्वातिशायी तत्त्व के लिये विशेषण की क्या आवश्यकता ? इस आशङ्का का निराकरण कर रहे वे—

चूंकि ऐसा रूप कुछ कुछ अंशों में रुद्र और उपेन्द्र आदि तत्व प्रतिनिधियों में स्फुरित हो सकता है। इसलिये अवच्छेदों के निराकरण के उद्देश्य से परम महत् पद रूप विशेषण का प्रयोग किया गया है।

'ईदृग्' शब्द उसी प्रकार के सादृश्य से संवलित अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ पहले 'भैरव' और देव शब्दों का निर्वचन किया गया है। अन्वर्थ दृष्टि से उनका व्युत्पत्ति परक और पारम्परिक अर्थ दिखलाया गया है। उसी प्रकार के अन्वर्थ 'रुद्र' या 'उपेन्द्र' आदि अन्य शब्दों में भी हो सकते हैं। हाँ, ये अर्थ उनमें सर्वांशतः नही हो सकते। अंशांशिक रूप से तो हो ही सकते हैं। इस लिये यह आवश्यक था कि अन्यान्य स्थलों को अलग करके ही निर्वचन किया जाय। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिये विशेषण शब्दों के प्रयोग किये गये। समस्या थी उस सर्वातिशायी सर्वोत्कृष्ट स्वरूप के निगमन की। अतः उसके लिये परम और महत् सरीखे विशेषण चुनकर प्रयोग किये गये जिनसे उसकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध हो जाय ॥१०५॥

संसृति में अज्ञान ही कारण है। मोक्ष में ज्ञान को कारण मानते हैं। 'स्व' स्वरूप की अख्याति को अज्ञान कहते हैं और 'स्व' रूपकी ख्याति को

प्रच्छाद्य विश्वरूपतामवभासयेत्। एवमपि तदधिगमे तच्छक्तिरेवोपायो, येन स्वरूपख्यातिर्भवेत् इयदेव च ज्ञातव्यम् यत्सर्वेषामेव शास्त्राणां प्रतिपाद्यं तच्च इह उक्तप्रायम् इत्यत एव विरन्तव्यम् इत्याशङ्क्याह

इति यज्ज्ञेयसतत्त्वं दर्श्यते तच्छिवाज्ञया।
मया स्वसंवित्सत्तर्कपतिशास्त्रत्रिकक्रमात् ॥ १०६ ॥

'इत्युपोद्‌घातः'। इति–उक्तेन प्रकारेण यत् ज्ञेयस्य बन्धमोक्षादेः शास्त्रान्तरदृष्टत्वात् सतत्त्वं पारमार्थिकं रूपम् अर्थादिह संक्षेपेण उट्टङ्कितम्, तन्मया शिवाज्ञया स्वसंविदादि अवलम्ब्य च दर्श्यते–विस्तरेण उच्यते इत्यर्थः। शिवोऽत्र गुरुः।

'यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च ॥'

इति, नहि अत्र तदादेशमन्तरेण अधिकार एव भवेत् इति भावः।

ज्ञान। परप्रकाश ही स्वात्म का स्वरूप है। वही अपने रूप को स्वेच्छा से आच्छादित कर विश्वरूपता को अवभासित करता है। ऐसा होने पर भी उसकी प्राप्ति में उसकी शक्ति ही उपाय बनतीहै। तभी 'स्व' रूप की ख्याति होतीं है। इतना ज्ञातव्य है कि समस्त शास्त्रों का प्रतिपाद्य वही है।

यहाँ तक प्रायः सारा तत्त्ववाद कहा ही जा चुका है। अब आगे कहने की कोई आवश्यता नहीं। ग्रन्थ यहीं रोक देना उचित है। इस कथन का उत्तर दे रहे हैं—

यह कथन एक तरह से ठीक लगता है पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि ज्ञेय का विषय असीम है। बन्ध अज्ञान जन्य और मोक्ष ज्ञान जन्य होता है। इतना कहकर रुक जाने से बात नहीं बन सकती। इन विषयों पर विभिन्न शास्त्रों के विभिन्न मत हैं। उनके अनेकानेक परम उपयोगी पारमार्थिक दृष्टिकोण हैं। यद्यपि मैंने यह सब संक्षेप से लिखने का प्रयास किया है (पर इतना ही पर्याप्त नहीं) अब मैं शिव की आज्ञा के अनुसार अपनी संवित् शक्ति और अपने सत्तर्क आदि का अवलम्बन कर इस रहस्य-गर्भ आगमोपनिषद् का विस्तार पूर्वक विवेचन करने जा रहा हूँ। शिव की आज्ञा का अर्थ यहाँ गुरुदेव की आज्ञा है। यहाँ शिव गुरु अर्थ में ही प्रयुक्त है—

"जो गुरु है, वही शिव है और जो शिव है, वही गुरु है। इन दोनों में अन्तर नहीं है। न गुरु में और न शिव में।'

स्वसंवित् स्वानुभवः। सत्तर्को युक्तिः। पतिशास्त्रं भेदप्रधानं शैवम्। त्रिकं परादिशक्तित्रयाभिधायकं शास्त्रम्। क्रमः चतुष्टयार्थः। समाहारेऽयं द्वन्द्वः। इह सर्वमेव स्वानुभवेन युक्त्या सामान्यागमेन विशेषागमेन च सिद्धमुपदिश्यते इत्यागमः। उपोद्घात इति उप—आशु संक्षेपेण ऊर्ध्वमादौ हन्यते टंक्यते दीनार इव राजाभिधानं शास्त्रार्थो यस्मिन् स तथा॥ १०६॥

तदेवं प्रतिज्ञाय शास्त्रार्थगर्भीकारेण संप्रति अवतारयितुमाह

तस्य शक्तय एवैतास्तिस्रो भान्ति परादिकाः।
सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तेनैता द्वादशोदिताः॥ १०७॥

वास्तव में गुरुदेव के आदेश के बिना शास्त्रार्थ प्रकाशन का अधिकार हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त अपनी संवित् शक्तिका प्रयोग भी आवश्यक है। 'संवित् पर-विमर्श को कहते हैं। अपनी संवित् का तात्पर्य अपने स्वयं के अनुभवों से है। शुद्ध विकल्प को सत्तर्क कहते हैं। भेदवाद के वृक्ष को काटने वाला कुठार ही सत्तर्क है। पाशबद्धता पर गिरने वाला वैचारिक वज्र ही सत्तर्क है। इसे युक्ति भी कहते हैं। गुरु के आदेश, आत्म संवित् और सत्तर्क के अतिरिक्त मैंने भेद प्रधान शैव मतवाद-प्रतिपादक 'पतिशास्त्र' का, 'त्रिकसिद्धान्त का और 'क्रम' का भी अवलम्बन आवश्यक माना है। 'त्रिक' परा, अपरा और परापरा शक्तियों का प्रतिपादक नय है। 'क्रम' शब्द क्रमिकता और 'क्रम' दर्शन पक्ष दोनों अर्थों की ओर संकेत कर रहा है। क्रमिकता अर्थ में व्याकरण दृष्ट्या यहाँ समाहार द्वन्द्व समास है।

यहाँ सब कुछ सारा का सारा प्रतिपादन अपने अनुभव के आधार पर तो किया ही गया है। युक्ति द्वारा सामान्य और विशेष आगमिक दृष्टिकोणों का आश्रय लेकर जो सार निष्कर्ष रूप सिद्ध वस्तु है-उसका भी उपदेश किया गया है। यही 'आगम' की परम्परा का रूप है। उपोद्घात शब्द में उप+उद्+घात तीन अंश हैं। उप समीप अथवा शीघ्र अर्थ में प्रयुक्त उपसर्ग है। 'उद्' का ऊपर अर्थ है और ज्ञात का अर्थ घन की जोरदार चोट से उभरा हुआ ठप्पा है। मुद्राओं में जैसे ऊपर शासन की मुहर या शासक के चित्र आदि के ठप्पे साँचे द्वारा उभार दिये जाते है, उसी तरह अब तक का सारा उल्लेख आगमिक साँचे के ठप्पे का ऊपरी उभार है। शासन द्वारा वह मुद्रा तभी मान्य हो सकती है॥ १०६॥

इस प्रकार प्रतिपादन को प्रतिज्ञा के उपरान्त इस समय शास्त्र के रहस्य गर्भ अर्थों का अवतरण कर रहे हैं—

तस्य परमेश्वरस्य भैरवादिशब्दाभिधेयस्य, एताः निखिलशक्त्यन्तर-गर्भीकारेण प्रधानतया प्रतिपादिताः परादिकास्तिस्रः शक्तयः, सृष्टौ; स्थितौ, लये संहारे, तुर्ये, अनाख्ये च भान्ति–सर्वसर्वात्मकेन रूपेण स्फुरन्ति इत्येकैकस्याः चातूरूप्येण श्रीसृष्टिकाल्याद्यात्मकतया द्वादशधोदय इति वाक्यार्थः। तदु तं

'धाम्ना त्रयाणामप्येषां सृष्ट्यादिक्रमयोगतः।
भवेच्चतुर्धावस्थानमेवं द्वादशधोदितः॥
स्वसंवित्परमादित्यः प्रकाशवपुरव्ययः।' इति ॥१०७॥

ननु एक एव परप्रकाशात्मको भैरवादिशब्दव्यपदेश्यः परमेश्वरः समस्ति, तस्य चाभिन्ना एकैव स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः इत्युपपादितं, तत्कथमस्य इह द्वादशधोदय इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

उस परमेश्वर की ही 'परा' आदि तीन शक्तियाँ सृष्टि, स्थिति, संहार और चौथी (अनाख्य) दशा में (शाश्वत) उल्लसित हैं। (परिणामतः) ये १२ बारह प्रकार से उदित होती हैं।

इन तीनों के उल्लास के ४ क्षेत्र हैं। १–सृष्टि, २–स्थिति, ३–संहार और ४–तुर्य (अनाख्य दशा)। इससे एक एक के चार रूप हो जाते हैं। सृष्टि काली आदि बारह रूपों में इनका उदय होता है। यही इस प्रकार गया है—

"इन तीन प्रकाश प्रतीकों का सृष्टि आदि के क्रमिक योग से चार चार प्रकार की स्थिति बनती है। इस तरह इनका ३×४=१२ द्वादशधा उदय होता है। (जिनकी ये शक्तिया हैं) वे स्वात्म संवित् प्रकाश के उत्स परमादित्य प्रकाश शरीर अव्यय (परम शिव) हैं"॥ १०७ ॥

इस प्रतिपादन से एक समस्या उत्पन्न हो गयी। वस्तुतः एक ही पर प्रकाशरूप भैरव आदि शब्दों के द्वारा अभिहित परमेश्वर अस्तित्व में उल्लसित है। वह स्वयम् एक है और उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति भी एक ही है, जिसका प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। यहाँ, उसका द्वादशधा उदय होता है–यह कहा गया है। ऐसा क्यों ? इसका समाधान करते हैं—

(उन १२ शक्तियों का एकाश्रय) वह पूर्ण स्वभाववान् प्रभु ही है। उसे **'परम शिव' कहते हैं। इसी लिये सारे उपासक साक्षात् परम शिव में ही अपनी निष्ठा रखते हैं।**

तावान्पूर्णस्वभावोऽसौ परमः शिव उच्यते ।
तेनात्रोपासकाः साक्षात्तत्रैव परिनिष्ठिताः ॥ १०८ ॥

तावान् इति–द्वादश शक्तयः परिमाणमस्य, स तथा, अत एव पूर्णस्वभावः इत्युक्तं । पूर्णे सर्वमस्ति, सर्वत्र पूर्णमस्ति, अन्यथास्य पूर्णतैव न स्यात् । अत एव अत्र द्वादशात्मके चक्रे ये उपासकाः ते तत्र परमशिवे एव परिनिष्ठिताः–तदैकात्म्यभाजो भवन्ति इत्यर्थः । एतच्च बहुप्रघट्टकवक्तव्यम्, इति शाक्तोपायाह्निक एव वितत्य विचारयिष्यते, इति नेहायस्तम् ॥ १०८ ॥

ननु कथमेतद्युक्तं—यतोऽत्र संख्यायाः तत्र तत्र न्यूनत्वमाधिक्यं च संभवति ?, इत्याशङ्क्याह

तासामपि च भेदांशन्यूनाधिक्यादियोजनम् ।
तत्स्वातन्त्र्यबलादेव शास्त्रेषु परिभाषितम् ॥ १०९ ॥

उक्त बारह शक्तियों का परिवेश उसी का परिवेश है। ये शक्तियाँ उस पूर्ण परमेश्वर की परिमाण हैं। तभी तो उसे पूर्ण कहते हैं। पूर्णता इनको लेकर ही है। जो पूर्ण है, उसमें सब कुछ समाहित होता है। साथ ही सर्व में भी पूर्णता परिव्याप्त है। बिना इसके उसकी पूर्णता चरितार्थ कैसे हो सकती है ?

इसी लिये इस द्वादशात्मक चक्र में (गुरु परम्परानुकूल) उपासना करने वाले सभी उपासकों की आत्यन्तिक निष्ठा परम शिव में ही है। उसी में ऐकात्म्य भाव से साधक ओत प्रोत रहते हैं। यह प्रसङ्ग विविध रहस्यों से भरा होने के कारण इसके उद्घाटन के लिये बहुत स्थान की अपेक्षा होगी। इस लिये उचित यही होगा कि शाक्तोपाय आह्निक में विस्तार पूर्वक इस पर विचार किया जाय। अतः यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है ॥१०८॥

संख्या के न्यूनत्व और आधिक्य की संभावना के बावजूद यह द्वादशधा निर्देश क्यों ? इसका उत्तर दे रहे हैं –

उन शक्तियों की भेदात्मक न्यूनाधिक्य आदि की योजना भी उनके स्वातन्त्र्य के आधार पर ही होती है। यह आगमिक शास्त्रों में परिभाषित है। इसी बात को कह रहे हैं—

वही एक वीर है और यामल शक्ति से युक्त है। वह तीन शक्तियों से सम्पन्न है। चार रूपों वाला है। पंचमूर्त्ति है। इसी तरह क्रमशः वह भैरव १२ अरों वाले चक्र का नायक है।

तदेवाह

एकवीरो यामलोऽथ त्रिशक्तिश्चतुरात्मकः ।
पञ्चमूर्तिः षडात्मायं सप्तकोऽष्टकभूषितः ॥ ११० ॥
नवात्मा दशदिक्छक्तिरेकादशकलात्मकः ।
द्वादशारमहाचक्रनायको भैरवस्त्विति ॥ १११ ॥

यथा एकवीरो मृत्युजिति प्रथमध्याने । यामलः तत्रैव । कुलप्रक्रियायां तिस्रः शक्तयः पराद्याः । चतुरात्मा जयादिभेदेन । पञ्चमूर्तिः सद्योजातादितया । तदुक्तं

'सिद्धान्ते पञ्चकं सारं चतुष्कं वामदक्षिणे ।
त्रिकं तु भैरवे तन्त्रे.................................॥'

इति । षडात्मा इति, यद्वक्ष्यति

'विश्वा तदीशिका रौद्री वीरका त्र्यम्बिका तथा ।
गुर्वीति षडरे देव्यः......................................॥'

इति । सप्तकः इति, यदुक्तं

वह एक है । वीर भाव युक्त है । 'शिवः परमकारणाम्' के अनुसार मृत्युंजय रूप से प्रथमतः ध्यातव्य है । शिव और शक्ति के संघट्ट से विश्व का निर्माण होता है । इस रूप में वह यामल भाव सम्पन्न है । परा, अपरा और परापरा इन तीन शक्तियों से संवलित है । जया आदि शक्तियों से तथा जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य अवस्थाओं से चतुरात्मक है । सद्योजात, ईशान, तत्पुरुष, वामदेव और अघोर रूपों से यह पंच मूर्त्यात्मक है । कहा गया है—

"सिद्धान्त मतवाद के अनुसार पांच की ही मान्यता है । वाम दक्षिण तन्त्र में चतुष्क रूप ही मान्य है और भैरव तन्त्र में त्रिक की ही मान्यता है ।..... ....।" वह षडात्मा है । षडात्मत्व की चर्चा आगे भी करेंगे—

"विश्वा, विश्वेशी, रौद्री, वीरका, त्र्यम्बिका तथा गुर्वी ये छः अरे देवी चक्र के हैं ।............।"

वह सप्तरूपों में रूपायित है । कहा गया है—

'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा चेति मातरः ॥'

इति। अष्टकेन अघोरादिना। स एव एतदष्टकमध्यवर्त्ती नवात्मा। दशदिक्छक्तिः इति, यदुक्तं

'उमा दुर्गा भद्रकाली स्वस्ति स्वाहा शुभङ्करी।
श्रीश्च गौरी लोकधात्री वागीशी दशमी स्मृता ॥'

इति। एकादश इति खण्डचक्रोक्ता। इयदन्तं न्यूनसंख्यास्वीकारः भैरवः इति त्रयोदशः। अनेन अधिकसंख्यासूत्रणम् ॥ ११०-१११ ॥
तच्च अधिकसंख्याकत्वं निरवधि, इत्याह

एवं यावत्सहस्रारे निःसंख्यारेऽपि वा प्रभुः।
विश्वचक्रे महेशानो विश्वशक्तिर्विजृम्भते ॥ ११२ ॥

"ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा ये सात मातृ शक्तियाँ हैं।" इनसे वह शाश्वत संवलित है। अतएव सप्तात्मक है।

अष्टक भूषित है। अघोर भैरव की आठ कलायें शास्त्रों में प्रतिपादित हैं। वह नव रूपों में भी व्यक्त है। प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश, सदाशिव और शिव इन नव सूक्ष्म रूपों में उल्लसित है। मातृका के आठ वर्ग भी उन्हीं के रूप हैं।

इस अष्टक में रहने के कारण वह नवात्मा भी है। दिशाओं की दश शक्तियों का आश्रय वही है। कहा गया है—

"उमा, दुर्गा, भद्रकाली, स्वस्ति, स्वाहा, शुभङ्करो, श्रीः, गौरी, लोकधात्री और वागीशी ये दश दिशाओं की दश शक्तियाँ हैं।"

भैरव एकादश कलात्मक है। 'एकादशपदिका देवी' इस उक्ति के अनुसार अ,उ,म्, विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, मादान्त, व्यापिनी, शक्ति, और समना ये पर-भैरव शक्ति के सूक्ष्मावस्थान हैं। ये उनकी कलायें भी हैं। वस्तुतः भैरव की ३८ कलायें मुख्य हैं। साधक की दृष्टि से इन ११ ग्यारह कलाओं का महत्व है। उन्मना को ग्रहण कर लेने पर चक्र के १२ अरे पूरे हो जाते हैं। यह द्वादशार महा चक्र है। इसका नायक भैरव देव ही है। यह १३ वां तत्व यहाँ परिगणित है। इस निर्वचन में कम से कम अधिक संख्या का आसूत्रण संकेतित है। ११०-१११॥

सहस्रारे इति त्रिशिरोभैरवप्रथमपटलोक्ते। ग्रन्थविस्तरभयात्तु न प्रतिपद्येन संवादितम्। निःसंख्यारे इति भुवनादीनामानन्त्यात्। एवमपि एतस्मान्न व्यतिरिक्तम्, इत्याह विश्वशक्तिः इति। तदुक्तं

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः॥'

इति॥ ११२॥

ननु विश्वेषामपि चक्राणां यदि प्रभुरेव परमार्थः तदेकेनैव कार्तार्थ्यात् प्रतिशास्त्रं बहूनि किमुक्तानि ?, इत्याशङ्क्याह

तेषामपि च चक्राणां स्ववर्गानुगमात्मना।
ऐक्येन चक्रगो भेदस्तत्र तत्र निरूपितः॥ ११३॥

अधिक संख्याओं की तो सीमा ही नहीं है। वह तो अनन्त है ही। इसी तस्य को स्पष्ट कर रहे हैं—

अधिक संख्याओं की सीमा में उसे नहीं बाँधा जा सकता। वह सर्व शक्तिमान् विश्व-चक्र में स्वात्म विस्तार करता है। इसी लिये वह महेशान है। उन्मना के नीचे सहस्रार चक्र है। इसमें १००० अरे हैं। निखिलविजृम्भमाण ब्रह्माण्ड विस्तार तो निःसंख्य अरों का चक्र है। (इस लिये सीमा की उपलब्धि में असीम भी उपलक्षित है)।

सहस्रार चक्र का वर्णन रुद्रयामल से लेकर विभिन्न आगमिक ग्रन्थों में है। यहाँ त्रिशिरो भैरव का नाम और उसके प्रथम पटल का भी उल्लेख आचार्य जयरथ ने किया है। विस्तार भय से इसका अधिक प्रतिपादन नहीं किया गया है। निः संख्य अर्थ के अनन्त अरों वाले चक्रों की कल्पना अनन्त अनन्त भुवनों के कारण की गयी है। असीम अनन्तता के बावजूद वह भैरव-प्रभाव की सीमा से अलग नहीं है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर 'विश्व शक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। कहा गया है—

''शक्ति और शक्तिमान् दो पदार्थ माने जाते हैं। शक्तिमान् की शक्तियाँ ही यह सम्पूर्ण संसार है। और शक्तिमान् तो महेश्वर ही हैं॥११२॥

समस्त चक्रों का परमार्थ यदि प्रभु ही है, तो बस एक से ही कृतार्थता हो जाती, फिर अनेकानेक शास्त्रों द्वारा इस कथन की क्या आवश्यकता ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

ऐक्येन तत्तत्सृष्ट्याद्यात्मनियतकृत्यकारित्वादिना साजात्येन। तच्च नियतकृत्यकारित्वादेव अस्य स्वर्गानुगमात्मकत्वमुक्तम्, अत एव चक्रगो भेद इति शास्त्रेषु चक्राणामानन्त्यम् ॥ ११३ ॥

तदेव दर्शयति

चतुष्षड्द्विर्द्विगणनायोगात्त्रैशिरसे मते।
षट्चक्रेश्वरता नाथस्योक्ता चित्रनिजाकृतेः ॥ ११४ ॥

चतुर्णां द्विगणनायोगेन अष्टौ, पुनस्तथात्वेन षोडश, षण्णां द्विगणनायोगेन द्वादश, पुनस्तथात्वेन चतुर्विंशतिः इति षण्णां चक्राणामीश्वरता, तत्तत्समुल्लास्यचक्राद्युपाधिवैचित्र्याच्चित्रा—नानाकारा, तदतिरिक्तस्य अन्यस्य अनुपलम्भात् निजाकृतिः यस्य, अत एव नाथस्य स्वातन्त्र्यशालिनः तत्तच्चक्राधिष्ठातुः प्रभोः त्रैशिरसे मते त्रिशिरोभैरवे उक्ता अभिहिता इत्यर्थः।

उन चक्रों के भी स्ववर्गीय अनुरूप साजात्य के कारण अनन्त भेद सम्बन्धित शास्त्रों में वर्णित हैं। अनन्त सृष्टि की अनेक रूपता स्वाभाविक है। सर्वत्र विभिन्न नियत निर्धारित कृत्यों की प्रक्रिया में साजात्य रूप एकता भी अवश्यंभावी है।

ऐक्य का कारण नियत व्यापारों की समान क्रियाशीलता ही है। निर्धारित कृत्यकारिता के सादृश्य से वर्गों की कल्पना की गयी है। जहाँ जहाँ वर्गों की सदृशता अनुभूत हुई—उसी को ध्यान में रख कर चक्र सम्बन्धी भेद भी निरूपित किये गये हैं। यही कारण है कि शास्त्रों में वर्गो के साजात्य की दृष्टि से चक्रों की असीमता का निरूपण किया गया है ॥११३॥

वही आनन्त्य स्पष्ट कर रहे हैं—

चार और छः के दो-दो बार 'वर्ग' करने पर ४,८,१६ और ६,१२,२४ संख्याओं की ६ राशियाँ होती हैं। ये छः चक्र हैं। इनकी ईश्वरता वही सर्वसमर्थ स्वामी करते हैं। चित्र विचित्र रचना रूप अपनी आकृति में सक्षम प्रभु की चक्रेश्वरता त्रैशिरस शास्त्र में स्पष्ट उल्लिखित है।

द्विगणना योग का अर्थ संख्याओं का वर्ग है। ४ का वर्ग आठ और आठ का पुनः वर्ग करने पर १६। इसी तरह ६ की वर्ग संख्या १२ और १२ की वर्ग संख्या २४ होती है। इस तरह ६ः चक्र होते हैं। प्रश्न है कि इन चक्रों का ईश्वर कौन है ? स्वामी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होता है। 'नाथ' भैरवदेव स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न हैं। वे आश्चर्यजनक रूप से स्वात्म भित्ति में ही आकृतियों

तदुक्तं तत्र

'चतुष्कं षट्काष्टकं द्वादशारं षोडशारकम् ।
चतुर्विंशारकं देवि प्रविभक्त्या सुसंस्थितम् ॥'

इत्यादि ॥ ११४ ॥

बहुप्रकारत्वं चक्राणां भेदनिमित्तमपि त्रिशिरोभैरव एवोक्तम्, इत्याह

नामानि चक्रदेवीनां तत्र कृत्यविभेदतः ।
सौम्यरौद्राकृतिध्यानयोगोन्यन्वर्थकल्पनात् ॥ ११५ ॥

उक्ता इति पूर्वश्लोकाल्लिङ्गादिविपरिणामाद् योज्यम् । एक एव हि परमेश्वरः तत्तत्साधककामानुसारं नियतां सौम्यरौद्रादिरूपाम् आकृतिमाभास्य तां तां सिद्धि नियच्छेत् । तदुक्तं

'येन येन हि रूपेण साधकः संस्मरेत्सदा ।
तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणिरिवेश्वरः ॥'

का उल्लास करते हैं । वे स्वयम् उनके अधिष्ठाता हैं। चक्र आदि औपाधिक वैचित्र्य से जो आकृति उल्लसित होती है, वैसी आकृति दूसरी नहीं होती । इस लिए वह पदार्थ की निजाकृति भी कहलाती है। वह निजा कृति भी उसी सर्वाधिष्ठाता प्रभु की ही आकृति होती है । यह सव त्रैशिरस् शास्त्र में उल्लिखित है—

"हे देवि चार, आठ और सोलह अरों से समन्वित तथा छः बारह तथा चौबिस अरों वाले चक्र अलग-अलग विभक्त रूप से तथा सम्यक्तया अवस्थित हैं ।" इत्यादि ॥११४॥

चक्रों की अनन्तता का कारण भी त्रिशिरो भैरव शास्त्र में ही उक्त है। वही कह रहे हैं—

त्रिशिरो भैरव में चक्रदेवियों के नाम कृत्य-भेद के अनुसार ही रखे गये हैं। साधक के सौम्य ध्यान के अनुसार सौम्य नाम और रौद्र ध्यान के अनुसार अन्वर्थ नामों की कल्पना की गयी है ।

साधक अपनी सिद्धिकी कामना से उपासना में प्रवृत्त होता है । यदि उसने इष्ट के सौम्य रूप का ध्यान किया तो भगवान् उसी रूप आकृति को स्वीकार करने में विलम्ब नहीं करते। इसी प्रकार रूद्रध्यान पर रौद्र रूप ग्रहण कर लेते हैं । आकृतियों को उन्हीं रूपों में आभासित करते हुए ययेच्छ सिद्धि प्रदान करते हैं । कहा गया है—

इति। श्रीत्रिशिरोभैरवप्रथमपटलाच्च अयमर्थः स्वयमेवाधिगन्तव्यः। अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तारभयात् न प्रातिपद्येन संवादितम् ॥११५॥

तदेवाह

एकस्य संविन्नाथस्य ह्यान्तरी प्रतिभा तनुः।
सौम्यं वान्यन्मितं संविदूर्मिचक्रमुपास्यते ॥११६॥

आन्तरी प्रतिभा स्वातन्त्र्यशक्तिः। अन्यत् इति रौद्रम्। अत एव तत्तत्सौम्यरौद्रादिनियताकारावच्छिन्नत्वात् मितम् ॥११६॥

एतदेव विभज्य दर्शयति

एकस्य संविन्नाथस्य ह्यान्तरी प्रतिभा तनुः।
सौम्यं वान्यन्मितं संविदूर्मिचक्रमुपास्यते ॥ ११६ ॥
अस्य स्यात्पुष्टिरित्येषा संविद्देवी तथोदितात्।
ध्यानात्संजल्पसंमिश्राद् व्यापाराच्चापि बाह्यतः ॥ ११७ ॥

"जिस जिस रूप से साधक अपने इष्ट का स्मरण करता है, ईश्वर चिन्तामणि के समान तद्रूप हो जाता है।" ॥ ११५ ॥

वही कह रहे हैं—

एक मात्र स्वात्म संविद् प्रसार के अधीश्वर परमेश्वर का शरीर उनकी आन्तरिक प्रतिभा है। इसी लिये सौम्य, रौद्र या मित संविदूर्मिचक्र की उपासना की जाती है।

आन्तरी प्रतिभा उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति है। सौम्य का दूसरा पक्ष रौद्र ही होता है। इस प्रकार कभी सौम्य और कभी रौद्र आकार ग्रहण कर लेने के कारण एक सीमित परिवेश आ जाता है। यही नियताकार की स्वीकृति है। यही संविद् का उर्मिचक्र है। यही उपास्य है॥ ११६ ॥

इसी को विभक्त कर प्रदर्शित कर रहे हैं—

इस तथ्य की पुष्टि हो इसी हेतु यह संविद् देवी उसी रूप में उदित होती है। संजल्प से मिश्रित ध्यान से और बाह्य व्यापार से भी संवित् स्फुट हो जाती है। साधक के लिये वह उसी रूप में फल प्रदान करती है। उसीकी पुष्टि होती है। सूखे तालाब का जल से भराव ही पुष्टि भाव है। स्थिरता में जल श्वेत हो जाता है। इसी तरह ध्यान का अनुगम करना चाहिये। पुष्टि में ध्यान ही प्रधान है।

स्फुटीभूता सती भाति तस्य तादृक्फलप्रदा ।
पुष्टिः शुष्कस्य सरसीभावो जलमतः सितम् ॥ ११८ ॥
अनुगम्य ततो ध्यानं तत्प्रधानं प्रतन्यते ।
ये च स्वभावतो वर्णा रसनिःष्यन्दिनो यथा ॥ ११९ ॥
दन्त्यौष्ठ्यदन्त्यप्रायास्ते कैश्चिद्वर्णैः कृता सह ।
तं बीजभावमागत्य संविदं स्फुटयन्ति ताम् ॥ १२० ॥
पुष्टिं कुरु रसेनैनमाप्याययतरामिति ।
संजल्पोऽपि विकल्पात्मा किं तामेव न पूरयेत् ॥ १२१ ॥
अमृतेयमिदं क्षीरमिदं सर्पिर्बलावहम् ।
तेनास्य बीजं पुष्णीयामित्येनां पूरयेत्क्रियाम् ॥ १२२ ॥

इन पद्यों में साधना का एक क्रम बताया गया है। साधक ध्यान में बैठता है। ध्यान में उसे एक अपूर्व सुख मिलने लगता है। इस सुख को शास्त्र 'पुष्टि' कहता है। ध्यान में संवित् शक्ति अनुरूप आकार ग्रहण कर उदित होती है। अन्य व्यापारों में भी यही होता है। संविद् देवी ध्यान और बाह्य व्यापारों के अनुरूप स्फुट हो जाती है।

साधक 'पुष्टि' की आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। तालाब ग्रीष्म में सूख जाता है। उसका तल प्रदेश फट जाता है। बरसात में वह भर जाता है। उसका जल भी स्वच्छ हो जाता है। जल आप्यायक भी होता है। यही दशा साधक पुरुष की होती है। पहले कञ्चुक कलङ्कों के आतङ्क से ग्रस्त रहता है। वहीं साधना में आनन्दानुभूति के अमृत से ओतप्रोत हो उठता है। यही 'पुष्टि' दशा है। इस लिये ध्यान की प्रधानता ही सर्वमान्य है। क्यों कि ध्यान ही पुष्टि का प्रयोजक है।

संजल्प दो प्रकार का होता है। १-अलौकिक व २-लौकिक। संजल्प विकल्पात्मक होता है। इसको चर्चा श्लोक १०२ में भी है। जो वर्ण स्वाभाविक रूप से रसामृत स्रावी हैं, वे दन्तौष्ठ्य हैं अथवा दन्त्य हैं। ये कुछ अन्य वर्णों के साथ 'बीज' बन जाते हैं। परिणामतः पुष्टि रूप संविद् को स्फुट बना देते हैं।

ध्यानाद्येव क्रमेण निरूपयति–पुष्टिरित्यादिना। ततः इति समनन्तरोक्ताद्धेतोः। अतः इति पुष्टेः शुष्कस्य सरसीभावापादानलक्षणत्वात्। जलं हि आप्यायकं तत्प्रधानं पुष्टिप्रयोजकम् पूर्णमित्यादिरूपम्। संप्रति संजल्पमपि लौकिकालौकिकभेदेन द्विधा व्याचष्टे–ये च इत्यादिना। ते इति दन्त्योष्ठ्यदन्त्यप्राया वर्णाः। तां संविदं पुष्टिरूपां। बीजभावं मन्त्रभावम्। अत एवास्य संजल्पस्यालौकिकत्वम्। दन्त्योष्ठ्या वकारादयः। दन्त्या अमृतबीजादयः। कैश्चिद्वर्णैरिति अदन्त्योष्ठ्यप्रायादिभिः। यदुक्तं

'वषडाप्यायने शस्तः......................।'

इति। तथा

'वकारस्य दन्त्यौष्ठयम्' के अनुसार 'व' का उच्चारण स्थान दांत और ओठ दोनों है। दन्त्यवर्ण लृ तवर्ग ल और स हैं। ये कुछ वर्णों के साथ मिल कर बीज भाव को प्राप्त करते हैं अर्थात् मन्त्र बन जाते हैं।

उकार उन्मेष है। अकार अनुत्तर है। उन्मेष रूप 'उ' जब अनुत्तर 'अ' से मिलता है तो 'व' की उत्पत्ति होती है। इसका अर्थ है–परमशिव से समुत्पन्न अजर अमर शाश्वत सर्ग। यह अमृत है। यह आनन्द रसका प्रस्रवण करने वाला तत्त्व है। इसी तरह के दन्त्य वर्ण भी कुछ अदन्त्य वर्णों के संयोग से मन्त्रात्मक हो जाते हैं। उनमें अलौकिक शक्ति की ऊर्जा शाश्वत स्फुरित होती है। यह ज्ञान साधक गुरुजनों से प्राप्त किया जा सकता है। मन्त्रों का स्फुरितार्थ है–'जापक की पुष्टि करो'। 'साधक को अमृतत्व से आप्यायित करो।' कुछ संजल्प लौकिक होते हैं, विकल्पात्मक होते हैं फिर भी वे साधक की पुष्टि करते हो हैं ॥११९-१२०-१२१॥

संजल्प मिश्रित ध्यान के अनन्तर बाह्य व्यापार के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण ग्रन्थकार व्यक्त कर रहे हैं। बाह्य व्यापार भी तुष्टि कारक हैं। अतएव सारी क्रिया ही अमृतमयी होती है। इसमें हवन की विधि का बड़ा महत्त्व है। दूध से बने, सने पदार्थों, दहीं और घी से हवन किया जाता है। सर्पिष् शब्द घी वाचक है। दही के लिये कहा गया है–

१—अदन्त्यअन्यवर्णों में वषट् और वौषट् या फट् की गणना की जाती है। ये भी आप्यायक होते हैं। 'ष' 'ट्' इनमें मूर्धन्य हैं। आदि शब्द में फट् नमः स्वाहा आदि की गणना हो सकती है।

'पुष्टावाप्यायने वर्गः....................।'

इति। एवं मूर्धन्यादीनामपि ग्रहणम्। विकल्पात्मा इत्यनेन अस्य लौकिकत्वं दर्शितम्। तामिति पुष्टिरूपां संविदम्। इदानीं बाह्यमपि होमादिरूपं व्यापारं विभजति अमृता इत्यादिना। क्षीरं दधि। तदुक्तं

'दधिहोमात्परा पुष्टिः....................।'

इति। बलावहशब्देन प्रत्येकं संबन्धः। तेन इति गडूच्यादिना द्रव्यजातेन। बीजम् इति शरीरकारणभूतं शुक्रशोणितादि धातुव्रातम्। एनाम् इति पुष्टिरूपां क्रियाम् ॥११७-१२२॥

एतदेव प्रमेयान्तरमुपक्षिपन् उपसंहरति

तस्माद्विश्वेश्वरो बोधभैरवः समुपास्यते।
अवच्छेदानवच्छिद्भ्यां भोगमोक्षार्थिभिर्जनैः ॥ १२३ ॥

"दधि होमसे आत्यन्तिक पुष्टि (होती है).........।"

सर्पिष् के हवन से बल की वृद्धि होती है। इसमें ओषधियों का हवन भी लाभ दायक होता है। जैसे गुडुचि, बिल्व आदि। 'तेन' से इन्हीं का भाव संकेतित है। इनसे शरीर के कारण रूप वीर्य की पुष्टि होती है। साथ ही साथ शुक्र और रक्तादि धातुओं में भी शक्ति का संचार होता है। अतः ध्यान साधना में लगा हुआ साधक पहले संजल्पों को मन्त्रात्मक अलौकिक, फिर उसके लौकिक और व्यावहारिक विकल्पात्मक और इसके बाद बाह्य व्यापारादि (हवन आदि) कार्यों का सम्पादन करे। इस प्रकार पुष्टि दशा की उपलब्धि होती है ॥ १२२ ॥

इसी तथ्य का प्रमेयान्तर के उपक्षेप पूर्वक उपसंहार कर रहे हैं—

अत एव विश्वेश्वर बोध-भैरव भोग्य के उपभोग की इच्छा वाले और मोक्ष की इच्छा वाले साधकों के अवच्छेद विधि द्वारा और अनवच्छेदात्मक रूप से भी उपासना के आश्रय बनते हैं।

उपासक दो प्रकार के होते हैं। १—भोगेच्छु और मोक्षेच्छु। भोग में जागतिक वासनाओं की पूर्त्ति का आनन्द भी मिलता है और उपासना के माध्यम से इष्ट की स्मृति अनुभूति का भी वातावरण बना रहता है। मोक्ष विधि के अनुरूप यह नहीं होता। अवच्छिन्नता इसमें बनती रहती है। साधक ध्यान की नियत विधियों को अपनाता है और उन्हीं नियत विधियों से नियंत्रित भी होता रहता है।

अवच्छेदानवच्छिद्भ्याम् इति, अवच्छेदः समनन्तरोक्तनोत्या ध्यानादिनियतविधिनियन्त्रितत्वं, तदन्यथात्वमनवच्छेदः। यद्वक्ष्यति

'साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः।
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः॥'

इति। भगवतश्च एतत्सावच्छेदमपि रूपम् अनवच्छिन्नपरस्वरूपानुप्राणितमेव, नहि तत्स्वरूपानुप्रवेशं विना किंचिदपि सिद्ध्येत् ॥१२३॥

एतदेव शब्दार्थद्वारकं गीताग्रन्थेन संवादयति

येऽप्यन्यदेवताभक्ता इत्यतो गुरुरादिशत्।

इत्यतः—इत्येवमादिकात् वाक्यकदम्बकादित्यर्थः। गुरुरिति तात्त्विकार्थोपदेष्टा भगवान्वासुदेवः। तत्र हि

इसके विपरीत मोक्ष की आकांक्षा से प्रतिक्षण विलक्षण आनन्द से ओत-प्रोत साधक किसी नियत विधि का आश्रय नहीं लेता। किसी आंशिकता का सहारा नहीं लेता, अपि तु निरंशात्मक उपासना करता है। यह निरर्गल रागात्मक उपासना होती है। इस प्रकार विश्वाधिपति बोधमय भगवान् भैरव की उपासना उपासकों में अनवरत रूप से चली आ रही है। समुपास्यते का कर्मवाच्यात्मक वर्त्तमान इसी ओर संकेत कर रहा है। यही तथ्य इन शब्दों के द्वारा व्यक्त करेंगे—

"भोगेच्छु साधकों की विधि नियति से नियन्त्रित है। मोक्ष की आकांक्षा वाले मुमुक्षु साधकों की प्रक्रिया विधि-निषेध द्वारा रहित होती है।"

यह ध्यान देने की बात है कि भगवान् के अवच्छेद युक्त रूप भी अनवच्छिन्न निरंश परात्पर रूप से ही अनुप्राणित रहते हैं। यह ध्रुव सत्य तथ्य है कि उस 'स्व' रूप में अनुप्रवेश के बिना कुछ भी हाथ लगने वाला नहीं है। इस लिये उपासक को सतंत जागरूक रहकर साधना प्रक्रिया का परिष्कार करते रहना चाहिये॥ १२३ ॥

गीता का उद्धरण देकर शब्द और अर्थ दोनों माध्यमों द्वारा उसी तथ्य को प्रमाणित कर रहे हैं—

'येऽप्यन्य देवता भक्ता' ये शब्द गीता के हैं[1]। इन शब्दों और इनके अतिरिक्त अन्य वाक्यों द्वारा (यही तथ्य) गुरुरूप भगवान् कृष्ण ने (गीता में) कहा है॥

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता ९।२३।

'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥'

इत्यादिना ।

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।'

इत्यादिना च भोगार्थिनाम्,

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥'

इत्यादिना च मोक्षार्थिनाम्, अवच्छेदानवच्छेदाभ्यां क्रमेण स्वरूपमभिधाय पुनः सावच्छेदेऽपि रूपेऽनवच्छिन्नं रूपम् अस्त्येव इत्यभिधातुम्

उक्त उद्धरण से वाक्यों के समूह का भी अध्याहार करते हैं। 'गुरु' शब्द भी यहाँ गीता का उपदेश देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण के लिये प्रयुक्त है। क्योंकि वहाँ (कहा गया है)—

"त्रयीवेदविद्या के अनुयायी, सोमतत्त्व या सोम रस का पान करने वाले विगतकल्मष याज्ञिक, यज्ञ द्वारा ही यजन कर स्वर्गति की प्रार्थना करते हैं[1]। वे पुण्यात्मा पुण्य प्राप्त कर सुरेन्द्र लोक में जाकर दिव्य भोगों का उपभोग करते हैं॥ तथा—

"पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः मर्त्यलोक में परावर्त्तित होते हैं[2]॥
इन वाक्यों द्वारा भोगवादियों को संसृति का कथन किया गया है। तथा—

"जो साधक जन अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए अच्छी तरह उपासना करते हैं, वे नित्य और सब तरह से (मुझमें) युक्त रहते हैं। मैं स्वयम् ऐसे उपासकों का योग क्षेम वहन करता हूँ[3]॥

इस श्लोक में भगवान् द्वारा मोक्षार्थी उपासकों के उत्तरदायित्व वहन करने की बात कही गयी है। उपर्युक्त दो उद्धरणों में अलग अलग अवच्छेदक सन्दर्भों के द्वारा यह बताया गया है कि भोगार्थियों की गति नियति-नियन्त्रित होती है। तीसरे उद्धरण द्वारा यह कहा गया है कि अनवच्छिन्न गति भगवदाश्रित रहती है। नीचे के चौथे उद्धरण से यह स्पष्ट कर रहे हैं कि—अवच्छेदमय विकल्पों में जीने वाले लोगों में भी एक अवच्छिन्न स्वरूपापत्ति की सम्भावना रहती ही है—

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता—९।२०, २. वही ९।२१, ३. वही ९।२२,

'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥'

इत्यादिना तेनोपदिष्टम् ॥

एतदेव व्याचष्टे

ये बोधाद्व्यतिरिक्तं हि किंचिद्याज्यतया विदुः ॥ १२४ ॥

तेऽपि वेद्यं विविश्वाना बोधाभेदेन मन्वते ।

ये याजका बोधाद् वेदित्रेकस्वभावात् स्वात्मरूपाद्व्यतिरिक्तमन्यत् तत्तन्नियताकारमिन्द्रादिदैवतं याज्यतया विदुः जानीयुः, ते विच्छिन्ननियताकारवत्त्वात् वेद्यमपि इन्द्रादिरूपं दैवतं श्रद्धातिशययोगान् गाढगाढं विमृशन्तः

"जो भक्त श्रद्धा से युक्त भाव से अन्य देवताओं का यजन करते हैं, वे भी विधि-पूर्व के विपरीत करते हुए भी वस्तुतः मेरी ही भक्ति करते हैं[१] ।" यह सब श्रीमद्भगवद् गीता में परम गुरु द्वारा उपदिष्ट किया गया है ॥

इसी सन्दर्भ को व्याख्यायित कर रहे हैं--

जो साधक बोध के अतिरिक्त याज्य के रूप में (किसी देवता आदि को) स्वीकार करते हैं, वे भी वेद्य को बोध से अभिन्न ही मानते हैं ।

बोध का स्वरूप वेदिता का अपना रूप ही होता है। इसके अतिरिक्त वेद्य इन्द्र आदि हैं। उनके आकार आदि नियत हैं। वहाँ अवच्छेदकता है, फिर भी उपासक उन्हें यजनीय मानता है। श्रद्धा की अधिकता के कारण वह ऐसे वेद्य को भी बोधमय स्वीकार कर लेता है। ऐसे विमर्श में रत साधक के लिये—

"वेद्य भी वेदक होता है। वेदक संवित् स्वरूप हो जाता है। संवित् तो (हे भगवन् !) तुम्हारा रूप ही है। इस प्रकार यह सारा विश्व ही तुम्हारा रूप है (यह सिद्ध हो जाता है) ।"

इत्यादि मान्यता के अनुसार साधक उसको बोध से अभिन्न और परप्रमाता रूप स्वात्म सदृश ही मानता है ॥ १२४ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग को यज्ञ कहते हैं। अतः देवता वही है जिसको उद्देश कर द्रव्य का त्याग किया जाय। बोध स्वरूप स्वात्मतत्त्व को उद्देश्य कर ऐसा कभी नहीं किया जाता। फिर इसमें याज्यत्व कैसे ?—इसी आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

१. वही ९।२३ ।

'वेद्यो वेदकतामाप्तो वेदकः संविदात्मताम् ।
संवित्त्वदात्मा चेत्सत्यं तदिदं त्वन्मयं जगत् ॥'

इत्यादिन्यायेन बोधाभेदेन—परप्रमात्रेकरूपस्वात्ममयत्वेन अवबुध्यन्ते इत्यर्थः ।

ननु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो याग इत्युक्तेः द्रव्यत्यागार्थमुद्दिष्टैव देवता भवति, न च बोधैकरूपस्य स्वात्मतत्त्वस्य तथात्वेन उद्देशोऽस्ति, कथमस्य याज्यत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

तेनाविच्छिन्नतामर्शरूपाहन्ताप्रथात्मनः ॥ १२५ ॥
स्वयंप्रथस्य न विधिः सृष्ट्यात्मास्य च पूर्वगः ।
वेद्या हि देवतासृष्टिः शक्तेर्हेतोः समुत्थिता ॥ १२६ ॥
अहंरूपा तु संवित्तिर्नित्या स्वप्रथनात्मिका ।

तेन बोधात्मत्वेन हेतुना, अस्य—स्वात्मतत्त्वस्य, **'सकृद्विभातोऽयमात्मा'** इति न्यायेन अनवच्छिन्नतया प्रवृत्ताविरतेन रूपेण पराहंप्रकाशपरामर्शमयस्य, अत एव स्वयंप्रथस्य—प्रमाणादिनैरपेक्ष्येण स्वतःसिद्धस्य, विधिः—अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मा, पूर्वभावी, तथा सृष्ट्यात्मा—तत्तत्सिद्धिसाधनस्वभावो न भवतीत्यर्थः ।

बोधात्मक होने के कारण वह अविच्छिन्न पराहन्तापरामर्श स्वरूप परमेश्वर स्वयं प्रथित है। उसके पूर्व-भावी सृष्टि आदि कोई विधि नहीं है। देव सृष्टि वेद्य है। शक्ति के द्वारा ही वह उल्लसित है; किन्तु अहमात्मक संवित् नित्या शक्ति है एवं स्वप्रथात्मिका है।

नित्य बोधात्मक होने के कारण बोधरूप स्वात्मतत्त्व के पूर्व सृष्टि की कोई विधि नहीं होती। इस बोध भैरव के दो वैशिष्ट्य यहाँ वर्णित हैं। १—वह अविच्छिन्न परामर्श रूप अहन्ता की प्रथा से प्रथित है। २—वह स्वयं सिद्ध है। श्रुति वाक्य "आत्मा सकृत् विभा से विभास्वर है" के अनुसार अनवच्छिन्न रूप से शाश्वत प्रभामय और परामर्शमय आत्मा है। इसको सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

यह निश्चित है कि बोध ही उसका 'स्व' भाव है। वह स्वात्मतत्त्व है। वह किसी अवस्था में विधि का विषय नहीं बन सकता; क्योंकि उसमें विधि की परिभाषा चरितार्थ नहीं होती।

न खलु बोधस्वभावं स्वात्मतत्त्वं विधिविषयतामापद्यते—तस्य विधिप्राप्त्यभावात्, यावदप्राप्तं हि विधेर्विषयः, न च स्वात्मनः कदाचित् अप्राप्तिरस्ति—आदिसिद्धतया सर्वदैव स्फुरणात् ।

ननु विधेर्नियोगभावनाद्यात्मतया बहुविधत्वमुक्तम्, स्वात्मा पुनः कस्य विधेर्विषयतां न भजते ? इत्याशङ्क्याह

विधिर्नियोगस्त्र्यंशा च भावना चोदनात्मिका ॥ १२७ ॥

विधिः अप्रवृत्तप्रवर्तको, न पुनरज्ञातज्ञापकः । यदाहुः

'विधेर्लक्षणमेतावदप्रवृत्तप्रवर्तनम् ।
अतिप्रसङ्गदोषेण नाज्ञातज्ञापनं विधिः ॥'

इति । स्वर्गयागयोश्च साध्यसाधनभावमवबोधयतोऽस्यैव विधेः तावत्प्रवर्तकत्वं—यत् सप्रत्ययस्य पुंसः 'प्रवृत्तोऽहम्' इति ज्ञानजननम् । स च 'नियोग'

अप्रवृत्त का प्रवर्त्तन ही विधि है। कभी अप्रवृत्त नहीं अपितु अनवरत प्रवृत्त है। अप्राप्त ही विधि का विषय होता है। स्वात्म की कभी अप्राप्ति नहीं थी, न है, न होगी। यह आदि सिद्ध है और संवित् शक्ति द्वारा शाश्वत स्फुरित है।

जहाँ तक देव सृष्टि का प्रश्न है, यह वेद्य है। शक्ति से स्फुरित है, किन्तु संवित्ति नित्य है, अहं-विमर्श-रूपा तथा स्वयं सिद्ध तत्त्व है ॥१२५-१२६॥

विधि नियोग और भावना आदि भेदों से अनेक हैं। स्वात्मा फिर किस विधि विषयता को प्राप्त नहीं होता ? इसका उत्तर दे रहे हैं--

विधि अप्रवृत्त का प्रवर्त्तक होता है। अज्ञात का ज्ञापक नहीं होता। नियोग नित्य अनुष्ठेय धर्म है। क्रिया को प्रवर्त्तिका प्रेरणा ही भावना है।

विधि के सम्बन्ध में उक्ति है –

"विधि का यही लक्षण है कि यह अप्रवृत्त का प्रवर्त्तन करता है। यह अज्ञात का ज्ञापक नहीं होता; क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसङ्ग दोष होता है।"

'स्वर्गकाम व्यक्ति यज्ञ करे' इस वाक्य में स्वर्ग और यज्ञ इन दोनों में साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है। इस बोध को प्रवर्त्तिका ही विधि है। जिसे यह प्रत्यय है, उस श्रद्धालु पुरुष को ज्ञात होता है कि, मैं इसमें प्रवृत्त हूँ। इस जानकारी से काम में लगना ही 'नियोग' है।

इति प्राभाकरैरुक्तः, 'भावना' इति भाट्टैः । तत्र तिङादिप्रत्ययवाच्यः 'प्रवर्तितोऽहम्' इति प्रेरणात्मकः कार्यात्मा अनुष्ठेयो धर्मो नियोगः। स च इत्यादावनुबन्धद्वयावच्छिन्नः प्रतोयते । याज्यादिना

'दार्श-पौर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः ।'

हि अस्य विषयानुबन्ध उच्यते । 'स्वर्गकामः' इत्यनेन च अधिकारानुबन्धः, अत एव च द्व्यनुबन्धबान्धवो 'नियोगः' इत्युद्घोष्यते । कंचित् क्वचिन्नियुंक्ते इति नियोगस्वरूपम् इति । 'भावना' च भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारः, भाव्यं स्वर्गादि-फलं, तन्निष्ठस्तदुत्पादकः पुरुषव्यापारो भावना। पुरुषो हि भवन्तं स्वर्गा-दिकमर्थं स्वव्यापारेण भावयति इति भावना इत्युच्यते। सा च द्विविधा-शब्दभावना अर्थभावना च इति। तस्याश्च किं, केन, कथं भावयेद् इति अंशत्रयापेक्षत्वात् त्र्यंशत्वम् । तदुक्तम्

'सा धातोः प्रत्ययाद्वापि भावनावगता सती ।
अपेक्षतेंऽशत्रितयं किं केन कथमित्यदः ॥'

यह 'प्रभाकर' मतवादी मीमांसक मानते हैं। 'भट्ट' मतवादी इसे काम में लगने को भावना मानते हैं।

उक्त श्रुति वाक्य में 'यजेत' 'यज्ञ करे' यह क्रिया शब्द है। यज् धातु है। इसमें प्रयुक्त प्रत्यय, विधि अर्थ में मध्यम पुरुष में है। यह विधि लिङ् का लिङ् प्रत्यय है। 'मैं प्रवर्त्तित हूँ' इस वाक्यांश में एक प्रेरणा झलकती है। इसमें यज्ञ कार्य है। यह यज्ञ सम्पन्न करने योग्य धर्म है। यह भाव ही 'नियोग' है। यह—

"दर्श और पौर्णमास (विधियों द्वारा) स्वर्ग का अभिलाषी यज्ञ करे" इत्यादि वाक्य दो अनुबन्धों में बँधा प्रतीत होता है। जैसे—१--विषय और २—अधिकार। विषय और अधिकार ये दो अनुबन्ध जिसे परिबारित करते हैं--वही 'नियोग' है। किसी को कहीं नियुक्त करना ही नियोग का स्वरूप है।

'भाव्य' में निश्चय रूप से रहने वाले 'भावक' व्यापार को 'भावना' कहते हैं। भाव्य अर्थात् स्वर्ग आदि। इन भवनीय विषयों को कर्त्ता अपनी बुद्धि को सक्रियता से भावित करता है। यह वृत्ति ही भावना कहलाती है। यह दो प्रकार की होती है। १—शाब्दी भावना और २—आर्थी भावना। ये दोनों किं, कथं और केन ? अर्थात् क्या भावित करती है ? क्यों भावित करती है ?

इति। त्र्यंशा इति, तत्रार्थभावनायां 'किम्' इत्यपेक्षायां स्वर्गः, 'केन' इत्यपेक्षायां यागः, 'कथम्' इत्यपेक्षायां च व्रीह्यादि संबन्धनीयम्। एवं शब्दभावनायामपि, 'किम्' इत्यपेक्षायां भाव्या पुरुषप्रवृत्तिः, 'केन' इत्यपेक्षायां शब्दः, 'कथम्' इत्यपेक्षायाम् अर्थवादवाक्यव्यापारः संबन्धनीयः। चोदना वैदिकं विधायकं वाक्यम्। यदाहुः

'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्।'

इति। एतच्चोभयत्रापि संबन्धनीयम्। तच्च प्रमाणान्तर-प्रतिपन्नमेव अर्थमभिदधत् प्रमाणतां लभते, तं चार्थं साधयति।

'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्।'

इत्यादौ निर्वपणादिवदुद्दिष्टा इन्द्राद्या देवता अपि विधेयाः—द्रव्यदेवतासंबन्धस्यैव साक्षात्प्रतिपाद्यत्वात्॥ १२७॥

और किसके द्वारा भावित करती है? इन तीन प्रश्नांशों की अपेक्षा के कारण त्र्यंश रूप मानी जाती है। कहा गया है—

"वह 'धातु' से या 'प्रत्यय' से भी अवगत होती हुई तीन अंशों की अपेक्षा करती है। ये तीनों किं, कथं और केन रूप हैं।"

यही भावना का त्र्यंशरूपत्व है। इसमें अर्थभावना की दृष्टि से 'किं' (क्या) का उत्तर 'स्वर्ग' है। केन (किसके द्वारा) का उत्तर 'याग' है और कथं (क्योंकर) का उत्तर यज्ञ-हविष्य है। इसी तरह शब्दभावना में भी 'किं' से पुरुष की भाव्या प्रवृत्ति, 'केन' से 'शब्द' और कथं से अर्थवादी वाक्य का व्यापार अपेक्षित है। चोदना के विषय में कहते हैं—

"क्रिया का प्रवर्त्तक वचन ही चोदना है"।

यह शाब्दी और आर्थी दोनों पक्षों में योजित की जाती है। यह अन्यान्य प्रमाणों से सिद्ध अर्थों को व्यक्त करती हुई स्वयं प्रमाण बन जाती है और उस अर्थ को सिद्धि की ओर अग्रसर कर देती है।

"इन्द्र और अग्नि सम्बन्धी ११ कपालों का निर्वपण करे" इत्यादि वाक्यों के अनुसार निर्वपण आदि के समान इन्द्र आदि देवता भी विधेय होते हैं; क्योंकि द्रव्य और देवता का सम्बन्ध ही साक्षात् प्रतिपाद्य है।

प्रभाकर के अनुसार यजेत इस वाक्य में याग विषयक नियोग के आधार पर वाक्य में अन्वय होने के बाद कार्य का व्युत्पन्न अर्थ पृथक् प्रतीत होता है। इसलिये वे अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं। वहीं कुमारिल मानते

तदेवाह

तदेकसिद्धा इन्द्राद्या विधिपूर्वा हि देवताः ।
अहंबोधस्तु न तथा ते तु सवेद्यरूपताम् ॥ १२८ ॥
उन्मग्नामेव पश्यन्तस्तं विदन्तोऽपि नो विदुः ।
तदुक्तं न विदुर्मां तु तत्त्वेनातश्चलन्ति ते ॥ १२९ ॥

विधिपूर्वाः—विधिरेव पूर्वं पूर्वभावि अनधिगतार्थप्रकाशनात्मकं प्रमाणं यासां ताः तथोक्ताः, स्वात्मव्यतिरिक्ता हि देवताः वेद्यप्रायाः प्रमाणान्तराप्रतिपन्नाः शास्त्रेण साध्यन्ते इति युक्तः पक्षः । अहंबोधैकरूपः पुनः स्वात्मा पूर्वोक्तयुक्त्या सदैव प्रकाशमानत्वाद् न स्वसिद्धौ प्रमाणं किंचिदपेक्षते इति युक्तमुक्तम्--

---

हैं कि आकांक्षा, योग्यता आदि के आधार पर 'स्वर्गकामी यज्ञ करे' इसका बोध होता है। इसलिये ये अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं।

बोध की विधि से सम्बन्धित यह विश्लेषण मीमांसा शास्त्र पर आधारित है। इससे यह सिद्ध होता है कि बोध किसी विधि विषयता को प्राप्त नहीं होता। वह स्वयं सिद्ध तत्त्व है॥

इसी का समर्थन कर रहे हैं—

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि इन्द्र आदि देवता विधि पूर्व हैं और शास्त्र विधि से ही सिद्ध भी है। अहं बोध ऐसा नहीं होता। (जो देवताओं का यजन करते हैं) वे तो वेद्य रूपता को देखते हैं। उस अहमात्मक बोध को वे जानते हुए भी नहीं जान पाते। इसी आधार पर भगवान् वासुदेव कहते हैं कि वे मुझे नहीं जानते। इसलिये तत्त्वज्ञान से वे विचलित हो जाते हैं[1]।

इन्द्रादि देवता नियत आकार वाले हैं। इनके पहले, अर्थ के प्रकाशन का प्रमाण प्राप्त नहीं होता। विधि ही इनके पहले अप्रवृत्त का प्रवर्त्तन करती है। ये स्वात्मतत्त्व नहीं हैं, वेद्य हैं। इनकी सिद्धि दूसरे प्रमाणों से नहीं होती। ये केवल शास्त्र द्वारा ही प्रमाणित हैं।

स्वात्म तत्त्व तो केवल अहं बोध रूप ही होता है। यह शाश्वत प्रकाशमान है। अपनी सिद्धि में इसे किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। श्रीमद्भगवद्गीता में (९।२३) इसी आधार पर कहा गया है कि वे अविधि पूर्वक मेरी ही उपासना करते हैं।

१—श्रीमद्भगवद्गीता, ९।२४।

अविधिपूर्वकमिति। तदेवाह अहंबोध इति। तथा इति विधिपूर्व इत्यर्थः।

ननु यदि प्रमाणादिनैरपेक्ष्येणैव स्वात्मा स्वयं प्रकाशते किमिति न सर्वदैव सर्वेषाम्? इत्याशङ्क्याह—ते तु इत्यादि। त इति स्वात्मव्यतिरिक्तेन्द्रादिदेवतायाजकाः, तं सर्वदैव प्रकाशमानं स्वात्मानं- वेद्यवेदनान्यथानुपपत्त्या तदतिरिक्तस्य च अन्यस्य देवतात्वानुपपत्तेः, वस्तुतो विदन्तोऽपि न विदुः-वेद्यताया एव प्राधान्येन दर्शनाद् वेदित्रेकरूपतया न जानीयुः इत्यर्थः। अतश्च नियततत्तद्देवतादिरूपग्रहणेन च्यवन्ते इत्यर्थः। तदुक्तं तत्र

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।'

इति ॥ १२८-१२९ ॥

तदेव व्याचष्टे

चलनं तु व्यवच्छिन्नरूपतापत्तिरेव या।

अहंबोध विधिपूर्व नहीं; अपितु अविधि पूर्व ही होता है। 'अहं बोधस्तु न तथा' का यही तात्पर्य है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि विना प्रमाणों की अपेक्षा के ही स्वात्मा स्वयं प्रकाशित होता है, तो क्यों नहीं समान रूप से सबको सदैव प्रकाशित होता? इसका उत्तर है कि, स्वात्म के अतिरिक्त देव पूजन की आस्था वाले दो बातों पर ध्यान नहीं दे पाते। प्रथमतः देवताओं की उपपत्ति वेद्य-वेदन भाव से होती है, अन्यथा उनकी उपपत्ति नहीं हो सकती। दूसरे वेद्यता के अतिरिक्त किसी दूसरे की देवता के रूप में उपपत्ति नहीं होती। वे वेद्यता की प्रधानता स्वीकार करते हैं। वेदिता के स्वरूप पर ध्यान नहीं देते। परिणामतः वेदना रखते हुए भी संवेदन नहीं कर पाते और नियत निश्चित उन उन देवों की स्वीकृति के प्रभाव से स्वात्म बोध की समरस महानुभूति से च्युत हो जाते हैं। गीता में ठीक ही कहा है—"मुझे वे नहीं जान पाते। अतः तत्त्व (बोध) से च्युत हो जाते हैं" ॥ १२८-१२९ ॥

उसी को व्याख्यायित कर रहे हैं—

चलन अर्थात् अपने स्तर से स्खलन क्या है? (वह) तो व्यवच्छिन्न रूपता की स्वीकृति मात्र है। स्वात्म विस्मृति से अंशांशिक अनन्तवेद्यात्मक रूपों की मान्यता ही ऐसी स्थिति ला देती है।

एतदपि तत्रत्येन ग्रन्थेनैव संवादयति

देवान्देवयजो यान्तीत्यादि तेन न्यरूप्यत ॥ १३० ॥

तेन इति व्यवच्छिन्नरूपतापत्तिलक्षणेन हेतुना इत्यर्थः। यदुक्तं

'यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥'

इति ॥१३०॥

ननु यद्येवं कथमन्यदेवताभक्ता अपि यजन्ति इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

निमज्ज्य वेद्यतां ये तु तत्र संविन्मयीं स्थितिम् ।
विदुस्ते ह्यनवच्छिन्नं तद्भक्ता अपि यान्ति माम् ॥ १३१ ॥

तत्र इति स्वात्मव्यतिरिक्तायां देवतायाम्। तद्भक्ताः स्वात्मव्यति-

---

इस तथ्य को भी वहीं के उद्धरण से स्पष्ट कर रहे हैं—

देव याजक देवों को जाते हैं इत्यादि आंशिक सोच के निम्नस्तर को प्राप्त करने के आधार पर ही निरूपित किया गया है। गीता की उक्ति है—

"देवताओं में निष्ठा रखने वाले देवपूजक देवलोक को ही प्राप्त करते हैं। 'पितृ' नामक (देव समान पूज्य मृत पूर्वज जो 'स्वधा' से तृप्त होते हैं और पितृलोक में निवास करते हैं) आत्माओं की पूजा करने वाले पितृलोक में ही जाते हैं। भूत प्रेत की व्रत निष्ठा से प्रभावित लोग प्रेतत्व प्राप्त करते हैं। किन्तु मेरा यजन करने वाले (भाग्यशाली) लोग मुझको प्राप्त करते हैं" (गीता ९।२५) ॥१३०॥

यदि ऐसी बात है तो अन्य देवों के भक्त भी यज्ञ करते हैं-यह क्यों कहा ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

वेद्यता की (प्रधानता देने वाले उसमें) निमग्न रहते हुए भी उस देवता की संविद् रूप स्थिति को भी (यदि) अनवरत (उल्लसित) जानते रहते हैं, तो ऐसे भक्त भी मुझे प्राप्त करते हैं।

स्वात्मतत्त्व के अतिरिक्त वेद्यता के प्रतीक देवता की आस्था में डूबा हुआ व्यक्ति भी भक्ति करता है। वह उस देवता का भक्त होता है। ऐसे लोग भी परम स्वबोध रूप आत्मतत्त्व को प्राप्ति कर लेते हैं। उसमें शर्त है। यदि भाग्य से उनकी जानकारी के स्तर में उस देवता में भी संविन्मयता का उल्लास हो जाय। यदि वह यह समझने लगे कि इसमें भी अनवच्छिन्न स्वात्मतत्त्व ही सर्वात्मना उल्लसित है।

रिक्तदेवतायाजिन इत्यर्थः । माम् इति परबोधैकस्वभावम् आत्मानम् । अस्मिन् परमाद्वयमये संविन्मयतयावस्थानमेव यागः, तत्समापत्तिरेव च फलम् ॥१३१॥

ननु भगवद्वासुदेवेन उक्तस्य 'माम्' इति अस्मच्छब्दस्य तदेकवाचकत्वात् कथं बोधमात्राभिधायकत्वमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

सर्वत्रात्र ह्यहंशब्दो बोधमात्रैकवाचकः ।
स भोक्तृप्रभुशब्दाभ्यां याज्ययष्टृतयोदितः ॥ १३२ ॥

अत्र इति गीताग्रन्थे अनवच्छिन्नस्यैव बोधमात्रस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्, अत एव केवलस्यैव बोधस्य वाचकः पराम्रष्टा इत्युक्तम् । नहि प्रकाशाद्द्वितीयस्य अपोह्यस्य प्रतियोगिनः संभवोऽप्यस्ति–तस्य प्रकाशमानत्वाप्रकाशमानत्वविकल्पोपहतत्वात् । यस्तु शरीरादौ 'कृशोऽहम्' इत्यादिः अहंविमर्शः स विकल्प एव–शरीराद्यपेक्षया परस्य अपोह्यस्य प्रतियोगिनः संभवात् ।

इस परम अद्वयनय में संविन्मयता में अवस्थान को 'याग' मानते हैं। उस अखण्ड बोधमयता में अवस्थिति ही सर्वोत्तम श्रेय है। उसकी प्राप्ति ही इस स्थिति का फल है ॥१३१॥

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने 'अस्मद्' शब्द के कर्म एकवचन 'माम्' पद का प्रयोग किया है। यह एक का वाचक है। इससे कृष्ण को छोड़कर बोधमात्र का अभिधान कैसे किया जा सकता है। इसका उत्तर दे रहे हैं—

श्रीमद्भगवद्गीता में सर्वत्र 'अहं' शब्द का प्रयोग बोध मात्र को व्यक्त करता है। भोक्ता और प्रभु शब्दों के माध्यम से वही बोध याज्य और यष्टा रूप से स्फुरित होता है। श्रीकृष्ण बोध महाप्रकाश के ही प्रतीक हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में अखण्ड बोध मात्र के प्रतिपादन की इच्छा ही प्रधान है। इसलिये उसमें प्रयोग किया गया 'अहं' शब्द बोध का ही अर्थ प्रकट करता है। वस्तुतः प्रकाश (बोध) के अतिरिक्त इसके जोड़ का कोई ऐसा पदार्थ या तत्त्व नहीं है, जो इसका प्रतियोगी बन सके। प्रकाशमानता और अप्रकाशमानता दोनों के विकल्प सभी पदार्थों को प्रभावित किये हुए हैं। अतः सभी परतन्त्र हैं। जैसे 'मैं कृश हूँ' वाक्य में अपने में कृशता सम्बन्धी विचार व्यक्त है। यहाँ 'मैं' शब्द में शरीर आदि की अपेक्षा है। इस तरह एक अन्य प्रतियोगी की वैकल्पिक सम्भावना है।

ननु यदि बोध एव अप्रतिपक्ष एकोऽस्ति, तत्कथं 'मां यजन्ति' इत्यादौ याज्ययष्टृतया भेदः पारमार्थिकः स्यात्? इत्याशशङ्क्याह—स भोक्तृ इत्यादि। बोध एव उभयात्मना स्फुरित इति भावः। तदुक्तं तत्र

'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।'

इति ॥१३२॥

ननु एकश्च उभयात्मा च इति कथं संगच्छताम्? इत्याशङ्क्याह

याजमानी संविदेव याज्या नान्येति चोदितम्।
न त्वाकृतिः कुतोऽप्यन्या देवता न हि सोचिता॥ १३३॥

संविदेव याज्या इति उदितं—प्रतिज्ञातम्। न पुनः कुतोऽपि हेतोः अन्याकृतिः इन्द्रादिरूपा, सा च संविद् याजमान्येव, न पुनः अन्या—भिन्ना, याजमानी संविदद्वयमयी इत्यर्थः। सा हि एवं विधाकृतिः, आकृतिमती वा संविद्देवता नोचिता—संविदि भेदानुपपत्तेः, संविदतिरिक्तस्य च

प्रश्न है कि बोध ही एक मात्र ऐसा तत्त्व है, जिसका कोई प्रतिपक्ष नहीं होता। तो क्या 'मां यजन्ति' (मेरे लिये यज्ञ करते हैं) ऐसे प्रयोगों में याज्य और यज्ञकर्त्ता का भेद पारमार्थिक नहीं माना जायगा? इसका उत्तर ही तो इस श्लोक की द्वितीय अर्धाली है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बोध ही भोक्ता है। बोध ही प्रभु है। वही यजनीय है और वही यज्ञकर्ता भी है। बोध का ही यह सामर्थ्य है कि वह उभय रूपों में स्फुरित है। गीता का वचन है—"मैं ही सभी यज्ञों का भोक्ता भी हूँ और प्रभु भी मैं ही हूँ" ॥१३२॥

वह एक भी है और उभयात्मक भी। यह बात जँचती नहीं। इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

याजमानी संविद् ही याज्या होती है, दूसरी नहीं। वह कोई देवतात्मक आकृति या कोई भिन्न देवता है-यह कहना भी उचित नहीं।

गीता में या सर्वत्र सिद्धान्त रूप से मान्य है कि 'संविद्' ही याज्या है। कोई दूसरा ऐसा कारण प्रतीत नहीं होता, जिसके आधार पर यह कहा जाय कि इन्द्र आदि रूपों में स्फुरित कोई आकृति ही संविद्' है। वह तो मात्र 'याजमानी' है। किसी अवस्था में दूसरी नहीं; क्योंकि वह अद्वयमयी होती है। 'संविद्' की आकृति नहीं होती है। वह आकृति वाली कोई देवता भी नहीं है। संविद् में भेदवाद की गुंजायश नहीं। संविद् के अतिरिक्त अन्य सभी

जाड्यात् । न च जडस्य द्योतमानत्वाद्येकस्वभावं देवात्वं युज्यते इति स्वप्रकाशा संविदेव एका तत्तदात्मना स्फुरति इति युक्तमुक्तं 'स एव याज्ययष्टृतयोदितः, इति ॥१३३॥

अत एव च आदिसिद्धत्वात् संविदि न किंचिद्विध्यादि सिद्धिनिमित्त-मुक्तम् इत्याह

विधिश्च नोक्तः कोऽप्यत्र मन्त्रादि वृत्तिधाम वा ।

इह खलु वेदवाक्यानि मन्त्रब्राह्मणरूपत्वेन द्विधा । ब्राह्मणवाक्यान्यपि विध्यर्थवादनामधेयात्मकत्वेन त्रिधा । तत्र विधिवाक्यानां तावत् संविदि व्यापारो नास्ति इत्युक्तप्रायम् । एवं मन्त्रादेरपि तत्र नास्ति व्यापारः । यतो मन्त्रादिः वृत्तेः विधिव्यापारात्मनः क्रियाया धाम आश्रयः—तेन विना क्रियाया असंपत्तेः । न च संविदि वाच्यवाचकयाज्ययाजकभावाद्यात्मकः कश्चिद्भेदः संभवति, एक एव आदिसिद्धो बोध इति सिद्धम् ।

ननु यद्येवं तत्कथमयं जडाजडात्मा विश्वप्रसरः ? इत्याशङ्क्याह

सोऽयमात्मानमावृत्य स्थितो जडपदं गतः ॥ १३४ ॥

जाड्यधर्म से ग्रस्त होते हैं। जो जड है, उसमें द्योतमानता नहीं हो सकती । अतः स्वप्रकाशात्मिका एक संविद् ही उन-उन रूपों में स्फुरित होती है । 'याज्य और यष्टा के रूप से वही स्फुरित है ॥ १३३ ॥

'संविद्' आदि सिद्ध है। उसमें विधि आदि किसी सिद्ध निमित्त की स्थिति नहीं है। यही तथ्य प्रतिपादित कर रहे हैं—

संविद् में कोई विधि नहीं है। न वृत्ति के धाम मन्त्र आदि के व्यापार हो हैं।

वेदवाक्य मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग से दो प्रकार के तथा ब्राह्मण भाग भी विधिवाद, अर्थवाद और नामधेय भेद से कुल तीन प्रकार के होते हैं। इनमें विधिवाक्यों का संविद् में कोई व्यापार नहीं है। मन्त्र आदि का भी कोई व्यापार नहीं है; क्योंकि मन्त्र आदि विधि व्यापारात्मक क्रिया के आश्रय होते हैं। इसके विना क्रिया की पूर्त्ति ही नहीं हो सकती।

संविद् में वाच्य-वाचक, याज्य-याजक आदि किसी भाव भेद की कल्पना भी नहीं को जा सकती । वह आदि सिद्ध बोध है।

यदि ऐसी बात है तो यह जड़चेतनात्मक विश्व का प्रसार कैसे हुआ है ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

आवृतानावृतात्मा तु देवादिस्थावरान्तगः ।
जडाजडस्याप्येतस्य द्वैरुप्यस्यास्ति चित्रता ॥ १३५ ॥

आवृत्य इति स्वस्वरूपगोपनात्मिकया मायाशक्त्या संकोचवत्तामाभास्य इत्यर्थः । जडपदम् इति परप्रकाश्यभावराशिस्वरूपताम् इत्यर्थः। विश्वनिर्माणेच्छुर्हि परमेश्वरः प्रथमं स्वाव्यतिरिक्तमेव विश्वं प्रकाशयेत्', अयमेव च आदिसर्गः तत्र तत्रागमेषु उच्यते, अनन्तरं च यदास्य मायया सर्गचिकीर्षा भवति, तदा स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मदर्पणे अनन्तग्राह्यग्राहकद्वयाभाससन्ततीराभासयति, स्वाङ्गरूपभावराशिमध्यादेवि विदेहप्राणबुद्धिशून्यानि स्वगताहन्तात्मककर्तृतार्पणेन ग्राहकीभावयति, तदपरं शब्दादि च इदन्ताविषयतया चिद्रूपतातिक्रमणेन ग्राह्यतामापादयति, अत एव च देहादिः कर्तृतां ज्ञातृतां च स्वात्मनि धत्ते, तदितरच्च कार्यतां ज्ञेयतां च। अत एव चैषां जडाजडव्यपदेशः, तदाह 'आवृतानावृतात्मा' इति । एवमपि चास्य

वह परमेश्वर स्वात्म को आवृत कर माया के प्रभाव से संकुचित हो जाता है। उसका रूप आवृतानावृत होता है। देव योनि से लेकर स्थावर तक जड़चेतन रूप इस प्रसार का कहने के लिये दो भेद है; किन्तु इनके अनन्त भेद हैं।

स्वात्म का आवरण, स्वरूप-गोपन करने वाली माया शक्ति से होता है। उसी के प्रभाव से संकोच का आभास होता है। माया के द्वारा संकोच के भासित होते ही वह जड़ भाव को स्वीकार कर लेता है। वस्तुतः परमेश्वर विश्व के निर्माण की इच्छा होते ही सर्वप्रथम ऐसे विश्व का प्रकाशन करता है, जो उससे अतिरिक्त नहीं होता। उससे अनतिरिक्त उस सर्ग को आगमों में 'आदि सर्ग' कहा गया है।

उसके बाद जब माया के माध्यम से सर्जन की आकांक्षा होती है, तब स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा स्वात्मदर्पण में अनन्त-अनन्त ग्राह्य-ग्राहक रूप द्वैत भाव भासित हो उठते हैं। पहले अहन्ता की दृष्टि से ग्राहक भाव और फिर इदन्ता की दृष्टि से ग्राह्य भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

परिणामतः देह, प्राण और बुद्धि सभी अपने में कर्तृत्व और ज्ञातृत्व धारण कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त कार्यता और ज्ञेयता को भी स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिये इन्हें जड़ चेतनात्मक कहते हैं। श्लोक में 'आवृतानावृतात्म' शब्द का यही तात्पर्य है। इस तरह भेदभाव पनप उठता है। विचित्रता का

प्रकारवैचित्र्येण आनन्त्यम् इत्याह 'जड' इत्यादि, चित्रता इति तत्र जडस्य तावच्छब्दादिभेदेन, तस्यापि तारमन्द्रादिभेदेन बहुप्रकारत्वम्, अजडस्यापि सन्तानभेदेन आनन्त्येऽपि बन्धत्रयस्य तारतम्यादिभेदेन नानात्वम्। संकुचिता प्रमातारो हि तत्तत्कर्माशयानुसारेण प्ररिभ्राम्यन्तः तत्तदवस्थासु एकमपि स्वात्मानं धर्माधर्मादिबुद्धिभावरहितत्वेन तत्तदिच्छापरिष्कृतत्वेन च नानाकारतया--वैचित्र्येण जानते, जडं च विषयं सुखदुःखादिकारितया नानात्वेन परिविन्दन्ति इति ॥१३४-१३५॥

एवं वैचित्र्यस्य किं निमित्तम् इत्याशङ्क्याह

तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत् ।
तदुक्तं त्रिशिरःशास्त्रे संबुद्ध इति वेत्ति यः ॥ १३६ ॥

अनन्त चमत्कार सृष्टि को चमत्कृत करने लगता है। यही जड़-चेतनात्मक जगत् की चित्रता है।

आणव, कार्म और मायीय बन्धनों का क्रम इस चित्रता को विस्तार प्रदान करता है। सभी संकुचित प्रमाता अपने-अपने कर्मविपाक के अनुसार इस भ्रमात्मक इन्द्रजाल में फँस जाते हैं। अपनी उन प्राप्त अवस्थाओं में रहते हुए वस्तुतः एक ही स्वात्म-तत्त्व को अनेकता के वैचित्र्य के अनुसार अनेक रूपों में जानने लगते हैं। उनमें धर्माधर्म का विवेक नहीं रहता। विभिन्न इच्छाओं के परिष्कार से प्रभावित इनकी वह दृष्टि विषयाभिमुख हो जाती है। जड़ विषय की सुखात्मकता और दुःखात्मकता के आकलन में स्वता को सदा विस्मृत कर अज्ञता के अभिशाप से अभिशप्त हो जाते हैं ॥१३४-१३५॥

इस प्रकार के वैचित्र्य का निमित्त क्या है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ऐसे वे कौन रहस्यार्थ हैं, जिनके वैचित्र्य का विमर्श परमेश्वर का स्वतन्त्र भाव नहीं कर सकता ? त्रिशिरोभैरव ग्रन्थ में लिखा है कि जो इस रहस्य को जान जाते हैं, वे 'संबुद्ध हैं'।

विश्व के वैचित्र्य का उपक्रम कैसे और कहाँ से किसके द्वारा होता है-- यह तथ्य अभी-अभी प्रतिपादित किया गया है। परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के कारण निखिल अध्यवसाय सम्पत्ति का उद्भव होता है। इस रहस्य को जो जान लेता है, उसे सम्यक् रूप से बुद्ध कहते हैं। त्रिशिरः शास्त्र से त्रिशिरोभैरव अर्थ लेना चाहिये। वहाँ कहा गया है--

एतदेवार्थद्वारकं संवादयति–तदुक्तम् इत्यादिना । इति वैचित्र्यं यो वेत्ति स संबुद्धः—सम्यग्बुद्ध इत्यर्थः । त्रिशिरः शास्त्रे इति श्रीत्रिशिरोभैरवे । तत्र हि

'अन्यथा स्वल्पबोधस्तु तन्तुभिः कीटवद्यथा ।
मलतन्तुसमारूढः क्रीडते देहपञ्जरे ।।' इत्युपक्रम्य

'सम्यग्बुद्धस्तु विज्ञेयः·················।'

इत्यादिना च

'नानाकारैर्विभावैश्च भ्राम्यते नटवद्यथा ।
स्वबुद्धिभावरहितमिच्छाक्षेमबहिष्कृतम् ।।'

इत्यन्तं बहूक्तम् ।। १३६(अ) ।।

ननु देहादिर्ग्राहकतया अभिमतोऽपि जाड्याज्ज्ञेय एव इति तस्य कथमेवंविधज्ञानम् ? इत्याशङ्क्याह

ज्ञेयभावो हि चिद्धर्मस्तच्छायाच्छादयेन्न ताम् ।।१३६।।

"जो इन रहस्यों से परिचित नहीं है—संबुद्ध नहीं अपितु स्वल्प-बोध है, उसकी वही दशा इस संसार में होती है, जो मकड़ो के जाले में फँसे कीड़े को होती है। अथवा मकड़ी की तरह होती है। वह मायात्मक कमलों के तन्तुओं से विपशित रहते हुए भी इस शरीर पञ्जर से जागतिक क्रीडा में निमग्न रहता है।"

"वह सम्बुद्ध माना जाना चाहिये··········।।" इत्यादि से आरम्भ कर, "अनेक प्रकार के विभावों के द्वारा एक नट जैसे कठपुतलियों को नचाया करता है, उसी तरह आत्मविवेक से रहित और श्रेयस्करी भगवदिच्छा से बहिष्कृत (अणु) को (माया नचाती रहतो है)।" त्रिशिरो भैरव में यहाँ तक इस विषय का वर्णन है ।। १३६ (अ) ।।

प्रश्न उपस्थित होता है कि देहादि को एक तरफ ग्राहक स्वीकृत किया गया है। पुनः जड़भाव के कारण उसे ज्ञेय या ग्राह्य भी कहा गया, तो इस प्रकार की जानकारो कैसे हो ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ज्ञेयत्व ज्ञान का धर्म है। इसलिये ज्ञेय की छाया उस को आच्छादित नहीं करती। ज्ञेय का भाव चित् (ज्ञान) का ही धर्म है। 'मैं इस अर्थ (विषय) को जानता हूँ' इस वाक्य में विषय का कोई मूल्य नहीं; अपितु ज्ञान की ज्ञान रूपता का ही महत्त्व है कि उसके द्वारा विषय की जानकारी हुई।

ज्ञेयत्वं हि ज्ञानधर्मः, नहि अर्थं जानामि इत्यर्थस्य कश्चिदतिशयः';
अपि तु ज्ञानस्यैव तज्ज्ञानरूपता । तदुक्तमत्रापि च

'.......................ज्ञेयस्य ज्ञेयता ज्ञानमेव ।'

इति। अत एव च तेषां ज्ञेयानां सतां देहादीनां छाया स्वेनैव स्वस्य आवरकत्वायोगाद् न चितमाच्छादयेत्—आवृणुयात्, येनैवं-विधं ज्ञानं न स्यात्, तेन देहादावात्मग्रहेऽपि आत्मनो न काचिच्चिद्रूपताहानिः । तदुक्तं तत्रैव

'ज्ञेयस्वभावश्चिद्रूपस्तच्छाया नैव च्छादयेत् ।'

इति ॥ १३६ (आ) ॥

अत एवाह

तेनाजडस्य भागस्य पुद्गलाण्वादिसंज्ञिनः ।
अनावरणभागांशे वैचित्र्यं बहुधा स्थितम् ॥ १३७ ॥

इसो तथ्य को यहाँ कहा है--

"...............ज्ञेय की ज्ञेयता तो ज्ञान ही है ।"

इसलिये ज्ञेयों की सत्ता में भी जैसे देह की छाया अपने को नहीं ढक सकती, उसी तरह ज्ञेय की छाया ज्ञेयत्व रूप 'चित्' को नहीं ढक सकती है । जिसको ऐसा ज्ञान नहीं है, उसे देह आदि में ही आत्मग्रह होता है । फिर भी आत्मतत्त्व के 'स्व'रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

इस तथ्य का कथन वहीं इस तरह किया गया है—

"ज्ञेय का 'स्व'भाव चिद्रूप ही होता है । उसकी छाया (उसी का) आच्छादन नहीं करती ॥" १३६ (आ) ॥

इसीलिये कहते हैं—

इस कारण से पुद्गल, पशु या अणु रूप अबोधजनों में जो अजड़ भाग है, (वह अनावृत है,) उस अनावरणभागांश में अनेक रहस्यात्मक वैचित्र्य भरे हुए हैं ।

'चिद्' किसी से आच्छादित नहीं होता । इसलिये जड में भी जो अजड भाग है, वह शाश्वत अनावृत है । जिसे हम पुद्गल कहते हैं, पशु या अणु कहते हैं, उसमें भी शुद्ध संविद् रूप अनावरण भागांश 'चित्' नित्य प्रकाशमान है।

तेन इति चिदनाच्छादनेन हेतुना । अनावरण इति शुद्धसंविद्रूपे आत्मनि इत्यर्थः । देहादीनां हि संविद्रूपत्वेऽप्यामुखे ज्ञेयत्वेन अवभासादशुद्धत्वमपि संभवेत् ॥१३७॥

ननु संविदि भेदानुपपत्तेः कथं वैचित्र्यं संगच्छताम्? इत्याशङ्क्याह

संविद्रूपे न भेदोऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे ।

तथाप्यावृतिनिर्ह्रासतारतम्यात्स लक्ष्यते ॥ १३८ ॥

आवृतेः—आणवस्य मलस्य, निर्ह्रासः परिक्षयस्तस्य तारतम्यं मृदुमध्याधिमात्रात्मा अतिशयस्तता लक्ष्यते, इति—न तु साक्षात् संभवति इत्यर्थः, अत एव पूर्वं 'वास्तवः' इति विशेषणमुपात्तम् ॥१३८॥

किं च तत्तारतम्यम्? इत्याशङ्क्याह

तद्विस्तरेण वक्ष्यामः शक्तिपातविनिर्णये ।

समाप्य परतां स्थौल्यप्रसंगे चर्चयिष्यते ॥ १३९ ॥

उसमें कितना वैचित्र्य है, यह अनुभूति का विषय है। शास्त्र मात्र संकेत करता है। साधक साधना के आधार पर उस चिन्मय परिवेश में अनुप्रवेश कर उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है ॥ १३७ ॥

यदि संविद् में भेद की उपपत्ति नही है, तो उसमें वैचित्र्य है यह कथन कैसे चरितार्थ हो सकता है? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

यद्यपि ध्रुव संविद् के रूप में वास्तविक भेद नहीं होता फिर भी आवृति (आणव मल) के नष्ट होने के क्रम के कारण भेद परिलक्षित होता है। संविद् शाश्वत और अखण्ड तत्त्व है। इसमें भेद की लेश मात्र भी अवस्थिति नहीं होती। फिर भी भेद लक्षित होता है। यह वास्तविक नहीं होता। अवास्तविक भेद के लक्षित होने का कारण है। साधना के प्रभाव से आणव मल का क्षय होने लगता है। कभी धीरे धीरे क्षीणता होती है, कभी तनिक तीव्रता से होती है और कभी अत्यन्त तीव्र गति से भी हो जाती है। इस प्रकार क्षीणता में एक तारतम्य सा आ जाता है। इसी तारतम्य के कारण यह भेद परिलक्षित होता है। साक्षात् वास्तविक भेद नहीं होता ॥ १३८ ॥

वह तारतम्य क्या है? इसका उत्तर दे रहें हैं—

शक्तिपात के निर्णय के अवसर पर तारतम्य का विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे। परभावात्मक तथ्यों के प्रतिपादन के उपरान्त जब स्थूलात्मक तथ्यों का प्रतिपादन प्रारम्भ होगा तब इस विषय पर आगे चर्चा की जायेगी ॥

वक्ष्याम इति। यद्वक्ष्यति

'तारतम्यप्रकाशो यस्तीव्रमध्यममन्दताः।
ता एव शक्तिपातस्य प्रत्येकं त्रैधमास्थिताः॥'

इत्यादि बहुप्रकारम्, चर्चयिष्यते इति—लक्ष्यते परीक्ष्यते च इत्यर्थः। इह हि सर्वस्यैव वक्ष्यमाणस्य प्रमेयजातस्य उद्देश एव भवेद् इति भावः। यद्वक्ष्यति

'विज्ञानभित्प्रकरणे सर्वस्योद्देशनं क्रमात्।'

इति। तच्च अस्माभिर्ग्रन्थविस्तरभयात् प्रातिपद्येन न दर्शितम् इति स्वयमेव अवधार्यम् ॥१३९॥

एवं मलनिर्ह्रासतारतम्यानुसारमेव आत्मनां भगवत्स्वरूपमपि प्रथते इत्याह

अतः कंचित्प्रमातारं प्रति प्रथयते विभुः।
पूर्णमेव निजं रूपं कंचिदंशांशिकाक्रमात् ॥ १४० ॥

कंचिद् इति-तीव्रनिर्ह्रासतावृतितारतम्यम्, अंशांशिकाक्रमाद् इति—आवृतिनिर्ह्रासतारतम्यमन्दादिप्रायत्वात् ॥१४०॥

वहाँ क्या कहेंगे इसका संकेत उद्धरण द्वारा दे रहे हैं—

"तारतम्य का प्रकाश तीव्र, मध्य और मन्द गति से होता है। ये तीनों अवस्थायें भी प्रत्येक तीन प्रकार की होती हैं।" (जैसे १—तीव्र तीव्र, तीव्र-मध्य और तीव्र मन्द। २—मध्य तीव्र, मध्य मध्य और मध्य मन्द। ३—मन्द तीव्र, मन्द मध्य और मन्द मन्द।)"

इसके भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। वहाँ विज्ञानभेद प्रकरण में इसके लक्षण निर्धारित होंगे॥ १३९॥

मलों की क्षीणता के तारतम्य के अनुसार ही आत्माओं की भगवद्रूपता भी प्रथित होती है। यहा कह रहे हैं—

अतएव परमेश्वर किसी प्रमाता के प्रति (त्वरित) प्रथित हो जाते हैं और अपने पूर्ण चिन्मय बोधात्मक स्वरूप को प्रकाशित कर देते हैं। किन्हीं साधकों को अंशांशिक भाव से व्यक्त होते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि जिस साधक को तीव्र तीव्र शक्तिपात हो जाता है—उसे प्रत्यक्ष होते हैं। गीता भी यही कहती है "कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" गी. ७।३, "ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" ७।१९। मल के निर्ह्रास के तारतम्य से स्तरानुसार अंशांशिकरूप से भी वही परमेश्वर प्रथित होता है ॥१४०॥

ननु किं नाम पारमेश्वरस्य रूपस्य पूर्णत्वमपूर्णत्वं च ? इत्याशङ्क्याह

विश्वभावैकभावात्मस्वरूपप्रथनं हि यत् ।
अणूनां तत्परं ज्ञानं तदन्यदपरं बहु ॥ १४१ ॥

विश्वेषां नीलसुखादीनां भावानां य एको भावः–प्रकाशमानत्वान्यथा-नुपपत्त्या परप्रकाशलक्षणा प्रधाना सत्ता तदात्म यत् स्वस्य आत्मनो रूपं तस्य यत्प्रथनम्–अविकल्पवृत्त्या साक्षात्करणम्, तद् एव अणूनां परं पूर्णं पारमेश्वरं ज्ञानम्, तत एवं-विधात् पूर्णाद् ज्ञानाद् अन्यद् विकल्पात्मकं शाक्तादि ज्ञानम्, अपरं–चित्स्वरूपप्रथाविरहादपूर्णं बहु—वक्ष्यमाणप्रकारेण अनेकप्रकारम् इत्यर्थः ॥१४१॥

तदेव बहुप्रकारत्वं दर्शयति

तच्च साक्षादुपायेन तदुपायादिनापि च ।
प्रथमानं विचित्राभिर्भंगीभिरिह भिद्यते ॥ १४२ ॥

यह पारमेश्वर रूप की पूर्णता और अपूर्णता क्या है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

विश्व भावों का एक निर्विकल्प भावमय स्वरूप साक्षात्करण ही पुद्गल प्राणियों का पूर्ण पारमेश्वर ज्ञान है। अन्य विकल्पात्मक ज्ञानों की तो कोई सीमा ही नहीं है।

संसार में नीले, पीले, सुख, दुःख आदि अनन्त वैकल्पिक भाव हैं। ये सभी भाव दूसरे द्वारा प्रकाशित होते हैं। ये शाक्त भाव हैं। प्रकाशमानता के विना ये उपपन्न नहीं होते; किन्तु इन सभी भावों में व्याप्त एक रहस्यात्मक भाव भी है। यह एक महाभाव है और पर-प्रकाश रूप है। यह परम प्रकाश-रूपता ही प्रधान सत्ता है। प्रधान सत्तात्मक इस (बोध) का अपना एक स्वतन्त्र रूप है। इसका निर्विकल्प साक्षात्कार ही इसका प्रथन कहलाता है।

ऐसा साक्षात्कार सौभाग्य का विषय है। यह अणु पुरुषों का परात्पर ज्ञान कहलाता है। यह पूर्ण ज्ञान है। इसके अतिरिक्त जितने ज्ञान हैं, वे सभी विकल्पात्मक होते हैं। उन्हें शाक्त या आणव ज्ञान कहते हैं। ये अपूर्ण होते हैं; क्योंकि चित् के स्वात्म रूप का प्रथन उसमें नहीं हो सकता। शास्त्रों में इनके आनन्त्य का बहुत वर्णन किया गया है ॥ १४१ ॥

उसी अनेक प्रकारता का विशदीकरण कर रहे हैं —

तद् इति परमपरं वा ज्ञानम्। साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन। तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तम्, स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते। अत एव अनुपाय इति नोपायनिषेधमात्रम् इति वक्ष्यते। तस्य शाम्भवस्य उपायः शाक्तः, आदिशब्दात् तस्यापि उपाय आणवः। भिद्यते इति औपचारिकं भेदमेति इत्यर्थः ॥१४२॥

न केवलमेवम्, यावदन्यदपि एतद्वैचित्र्ये निमित्तमस्ति इत्याह

तत्रापि स्वपरद्वारद्वारित्वात्सर्वशोऽशशः।
व्यवधानाव्यवधिना भूयान्भेदः प्रवर्तते ॥ १४३ ॥

स्वेन, यथा—शाम्भवेन शाम्भवम्, अत एव स्वपरलक्षणेन द्वारेण, द्वारि सोपायम्। सर्वशः इति–पूर्णात्मना। अंशश इति–अपूर्णेन। व्यवधान इति– साक्षादुपायत्वाभावात्। एवं प्रथमं तावदुपायस्त्रेधा-शाम्भवादिभेदात्, तेषां च द्वारद्वारिभावेन प्रत्येकं द्वैधे षट्, तत्रापि प्रत्येकं पूर्णत्वापूर्णत्वेन द्वैधे द्वादश, तेषां च प्रत्येकं व्यवहिताव्यवहितत्वेन द्वैधे चतुर्विशतिः। व्यवधानं च बहुभिर्विजातीयैः, इति भेदानां भूयस्त्वम् ॥१४३॥

वे ज्ञान साक्षात् उपाय से अथवा उस उपाय के भी उपाय आदि द्वारा प्रथित होकर विचित्र भंगियों से भिन्न भिन्न रूप ग्रहण करते रहते हैं।

परमप्रबोध के उपाय तीन प्रकार के होते हैं। इसमें साक्षात् उपाय शाम्भव उपाय है। शाम्भव उपाय का उपाय शाक्त और शाक्त ज्ञान का उपाय आणवोपाय है। शाम्भव उपाय यदि निरन्तर जागृत रहे, तो परात्पर ज्ञान की अनुभूति शीघ्र हो जाती है। शाम्भवोपाय जब चरम स्वरूप को प्राप्त होता है, तो अनुपाय विज्ञान बन जाता है। यह उपाय का निषेध मात्र नहीं होता; अपितु एक प्रकार का शाश्वत संविद् समावेश होता है। इस प्रकार इन उपायों अथवा अनुपाय के द्वारा पर-ज्ञान प्रथित होकर चित्र-विचित्र भंगियों से अनेक प्रकार का हो जाता है ॥ १४२ ॥

केवल यही नहीं; अपितु वैचित्र्य के अन्य दूसरे भी कारण हैं। वही प्रदर्शित कर रहे हैं—उक्त भेदों के अतिरिक्त स्व-पर, द्वार-द्वारी और व्यवहित-अव्यवहित हेतुओं के द्वारा अनन्त भेद हो जाते हैं।

स्व अर्थात् शाम्भव, पर अर्थात् शाक्त या आणव ये तीन भेद तो प्रधान हैं। इन तीनों के द्वार और द्वारी भेद से ३ × २ = ६ भेद हो जाते हैं। इनके भी पूर्ण और अपूर्ण भाग की दृष्टि से ६ × २ = १२ भेद होते हैं। इन

ननु ज्ञानं तावदुपेयतया प्रतिज्ञातम् इति, तत्र उपायेन केनचिद्भाव्यम्, स च न ज्ञानमेव—उपेयत्वात्, नापि अज्ञानं—तदनौपयिकत्वात् तस्य, इति किं नाम उपायस्वरूपम् ? इत्याशङ्क्याह

ज्ञानस्य चाभ्युपायो यो न तदज्ञानमुच्यते ।
ज्ञानमेव तु तत्सूक्ष्मं परं त्विच्छात्मकं मतम् ।। १४४ ।।

किं तु तत्सूक्ष्मं वैकल्पिकस्थूलशाक्तादिज्ञानविलक्षणं मतम् इति सम्बन्धः । अत एव परं-शाम्भवम् इत्यर्थः । अत एव 'इच्छात्मकम्' इत्युक्तम् । शाक्ताणवयोर्हि ज्ञानक्रियात्मकत्वं भवेद् इति भावः ।।१४४।।

ननु एवमपि कथमेकस्यैव उपायोपेयभावः संगच्छते ? इत्याशङ्क्याह

उपायोपेयभावस्तु ज्ञानस्य स्थौल्यविभ्रमः ।
एषैव च क्रियाशक्तिर्बन्धमोक्षैककारणम् ।। १४५ ।।

बारहों के व्यवहित और अव्यवहित भेद से १२×२=२४ भेद स्पष्ट हैं । यह स्वाभाविक है कि अनन्त विजातीय भेदों के द्वारा व्यवधान हो और अनेक भेद हो जायें ।। १४३ ।।

प्रश्न है कि ज्ञान तो उपेय हैं । उपेय के लिये उपाय आवश्यक होते हैं । वे उपाय ज्ञान नहीं हो सकते; क्योंकि ज्ञान तो स्वयमेव उपेय है । अज्ञान भी उपाय नहीं हो सकता; क्योंकि यह उपाय की योग्यता नहीं रखता, फिर उपाय का स्वरूप क्या हो ?—इस शङ्का का समाधान कर रहे हैं--

ज्ञान का उपाय अज्ञान नहीं कहा जा सकता । परम सूक्ष्म ज्ञान का उपाय स्थूल ज्ञान हो सकता है । सूक्ष्म ज्ञान इच्छात्मक होता है ।

ज्ञान का उपाय अज्ञान नहीं है--यह सत्य है । ज्ञान पर-ज्ञान का उपाय होता है । यह ज्ञान कारण रूप होता है । 'पर' ज्ञान सूक्ष्म होता है । वैकल्पिक, स्थूल, शाक्त और आणव ज्ञानों से यह विलक्षण होता है । इसे शाम्भव ज्ञान कहते हैं । यह इच्छात्मक होता है, अर्थात् इसमें 'इच्छा' शक्ति का ही प्राधान्य होता है । शाक्त और आणव भेदों में 'ज्ञान' और 'क्रिया' शक्तियों की प्रधानता होती है ।। १४४ ।।

ऐसा होने पर भी एक का उपायोपेय भाव कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

उपायोपेय भाव तो ज्ञान का स्थौल्य विभ्रम मात्र है । यह क्रिया शक्ति है । (इसको न जानने पर) बन्ध और (जानने पर) मोक्ष की स्थिति बनती है ।

स्थौल्यं—चिदानन्दैकघनपरसूक्ष्मस्वरूपनिमज्जनादनन्तग्राह्यग्राहकात्मना भेदेन उल्लसनम्, तत्कृतोऽयं भ्रमः—यत् 'इदमुपेयम्' इति। वस्तुतो हि परप्रकाशात्मा शिव एव उपेयः, स च सर्वत एवावभासते—तस्य क्वचिदपि अनपायात्। अत एव नात्र उपायानां किंचित्प्रयोजनम्—अज्ञातज्ञापकत्वात् तेषाम्। तदुक्तम्

'अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते॥'

इति। अनेनैव आशयेन च अनुपायनिरूपणं करिष्यते। ननु यद्येवं तत्कथमयं व्यवहारः प्ररोहमुपारोहते? इत्याशङ्क्याह **एषेव** इत्यादि। **क्रियाशक्तिः** इति—तत्तद्भेदवैचित्र्यावस्थितिकारित्वात्। तेन परमेश्वरस्फार एवायम् इत्याशयः। अत एवायं तथात्वेन अज्ञातो बन्धकः, ज्ञातस्तु मोचकः, तदाह **'बन्धमोक्षैककारणम्'** इति।

चिदानन्दैकघन परमेश्वर का स्वरूप पर और सूक्ष्म है। उसमें निमज्जन साधना का विषय है। आत्यन्तिक सूक्ष्मता की चरम अनुभूति की पारमार्थिक अवस्था एक ओर, दूसरी ओर वहीं से ग्राह्य और ग्राहक भाव की पार्थक्य प्रथा का उदय एवं विस्तार, यह भेद-भरा अनन्त उल्लास, यही स्थूलता है। इससे यह भ्रम होता है कि 'यह उपेय है।' वास्तविकता यह है कि शिव ही उपेय है। वह तो सर्वत्र सब ओर से भासमान है। कहीं से उसका अभाव नहीं है। ऐसी अवस्था में यहाँ उपायों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। उपाय हमेशा अज्ञात के ही ज्ञापक होते हैं। कहा गया है—

"शाश्वत स्फुरित अपरोक्ष किन्तु सर्वतोभावेन व्यक्त प्रत्यक्ष तत्त्व के विषय में हे परमाराध्य! वे नहीं जान पाते।"

और यही कारण है अनुपाय विज्ञान का प्रतिपादन आवश्यक हो जाता है। प्रश्न है कि तब यह व्यवहार ही क्यों? इसी के उत्तर में दूसरी अर्धाली की अवतारणा की गयी है। वस्तुतः यही तो क्रियाशक्ति है। उक्त भेदवादिता चमत्कारात्मक है। इसमें क्रिया शक्ति ही कारण है। यह परमेश्वर का उल्लास मात्र है। अतः यथातथ रूप से जानकारी न होने पर यह बन्ध का कारण बनता है और जानकारी के बाद यही बन्धनों से विमुक्त भी करता है। इसी आधार पर कहा है—'बन्ध और मोक्ष का एकमात्र वही कारण है।

यदुक्तं

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥'

इति ॥१४५॥

ननु एवमपि अत्र किं नाम उपायतया संमतम् ? इत्याशङ्क्याह

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि ।
यत्स्फुरेत्प्रकटं साक्षात्तदिच्छाख्यं प्रकीर्तितम् ॥ १४६ ॥

तत्र—एवं सति, **आद्ये**—प्राथमिकालोचनज्ञानात्मनि, अत एव **निर्विकल्पोत्थे**, अत एव भिन्नस्य परामृश्यस्य अनुल्लासात् **स्वपरामर्शे**-स्फुरत्तामात्ररूपे **यत्** प्रकटं **स्फुरेत्**, साक्षात्कारात्मतया यत् स्फुरणं **तत्** साक्षात् **इच्छाख्यं प्रकीर्तितम्**-उपायान्तरनिरपेक्षत्वात्, अव्यवधानेच्छाशक्तिस्फाररूपः शाम्भवाख्य उपाय उक्त इत्यर्थः ॥१४६॥

"शिव की यही वह क्रियात्मिका शक्ति है, जो पाशबद्ध कर देती है। इसकी विशेषता है कि अपने मार्ग में अर्थात् भेद-प्रसार में यह बाँधने वाली है। जब यह वास्तविक रूप से अनुभूत हो जाती है, तो सिद्धि का सम्पादन कर देती है।" ॥१४५॥

ऐसा होने पर भी उपाय के रूप से मान्य क्या है ? इसका उत्तर है—

निर्विकल्प धाम में स्थित साधक को (साधना के द्वारा) आद्य स्वात्म परामर्श होता है। वही स्वात्म साक्षात्कार है, स्फुरत्ता का प्रकटन है तथा इच्छा का स्फार है। वही सर्वोत्तम उपाय है।

साधना में लगे साधक की चरम तल्लीनता में समस्त विकल्पों का क्षय हो जाता है। वह तेजस अवस्था होती है। उसे आत्मपरामर्श की पहली अनुभूति होने लगती है। अन्य सारे वैकल्पिक परामर्श समाप्त हो जाते हैं। एक स्फुरत्ता मात्र सूक्ष्म अवस्था आती है। उसमें स्पष्ट रूप से साक्षात् स्फुरण की आद्य अनुभूति होती है। यह इच्छा नामक उपाय है। इसे शाम्भव उपाय भी कहते हैं; क्योंकि उस समय शैव महाभाव का पथ प्रशस्त हो जाता है ॥ १४६ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदेशेन स्फुटीकर्तुमाह

यथा विस्फुरितदृशामनुसन्धि विनाप्यलम् ।
भाति भावः स्फुटस्तद्वत्केषामपि शिवात्मता ॥ १४७ ॥
भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात् ।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः ॥ १४८ ॥

तथैव 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्येवमात्मनो विकल्पस्य आत्मानात्माख्यांशद्वयाक्षेपित्वेऽपि प्रतियोगिनिषेधपूर्वको योऽयं पौनःपुन्येन अंशरूपो निश्चयः तस्य यत् क्रमेण चर्चनं–यथायथं स्फुटताभावित्वादिना संस्करणम्, ततो यद् विकल्प्यमानमात्मस्वरूपपरामर्शम् 'इत्थमेव इदम्' इत्येवं प्रतीतिमभिन्नां साक्षात्कारात्मतामभ्येति, तज्ज्ञानोपायं विदुः–ज्ञानशक्तिस्फारात्मकं शाक्तमुपायं जानीयुः इत्यर्थः । तु-शब्दः पूर्वस्माद्व्यतिरेचकः । इह हि विकल्प एव क्रमेण निर्विकल्पतामेति इत्युक्तम् । तत्र पुनर्निर्विकल्पतयैव साक्षात्करणं रूपम्, अत एव च अनयोर्द्वारिद्वारभावः ॥१४७-१४८॥

यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम् ।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गगः ॥ १४९ ॥

इस तथ्य को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—

जैसे जागरूकभाव से पर्यवेक्षण में तत्पर पुरुष को विना किसी सहारे के पदार्थ का स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण हो जाता है, उसी प्रकार कोई साधक जब सचेत रहता हुआ विकल्पों के क्षय के उपरान्त निर्विकल्प धाम में पहुँच जाता है, तो उसे स्वात्म परामर्श रूप शिवात्मक महाभाव स्फुरित हो जाता है ।

जब बारम्बार विकल्पांश के निश्चय का क्रम संस्कार में उदित होने लगता है, तब विकल्पात्मक परामर्श ही साक्षात्कार का विषय बनने लगता है । यह ज्ञान शक्ति का स्फार है । इसलिये इसे ज्ञानोपाय या शाक्तोपाय के नाम से जानते हैं ।

शाम्भवोपाय में निर्विकल्पात्म साक्षात्कार होता है और यहाँ विकल्पात्मक । यह ज्ञान शक्ति का चमत्कार है । इन दोनों में द्वार-द्वारी भाव स्वाभाविक है ॥ १४७-१४८ ॥

जो भेदमयी कल्पनाओं से ही कल्पित है और बाह्य विकल्पमय (उच्चार करण ध्यानादि) अर्थों का साधक है, वह क्रियोपाय है । इसे आणवोपाय कहते हैं ।

तथा तद् आत्मस्वरूपं क्रियोपायमाम्नातं–क्रियाशक्तिस्फारात्मकाणवोपायसमधिगम्यं सर्वागमेषु उक्तम्। यतस्ताभिः–भेदप्रथामयीभिः कल्पनाभिः, क्लृप्तः–स्वशिल्पेन कल्पितः, बहिर्भूतोऽवच्छिन्नो योऽसौ उच्चारादिः अर्थस्तत्साधनम्, तुशब्दो व्यतिरेके। शाक्ते हि विकल्प एव अर्थः, इह तु बाह्योऽपि इति, अत एव न तत्र उच्चारादिः। ननु उपायभेदादुपेयभेदोऽपि स्यात्? इत्याशङ्क्योक्तं 'भेदो नात्रापवर्गगः' इति। स्वरूपप्रथनं हि अपवर्गः तच्च सर्वैरेव हि द्वारद्वारिभावेन भवति, इति भावः ॥१४९॥

ननु ज्ञानमेव उपाय इति सामान्येन प्रतिज्ञातम्, तत्कथमाणवे क्रियोपायत्वमुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

यतो नान्या क्रिया नाम ज्ञानमेव हि तत्तथा।
रूढेर्योगान्ततां प्राप्तमिति श्रीगमशासने ॥ १५० ॥

अन्या इति अर्थाज्ज्ञानात्, यतस्तज्ज्ञानमेव रूढेः प्ररोहात् योगस्यान्तः पराकाष्ठा, तत्त्वं प्राप्तं सत् तथा 'क्रिया' इति सर्वत्र अभिधीयत इत्यर्थः। ननु अत्र किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्योक्तम् 'इति श्रीगमशासने' इति, अर्थादुक्तम् इति शेषः ॥१५०॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते ॥१५१॥

इति ॥१५१॥

भेद अपवर्ग के साधक नहीं होते। 'स्वरूप के प्रथन को ही अपवर्ग कहते हैं।' भेदबुद्धि रहते स्वरूप-प्रथन नहीं हो सकता। यह शङ्का कभी नहीं करनी चाहिये कि उपाय भेद से उपेय में भी भेद हो जाता है। उपेय तो स्वबोध रूप ही है। द्वार-द्वारि भावमय सभी उपायों से वहाँ पहुँचा जा सकता है ॥ १४९ ॥

पहले तो ज्ञान को ही उपाय माना है। यहाँ आणव में क्रियोपाय कैसे? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ज्ञान से अतिरिक्त क्रिया नहीं होती। ज्ञान ही रूढि द्वारा योग की पराकाष्ठा में क्रिया हो जाता है। यही बात 'श्रीगमशासन' में प्रतिपादित है। अतः यह प्रामाणिक तथ्य है ॥१५०॥

एतच्च स्वयमेव व्याचष्टे

स्वचित्ते वासनाः कर्ममलमायाप्रसूतयः ।
तासां शान्तिनिमित्तं या मतिः संवित्स्वभाविका ॥ १५२ ॥
सा देहारम्भबाह्यस्थतत्त्वव्राताधिशायिनी ।
क्रिया सैव च योगः स्यात्तत्त्वानां चिल्लयीकृतौ ॥ १५३ ॥

निमित्तम् इत्यनेन सप्तमी व्याख्याता । संवित्स्वभाविका इत्यनेन मतेर्ज्ञानार्थत्वमुक्तम् । सा मतिः

'प्रणवेन तु तत्सर्वं शरीरोत्पत्तिकारणम् ।
न्यसेत्क्रमेण देवेशि त्रिंशदेकं च संख्यया ॥'

इत्याद्युक्त्या शुद्धदेहारम्भीणि असाधारणानि, तथा बाह्यस्थानि

'हेयाध्वानमधः कुर्वन्रेचयेत्तं वरानने ।
यावत्सा समना शक्तिः................... ॥'

इत्याद्युक्त्या तत्त्वदीक्षादिना साधारणानि तत्त्वानि अधिशयाना स्वचित्त-वासनाशान्तिकारित्वात् क्रिया स्यात् । तथा सैव

श्रीगमशासन का उद्धरण दे रहे हैं—

योग और क्रिया दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं; क्योंकि तत्त्व में आरूढ होने वाली मति ही अपने चित्त की वासना को शान्ति के कारण क्रिया कहलाने लगती है ॥ १५१ ॥

इसी को व्याख्यायित कर रहे हैं—

अपने चित्त की सारी वासनायें कार्ममल और माया से प्रसूत हैं। इनके उपशम में लगी बुद्धि संवित् स्वभावमयी होती है। वह देह को आकार प्रदान करने वाले बाह्य तत्त्वों में अधिष्ठित है। वही क्रिया है, वही योग है। तत्त्वों के चित् तत्त्व में लय की प्रक्रिया में शान्ति ही निमित्त होती है। संवित् स्वभाव वाली कहने का तात्पर्य है कि मति में ज्ञानसत्ता का उल्लास रहता है।

"प्रणव से ही यह सब कुछ है। शरीर की उत्पत्ति का कारण भी प्रणव ही है। हे देवेशि! (संवित् शक्ति की पुष्टि के लिये) उसका ३१ न्यास करना चाहिये[1]।"

शुद्ध देह को आरम्भ करने वाली मति असाधारण तत्त्व है। वह बाह्य तत्त्व समूह में अधिष्ठित है।

---

१ स्व० त० ६।३७–४१।

'योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना ।'

इत्याद्युक्त्या तत्त्वानां चिति योजनाद्योगः स्याद् इति नानयोर्ज्ञानातिरेक इति युक्तमुक्तं 'योगो नान्यः क्रिया नान्या' इति ॥१५२-१५३॥

ननु कथं ज्ञानमेव क्रिया भवेत् ? इति दृष्टान्तोपदर्शनेन उपपादयति

लोकेऽपि किल गच्छामीत्येवमन्तः स्फुरैव या ।
सा देहं देशमक्षांश्चाप्याविशन्ती गतिक्रिया ॥ १५४ ॥

अन्तः आत्मनि 'गच्छामि' इति या स्फुरा—स्फुरणम् उद्यन्तृतात्मिका संवित्, सैव देहाद्याविशन्ती वैवश्याविष्करणेन स्वमयतामापादयन्ती गमनक्रिया भवति, इति युक्तमुक्तं 'ज्ञानमेव हि तत्तथा' इति। गन्तुर्हि 'गच्छामि' इति स्फुरणायां सत्यां कर्तृकरणकर्मात्मकशरीरपादग्रामाद्यावेशेन गमनक्रियासंपत्तिः स्यात् ॥१५४॥

"हे सुमुखि ! हेय अध्वा को गौण बनाकर उसका रेचन करना चाहिये। यह प्रक्रिया समना पर्यन्त होनी चाहिये………।"

इत्यादि उक्तियों के अनुसार तत्त्व दीक्षा आदि के द्वारा सामान्य तत्त्वों में सुषुप्त भाव से विद्यमान संवित् रूप वही मति चित्त की वासना को शान्ति प्रदान करने के कारण क्रिया कहलाती है। तथा

"वस्तु का अन्य वस्तु से एकत्व ही योग है—यही (योग को परिभाषा) है।"

इत्यादि उक्ति के अनुसार 'चिति' से तत्त्वों का योजन ही योग है। इस तरह क्रिया और योग दोनों का ज्ञान से अतिरेक सम्भव नहीं है। इस आधार पर 'योग कोई अन्य वस्तु नहीं और क्रिया भी कोई दूसरी वस्तु नहीं' यह ठीक ही कहा गया है॥१५२-१५३॥

प्रश्न है कि ज्ञान ही क्रिया कैसे ? इसे दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित कर रहे हैं—

व्यवहार में भी (यही होता है) जैसे मन में 'जाता हूँ' यह आन्तरिक स्फुरण होता है। वह (संवित् ही है) जो देह, देश और इन्द्रियों में आवेश उत्पन्न करती है। आवेश के स्पन्दन से गति की क्रिया प्रवर्त्तित होती है।

जाने की ज्यों ही (संवित् रूप) अन्तःस्फुरणा होती है—एक प्रकार का आवेश हो जाता है। देह बेवस हो जाता है। अंग अंग में और इन्द्रियों में उस स्फुरण का प्रभाव हो जाता है। यह सब में अपनी ही प्रमुखता स्थापित कर

तदेवोपसंहरति

तस्मात्क्रियापि या नाम ज्ञानमेव हि सा ततः ।
ज्ञानमेव विमोक्षाय युक्तं चैतदुदाहृतम् ॥ १५५ ॥

तत इति क्रियाया ज्ञानात्मकत्वात्। तेन

'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।'

इत्यादिना क्रियाया अपि अपवर्गनिमित्तत्वमुक्तम्। एवं च युक्तमुक्तं 'ज्ञानं मोक्षैककारणम्' इति। तदाह 'युक्तं चैतदुदाहृतम्' इति ॥१५५॥

ननु 'स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु' इत्यादिना प्राग् आत्मज्ञानातिरिक्तो मोक्षो नाम न कश्चिदस्ति इत्युक्तम्, इति ज्ञानमेव विमोक्षाय इत्यनेन हेतुफलभावोऽनयोरुच्यमानः कथं संगच्छते ? इत्याशङ्क्याह

मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः ।
स्वरूपं चात्मनः संविन्नान्यत्तत्र तु याः पुनः ॥ १५६ ॥

लेती है। गमन क्रिया का यही मूल रूप है। फिर व्यक्ति चल पड़ता है। इससे पहले का कथन कि 'ज्ञान ही क्रिया है।' जाने वाले में 'जाता हूँ' इस स्फुरण के होते ही कर्त्ता, करण और कर्म रूप शरीर, अंग अंग और इन्द्रियों में जो जाने का आवेश होता है, उसी के द्वारा जाने की क्रिया सम्पन्न होती है। अतः ज्ञान, योग और क्रिया सब मूलतः एक ही हैं ॥ १५४ ॥

इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

इससे क्रिया भी ज्ञान ही (सिद्ध होती) है। ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। यह सब उदाहरणों द्वारा युक्तियुक्त रूप से प्रतिपादित है।

क्रिया के ज्ञान रूप होने के कारण "दीक्षा ही मुक्त करती है और ऊर्ध्व शैवधाम में ले जाती है।"

इत्यादि उक्ति के द्वारा क्रिया भी मोक्ष की कारण है—यह सिद्ध हो जाता है। और फलितार्थ रूप से "ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र कारण है"— इस उक्ति का समर्थन हो जाता है ॥ १५५ ॥

प्रश्न है कि श्लोक ३१ के अनुसार 'स्वात्मज्ञान के अतिरिक्त कोई मोक्ष नहीं है' इस कथन और यहाँ की उक्ति "ज्ञान ही मोक्ष के लिये है", इन दोनों में परस्पर विरोध है। यहाँ तो ज्ञान और मोक्ष में कार्यकारण भाव है ? इसका समाधान कर रहे हैं—

क्रियाद्यात्मिकाः शक्तयस्ताः संविद्रूपाधिका नहि ।
असंविद्रूपतायोगाद्धर्मिणश्चानिरूपणात् ॥ १५७ ॥

ननु स्वरूपमेव नाम किं यस्यापि प्रथनं मोक्षः स्यात् ? इत्याह स्वरूपम् इति, तेन स्वस्य आत्मनो रूपं संविच्चैतन्यम्, तस्य प्रथनं यथातत्त्वं ज्ञानम्, स एव मोक्ष इति यथोक्तमेव युक्तं । यः पुनरयं हेतुफलभाव उक्तः स काल्पनिक एव, न तात्त्विकः, यद्वक्ष्यति

'यतो ज्ञानेन मोक्षस्य या हेतुफलतोदिता ।
न सा मुख्या..................................॥'

इति । अन्यद् इति संविदतिरिक्तम् इत्यर्थः । ननु आत्मनः संविदतिरिक्तं यदि रूपं नास्ति, तत्कथमस्य शक्त्यन्तरयोगित्वं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह तत्र इत्यादि, तु-शब्दः चार्थे ॥१५६–१५७॥

ननु

'पत्युर्धर्माः शक्तयः स्युः....................।'

इत्याद्युक्त्या साक्षात्पत्युर्धर्मितया शक्तीनां च धर्मतया निरूपणं कृतम् इति इति धर्मिणश्च अनिरूपणाद् इत्यसिद्धोऽयं हेतुः ? इत्याशङ्क्याह

परमेश्वरशास्त्रे हि न च काणाददृष्टिवत् ।
शक्तीनां धर्मरूपाणामाश्रयः कोऽपि कथ्यते ॥ १५८ ॥

मोक्ष कोई अन्य तत्त्व नहीं । यह तो स्वरूप का प्रथन मात्र है । स्वरूप भी आत्म संवित् मात्र ही है । हेतु-फलभाव मात्र नहीं हैं । क्रिया आदि सारी शक्तियाँ भी संविद् के अतिरिक्त नहीं है । संविद्भिन्नरूपता का कोई तुक नहीं, अतिरिक्त मानने से धर्मी का निरूपण भी नहीं हो सकता ।

स्वात्म तत्त्व संवित् चैतन्य ही है । उसका यथातथ ज्ञान ही स्वरूप का प्रथन है और मोक्ष है । इसमें कार्यकारण भाव तो मात्र कल्पना प्रसूत ही है, तात्त्विक नहीं । आगे कहेंगे—

"ज्ञान से मोक्ष की जो हेतुफलवादिता कही गयी है—वह मुख्य नहीं है ।" संविद् के अतिरिक्त सारी मान्यतायें काल्पनिक हैं । उनका यहाँ कहीं भी उपयोग नहीं होता । धर्मी धर्मवान् होता है । यहां धर्म और धर्मी का निरूपण भी अमान्य है ॥ १५६-१५७ ॥

'पति का धर्म ही शक्तियाँ हैं ।' पति धर्मी और शक्तियाँ धर्म हैं । फिर कैसे कहते हैं कि धर्मी का निरूपण नहीं होता ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

यथा खलु काणादाः

'आत्मत्वाभिसंबन्धादात्मा ।'

इत्यादिना धर्मिरूपमात्मानं निरूप्य,

'तस्य गुणा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्म-
संस्कारसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः ।'

इत्यादिना तत्समवेतम् आगमापायि भिन्न-धर्मजातम् अभ्युपागमन्, नैवमिह शक्तितद्वतोर्धर्मधर्मिभावः कश्चिद् अभिधीयते । पर एव हि स्वतन्त्रो बोधस्तत्तदुपाधिवशात् तत्तच्छक्तिरूपतया व्यपदिश्यत इति न वस्तुतः कश्चित् शक्तितद्वतोर्भेदः, यदुक्तं प्राक्

'मातृक्लृप्ते हि भावस्य तत्र तत्र वपुष्यलम् ।
को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव ।।' इति ॥१५८॥

ननु यदि काणादादिदर्शनवद् इहापि धर्मधर्मिभावस्य निरूपणं क्रियते, तदा को दोषः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

इस शैवशासन में काणाद के अनुसार धर्म रूप शक्तियों का आश्रय कोई नहीं माना जाता ।

काणाद मत में "आत्मत्व के अभिसम्बन्ध से आत्मा" है, यह मान्य है इसमें आत्मा को धर्मी माना गया है । उसके गुण रूप से बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयाग और विभाग मान्य हैं । इन गुणों से समवेत धर्मी और आगमापायि भिन्न धर्मों को ये स्वीकार करते हैं ।

इस प्रकार यहाँ शक्ति और शक्तिमान् में धर्म-धर्मिभाव मान्य नहीं है । परात्पर स्वात्म बोध ही विभिन्न उपाधियों के प्रभाववश पृथक् पृथक् शक्ति रूप से व्यवहृत होता है । अतः इन दोनों में कोई भेद नहीं हैं । इसलिये कहा है—

"प्रमाता से अनुप्राणित भाव जगत् की विविधता में आग की दाहिका और पाचिका शक्तियों की अभिन्नता की तरह किसी भेदभाव को मान्यता नहीं" ॥ १५८ ॥

यदि वैशेषिक दर्शन के समान यहाँ भी धर्म-धर्मिभाव का निरूपण किया जाय तो क्या दोष आयेगा ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ततश्च दृक्क्रियेच्छाद्या भिन्नाश्चेच्छक्तयस्तथा ।
एकः शिव इतीयं वाग्वस्तुशून्यैव जायते ॥ १५९ ॥

यदि हि शक्तितद्वतोर्धर्मधर्मिभावन्यायेन वास्तव एव भेदः स्यात्, तदा

'इत्थं नानाविधैः रूपैः स्थावरैः जङ्गमैरपि ।
क्रीडया प्रसृतो नित्यमेक एव शिवः प्रभुः ॥'

इत्यादौ 'एक एव शिव' इति इयमीश्वराद्वयप्रतिज्ञात्मिका वाग् अनेकेषां शक्तितद्वदात्मनाम् अर्थानां संभवाद् वस्तुशून्या–अभिधेयरहिता स्यात्, अद्वयवादखण्डना भवति इति यावत् ॥ १५९ ॥

ननु यदि वस्तुतः संवित्स्वभावः शिव एव एकोऽस्ति, तत्कथमयं चिदादिनानाशक्त्यात्मा व्यवहारोऽन्यथा क्रियते ? इत्याशङ्काम् उपसंहारभङ्ग्या उपशमयितुमाह

तस्मात्संवित्त्वमेवैतत्स्वातन्त्र्यं यत्तदप्यलम् ।
विविच्यमानं बह्वीषु पर्यवस्यति शक्तिषु ॥ १६० ॥

एतच्च निर्णीतपूर्वम् इति पुनरिह नायस्तम् । यथोक्तं

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ।'

इति ॥ १६० ॥

ऐसा मान लेने पर ज्ञान, क्रिया और इच्छा आदि शक्तियाँ भिन्न हो जायेंगी । इससे 'एक ही शिव है'—यह वाक्य तथ्यहीन हो जाएगा ।

धर्म और धर्मी की तरह यदि शक्ति और शक्तिमान् में भी वास्तविक भेद स्वीकार कर लिया जायगा, तो "स्थावर और जङ्गम आदि अनेक प्रकार के रूपों में खेल-खेल में नित्य प्रसार को प्राप्त वह सर्व समर्थ शिव एक ही है ।" यह उक्ति ही व्यर्थ हो जायेगी । इस श्लोक में ईश्वराद्वयवाद की प्रतिज्ञा की गयी है । शक्ति और शक्तिमान् रूप पार्थक्य-प्रथित पदार्थों की परम्परा से प्रभावित होने के कारण यह प्रतिज्ञा ही अवास्तविक हो जायेगी और अद्वयवाद ही खण्डित हो जायगा ॥ १५९ ॥

वस्तुतः यदि संवित् स्वभाव शिव एक ही हैं, तो यह चित् आदि अनेक शक्त्यात्मक व्यवहार कैसे बन्द किया जा सकता है ? इस आशङ्का का उपसंहारात्मक उपशमन कर रहे हैं—

इह 'आत्मज्ञानमेव मोक्षः' इति ज्ञानमोक्षयोः कार्यकारणभाव एव वस्तुतो नास्ति-इति 'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति' इति न्यायेन ज्ञानिनां सत्यपि ज्ञानाख्ये कारणे कार्यात्मा मोक्षो न स्यात्-इत्यनिष्टापादनात्मायं प्रसङ्गो नाशङ्कनीयः ? इत्याह

यतश्चात्मप्रथा मोक्षस्तन्नेहाशङ्क्यमीदृशम् ।
नावश्य कारणात्कार्यं तज्ज्ञान्यपि न मुच्यते ।। १६१ ।।

ज्ञानिनो हि अवश्यभाविनी मुक्तिः इति भावः। अत एव च

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।'

इति। तथा

'.....................ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः ।'

इत्यादि गीतम् ।। १६१ ।।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि संवित्स्वभाव ही स्वातन्त्र्य है। वही अनन्त-अनन्त शक्तियों में पर्यवसित होता है। कहा गया है--

"शिव का अनन्त शक्तित्व भी उनकी शक्तियों का तादात्म्य ही है" ।। १६० ।।

वस्तुतः 'आत्मज्ञान ही मोक्ष है' इस उपपत्ति में ज्ञान और मोक्ष में कार्य-कारण भाव नहीं है। 'सभी कारण कार्यरूप में परिणत नहीं होते' यह एक न्याय है।

इसके अनुसार ज्ञानियों में ज्ञान नामक कारण के रहते भी कार्य रूप मोक्ष नहीं हो पायेगा। इससे अनिष्टापत्ति की सम्भावना है--इसकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। यही कह रहे हैं—

क्योंकि आत्मबोध ही मोक्ष है। इसलिये कभी भी यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि कारण से कार्य सर्वदा नहीं होते और ज्ञानी ज्ञानसत्ता में भी मुक्त नहीं हो पाते। अर्थात् उनकी मुक्ति अवश्यम्भावी है। इसीलिये—

"उन साधकों में ज्ञानी नित्य युक्त है और एक भक्तिवाला है। इसलिये वह विशिष्ट है। मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरा प्रिय है।" तथा "..... ज्ञानी तो मेरा आत्म रूप ही है।" इत्यादि श्रीमद्भगवद्गीता में (अ. ७।१७ तथा ७।१८) उक्त है ।। १६१ ।।

ननु

'ज्ञानमेव विमोक्षाय..................।'

इत्यादिना ज्ञानमोक्षयोः कार्यकारणभाव उक्त एव, इति कथं नायं प्रसंगः ? इत्याह

यतो ज्ञानेन मोक्षस्य या हेतुफलतोदिता।
न सा मुख्या ततो नायं प्रसंग इति निश्चितम् ॥ १६२ ॥

एतच्च निर्णीतचरम् इति नेह पुनरायस्तम् ॥ १६२ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

एवं ज्ञानस्वभावैव क्रिया स्थूलत्वमात्मनि।
यतो वहति तेनास्यां चित्रता दृश्यतां किल ॥ १६३ ॥

ज्ञानस्वभावा इति क्रियाया ज्ञानाविनाभावित्वात्। यदुक्तं

'..................न ज्ञानरहिता क्रिया।'

इति। स्थूलत्वम् इति अन्तर्ग्राह्यग्राहकात्मना भेदेन उल्लासात्। तेन इति स्थूलतावहनेन हेतुना। चित्रता इति तत्तद्ग्राह्यादिभेदवैचित्र्यात् ॥ १६३ ॥

ज्ञान ही मोक्ष के लिये (मान्य) है। इस वाक्य में कार्य-कारण भाव है। तो फिर यह स्वीकार क्यों नहीं करते ? इस पर कहते हैं—

ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष होता है। यहाँ हेतु और फल (कार्य-कारण) भाव ही कथित है; किन्तु यह मुख्य नहीं है। इसलिये निश्चित ही इसका प्रसङ्ग मान्य नहीं है। यह पहले ही प्रतिपादित विषय है। यहाँ उसको पुनरुक्ति अनावश्यक हैं ॥ १६२ ॥

इस सन्दर्भ का उपसंहार करते हुए दूसरे विषय की अवतारणा कर रहे हैं—

इस प्रकार ज्ञान स्वभाव सम्पन्न ही क्रिया होती है। यह मात्र आत्मा में एक प्रकार की स्थूलता का उल्लास मात्र है। क्रिया ही इस स्थूलता का आत्मा में संवहन करती है। इसलिये इसमें विभिन्न ग्राह्य बाह्य रूप चित्र विचित्रता का दर्शन किया जा सकता है। कहा गया है—"क्रिया ज्ञानरहित हो ही नहीं सकतो।" इसलिये कहते हैं—

क्रियापाय में ग्राह्य और बाह्य भेद से भिन्न उपायों को भेदोपभेद की विविधता और अवान्तर अवस्थाओं के कारण असंख्य भेद आकलित होते हैं।

अत एवाह

क्रियोपायेऽभ्युपायानां ग्राह्यबाह्यविभेदिनाम् ।
भेदोपभेदवैविध्यान्निःसंख्यत्वमवान्तरात् ॥ १६४ ॥

ग्राह्या उच्चाराद्याः। बाह्याः कुण्डमण्डलादयः। उच्चारादयो हि ग्राह्यभूमिगता बाह्यत्वेन अवसिता अपि चक्षुरादिबाह्येन्द्रियागोचरत्वात् प्रमात्रन्तरासाधारणत्वाच्च न बाह्याः। कुण्डमण्डलादयः पुनर्बाह्येन्द्रियगोचरत्वात् साधारण्याच्च बाह्या सन्तो ग्राह्याः इत्युक्तम् 'ग्राह्यबाह्यविभेदिनाम्' इति। एवं नियतभेदवत्त्वेऽपि एषामेव अवान्तरभेदाद् भेदोपभेदनानात्वाद् निःसंख्यत्वं बहुप्रकारत्वम् इत्यर्थः। तथा हि—उच्चारस्य प्राणादिभेदात् प्रथमे पञ्च भेदाः, तत्रापि बिन्दुनादादयो बहव उपभेदाः, एवमपि उच्चार्यमाणानां मन्त्राणामानन्त्यम् इत्यसंख्यभेदत्वम् ॥ १६४ ॥

एवं च

'यतो नान्या क्रिया नाम.................. ।'

इत्यादिना उपक्रान्तं क्रियाया ज्ञानात्मकत्वं युक्त्यागमाभ्यां निर्वाहितम् इत्येक एव ज्ञानात्मा मोक्षावाप्तावुपाय इति न उपायाननात्वम्, अत एव तत्फलभूते मोक्षेऽपि न कश्चिद्भेदः इत्याह

उच्चार आदि ग्राह्य भेद हैं। प्राणव्यापार रूप ही उच्चार होता है। ये ग्राह्य स्तर के हैं। अतः बाह्य भी हैं, फिर भी चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होते।

अन्यान्य प्रमाताओं के लिये सामान्यतया अनुभूत भी नहीं होते। अतएव ये बाह्य नही होते। कुण्ड और मण्डल आदि बाह्येन्द्रिय गोचर हैं। अतः बाह्य हैं। सबके लिये सामान्यतया गृहीत हैं। उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थानप्रकल्पन आदि उक्त भेदों के अतिरिक्त इसके अनन्त भेदोपभेद होते हैं। जैसे प्राणव्यापार रूप उच्चार के ही प्राण आदि पाँच भेद हैं। फिर बिन्दु, नाद आदि अनेक उपभेद हैं। इसी तरह उच्चार्यमाण मन्त्रों के भी अनन्त भेद हैं। इसीलिये श्लोक में असंख्यता का उल्लेख है ॥१६४॥

इस प्रकार "क्योंकि क्रिया कोई अन्य वस्तु नही ....।" इत्यादि सन्दर्भ मे क्रिया की ज्ञानात्मकता युक्ति और आगम दोनों के द्वारा प्रतिपादित की गयी है। अतः एक ज्ञान ही मोक्ष-प्राप्ति में उपाय बनता है। उपाय में भेद न होने से ज्ञान के परिणाम रूप मोक्ष में भी कोई भेद नहीं होता। यही कह रहे हैं—

अनेन चैतत्प्रध्वस्तं यत्केचन शशङ्किरे ।
उपायभेदान्मोक्षेऽपि भेदः स्यादिति सूरयः ॥ १६५ ॥

यत्केचन सूरय इति शशङ्किरे इति सम्बन्धः। केचन सूरय इति भेदवादिनः। तत्र हि हेतुफलयोर्वास्तव एव भेद इति हेतुभेदात् फलभेदोऽपि स्यात्। इह पुनः

'प्रदेशो ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च।'

इत्यादिनीत्या 'संविदेव सर्वम्' इति को नाम हेतुफलभेदः, काल्पनिकेऽपि हेतुफलयोर्भेदे ज्ञानात्मा एक एव उपायोऽभ्युपगत इति उपायनानात्वस्यैव अभावात् को नाम फलभूतेऽपि मोक्षे भेदः स्यात् ॥ १६५ ॥

ननु

'तच्च साक्षादुपायेन............. ।'

इत्यादिना साक्षाद् उपायनानात्वमुक्तम् इति कथं न तद्भेदादुपेयेऽपि भेदः ? इत्याशङ्क्याह

मलतच्छक्तिविध्वंसतिरोभूच्युतिमध्यतः ।
हेतुभेदेऽपि नो भिन्ना घटध्वंसादिवृत्तिवत् ॥ १६६ ॥

कुछ भेदवादी विद्वानों ने जो शङ्का की थी, वह उक्त प्रतिपादन से प्रध्वस्त हो गयी कि उपाय भेद से मोक्ष में भी भेद होता है।

वस्तुतः हेतु और फल में वास्तविक भेद होता ही नहीं। भेदवादियों के अनुसार हेतु फल में वास्तविक भेद होता है। अतः हेतुभेद से फलभेद वहाँ मान्य है। पर इस शासन में 'संविद्' ही सब कुछ है। अतः फलभेद से मोक्ष-भेद का प्रश्न ही नहीं उठता। कहा भी गया है—

"ब्रह्म का प्रदेश सार्वरूप्य को अतिक्रान्त नहीं करता और विकल्प भी नहीं होता" ॥ १६५ ॥

प्रश्न है कि "वह भी साक्षात् उपाय से.........।" इत्यादि उक्ति के अनुसार साक्षात् उपाय को अनेकता प्रतिपादित है। फिर उपायभेद से उपेय-भेद क्यों नहीं ? इसका उत्तर दे रहे हैं

जहाँ हेतु और फल के वास्तविक भेद हैं, वहाँ भी मल और उसकी शक्तियों के (दीक्षा आदि द्वारा) विध्वंस, तिरोभाव और समाप्ति में भेद नहीं होता। जैसे चक्र-चीवर आदि हेतुभेद के रहते भी घटध्वंस में कोई भेद नहीं होता।

यत्र वास्तव एव हेतुफलभावोऽस्ति तत्रापि हेतोः दीक्षादेः भेदेऽपि तत्फलभूतस्य मलतच्छक्त्योर्विध्वंसादेः न कश्चिद्भेदः—कलातत्त्वभुवनादिना भेदेऽपि दीक्षायाः तस्य अविशेषात्, तथा च घटस्य मुद्गरकरभित्तिघटाद्युपायभेदेऽपि अविशिष्ट एव ध्वंसतिरोभावादिः। अतश्च अवश्यमेव हेतुभेदात् फलभेद इति नायमेकान्तः। यत्र पुनः काल्पनिक एव उपायोपेयभावः, तत्र का नाम इयं वार्ता इति भावः। तदेवम् इच्छाज्ञानक्रियात्मकत्वाद् उपायस्य त्रैविध्येऽपि तदुपेयभूतेऽपवर्गे न कश्चिद् भेद इति सिद्धम् ॥ १६६ ॥

न केवलं युक्तित एव एतत्सिद्धं यावदागमतोऽपि इत्याह

तदेतत्त्रिविधत्वं हि शास्त्रे श्रीपूर्वनामनि ।
आदेशि परमेशित्रा समावेशविनिर्णये ॥ १६७ ॥
अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ॥ १६८ ॥

दीक्षा में मलों का निराकरण होता है। यह दीक्षा का फल है। अतः दीक्षा द्वारा मलों के और उसकी शक्तियों के नाश होने में कोई फलभेद होता ही नहीं। कला तत्त्व और भुवन रूप अशुद्ध अध्वा के संस्कार, दीक्षा से नष्ट हो जाते हैं। दीक्षा द्वारा इस विनाश में कोई विशेष बात नहीं। यही स्थिति घड़े के विनाश की है। घड़ा बनाने में कुम्हार दण्ड, चक्र, सूत्र और थापी आदि का आश्रय लेता है। यह हेतुभेद है। पर जब घड़ा फूटता है, उसका ध्वंस हो जाता है, आकृति लुप्त हो जाती है, तो फलभेद कहाँ रहता है? अतः यह सिद्धान्त हुआ कि हेतुभेद से फलभेद नहीं होता।

जहाँ कल्पना के आधार पर हो हेतु और फल में भेद स्वीकार करते हैं, वहाँ की बात ही क्या? इस प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक उपायों के तीन भेद होने पर भी उनके उपेय रूप अपवर्ग में कोई भेद नहीं होता ॥१६६॥

यह केवल युक्तिसिद्ध बात ही नहीं, आगम भी यही कहते हैं—

समावेश निर्णय के सन्दर्भ में परमेश्वर के द्वारा श्रीपूर्व नामक शास्त्र में इस त्रैविध्य का उपदेश है। निर्विचार अवस्था में तीव्र बोध का प्रत्यभिज्ञान होने से जो आवेश उत्पन्न होता है, वह शाम्भव समावेश कहलाता है।

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥ १६९ ॥

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥ १७० ॥

व्यत्यासपाठे च अयमाशयः-यद् उपायोपेयादिना द्वारद्वारिभावेन शाम्भवोपाय एव प्राधान्येन विश्रान्तिः इति ॥ १६८-१७० ॥

तदेव क्रमेण व्याचष्टे

अकिंचिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।
तया च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते ॥ १७१ ॥

तया इति विकल्पानुपयोगितया । विकल्पोपयोगे हि तदैव

'यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।'

इत्यादिदृष्ट्या ज्ञेयस्य अवश्यज्ञातव्यस्य पारमार्थिकस्य चिदात्मनो रूपस्य

उच्चाररहित वस्तुतत्त्व का मनन, चिन्तन करते हुए जो समावेश होता है, वह शाक्त कहलाता है। उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान प्रकल्पन आदि के द्वारा जो समावेश होता है, वह आणव समावेश है। इस में क्रम-वैपरीत्य का कारण यह है कि आणव द्वारा शाक्त और शाक्त द्वारा शाम्भव समावेश होने से उसी की प्रधानता है ॥१६७-१७०॥

उसी की क्रमिक व्याख्या कर रहे हैं—

चिन्तन की अवस्था को पार कर निर्विचार दशा में स्थित साधक के लिये विकल्पों की अनुपयोगिता के कारण शीघ्र हो ज्ञेय की जानकारी निश्चित हो जाती है।

साधक दो अवस्थाओं से साधना का पथ प्रशस्त करता है। १–विकल्पों का उपयोग अभी रहता है। २–विकल्प अनुपयोगी हो जाते हैं। जब चिन्तन ही नहीं रहा, तो विकल्पों की अनुपयोगिता स्वाभाविक है।

पहली अवस्था में—

"जिसका ज्ञेयमय भाव स्थिर हो जाता है एवं हर तरह से पूर्ण हो जाता है।" इत्यादि दृष्टिकोण के अनुसार अनिवार्यतः जानने योग्य पारमार्थिक चिदात्मक रूप की तत्काल समापत्ति नहीं होती।

समापत्तिर्न स्यात्, विकल्पो हि अभ्यासबलात् स्वतुल्यविकल्पान्तराविर्भावकतया विगलदस्फुटत्वादिना यथायथं सातिशयविकल्पजननाक्रमेण अविकल्पात्मकसंवित्तादात्म्यम् अभ्येति । यद्वक्ष्यति

'प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'संविदस्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ।'

इति । अत एव शाक्तोपायादस्य भेदः ॥ १७१ ॥

ननु कथं विकल्पानुपयोगितयैव एतत् स्यात् ? इत्याशङ्कां दर्शयितुमाह

सा कथं भवतीत्याह गुरुणातिगरीयसा ।
ज्ञेयाभिमुखबोधेन द्राक्प्ररूढत्वशालिना ॥ १७२ ॥

प्रतिः आभिमुख्ये, आभिमुख्यं च वस्त्वन्तरापेक्षम्, तच्च अत्र औचित्यात् चिन्मात्रम् इत्युक्तं 'ज्ञेयाभिमुखेति' । अतिगरीयस्त्वमेव व्याख्यातुं द्राक्प्ररूढत्वेत्याद्युक्तम्, द्राक् इत्यनेन यथोक्तविकल्पक्रमोपारोहाभावः सूचितः ॥ १७२ ॥

अभ्यास के बल पर विकल्प ही अपने समान दूसरे शुद्ध विकल्प को जन्म देते हैं । इस तरह क्रमशः शुद्ध विकल्पोदय के फलस्वरूप अस्फुटता समाप्त होने लगती है । जैसे-जैसे उत्तमोत्तम विकल्पों की परम्परा बढ़ती है, एक अविकल्पात्मक संवित् का माहात्म्य उपलब्ध हो जाता है । इसी तथ्य को निम्न उक्ति प्रतिपादित करती है—

"शैव शासन साधना में अनुप्रवेश का अभिलाषी साधक आञ्जस विधि से विकल्पों का संस्कार करता है ।"

दूसरी अवस्था में—

"इससे साधक की संवित् शक्ति अविकल्पक स्थिति प्राप्त कर विमल हो जाती है ।" इससे शाक्तोपाय से इसका भेद सिद्ध हो जाता है ॥ १७१ ॥

प्रश्न है कि विकल्पों की अनुपयोगिता से ही ज्ञेय समापत्ति कैसे होती है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

अत्यन्त गौरवपूर्ण और तुरन्त प्ररूढ हो जाने वाले ज्ञेय के अभिमुख बोध के द्वारा (ऐसा होता है) । १६८वें श्लोक में प्रतिबोध शब्द प्रयुक्त है । वहाँ प्रति आभिमुख्य अर्थ में ही प्रयुक्त है । आभिमुख्य में किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती । औचित्य की दृष्टि से यह चिन्मात्र रूप ही है । ज्ञेयाभिमुख बोध का यही भाव है ॥ १७२ ॥

ननु कथमनयोर्भिन्नविभक्तिकयोः सामानाधिकरण्यम् ? इत्याशङ्क्याह

तृतीयार्थे तसि व्याख्या वा वैयधिकरण्यतः ।

तृतीयार्थे तसि, इति तसि इत्यनुबन्धलोपे प्रयोगः । तृतीयार्थे इति सर्वविभक्त्यन्तात् प्रातिपदिकात् तस्येष्टेः । वा शब्दः पक्षान्तरे । वैयधिकरण्यत इति गुरुणा कृतो यः प्रतिबोधस्तत इत्यर्थः ।

आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात् ॥ १७३ ॥
परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्यविभागिनः ।

अस्वतन्त्रस्य जडस्य बुद्ध्यादेर्मितस्य प्रमातुः, स्वम् असाधारणम्, तत् संकुचितं यद् रूपं तस्य निमज्जनं-गुणीभावः, तदवलम्ब्य परेण स्वतन्त्रेण बोधेन या तद्रूपता-तादात्म्यम्, स आवेश इति सम्बन्धः । यदुक्तं

'मुख्यत्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः ।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम् ॥'

इति । कुतः पुनरयमागतः ? इत्याह शम्भोः इति । न पुनः शक्तेरणोर्वा । आद्याद् इति-तत एव हि शक्तेरणोश्च प्रभव इति भावः । अत एव शक्तिरत्र इच्छा, न तु ज्ञानं क्रिया वा-तयोः समावेशान्तरगतत्वेन अभिधास्यमानत्वात् ॥ १७३ ॥

इन भिन्न-विभक्तिक दोनों का सामानाधिकरण्य कैसे ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

श्लोक १६८ में तृतीया विभक्ति के अर्थ में तसिल् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। विकल्प पक्ष में वैयधिकरण्य में भी इसकी व्युत्पत्ति सम्भव है। उस समय विग्रहवाक्य बनेगा—गुरु के द्वारा किया हुआ जो बोध, उससे (भी जो आवेश होगा, वह शाम्भव समावेश होगा) ।

अस्वतन्त्र जड बुद्धि आदि मित प्रमाताओं का जो अपना संकुचित रूप, उसके निमज्जित हो जाने, अर्थात् उसकी प्रमुखता समाप्त हो जाने पर, स्वतन्त्र बोध का ताद्रूप्य प्राप्त होता है। इसी ताद्रूप्य को आवेश कहते हैं। कहा गया है—

"जब चिदात्मक बोध और स्वात्म कर्तृत्व की मुख्यता हो जाय, साथ ही संकुचित जडत्व की गौणता हो जाय और एक ज्ञानात्मक प्रकाश का उल्लास हो जाय, तो यह समझना चाहिए कि यह समावेश की स्थिति है।"

इह पदार्थावगमपुरःसरीकारेण वाक्यार्थावगम इति पदार्थयोजनानन्तरं वाक्यार्थमपि योजयितुमाह

तेनायमत्र वाक्यार्थो विज्ञेयं प्रोन्मिषत्स्वयम् ॥ १७४ ॥

विनापि निश्चयेन द्राक् मातृदर्पणबिम्बितम् ।

मातारमधरीकुर्वत् स्वां विभूतिं प्रदर्शयत् ॥ १७५ ॥

आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः ।

विज्ञेयं–चिन्मात्राख्यं पारमार्थिकं रूपम्, माता–सकलकरणग्रामप्रसव-निमित्तत्वाद् बुद्धिः, सैव चिच्छायासंक्रान्तिसहिष्णुत्वाद् दर्पणः, तत्र प्रतिबिम्बितं गृहीतात्मग्रहं परिमितं प्रमातारम् अधरीकुर्वत् बुद्ध्यादौ आत्माभिनिवेशनं गुणीभावमापादयत्। एवं तरतमभावेन अनन्यसाधारणां विभूतिं–बोधात्मता-प्रधानतां रचयत्, समनन्तरोक्तयुक्त्या विकल्पोपारोहमन्तरेण अनन्यापेक्षित्वात् झटिति

'सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ।'

यह समावेश शम्भु से ही प्राप्त होता है। शक्ति अथवा अणु से नहीं। वही विश्व का आदि है। वह कभी अपनी शक्तियों से वियुक्त नहीं होता। उसकी आद्या शक्ति इच्छा ही है, ज्ञान और क्रिया नहीं। ज्ञान और क्रिया समावेश के अन्तर्गत ही हैं ॥ १७३ ॥

सिद्धान्त है कि पदार्थ के ज्ञान के पहले हो जाने पर वाक्यार्थबोध होता है। अतः पदार्थ-योजना के अनन्तर वाक्यार्थ की योजना कर रहे हैं –

वह परम विज्ञेय, पारमार्थिक, चिन्मय बोध बुद्धिरूपी दर्पण में प्रति-बिम्बित होता है। वह आत्माभिनिवेश को नष्ट कर स्वबोधात्मक विभूति को प्रकाशित करता है। वह झटिति हृदय की नैर्मल्यातिशय दशा में प्रोन्मिषित होता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है।

समस्त इन्द्रियों की प्रसविनी बुद्धि ही प्रमाता है। चूँकि वह चित् शक्ति की छाया को ग्रहण करने में समर्थ है। इसलिए दर्पण के समान है। अशुद्ध अहं के आग्रह का प्रतिबिम्ब उसी में पड़ता है। ऐसे अशुद्ध आत्मग्रह को वह चिन्मय बोध ही दबा सकता है। इस अवस्था में आत्माभिनिवेश गौण हो जाता है। तर और तम के तारतम्य से अपनी बोधात्मक विभूति का प्रदर्शन भी वही करता है। वहाँ विकल्प नष्ट हो जाते हैं। अतः विना किसी की

इत्याद्युक्तेः। हृदयं–विमर्शः, तस्य नैर्मल्यम्–अनन्योन्मुखत्वादपरिम्लानत्वम्, तस्य अतिशयः–पराकाष्ठा, तत्र स्वयं प्रोन्मिषदास्ते–स्वप्रकाशतया प्रकाशते इत्यर्थः ॥ १७४–१७५ ॥

ननु अयं तावत् जडाजडात्म द्विधा सम्भवति, तत्र संविदि जडेन नीलादिनापि आवेशोऽस्ति इति कथं 'बोधात्मैव समावेशः' इत्युक्तम् ? इत्याह

ज्ञेयं द्विधा च चिन्मात्रं जडं चाद्यं च कल्पितम् ॥१७६॥

इतरत्तु तथा सत्यं तद्विभागोऽयमीदृशः ।
जडेन यः समावेशः सप्रतिच्छन्दकाकृतिः ॥ १७७ ॥
चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल ।

ननु कथं स्वप्रकाशायाः चितोऽपरप्रकाश्यत्वं ज्ञेयत्वं नाम ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'आद्यं च कल्पितम्' इति। चः शङ्काद्योतकः, परमेश्वर एव हि स्वातन्त्र्याद् अपरिहृतवेदकभावमपि स्वात्मानं भावनोपदेशादौ शिव एव सर्वक्रियाणां कर्ता विज्ञेय इत्यादि परामर्शैः अहंप्रतीतिम् अन्तरीकृत्य वेद्यतया प्रतिपादयति। इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं–यत् स्वं स्वरूपं वेदकमेव सत्

अपेक्षा के तत्काल हृदय रूपी विमर्श की निर्मलता की अतिशायिनी अवस्था में वह प्रकाशित हो जाता है। कहा गया है—

"वह महासत्ता रूप जो महास्फुरत्ता है, जो देश-काल से अविशिष्ट है, वही प्रधान रूप से अथवा श्रीसार शास्त्र के प्रतिपादन के अनुसार परमेष्ठी का स्वात्म प्रतिष्ठा रूप हृदय अर्थात् विमर्श है।" उसी में नैर्मल्यातिशय होता है ॥ १७४-१७५ ॥

प्रश्न है कि ज्ञेय तो जड़ और चेतन भेद से दो प्रकार के होते हैं। संविद् में जड़ नील आदि से भी आवेश होता है। फिर बोधात्मक समावेश की ही बात क्यों ? इस पर कह रहे हैं—

ज्ञेय दो प्रकार का होता है। १—चेतन और २—जड़। पहला कल्पित है, दूसरा जड़ नीलादि पदार्थ रूप से सत्य है। यह पार्थक्यपूर्ण विभाजन है। जड़ से जो समावेश होता है, वह प्रतिच्छन्दात्मक होता है। चैतन्य से जो समावेश होता है, वह तादात्म्य मात्र होता है।

कल्पित वेद्य का तात्पर्य है—परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के कारण वस्तुतः अपना वेदक रूप अक्षुण्ण रखते हुए भी स्वात्म को ओट में कर वेद्य

वेद्यत्वेन अवभासयति। अत एव कल्पितं वस्तुशून्यम् इत्युक्तम्। इतरद् इति जडं नीलादि। तथा इति ज्ञेयतया। तत्र नीलज्ञानम् इत्यादौ चितो नीलादिना दर्पणमुखन्यायेन प्रतिबिम्बनमात्रमेव समावेशार्थो न तु तादात्म्यम्, तथात्वे हि नीलादेर्ज्ञानात्मीभूतत्वाद् ज्ञानमेव अवशिष्यते इति प्रतिच्छन्दव्यवस्थैव न स्यात्। संकुचितायाः चितः पुनरसंकुचितया चितैकात्म्यमेव तस्या एव वस्तुतो भावात्, तेन बोधैकात्म्यमेव समावेशार्थ इति युक्तमुक्तम् अस्वतन्त्रस्य परतद्रूपता नामावेश इति ॥ १७६-१७७ ॥

तदेवोपसंहरति

तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी ॥ १७८ ॥
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः।

संवित्तिः अर्थात् संकुचितरूपा ॥ १७८ ॥

ननु अत्र उत्पत्तौ विकल्पापेक्षित्वं मा भूत् तथात्वे हि शाक्तोपायादस्य भेदो न स्यात्, औत्तरकालिकाः पुनर्विकल्पाः किमत्र अपेक्ष्यन्ते न वा ? इत्याशङ्क्याह

रूप से अवभासित करने लगता है। यही उसकी स्वतन्त्रता है कि वेदक होता हुआ भी वेद्य रूप से भासित होता है। इसलिए चेतन का ज्ञेयत्व कल्पित माना जाता है।

जहाँ तक जड़ ज्ञेयत्व का प्रश्न है, वह दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह छायात्मक समावेश दशा है, तादात्म्य नहीं है। यदि तादात्म्य मान लिया जायेगा तो नील आदि पदार्थ भी ज्ञान रूप हो जायेंगे। फिर प्रतिछन्दकता ही समाप्त हो जायेगी। तब संकुचित और असंकुचित चित्त का समानान्तर रूप ही नहीं रहेगा और चिदैकात्म्य ही फलित हो जायेगा। इसलिये बोध से ऐकात्म्य ही समावेश है। यह कहना भी शत प्रतिशत सही है कि जड़ पदार्थों की परतद्रूपता ही आवेश है ॥ १७६-१७७ ॥

इसका उपसंहार कर रहे हैं—

इस तारतम्य से जब संकुचित संवित्ति अविकल्प अवस्था में भावना या उपदेश आदि से निरपेक्ष रहती हुई शिव से तादात्म्य प्राप्त कर लेती है। उस अवस्था में जो समावेश होता है, वह शाम्भव समावेश कहलाता है ॥ १७८ ॥

तत्प्रसादात्पुनः पश्चाद्भाविनोऽत्र विनिश्चयाः ॥ १७९ ॥
सन्तु तादात्म्यमापन्ना न तु तेषामुपायता ।

तच्छब्देन निर्विकल्पकपरामर्शः । अविकल्पकयैव संवित्त्या शिवात्मताधिगमः कृत इति कृतस्य करणायोगात् तत्पृष्ठभाविनां विकल्पानां तत्र अकिंचित्करत्वम् इत्याह न तु 'तेषामुपायता' इति ॥ १७९ ॥

अत एव च अविकल्पस्य विकल्पापेक्षं प्रामाण्यं वदन्तो निरस्ता इत्याह
विकल्पापेक्षया मानमविकल्पमिति ब्रुवन् ॥ १८० ॥
प्रत्युक्त एव सिद्धं हि विकल्पेनानुगम्यते ।

अनधिगतार्थविषयं खलु प्रमाणम् । यदाहुः

'अनधिगतविषयं प्रमाणम् अज्ञातार्थप्रकाशो वा ।'

इति । निर्विकल्पकगृहीतमेव वस्तु च तत्पृष्ठभावी विकल्पः परिच्छिनत्ति इति, तस्य गृहीतग्राहकत्वात् स्वात्मन्येव प्रामाण्यं नास्ति—इति कथमन्यस्यापि प्रामाण्ये निमित्ततां यायात् । अत आह 'सिद्धं हि विकल्पेनानुगम्यते' इति । सिद्धम् इति अधिगतम् । अनुगम्यते इति अनु पश्चाद् गम्यते अधिगम्यते इत्यर्थः ॥ १८० ॥

प्रश्न है कि संवित्ति में समावेश के उदय की अवस्था में भले ही विकल्प की अपेक्षा न हो, पर क्या बाद में उदित संवित्ति में विकल्पों की अपेक्षा होती है ? इस पर कहते हैं—

निर्विकल्प परामर्श के प्रसाद से शिव-तादात्म्य की उपलब्धि होती है। उसके बाद होने वाले विकल्पों का वहाँ कोई महत्त्व नहीं होता। इसीलिये वे उपाय नहीं माने जाते। यह नियम है कि उत्तरकालिक विकल्प असिद्ध होते हैं ॥ १७९ ॥

इसीलिये विकल्प की अपेक्षा अविकल्प की प्रामाणिकता मानने वाले निरस्त हो जाते हैं। वही कहते हैं—

नियम है कि सिद्ध वस्तु ही विकल्प से जानी जाती है। प्रमाण अनधिगतार्थ विषयक होता है। कहा गया है—

जहाँ विषय सिद्ध है, "प्रमाण वहाँ नहीं होता। वह अज्ञात अर्थ का प्रकाशक होता है।" निर्विकल्प से गृहीत वस्तु को बाद में होने वाला विकल्प अलग करता है। विकल्प गृहीत का ही ग्राहक बनता है। इसलिये उसमें

ननु प्रवर्ततां नाम गृहीतेऽर्थे विकल्पः, तत्र पुनरध्यवसायात्मकत्वादस्य ग्राहकत्वं न युज्यते इति 'गृहीतं गृह्णामि' इति प्रतिपत्तिरस्य कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

गृहीतमिति सुस्पष्टा निश्चयस्य यतः प्रथा ॥ १८१ ॥
गृह्णामीत्यविकल्पैक्यबलात्तु प्रतिपद्यते ।

गृहीतमिति प्रथा हि विकल्पस्य भावादौपपत्तिकी—गृहीत एवार्थे अस्य प्रवृत्तेः, यत्तु गृह्णामि इति प्रतिपद्यते तद् दृश्यविकल्प्यार्थैकीकारादिना निर्विकल्पकैकात्म्यावलम्बनबलाद् इति युक्तमुक्तं 'विकल्पेन गृहीतं गृह्यते' इति ॥ १८१ ॥

ननु ज्ञानं खलु ज्ञापकं न तु कारकम् इति, तेन वस्तुनो ज्ञप्तिः स्यात्, न तु सिद्धिः इति कथमुक्तं 'सिद्धं विकल्पेनानुगम्यते' ? इत्याशङ्क्याह

अविकल्पात्मसंवित्तौ या स्फुरत्तैव वस्तुनः ॥ १८२ ॥
सा सिद्धिर्न विकल्पात्तु वस्त्वपेक्षाविवर्जितात् ।

प्रामाण्य नहीं होता। वह दूसरे के प्रामाण्य का कारण कैसे बन सकता है ? क्योंकि सिद्ध वस्तु ही विकल्प से जाना जाता है ॥ १८० ॥

विकल्प गृहीत अर्थ में भले ही प्रवर्त्तित हो; क्योंकि गृहीत अर्थ में अध्यवसायात्मकता होती है। वहाँ ग्राहकत्व मानना उचित नहीं, फिर 'मैं गृहीत को ग्रहण करता हूँ' यह ज्ञान कैसे होगा ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

गृहीत वस्तु का निश्चय होता है। उसका ग्रहण करता हूँ—यह विमर्श अविकल्प के ऐक्य के बल पर होता है। साधक को शिवात्मता अधिगत हुई। फिर विकल्प हुआ कि यह गृहीत की गयी। यह भाव की औपपत्तिकी स्थिति है। मैं ग्रहण करता हूँ—यह प्रतिपत्ति भी अविकल्प की एकात्मकता के आधार पर होती है। अतः 'विकल्प से गृहीत वस्तु ही ग्रहण की जाती है' यह कथन युक्तिसंगत है ॥ १८१ ॥

ज्ञान तो ज्ञापक होता है, कारक नहीं। उससे वस्तु की ज्ञप्ति होती है, सिद्धि नहीं होती। फिर यह क्यों कहा गया कि सिद्ध वस्तु विकल्प से अधिगत होती है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

आभासवादे हि आभासमानतैव सिद्धिः इत्युक्तं स्फुरत्तैव वस्तुनः सिद्धिः । ननु विकल्पानामपि स्वात्मनि अविकल्पकत्वात् स्फुरद्रूपता अस्ति इति किमिति न ततोऽपि वस्तुनः सिद्धिः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह 'न विकल्पात्' इति, 'सर्वो विकल्पः स्मृतिः' इति नीत्या विकल्पानां तावत् स्मृतिरेव रूपम्, सा च असंनिहिते पूर्वानुभूत एव अर्थे प्रवर्तत इति विकल्पानां वस्त्वनपेक्षित्वम्, यद्यपि च स्वतन्त्रविकल्पादौ क्षेत्रज्ञनिर्मितानां योजनास्ति तथापि पूर्वानुभव-संस्कारजा एव तेऽर्था इत्युक्तं 'वस्त्वपेक्षाविवर्जितात्' इति । यस्य च यदपेक्षा नास्ति स कथं तत्सिद्धौ निमित्ततां यायाद् इति भावः ॥ १८२ ॥

यद्येवं निर्विकल्पकसिद्ध एव अर्थे विकल्पः प्रवर्तते न अधिकं किंचित्करोति तत्किमिति तेन स क्वचिदपेक्ष्यते इत्याह

केवलं संविदः सोऽयं नैर्मल्येतरविभ्रमः ॥१८३॥

यद्विकल्पानपेक्षत्वसापेक्षत्वे निजात्मनि ।

एवं संविदः सर्ववादिसिद्धं व्यवहारादौ विकल्पसापेक्षत्वं परिहृत्य विकल्पान-पेक्षत्वमेव स्फुटीकर्तमुदाहरति

आभासवाद में आभासमानता ही सिद्धि है। स्फुरत्ता ही वस्तु की सिद्धि है। विकल्प से वह सिद्धि नहीं होती। 'सारा विकल्प स्मृति है' इस नीति से स्मृति ही विकल्पों का रूप मानी जाती है। स्मृति पहले अनुभूत पृथक् अर्थ में प्रवृत्त होती है। फलतः विकल्प वस्तु से अनपेक्षित ही होते हैं। इसलिये वस्तु की अपेक्षा से रहित विकल्प से सिद्धि नहीं हो सकती। सिद्धि अविकल्पा-त्मक संवित्ति में होती है। वह वस्तु की स्फुरत्ता रूप ही होती है। जिसकी जिस विषय में अपेक्षा ही नहीं होती, वह उसकी सिद्धि का कारण नहीं बन सकता।। १८२।।

यदि इस तरह निर्विकल्प सिद्ध अर्थ में ही विकल्प प्रवृत होता है, अधिक कुछ नहीं करता, तो क्यों वह उसके द्वारा कहीं अपेक्षित होता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं

यह संविद् की निर्मलता का एक इतर विभ्रम मात्र ही है कि स्वात्म में ही विकल्प की निरपेक्षता और सापेक्षता दोनों (अनुभूत होती हैं) ॥ १८३॥

इस प्रकार सर्ववादिसम्मत, व्यवहार आदि में विकल्प की सापेक्षता का प्रत्याख्यान कर विकल्पों की अनपेक्षता को ही स्फुट करने के लिए उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं —

निशीथेऽपि मणिज्ञानी विद्युत्कालप्रदर्शितान् ॥१८४॥

तांस्तान्विशेषांश्चिनुते रत्नानां भूयसामपि ।

वैकटिको हि अचिरस्थायिनि परिमितेऽपि आलोके भूयसामपि रत्नानाम् अतिसूक्ष्मान् परस्परविशेषान् अवसायं विनापि अनुभवातिशयादेव जानीते, येन 'इदमल्पम्','इदं महत्,' 'इदमितोऽपि महद्रत्नम्' इत्यस्य विवेकः स्यात् ॥१८४॥

किं चात्र अनुभवातिशये निमित्तं येन विकल्पनैरपेक्ष्येणापि वस्तुनः सिद्धिः स्यात् ? इत्याह

नैर्मल्यं संविदश्चेदं पूर्वाभ्यासवशादथो ॥१८५॥

अनियन्त्रेश्वरेच्छात इत्येतच्चर्चयिष्यते ।

पूर्वाभ्यासो जन्मान्तरीय इति, अत एव चर्चयिष्यते त्रयोदशाह्निकादौ ॥ १८५ ॥

न केवलमस्य आवेशस्य त्रैविध्यमेव अस्ति, यावदवान्तरप्रकारत्वमपि इत्याह

पञ्चाशद्विधता चास्य समावेशस्य वर्णिता ॥१८६॥

तत्त्वषट्त्रिंशकैतत्स्थस्फुटभेदाभिसन्धितः ।

वर्णिता इति श्रीपूर्वशास्त्रे । यदुक्तं तत्र

जौहरी आधी रात में भी क्षणिक प्रकाश के परिवेश की दशा में भी रत्नों की राशि राशि से उनके (पारस्परिक) वैशिष्टय को भी (अनुभव के बल पर ही) पहचान जाता है। उसे यह विवेक हो जाता है कि यह कम मूल्यवान्, यह अधिक मूल्यवान् और यह अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का रत्न है ॥ १८४ ॥

अनुभव के इस आतिशय्य का निमित्त क्या है, जिससे विकल्प की अपेक्षा के बिना भी वस्तु की सिद्धि हो जाती है। इस पर कह रहे हैं—

संविद् का यह नैर्मल्य पूर्वाभ्यास के कारण (जन्मान्तरीय संस्कारवश) होता है। अथवा परमेश्वर की इच्छाशक्ति के स्वातन्त्र्य के प्रभाव से भी (सम्भव है) ॥ १८५ ॥

न केवल यह समावेश तीन प्रकार का ही है; अपितु अवान्तर प्रकार भी हैं। कह रहे हैं—

५० प्रकार के समावेश वर्णित हैं। ३६ तत्त्व और उसके अन्तर्गत स्थित सकल आदि पृथक् व्याख्यास्यमान कुछ तत्त्व तथा अन्य स्फुट भेदों की

'रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा ननु चर्च्यते ।
भूततत्त्वात्ममन्त्रेशशक्तिभेदाद्वरानने ॥
पञ्चधा भूतसंज्ञोऽत्र त्रिंशद्धा तु तथापरः ।
आत्माख्यस्त्रिविधः प्रोक्तो दशधा मन्त्रसंज्ञकः ॥
द्विविधः शक्तिसंज्ञोऽपि ज्ञातव्यः परमार्थतः ।
पञ्चाशद्भेदभिन्नोऽयं समावेशः प्रकीर्तितः ॥'

इति । अत्र च हेतुः—तत्त्व इति । तत्त्वषट्त्रिंशकं च एतत्स्थानि तत्त्वषट्त्रिंशन्मध्यपतितानि पुमादीनि पृथग्व्याख्यास्यमानानि तत्त्वानि च, तेषां यो वक्ष्यमाणप्रकारः स्फुटो भेदस्तस्य अनुसन्धानम् ॥ १८६ ॥

तमेव भेदं निरूपयति

एतत्तत्त्वान्तरे यत्पुंविद्याशक्त्यात्मकं त्रयम् ॥१८७॥
अम्भोधिकाष्ठाज्वलनसंख्यैर्भेदैर्यतः क्रमात् ।

तद्भिन्नम् इत्यध्याहारः, अतस्तत्र पुमान्

'आत्मा चतुर्विधो ह्येषः ।'

इत्याद्युक्त्या अम्भोधिभिः—सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलशुद्धलक्षणैः चतुर्भिः भेदैर्भिन्नः, तथा विद्या काष्ठाभिः—वर्णबिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिनी-

---

अभिसन्धि के अनुसार ही उक्त भेद होते हैं। श्रीपूर्व शास्त्र में यह वर्णन निम्नवत् है—

"रुद्र शक्ति का समावेश भूत, तत्त्व, आत्म, मन्त्रेश और शक्ति भेद से पांच प्रकार का होता है। इन पाँचों के क्रमशः ५, ३०, ३, १० और २ भेद के अनुसार ५० भेद होते हैं ॥ १८६ ॥

उसी भेद का निरूपण कर रहे हैं—

इन तत्त्वों के अन्तर्गत पुरुष, विद्या और शक्ति तीनों क्रमशः, अम्भोधि =४, काष्ठा =१० और ज्वलन अर्थात् ३ भेदों से भिन्न हैं ।

वहाँ पुरुष तत्त्व—

"क्योंकि यह आत्मा चार प्रकार का होता है ।" इत्यादि कथनानुसार सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल और शुद्ध भेद से चार प्रकार का होता है। विद्या वर्ण, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना

नादनादान्तशक्तिव्यापिनीसमनोन्मनात्मभिर्दशभिः भेदैर्भिन्ना, तथा शक्तिः ज्वलनैः—इच्छाज्ञानक्रियात्मभिः त्रिभिर्भेदैः ॥१८७॥

ननु किमिति इदमेव तत्त्वत्रयं भेदेन निर्दिष्टम् ? इत्याशङ्क्याह

पुंविद्याशक्तिसंज्ञं यत्तत्सर्वव्यापकं यतः ॥१८८॥

अव्यापकेभ्यस्तेनेदं भेदेन गणितं किल ।

अव्यापकेभ्य इति व्याप्येभ्यस्तत्त्वान्तरेभ्य इत्यर्थः । मायान्तं हि आत्मतत्त्वस्य, सदाशिवान्तं विद्यातत्त्वस्य, शिवान्तं च शक्तितत्त्वस्य व्याप्तिः । यदुक्तं

'माया-सदाशिव-शिवप्रान्तव्याप्त्री ननु क्रमात् ।'

इति ॥१८८॥

न केवलमेतत् तत्त्वान्तरेभ्यो भिद्यते, यावदन्योन्यमपि इत्याह

अशुद्धिशुद्ध्यमानत्वशुद्धितस्तु मिथोऽपि तत् ॥१८९॥

पुमान् अशुद्धो—भेदमयत्वात्, विद्या शुद्ध्यमाना—भेदाभेदमयत्वात्, शुद्धा शक्तिः—अभेदमयत्वात् ॥१८९॥

और उन्मना इन दश भेदों से तथा शक्ति इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन भेदों से भिन्न होती है ॥ १८७ ॥

क्या यही तीन तत्त्व भेद-भिन्न हैं ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

व्याप्य तत्त्वान्तरों से पुरुष, विद्या और शक्तितत्त्व सर्वव्यापक हैं। पुरुषतत्त्व की माया तक, विद्यातत्त्व की सदाशिव तक और शक्तितत्त्व की शिवतत्त्व तक व्याप्ति है। कहा गया है कि,

"माया, सदाशिव और शिवतत्त्व तक तीनों पुरुष, विद्या और शक्ति व्याप्त हैं। अतएव सर्वव्यापक हैं" ॥ १८८ ॥

यह केवल तत्त्वान्तरों से ही भिन्न नहीं, वरन् परस्पर भी भेदयुक्त हैं—यही कह रहे हैं—

अशुद्धि, शुद्ध्यमान और शुद्धि भेद से ये स्वयं भिन्न हैं। भेदमय होने के कारण पुरुष अशुद्ध है। भेदाभेदमयता के कारण विद्या शुद्ध्यमान है। इसी तरह अभेदमय होने के कारण शक्तितत्त्व शुद्ध है ॥ १८९ ॥

ननु अस्तु एवम्, भूतानां पुनः पृथक् निर्देशे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

भूतान्यध्यक्षसिद्धानि कार्यहेत्वनुमेयतः ।
तत्त्ववर्गात्पृथग्भूतसमाख्यान्यत एव हि ॥१९०॥

भूतानि तावत् प्रत्यक्षसिद्धानि इति, तदेव एषां तत्त्वान्तरेभ्यो भेदेन उपादाने निमित्तम्, तानि हि नित्यानुमेयान्येव, तदाह 'कार्यहेत्वनुमेयतः तत्त्ववर्गात्' इति । तथा चात्र भूतानि कारणपूर्वकाणि आचैतन्ये सति अनेकसंख्यायोगित्वाद् घटादिवद् इत्यनुमानम् । यच्चैषां कारणं तानि

'तन्मात्रेभ्यश्च भूतानि...................।'

इत्याद्युक्तेः तन्मात्राणि इति, स्वकार्येभ्यो भूतेभ्य एषाम् अनुमेयत्वम् । एवम् अनेनैव अनुमानेन मायान्तः सकलतत्त्ववर्गोऽनुमातव्यः । एतच्च तत्त्वाध्वनि भविष्यति इति नेहायस्तम् । अत एव इति प्रत्यक्षसिद्धत्वात् ॥१९०॥

ननु भूतानां प्रत्यक्षसिद्धत्वम् अनुमेयात् तत्त्ववर्गात् पृथक्त्वेऽस्तु निमित्तम्. कथं पुनर्भूतत्वेऽपि तदेव ? इत्याशङ्क्याह

सर्वप्रतीतिसद्भावगोचरं भूतमेव हि ।
विदुश्चतुष्टये चात्र सावकाशे तदास्थितिम् ॥१९१॥

भूततत्त्व की भेदभिन्नता के पृथक् निर्देश की चर्चा कर रहे हैं—

भूततत्त्व तो प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यही कारण है कि अन्य तत्त्वों से ये पृथक् हैं। इसलिये ये नित्य अनुमेय हैं। अनुमान का प्रकार है—भूत कारणपूर्वक हैं, समस्त चेतन वर्ग में इनकी सत्ता है और अनेक संख्याओं से युक्त हैं। जैसे घड़ा।

"तन्मात्राओं से भूत (उत्पन्न हैं)..... ....।" इत्यादि कथन के अनुसार तन्मात्रायें कारण हैं। भूत इनके कार्य हैं। कार्य रूप भूतों से तन्मात्राओं का अनुमान होता है। इसी तरह अनुमान के द्वारा माया तक सारा तत्त्व समुदाय ही अनुमिति के योग्य है ॥ १९० ॥

भूत प्रत्यक्षसिद्ध हैं। अनुमेय से पृथक् हैं। इसी की चर्चा कर रहे हैं—

सर्वेषां विदुषामविदुषां वा प्रतीतौ सता पारमार्थिकेन सत्ताया गोचरमेव हि भूतम् उच्यते। भूतं हि सत्यम्, तच्च सत्यम्, यत्र न कदाचिदपि कस्यचिदपि विप्रतिपत्तिः, अनुमेये पुनरविदुषां तावत् प्रतीतिर्नास्त्येव, विदुषां च प्रतीतावपि बहुप्रकारं परस्परं विप्रतिपत्ति इति तत्र असत्यत्वसम्भावनापि भवेद् इति भावः। चो हेतौ, अतश्च सर्व एवात्र अवकाशः तद्दातृत्वादाकाशः, तत्सहिते वाय्वन्ते चतुष्टये पृथिव्यादिभूतपञ्चके सर्वप्रतीतिसद्भावगोचरत्वात् तस्य भूतत्वस्य आस्थितिम् अवस्थानं विदुः इति युक्तमुक्तं 'भूतसमाख्यान्यत एव' इति। एवं भौत आवेशः पञ्चधा, आत्मावेशश्च त्रिधा। एकोऽपि पुंस्तत्त्वरूप आत्मभेदः तत्त्वमध्येऽवस्थाप्यः, अन्यथा हि तात्त्व आवेशः त्रिंशद्धा न स्यात्। विद्यायाश्च समनन्तरोक्तेन सामान्यात्मना मान्त्रेण रूपेण दशधावेशः। विशिष्टेन तु मन्त्र-मन्त्रेश-मन्त्रमहेशात्मना रूपेण अस्यास्तत्त्वमध्ये परिगणनम्। एवं शक्तेरपि एकं भेदं तत्त्वमध्ये व्यवस्थाप्य तदीय आवेशो द्विधा। शिवस्तु समावेश्य एव इति न तत्रावेशोऽस्ति—तस्य परमाद्वयस्वभावत्वात्, तदपेक्षया समावेश्यसमावेशकलक्षणभेदानुपपत्तेः, तद्युक्तमुक्तम् 'अस्य समावेशस्य पञ्चाशद्विधत्वम्' इति ॥१९१॥

ननु श्रीपूर्वशास्त्रे रुद्रशक्तिसमावेशस्य पञ्चधात्वचर्चनं प्रतिज्ञाय भूतादीनां स्वरूपनिरूपणं कृतम् ? इत्याह

क्योंकि ज्ञानी या अज्ञानी सबकी प्रतीति में पारमार्थिक रूप से स्थित, इन्द्रियों से प्रत्यक्षीकृत, भाव (का प्रतीक) ही भूत कहलाता है। भूत सत्य ही है। सत्ता भी सत्य है। इसमें किसी प्रकार की किसी को कोई विप्रतिपत्ति—आपत्ति नहीं। यहाँ सबके लिये अवकाश है। अवकाश का प्रदाता ही 'आकाश' होता है। उसके सहित पृथिवी से वायु के चतुष्टय को मिलाकर पाँच महाभूत सिद्ध हैं। सभी यह जानते हैं कि आकाश में ही सबका अवस्थान है। इन्हीं भूतों से लेकर शक्तितत्त्व तक ५० समावेश मान्य हैं। शिव में समावेश भेद नहीं होता, वरन् उसमें ही समावेश होते हैं, वह तो समावेश्य ही है। विना उसके समावेश्य और समावेशक रूप भेद हो ही नहीं सकते ॥१९१॥

श्रीपूर्व शास्त्र में रुद्रशक्ति समावेशके पाँच प्रकार कहे गये हैं तथा भूत आदि के स्वरूप का भी निरूपण किया गया है। इस पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं—

रुद्रशक्तिसमावेशः पञ्चधा ननु चर्च्यते ।
कोऽवकाशो भवेत्तत्र भौतावेशादिवर्णने ॥१९२॥
प्रसंगादेतदिति चेत्समाधिः संभवन्नयम् ।
नास्माकं मानसावर्जी लोको भिन्नरुचिर्यतः ॥१९३॥

कोऽवकाश इति—भौतावेशादीनाम् अप्रस्तुतत्वात्, इदमेव हि तद-प्रस्तुताभिधानं यदन्यदुपक्रम्य अन्यदभिधीयते इत्यतश्चोदितं 'कोऽवकाशो भौतावेशादिवर्णने' इति। अथ रुद्रशक्तिसमावेशवर्णने प्रतिज्ञातेऽपि प्रसंगा-देतदुक्तम्, इति पुनस्तदप्ययुक्तम् इत्याह 'प्रसंगादेतत्' इति। निर्णीतप्राये प्रक्रान्तेऽर्थे यत्किंचिदनुषक्तत्वेन अप्रकृतम् अभिधीयते तत्रायं समाधिः 'प्रसंगादेतदुक्तम्' इति। इह तु उद्दिष्टेऽपि प्रकृते लक्षणपरीक्षादि अनुक्त्वैव भूतावेशादीनाम् आकस्मिकमेव अभिधानं कृतम् इति को नामायं प्रसंगः। एवं हि अप्राकरणिकानां प्रमेयाणामानन्त्याद् अनन्तान्तरङ्गप्रमेयप्रतिपादन-प्रसंगः स्यात् ? इत्युक्तं 'नास्माकं मानसावर्जी' इति ॥१९२-१९३॥

यद्येवं तर्हि किं प्रतिपत्तव्यम् ? इत्याह

उच्यते द्वैतशास्त्रेषु परमेशाद्विभेदिता ।
भूतादीनां यथा सात्र न तथा द्वयवर्जिते ॥१९४॥

अत्र इति अद्वयशास्त्रे श्रीश्रीपूर्वे। सा इति विभिन्नता। तन्निषेधे तु द्वयवर्जितत्वं हेतुः ॥१९४॥

रुद्रशक्ति समावेश पांच प्रकार का होता है—यह कहने के बाद भौतादि आवेशों के वर्णन की क्या आवश्यकता ? प्रस्तुत की उपेक्षा कर अप्रस्तुत चर्चा क्यों ? यदि यह कहा जाय कि प्रसंगवश ऐसा किया गया है, यह भी ठीक नहीं। निर्णीतप्राय उपस्थित विषय में उससे अनुषक्त अप्रकृत अर्थ के वर्णन के लिये यह किया जा सकता है।

यहाँ तो प्रकृत चर्चा का विषय रुद्रशक्ति है। फिर भी लक्षण-परीक्षा आदि विना कहे भूत सम्बन्धी आवेशों का आकस्मिक कथन किया गया है। इसी का समर्थन करते हैं—चूँकि लोकरुचियाँ विभिन्न हैं। अतः ऐसा हो भी सकता है, पर हमारे द्वारा यह समर्थित क्रम नहीं है ॥ १९२-१९३ ॥

ततश्च किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यावान्षट्त्रिंशकः सोऽयं यदन्यदपि किंचन ।

एतावती महादेवी रुद्रशक्तिरनर्गला ॥१९५॥

अन्यद् इति—तद्भेदा एव भुवनाद्याः । अनर्गला इति—व्यापकत्वादप्रतिहता इत्यर्थः । यदुक्तं

'त्वच्छक्तिचक्रात्मकमेव विश्वं ग्राह्यग्रहीतृग्रहणात्मनैतत् ।
अन्तादिमध्येषु सदा विभाति नात्यन्तभिन्नं भवतोऽस्ति किंचित् ॥'

इति ॥१९५॥

एतच्च तत्रत्येनैव अर्थेन संवादयति

तत एव द्वितीयेऽस्मिन्नधिकारे न्यरूप्यत ।

धरादेर्विश्वरूपत्वं पाञ्चदश्यादिभेदतः ॥१९६॥

तत एव इति—रुद्रशक्तेरेव तावत्स्फाररूपत्वात् । अस्मिन् इति—श्रीपूर्वशास्त्रे ।

फिर क्या स्वीकार्य है ? यही कह रहे हैं—

द्वैतसमर्थक शास्त्रों में परमेश्वर से विभिन्नता उक्त है। वह भेदवादिता यहाँ श्रीश्रीपूर्व शास्त्र में नहीं है; क्योंकि यह अद्वयवादसमर्थक शास्त्र है। द्वैतवाद का प्रत्याख्यान अभिन्नता के बोध के कारण है ॥ १९४ ॥

फिर समाधान क्या हुआ ? इस पर कह रहे हैं—

जितना यह छत्तीस तत्त्वात्मक उल्लास है अथवा इसके अतिरिक्त भी जो कुछ भुवन आदि विस्फार है—उतना और वह सब परमाम्बा महादिव्य मातृशक्ति ही है। सर्वव्यापक और अप्रतिहत रुद्रशक्ति की कोई इयत्ता नहीं। कहा गया है—

"परमेश्वर! ग्राह्य, ग्राहक और ग्रहणात्मक यह सारा विश्व तुम्हारी शक्ति की परम्परा का ही प्रतीक है। आदि, मध्य और अन्त के अन्तराल में शाश्वत प्रकाशमान यह विश्वकुसुम आत्यन्तिक रूप से तुमसे अभिन्न ही है ॥ १९५ ॥

पुनः श्रीश्रीपूर्व शास्त्रोक्त विषय के माध्यम से ही कह रहे हैं—

श्रीश्रीपूर्व शास्त्र में रुद्रशक्ति के स्फार रूप में ही दूसरे अध्याय में पाञ्चदश्य भेद-भिन्न पृथ्वी आदि की विश्वरूपता का निरूपण किया गया है।

यदुक्तं तत्रैव

'शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्वं विभिद्यते ।
स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा ॥'

इत्यादि

'..................शिवः साक्षान्न भिद्यते ।'

इत्यन्तम् । एतच्च तत्त्वभेदने भविष्यति, इति ग्रन्थविस्तरभयाद् नेह आयस्तम् ॥१९६॥

ननु यद्येवं तर्हि रुद्रशक्तावेवं–समावेशोऽभिधीयतां किं भूताद्यावेशेन इति स एव दोषः ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य, एतदेव उपसंहारभङ्ग्या दृष्टान्तं दर्शयन् उपपादयति

तस्माद्यथा पुरस्थेऽर्थे गुणाद्यंशांशिकामुखात् ।
निरंशभावसंबोधस्तथैवाशापि बुध्यताम् ॥ १९७ ॥

तथा संनिहिते घटादौ अर्थे लौहित्याद्यंशाभासद्वारेण अनेकसामान्याभाससंमेलनात्मनो निरंशस्य अखण्डस्य अर्थस्य सम्यक् स्वालक्षण्येन बोधो भवेत्, तथैव अत्रापि भूताद्यंशमुखेन निखिलरुद्रशक्त्यवभास इत्यधिगन्तव्यम् ॥ १९७ ॥

एवमपि किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अत एवाविकल्पत्वध्रौव्यप्राभववैभवैः ।
अन्यैर्वा शक्तिरूपत्वाद्धर्मैः स्वसमवायिभिः ॥ १९८ ॥
सर्वशोऽप्यथ वांशेन तं विभुं परमेश्वरम् ।
उपासते विकल्पौघसंस्काराद्ये श्रुतोत्थितात् ॥ १९९ ॥

"शक्तिमान् और शक्ति भेद से धरातत्त्व भेदभिन्न होता है । अपने रूप के सहित वह (१५) पन्द्रह प्रकार का होता है ।" इत्यादि से लेकर

"... ... . शिव साक्षात् भेद-भिन्न नहीं होता ।" यहाँ तक तत्त्वभेद प्रकरण का विषय है ॥ १९६ ॥

प्रश्न है कि यदि ऐसी बात है तो रुद्र-शक्ति में ही समावेश का कथन करें, भूतादि आवेश की चर्चा से क्या लाभ ? इस आशङ्का को ध्यान में रखकर दृष्टान्त देते हुए उपसंहार कर रहे हैं—

ते तत्तत्स्वविकल्पान्तःस्फुरद्धर्मपाटवात् ।
धर्मिणं पूर्णधर्मौघमभेदेनाधिशेरते ॥ २०० ॥

अत एव इति—धर्ममात्रावगममुखेन धर्मिण्यवगमात् । ध्रुवस्य भावो ध्रौव्यं—नित्यत्वम् । अन्यैः इति – पूर्णत्वादिभिः, स्वसमवायिभिः इति—शक्तिरूपत्वादभिन्नैरित्यर्थः । ये केचन श्रुतचिन्ताद्युत्थिततत्तन्नियतधर्मविषयस्य विकल्पौघस्य संस्कारम् अवलम्ब्य परमेश्वरं समनन्तरादृिष्टाभिः सर्वाभिरेव शक्तिभिः एकयैव वा शक्त्या समाविशन्ति, ते समाविष्टाः सन्तः, ते ते ये विकल्पास्तेषाम् अन्तः स्वाकारतया स्फुरन्तः, ते नियता अनियता वा धर्माः शक्तयः, तेषां पाटवं प्रबोधः, तदाश्रित्य पूर्णधर्मौघम् अनन्तशक्तिखचितत्वेन पूर्णस्वभावं धर्मिणं शक्तिमन्तं परमेश्वरम् अभेदेन अधिशेरते—तद्रूपतया स्फुरन्ति इत्यर्थः ॥ १९८-२०० ॥

ननु एकस्यापि नानाविधधर्मयोगिनोऽर्थस्य आखण्ड्येनैव प्रतीतिगोचरीभावः संभवति, न तु इतरथा इति किमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्काशान्त्यर्थम् एतदेव संवादयति

मान लीजिये सामने एक घड़ा रखा हुआ है । उसमें जितने गुण हैं, रंग हैं, गोलाई, ऊँचाई आदि इन आंशिक जानकारियों के माध्यम से एक अखण्ड भाव-संबोध होता है, उसी तरह भूत आदि आंशिक बोध के द्वारा अखण्ड रुद्रशक्ति का बोध होता है ॥ १९७ ॥

इस प्रतिपादन से भी क्या निष्कर्ष निकला ? इसका निरूपण कर रहे हैं—

धर्मज्ञान से धर्मी का बोध होता है । परमेश्वर निर्विकल्प है, ध्रुव है, विश्वविभुतामय है, अन्य शक्ति रूप शाश्वत अभिन्न धर्मों से युक्त है ।

ऐसे परमेश्वर के आंशिक या सर्वांश चिन्तन से स्फुरित शुद्ध विकल्पों के संस्कार द्वारा उत्पन्न बोध से या आन्तरिक उद्बोध से जो उपासना करते हैं, और पारमेश्वर समावेश प्राप्त करते हैं, वे अनन्तशक्ति समवेत पूर्ण परमेश्वर में अभेद भाव से अधिष्ठित हो जाते हैं । वे (मानो) परमेश्वर रूप से ही स्फुरित होने लग जाते हैं ॥ १९८-२०० ॥

प्रश्न है कि पदार्थ एक हो और उसमें अनेक धर्मों के योग हों, तो भी उसका पूरा प्रत्यक्ष होता है । किसी दूसरी तरह यह नहीं होता क्या ? इस शङ्का का यों समाधान करते हैं—

ऊचिवानत एव श्रीविद्याधिपतिरादरात् ।

तदेव पठति

त्वत्स्वरूपमविकल्पमक्षजा कल्पने न विषयीकरोति चेत् ।
अन्तरुल्लिखितचित्रसंविदो नो भवेयुरनुभूतयः स्फुटाः ॥२०१॥

यदि नाम ऐन्द्रियिकी निर्विकल्पप्रतीतिः अविकल्पम्--अविभागमपि त्वत्स्वरूपम्, कल्पने नियततत्तद्धर्मविषयत्वेन भेदनमवलम्ब्य न विषयीकुर्यात् तत् स्फुटा --नियतैकतरधर्मावभासमुखेन धर्मिस्वरूपावभासमय्यः, अन्तः— अस्फुटाकारत्वेन, उल्लिखिताः चित्राः—अवान्तरनानाधर्मविषयाः संविदो यासां ताः, एवंविधा अनुभूतयः—अनुभवाः, नो भवेयुः न उत्पद्येरन् इत्यर्थः । यदि हि सर्वधर्माक्रान्त्या धर्मिणि सर्वे अनुभवाः स्युः, तत् परिव्राडित्यादौ एकैकस्यापि तिस्रः कल्पना भवेयुः, तेन स्वेच्छावशात्, अर्थित्वानुरोधाद्वा, नैपुण्याद्वा प्रति-प्रमातृनियतधर्मावभासमुखेनैव धर्मिण्यवभासो भवेत्, न तु इतरथा इति युक्तम्— एकतरशक्त्यवभासमुखेन अनन्तशक्तावपि परमेश्वरेऽवभासः इति ॥२०१॥

एतच्च न केवलं युक्त्या सिद्धं यावदागमेनापि इत्याह

तदुक्तं श्रीमतङ्गादौ स्वशक्तिकिरणात्मकम् ।
अथ पत्युरधिष्ठानमित्याद्युक्तं विशेषणैः ॥ २०२ ॥

यदि इन्द्रियजन्य निर्विकल्प प्रतीति, पदार्थगत प्रतिनियत धर्मविषयक भेदों को ध्यान में रखकर विकल्परहित तुम्हारे स्वरूप को अपना विषय नहीं बनाती, तो आन्तरिक रूप से स्फुरित, अस्फुट, नाना धर्मों से युक्त रहने के कारण चित्रात्मक, संविन्मयी स्फुट अनुभूतियाँ उत्पन्न ही कैसे हो सकती हैं ? अर्थात् नहीं हो सकतीं ।

निष्कर्ष यह कि सभी धर्मों का अतिक्रमण कर धर्मी में सब अनुभव नहीं होते वरन् स्वेच्छा से, या अर्थिता के अनुरोध से या नैपुण्य से प्रतिप्रमातृगत नियत धर्मों के अवभास के माध्यम से ही धर्मी में धर्मों का अवभास होता है । अन्यथा अवभास होता ही नहीं । एक एक शक्ति के अवभास से अनन्त शक्तिसम्पन्न परमेश्वर भासित हो जाते हैं ॥ २०१ ॥

यह तथ्य युक्ति पर आधारित नहीं है; अपितु आगमसिद्ध भी है । यही कह रहे हैं —

तस्यां दिवि सुदीप्तात्मा निष्कम्पोऽचलमूर्तिमान् ।
काष्ठा सैव परा सूक्ष्मा सर्वदिक्कामृतात्मिका ॥ २०३ ॥
प्रध्वस्तावरणा शान्ता वस्तुमात्रातिलालसा ।
आद्यन्तोपरता साध्वी मूर्तित्वेनोपचर्यते ॥ २०४ ॥

स्वशक्तिकिरणात्मकं यद्वस्तु तत् 'पत्युरधिष्ठानम्' इत्यादिभिः विशेषणैः, अर्थाद् विशिष्टमुक्तम् इति सम्बन्धः । 'अथ पत्युरधिष्ठानं स्वशक्तिकिरणात्मकम् ।' इत्येवं-पाठ ऐशः, ग्रन्थकृता पुनरेव विध्यनुवादभावदर्शनार्थम् अन्यथा पाठः कृतः, तान्येव विशेषणानि दर्शयितुं 'तस्याम्' इत्यादि 'उपचर्यते' इत्यन्तमागमः पठितः, स्वा अनन्यसाधारणा याः शक्तयस्ता एव अभिन्नत्वप्रकाशत्वानन्त्यादिना किरणा रश्मयः तदात्मकम्, पत्युः—शक्तिमतः, अधिष्ठानम्—अभिव्यक्तिस्थानम् इत्यर्थः । शक्तिरेव तज्ज्ञप्तावुपायः, यदुक्तं

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ॥'

इति । अत एव तस्यां शक्तौ, दिवि द्योतमानायाम्, सोऽपि सुष्ठु दीप्तात्मा—महाप्रकाशवपुः, अत एव निष्कम्पः—स्वस्मिन्नेव रूपे अवस्थितः, तस्य हि प्रकाशात्मनः स्वरूपात्प्रच्यावे सर्वमिदम् अन्धं स्यात्, अत एव च अचलया—महाप्रकाशमय्या प्रशस्यया मूर्त्या युक्तः, यतश्च तस्यामेवं-विधायाम् अयमेवंविधः, ततः सैव परा काष्ठा लोकोत्तरा विश्रान्तिभूः, अत एव सूक्ष्मा परिच्छेत्तुमशक्या—परप्रमात्रेकरूपत्वात्, अत एव वस्तुमात्रे पारमार्थिके रूपे अतिशयेन लालसा—तत्स्फुरत्तात्मिका इति यावत् । एवं च प्रकर्षेण निःसंस्कारतया ध्वस्तानि बाह्यावरणानि यया सा प्रशान्तभेदा

श्रीमतंग शास्त्र का वचन है—"अथ पत्युरधिष्ठानं स्वशक्तिकिरणात्मकम्" । श्रीमदभिनवगुप्त ने विधि, अनुवाद और भाव की दृष्टि से पहले श्लोक का स्वोपज्ञ रूप दिया है । पुनः 'तस्यां' से 'उपचर्यते' तक पूरा आगमिक पाठ है । परमेश्वर का अधिष्ठान उनकी अपनी (सर्वातिशायिनी) किरणें ही हैं । उसकी जानकारी की उपाय उसकी किरणें ही हैं । कहा गया है कि—

"जैसे दीपक के प्रकाश से अथवा सूर्य की रश्मियों से दिशाओं के विभाग आदि जान पड़ते हैं, उसी तरह शक्ति से शिव का ज्ञान होता है ।"

इसलिये उस शक्ति में ही परमेश्वर महाप्रकाश रूप से, निष्कम्प और शाश्वत स्थिर अनुभूत होते हैं । वह शक्ति भी उस परमेश्वर की

इत्यर्थः, अत एव शान्ता चिन्मात्ररूपा इत्यर्थः । एवमपि सर्वदिक्षु भवा स्थावरजङ्गमात्मकजगद्रूपत्वात् चित्रस्वभावा इति यावत्, तदपि अमृतात्मिका नित्या, अत एव आद्यन्तोपरता, अनित्ये हि आद्यन्तौ भवतः, अत एव साध्वी—अनित्यत्वादिदोषकालुष्यरहिता इत्यर्थः, एवं-विधा च एषा शक्तिमतः परमेश्वरस्य मूर्तित्वेन उपचर्यते—गौण्या वृत्त्या तद्रूपतया अभिधीयत इत्यर्थः ॥ २०२-२०४ ॥

ननु उपचारे मुख्यार्थबाधादिना त्रितयेन अवश्यभाव्यम्, तच्चात्र किमस्ति न वा ? इत्याशङ्क्याह

तथोपचारस्यात्रैतन्निमित्तं सप्रयोजनम् ।

निमित्तम् इति कारणम्, तद्वशादेव हि उपचारो भवेद् इति भावः । तत्र शक्तेः शक्तिमद्रूपत्वाभिधाने बाधितस्तावद् मुख्योऽर्थः, संबन्धश्च तयोरुपायोपेयभावः ।

तदाह

तन्मुखा स्फुटता धर्मिण्याशु तन्मयतास्थितिः ॥२०५॥
त एव धर्माः शक्त्याख्यास्तैस्तैरुचितरूपकैः ॥
आकारैः पर्युपास्यन्ते तन्मयीभावसिद्धये ॥२०६॥

लोकोत्तर प्रतिष्ठा की आश्रय है, सूक्ष्म है, अपने पारमार्थिक स्वरूप में स्फुरित है, अमृतमयी व्यापिनी शक्ति है। समस्त आवरणों से रहित है, आदि, अन्त रहित, समस्त दोषकालुष्य से रहित परमेश्वर की मूर्त्ति रूप से उपचरित होती है ॥ २०२-२०४॥

उपचार में तीन बातें (१—मुख्यार्थबाध, २—मुख्यार्थ से सम्बन्ध और ३—अन्यार्थप्रतीति) अवश्य होती हैं। प्रश्न है कि यहां क्या है ? इसी आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

शक्ति का शक्तिमान् रूप से कथन करने में मुख्य अर्थ यहाँ बाधित है। शक्ति, शक्तिमान् का उपायोपेय भाव सम्बन्ध है और यह सप्रयोजन भी है कि यह उपचार हो।

इसी तथ्य को कह रहे हैं—

धर्मी परमेश्वर में शक्ति ही उपाय है। वही स्फुटता भी है। स्फुटता शीघ्र ही तन्मयता की स्थिति होती है। यही मुख्य प्रयोजन है। शक्ति मिली तो

सा शक्तिः मुखम् उपायो यस्याः, स्फुटता नाम किमुच्यते इत्युक्तम् 'आशु तन्मयतास्थितिः' इति, आसादितायां शक्तावासादित एव शिव इत्याशयः। एतदेव च मुख्यं प्रयोजनम् ॥ २०५-२०६ ॥

अत एवाह

तत्र काचित्पुनः शक्तिरनन्ता वा मिताश्च वा।
आक्षिपेद्धवतासत्त्वन्यायाद्दूरान्तिकत्वतः ॥२०७॥

अनन्ता मिताश्च इत्यर्थाच्छक्तीः। धवतासत्त्वन्यायाद् इति धवता हि अधवव्यावृत्ताः स्वव्यक्तीरेव आक्षिपति इत्यस्याः परिमितवस्त्वाक्षेपित्वम्, सत्त्वं पुनर्धवाधवात्मनि सर्वत्रैव अस्ति इत्यस्यानन्तवस्त्वाक्षेपित्वम्, अत एव च मितवस्त्वाक्षेपिण्यो दूरा—अव्यापकत्वेन सर्वत्र असन्निहितत्वात्, अनन्तवस्त्वाक्षेपिण्यस्तु आसन्ना—व्यापकत्वात् सर्वत्रैव संनिहितत्वात् ॥२०७॥

एतदेव प्रकृते योजयति

तेन पूर्णस्वभावत्वं प्रकाशत्वं चिदात्मता।
भैरवत्वं विश्वशक्तीराक्षिपेद्व्यापकत्वतः ॥२०८॥

शिव भी मिल ही गये की स्थिति हो। वही शक्ति रूप धर्म उन उन उचित रूपकों और आकारों के माध्यम से तन्मयता की सिद्धि के लिये उपासना में गृहीत हैं ॥ २०५-२०६ ॥

इसीलिये कहते हैं—

तन्मयीभाव की सिद्धि के उपासना क्रम में कोई शक्ति दूरी और समीपता की दृष्टि से अनन्त या सीमित स्वात्म अभिव्यक्ति का आक्षेप कर लेती है। धवतासत्त्व न्याय के नियम का वह अनुसरण करती है। इस न्याय के 'धवता' और 'सत्त्व' दो आधार हैं। धवता जहां होगी, वहां अधवता प्रत्याख्यात हो जायगी। वहां स्वात्म अभिव्यक्ति का ही आक्षेप स्वाभाविक है। यह आक्षेप सीमित वस्तु का है। जहां तक सत्त्व का प्रश्न है, वह धव में भी है और अधव में भी है। यहां अनन्त वस्तु का आक्षेप है। सीमित आक्षेप व्यापक और सर्वत्र सन्निहित नहीं होता। इसलिये दूर होता है। अनन्त वस्तु का आक्षेप करने वाली शक्तियां आसन्न होती हैं; क्योंकि ये व्यापक हैं ॥ २०७ ॥

सदाशिवादयस्तूर्ध्वव्याप्त्यभावादधोजुषः ।
शक्तीः समाक्षिपेयुस्तदुपासान्तिकदूरतः ॥२०९॥

अधोजुषः इति – ईश्वरादिकाः शक्तीः, तदिति पूर्णस्वभावत्वसदाशिवत्वादेः व्यापकत्वाव्यापकत्वस्वभावत्वाद्धेतोः । पूर्णस्वभावे हि रूपे उपासन्नाः पूर्णमेव भुक्तिमुक्तिलक्षणं फलम् आसादयन्ति, अपूर्णस्वभावे पुनरपूर्णत्वमेव इत्युक्तम् 'उपासान्तिकदूरतः' इति । अत एव च दर्शनभेदः ॥२०८-२०९॥

ननु विकल्प एव तत्कल्पनावलान्नियतः सामान्यात्मा धर्मोऽवभासते इति तत्र तन्मुखेन धर्मिणि अवभासो भवेद् इत्ययं क्रमः शाक्तोपाये स्यात्, न तु अखण्डवस्त्ववभासात्मनि निर्विकल्पकस्वभावे शाम्भवे इति कथमिहैतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

इत्थंभावे च शाक्ताख्यो वैकल्पिकपथक्रमः ।
इह तूक्तो यतस्तस्मात् प्रतियोग्यविकल्पकम् ॥२१०॥

इह इति शाम्भवावसरे, तस्माद् इति विकल्पात्, प्रतिपक्षे हि निरूपिते सुष्ठु पक्षनिरूपणं कृतं स्याद् इति—नैतदप्रस्तुतं किंचिदभिहितमिति भावः ।

इस सिद्धान्त को प्रकृत प्रसङ्ग से योजित कर रहे हैं—

इसलिये चिदात्मता पूर्ण स्वभावत्व, प्रकाशत्व और भैरवत्व सदृश व्यापक शक्तियों का आक्षेप करती है; क्योंकि ये व्यापक हैं। ईश्वर और सदाशिव आदि ऊर्ध्व व्याप्ति के अभाव के कारण मित, दूर, अत एव अधःस्थित हैं ।

अतः व्यापकत्व और अव्यापकत्व को दृष्टि में रखकर पूर्ण स्वभाववाली शक्तियों का उपासना में आक्षेप किया जाता है। पूर्ण की उपासना का फल भी पूर्ण होना स्वाभाविक है ॥ २०८-२०९ ॥

प्रश्न है कि विकल्पों में ही उस कल्पना के बल से सामान्य धर्म अवभासित होता है। उसी के माध्यम से धर्मी में अवभास होता है। यह शाक्तोपाय का क्रम है। अखण्ड और निर्विकल्प शाम्भव का नहीं। यहाँ यह कथन क्यों ? इस पर कह रहे हैं—

यह स्थिति तो शाक्त नामक वैकल्पिक अवभास का ही क्रम है किन्तु इस शाम्भव प्रकरण में उस विकल्प का प्रतियोगी अविकल्प ही निरूपित है। नियमतः प्रतिपक्ष के निरूपण से पक्ष का ही सम्यक् निरूपण हो जाता है।

विकल्पे हि क्रमेण अखण्डवस्त्ववभासो भवति अविकल्पे पुनरक्रमेण इति— प्राप्ताविकल्पस्थितिर्यत्र कुत्रचिदवधत्ते तत्रास्य तदैव शिवतापत्तिः स्यात् ॥२१०॥

तदाह

अविकल्पपथारूढो येन येन पथा विशेत् ।
धरासदाशिवान्तेन तेन तेन शिवीभवेत् ॥२११॥

एतदेव उदाहरति

निर्मले हृदये प्राग्र्यस्फुरद्भूम्यंशभासिनि ।
प्रकाशे तन्मुखेनैव संवित्परशिवात्मता ॥२१२॥

इह खलु निर्मले हृदये पूर्णाहंविमर्शात्मनि, अत एव प्राग्र्यम्— आखण्डयेन प्रकृष्टं कृत्वा, स्फुरद्भूमिलक्षणः तत्त्वान्तरापेक्षया अंशः— षट्त्रिंशो भागः, तदाभासात्मनि प्रकाशे तद्भूम्यंशात्मनैव उपायेन संवित्परशिवात्मता—तदावेशः स्यादित्यर्थः ॥२१२॥

एतदेव उपसंहरति

एवं परेच्छाशक्त्यंशसदुपायमिमं विदुः ।
शाम्भवाख्यं समावेशं सुमत्यन्तेनिवासिनः ॥२१३॥

यह ध्यान देने की बात है कि विकल्प पक्ष में अखण्ड वस्तु का अवभास क्रमिक रूप से होता है और अविकल्प पथ में अक्रम भाव से ही हो जाता है। इसलिये अविकल्प दशा में सिद्ध साधक जहाँ भी अवधान कर लेता है, वहीं शिवतादात्म्य हो जाता है ॥ २१० ॥

वही कह रहे हैं—

अविकल्प पथ पर आरूढ़ साधक जिस जिस पथ से अनुप्रवेश करता है, धरा से सदाशिव पर्यन्त उसी उसी से शिवमय हो जाता है।

इसी को उदाहरण से सिद्ध कर रहे हैं—

पूर्णाहन्ता विमर्श से निर्मल हृदय में अखण्ड उत्कर्ष युक्त स्फुरण स्थिति में भूमि का अंशात्मक अवभास समग्र तत्त्वों का ३६ वाँ भाग होता है। इस अवभास रूप प्रकाश में भूम्यंशात्मक उपाय से ही संवित्परशिवात्मता, अर्थात् शाम्भव समावेश होता है ॥ २१२ ॥

परा भट्टारिकारूपा च असौ इच्छाशक्तिः, तदात्मकश्च असौ अंशः

'............परं त्विच्छात्मकं मतम् ।'

इत्याद्युक्तेः शाक्ताद्यपेक्षया साक्षादुपायत्वात् सश्चासौ उपायस्तम्, सुमत्यन्ते-निवासिन इति—श्रीसोमदेवादयः। **श्रीसुमतिनाथस्य श्रीसोमदेवः** शिष्यः, तस्य **श्रीशम्भुनाथः** इति हि **आयातिक्रमविदः**। यद्वक्ष्यति

'श्रीसोमतः सकलवित्किल शम्भुनाथः..................।।' इति।

यत्तु

'कश्चिद्दक्षिणभूमिपीठवसतिः श्रीमान्विभुर्भैरवः
पञ्चस्रोतसि सातिमार्गविभवे शास्त्रे विधाता च यः।
लोकेऽभूत्सुमतिस्ततः समुदभूत्तस्यैव शिष्याग्रणीः
श्रीमाञ्छम्भुरिति प्रसिद्धिमगमज्जालन्धरात्पीठतः ।।'

इत्यन्यत्रोक्तम्, तत्परमगुर्वभिप्रायेणैव योज्यम्। यद्वा

यावानस्य हि सन्तानस्तावानेको गुरुर्मतः।'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्यवलम्बनेन एतद्व्याख्येयम्। एवं

इसका उपसंहार कर रहे हैं—

इस प्रकार पराभट्टारिका रूप इच्छा शक्ति और उसके अंश भी "..........पर इच्छात्मक (ही) मान्य हैं।" इत्यादि उक्ति के अनुसार शाक्तोपाय की अपेक्षा साक्षात् उपाय होने के कारण सदुपाय हैं। श्री सुमतिनाथ के सोमदेव, इनके शिष्य शम्भुनाथ आदि शिष्य परम्परा के विद्वान् गुरुजन इसे शाम्भव समावेश मानते हैं। आगे भी इसकी चर्चा है—

"श्रीसोमदेव के शिष्य सर्वशास्त्र पारङ्गत शम्भुनाथ......।।" इत्यादि। इसके विपरीत जो "दक्षिण भारतवर्ष निवासी कोई श्रीमान् सर्वसमर्थ भैरव (नामक गुरुदेव थे, वे पञ्चस्रोतस् सिद्धान्त के अतिशय विकसित सम्प्रदाय के शास्त्र प्रवर्त्तक भी थे।

उनके शिष्य सुमतिनाथ थे। श्रीसुमतिनाथ के ही अग्रणी शिष्य श्रीमान् शम्भुनाथ हुए। जालन्धरपीठ से इनकी प्रसिद्धि हुई थी।" इस श्लोक में वर्णित यह तथ्य परमगुरु के अभिप्राय के अनुसार मान्य होना चाहिये।

अथवा जो "जितनी बड़ी यह शिष्य परम्परा है, उसका एक ही परम गुरु मान्य है।" इसी वक्ष्यमाण नीति का अनुसरण कर इसकी व्याख्या करनी चाहिये। अथवा—

'इति श्रीसुमतिप्रज्ञाचन्द्रिकापास्ततामसः ।
श्रीशम्भुनाथः सद्भावं जाग्रदादौ न्यरूपयत् ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम् ॥२१३॥

इदानीं शाम्भवमुपायं प्रतिपाद्य, शाक्तमप्याह

शाक्तोऽथ भण्यते चेतोधीमनोहंकृतिः स्फुटम् ।
सविकल्पतया मायामयमिच्छादि वस्तुतः ॥२१४॥

एतच्चात्र न मनोमात्रम् इत्याह धीमनोऽहंकृतिः इति । अत एव स्फुटं—साक्षादभिव्यक्तस्वरूपम् इत्यर्थः । ततश्च

'सर्वो विकल्पः संसार:………………।'

इत्यादिनीत्या भेदप्रथारूपम् इत्युक्तं—'सविकल्पतया मायामयम्' इति । एवमपि परमार्थतो यथायोगम् एतदिच्छाज्ञानक्रियात्मकम् इत्युक्तम् 'इच्छादिवस्तुतः' इति । यथा खलु पतिरिच्छाद्याभिः शक्तिभिर्विश्वं निर्मिमीते, तथैव विकल्पाद्यपि बुद्ध्याद्यन्तःकरणत्रयेण पशुरित्याशयः, विकल्पादौ हि प्रायः क्षेत्रज्ञस्यैव स्वातन्त्र्यम् तन्निर्माणं च एतत्त्रयाधीनमेव इत्येवमुक्तम् ॥२१४॥

इस तरह "श्रीसुमतिनाथ की प्रतिभा की चाँदनी से विरजस्तमस श्रीमान् शम्भुनाथ ने जगत् में सद्भाव को निरूपित किया था।" इस उक्ति में वर्णित तथ्य के अनुसार वास्तविकता का अवगम करना चाहिये ॥ २१३ ॥

यहाँ तक शाम्भवोपाय का प्रतिपादन कर शाक्तोपाय का उपक्रम कर रहे हैं—

अब यहाँ से शाक्तोपाय प्रकरण का प्रवर्त्तन कर रहे हैं। यह स्फुट अर्थात् साक्षात् अभिव्यक्त होता है। यह बुद्धि, मन और अहंकार रूप तीन अन्तःकरणमय है। सविकल्पता के कारण मायामय है अर्थात् "सारा विकल्प संसार………है।" इस नीति के अनुसार भेदप्रथा रूप है।

ऐसा होने पर भी परमार्थतः इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक भी है। जैसे पशुपति परमेश्वर इच्छा आदि तीनों शक्तियों से विश्व का निर्माण करता है, वैसे ही पशु भी बुद्धि आदि तीनों अन्तःकरणों के बल पर समस्त वैकल्पिक कार्यों का सम्पादन करता है। विकल्प आदि में तो क्षेत्रज्ञ की स्वतन्त्रता ही काम करती है। सारा सांसारिक निर्माण इन तीनों के ही अधीन है ॥ २१४ ॥

अत आह

अभिमानेन संकल्पाध्यवसायक्रमेण यः ।

शाक्तः स मायोपायोऽपि तदन्ते निर्विकल्पकः ॥२१५॥

इह हि स्वात्मनि अहङ्कारग्रहेण कर्तृत्वमभिमन्य बाह्यमेषणीयादि तदतद्रूपतया संकल्प्य तदेव च अन्यापोहेन निश्चित्य 'अहमेव सर्वत्र स्थितः' 'सर्वं वा मय्येव स्थितम्' इत्येवमात्मा यः शाक्तो वैकल्पिकः प्रत्यय उदेति स यद्यपि विकल्पानां भेदनिष्ठत्वात् मायात्मक उपायः, तथापि तेषां विकल्पानाम् अभ्यासबलेन यथायथं सातिशयविकल्पजननाद् अन्ते स्फुटतमार्थसाक्षात्कारात्मा निर्विकल्पकः शाम्भवः समावेशः स्याद् इत्यर्थः ।

यद्वक्ष्यति

'अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन् स्वभावे पारमेश्वरे ।
प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ॥'

इत्याद्युपक्रम्य

'ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता ।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥'

इति । अत एव हि शाक्तोपायस्य उपायोपायत्वमुक्तम् ॥ २१५ ॥

इसलिये कहते हैं--

स्वात्म में अशुद्ध 'अहम्' अभिमान से स्वयं को कर्त्ता मानने के कारण, बाह्य हेयोपादेय रूप संकल्प के कारण और अध्यवसाय के कारण एक शाक्त अर्थात् वैकल्पिक प्रत्यय उदित होता है। लगता है--मैं ही सर्वत्र स्थित हूँ, मुझमें ही सब कुछ है, अथवा मैं ही सब कुछ हूँ। यह भेदनिष्ठा होती है। यह मायात्मक उपाय है।

इतना होने पर भी इन विकल्पों के अभ्यास से क्रमशः संस्कृत होकर सर्वातिशायी शुद्ध विकल्प उत्पन्न होने लगते हैं। अन्त में तत्त्वसाक्षात्कारात्मक निर्विकल्पक शाम्भव समावेश हो जाता है। इसी तथ्य को आगे कहेंगे--

"इसके बाद के आह्निक में वर्णित परमेश्वर के 'स्व' भाव में अनुप्रवेश का अभिलाषी विकल्पों का त्वरित संस्कार कर लेता है।" यहाँ से प्रारम्भ कर "इसके बाद अर्थात् विकल्पों के शुद्ध हो जाने पर अत्यन्त स्फुट, उदात्त एवं ताद्रूप्य से संवर्धित संविद् अत्यन्त निर्मल निर्विकल्पात्मकता में परिणत हो जाती है।" यहाँ तक (यह विषय वर्णित है।) इसी आधार पर शाक्तोपाय को शाम्भव उपाय का भी उपाय माना जाता है ॥ २१५ ॥

ननु अस्मदादेः सर्वस्यैव अयत्नोपनतः स्वारसिको निर्विकल्पकः प्रत्ययः स्थित इति किं नाम तत्र शाम्भवावेशरूपत्वमुक्तम्, यदपि उपेयतया उपदिश्यते ? इत्याशङ्क्याह

पशोर्वं याविकल्पाभूर्दशा सा शाम्भवी परम् ।
अपूर्णा मातृदौरात्म्यात्तदपाये विकस्वरा ॥ २१६ ॥

सा इति अविकल्पा भूः । यदुक्तं

'तस्यां दशायामैश्वरो भावः पशोरपि ।'

इति । यद्येवं तर्हि अत्र किमुपदेशादियत्नेन ? इत्याह–परमपूर्णा इति । संकुचितस्य हि मातुः संकुचिते एव ज्ञानक्रिये भवतः, इति कथं तत्रास्य दुरात्मनः साक्षात् शाम्भवत्वं भवेद् इति भावः, अत एव तस्य मातृदौरात्म्यस्य अपाये पूर्णतोल्लासे सा शाम्भवी दशा विकस्वरा पूर्णज्ञत्वकर्तृत्वादिशालिनो भवेद् इत्यर्थः, तेन संकुचितज्ञत्वकर्तृत्वाद्यपहस्तनपुरःसरं स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थम् अवश्योपादेयोऽयम् उपदेशादियत्न इति सिद्धम् ॥ २१६ ॥

तदेव प्रकृते योजयति

एवं वैकल्पिकी भूमिः शाक्ते कर्तृत्ववेदने ।
यस्यां स्फुटे परं त्वस्यां संकोचः पूर्वनीतितः ॥ २१७ ॥

ऐसा स्वारसिक निर्विकल्प प्रत्यय तो अपने आप हम जैसे लोगों को भी होता है । इसे शाम्भव आवेश कहने की क्या आवश्यकता ? वह भी उपेय रूप से उपदिष्ट ! इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं –

पाशबद्ध पुरुषों को भी एक निर्विकल्प भूमिका की अनुभूति होती है; किन्तु वह दशा जैसा कि कहा गया है—

"उस दशा में पशु को भी ऐश्वर भाव हो जाता है ।" शाम्भवी दशा ही है । हाँ वह अपूर्ण होती है । संकुचित प्रमाता का ज्ञान और उसकी क्रियायें सभी संकुचित ही होती हैं । यह संकोच उसकी आत्महीनता के कारण होता है ।

इसके नष्ट हो जाने पर और पूर्णता के उल्लसित हो जाने पर वह विकस्वर हो जाती है । अतः संकुचित ज्ञत्व और कर्त्तृत्व को दूर कर स्वात्म प्रत्यभिज्ञान के लिये उपदेश आदि परम आवश्यक हैं ॥ २१६ ॥

वही प्रकृत प्रसङ्ग में योजित कर रहे हैं--

शाक्तोपाय की वैकल्पिक भूमि में ज्ञत्व और कर्त्तृत्व निर्विकल्प की अपेक्षा स्फुट होते हैं । फिर भी प्रमाता के दौरात्म्य (आत्मसंकोच) के कारण

तथा संकोचसंभारविलायनपरस्य तु ।
सा यथेष्टान्तराभासकारिणी शक्तिरुज्ज्वला ॥ २१८ ॥

इह सविकल्पज्ञानात्मनि शाक्तोपाये यद्यपि निर्विकल्पापेक्षया स्फुटे ज्ञानक्रिये, तथापि मातृदौरात्म्यात् ते संकुचित एव, इति अत्रापि उपदेशादियत्नेन अवश्यं भाव्यम्, येन सर्वस्य तथा संकोचविलायनपरतया सा शाक्ती भूः उज्ज्वला विकस्वरा, यदियम् उपेयत्वेन अभीप्सितम् अन्तः प्रमात्रैकात्म्यस्वभावम् आभासं करोति—परप्रमात्रैकरूपतया स्फुरति इत्यर्थः ॥ २१७-२१८ ॥

ननु शाक्तस्य शाम्भवाद्विकल्पाविकल्परूपत्वेन सिद्धो भेदः, विकल्पकरूपात् पुनराणवादस्य कथं भेदः स्यात्? इत्याशङ्कां प्रदर्श्य, तयोरेव भेदमभिधत्ते—

ननु वैकल्पिकी किं धीराणवे नास्ति तत्र सा ।
अन्योपायात्र तूच्चाररहितत्वं न्यरूपयत् ॥ २१९ ॥

तत्र इत्यादिना समाधिः, अन्य इति उच्चारादयः। आणवे हि उच्चारादि बाह्यमेव अवलम्ब्य वैकल्पिकी बुद्धिरस्ति, अत्र शाक्ते पुनस्तद्रहितत्वेन इति विशेषः, अत एव चेतसैव इति सावधारणं चिन्तनमात्रम् अत्रोक्तम् ॥ २१९ ॥

नन्वत्र किमुच्चारमात्रेणैव रहितत्वम्, उत करणादिभिरपि? इत्याह

उच्चारशब्देनात्रोक्ता बह्वन्तेन तदादयः ।
शक्त्युपाये न सन्त्येते भेदाभेदौ हि शक्तिता ॥ २२० ॥

संकुचित ही रहते हैं। संकोच के इस संभार के विलापन में तत्पर प्रमाता की यह शाक्ती भूमि विकस्वर हो जाती है। यथेष्ट रूप से अन्तर को प्रकाशमान कर देती है। इसकी उज्ज्वलता से परप्रमात्रैक्य की सिद्धि सरल हो जाती है ॥ २१७-२१८ ॥

प्रश्न है कि शाक्त का शाम्भव से विकल्पाविकल्पात्मक सिद्ध भेद है। विकल्प मात्र स्वभाववान् आणव से क्यों भेद है? इसके उत्तर में भेद का प्रतिपादन कर रहे हैं—

शाक्ती वैकल्पिकी बुद्धि तो आणवोपाय में भी होती है। हाँ आणव दशा में वह अन्योपाया होती है, अर्थात् बाह्य उच्चार आदि का आश्रय लेती है। शाक्तोपाय में उच्चाररहितत्व अनिवार्यतया निरूपित है ॥ २१९ ॥

प्रश्न है कि उच्चार मात्र से रहित अथवा करण आदि से भी रहित होना अभिप्रेत है? इसका उत्तर दे रहे हैं—

बह्वन्तेन इति बहुवचनादाद्यर्थो हि लभ्यते इति भावः, तेन उच्चारैः रहितम् इति विग्रहो दर्शयितव्यः। एते इति उच्चारकरणादयो न। सन्ति इति भेदैकनिष्ठत्वादेषाम्। अत्र हि बाह्योच्चारादिरहितत्वाद् अभेदस्य विकल्पात्मकत्वाच्च भेदस्यापि संभव इत्युभयमयत्वम्, तदाह 'भेदाभेदौ हि शक्तिता' इति, आणवे पुनर्भेदस्यैव प्राधान्यम्॥ २२०॥

तदाह

अणुर्नाम स्फुटो भेदस्तदुपाय इहाणवः।
विकल्पनिश्चयात्मैव पर्यन्ते निर्विकल्पकः॥ २२१॥

पर्यन्ते निर्विकल्पकः इत्यनेन अस्यापि शाम्भव एव विश्रान्तिरिति दर्शितम्॥२२१॥

ननु

'सदाशिवादयस्तूर्ध्वव्याप्त्यभावादधोजुषः।
शक्तीः समाक्षिपेयुः'............................ ॥ २०६॥

इत्याद्युक्तयुक्त्या बुद्ध्यादीनां शिवे व्यापृतिरेव नास्ति इति कथमेषां तदवाप्तावुपायत्वमपि उक्तम्? इत्याह

उच्चार शब्द से करण, ध्यान, वर्ण और स्थान प्रकल्पन आदि का भी ग्रहण आवश्यक है। बह्वन्त विग्रह से यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। शाक्त में बाह्य उच्चार आदि से रहित होने में कारण अभेद भूमि और वैकल्पिक होने से भेद भूमि दोनों सम्भव हैं। आणव में भेद प्राधान्य और शाक्त में भेदाभेद प्राधान्य के कारण अन्तर स्पष्ट है॥ २२०॥

वही स्पष्ट कर रहे हैं—

अणु शब्द भी भेद सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। इसका उपाय ही आणव उपाय है। यह भेद प्रधान होता है। अन्त में इसकी विश्रान्ति भी शाम्भव में ही होती है, जब निर्विकल्पकता आ जाती है॥ २२१॥

प्रश्न है कि "सदाशिव आदि में ऊर्ध्व व्याप्ति का अभाव है।" इत्यादि श्लोक २०९ के अनुसार बुद्धि आदि की व्याप्ति शिव में होती ही नहीं। फिर उसकी प्राप्ति में इनकी उपायता कैसे? यही प्रश्न श्लोक के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं—

ननु धीमानसाहंकृत्पुमांसो व्याप्नुयुः शिवम् ।
नाधोवर्तितया तेन कथितं कथमीदृशम् ॥२२२॥

एतदेव समाधत्ते

उच्यते वस्तुतोऽस्माकं शिव एव यथाविधः ।
स्वरूपगोपनं कृत्वा स्वप्रकाशः पुनस्तथा ॥२२३॥

वस्तुतो हि शिव एव अस्माकम् अद्वैतवादिनां मते

'शिव एव गृहीतपशुभाव: ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यादात्मानं प्रच्छाद्य तथाविधो बुद्ध्यादिरूपः परिमितः प्रमाता स्यात्, स एव पुनः उद्वेष्टनयुक्त्या बुद्ध्याद्यपायासादनक्रमेणैव तथा शिव एव स्वप्रकाशो भवति इति शिवेऽपि बुद्ध्यादयो व्याप्रियेरन् नो वा इति न कश्चिद्दोषः ॥२२३॥

न केवलमेतदद्वैतशास्त्रेषु उक्तं यावत् द्वैतशास्त्रेष्वपि इत्याह

द्वैतशास्त्रे मतङ्गादौ चाप्येतत्सुनिरूपितम् ।
अधोव्याप्तुः शिवस्यैव स प्रकाशो व्यवस्थितः ॥२२४॥
येन बुद्धिमनोभूमावपि भाति परं पदम् ॥२२५॥

यदुक्तं तत्र

'इत्थं गुणवतस्तस्मात्तत्त्वात्तत्त्वमनिन्वितम् ।
स्फुरद्रश्मिसहस्राढ्यमधस्ताद्व्यापकं महत् ॥' इति ।

एतदेव निगमयति 'अधोव्याप्तुः' इत्यादिना । स इति बुद्ध्यादिरूपः, येन इति बुद्ध्यादीनां शिवप्रकाशैकरूपत्वेन हेतुना ॥२२४-२२५॥

वस्तुतः शंव अद्वैतवादियों के मतानुसार "पशु भाव गृहीत करने वाले शिव ही हैं ।" वही स्वातन्त्र्य के प्रभाव से स्वरूपगोपन कर परिमित प्रमाता हो जाते हैं । पुनः वही आवरणों का निराकरण कर स्वप्रकाश हो जाते हैं । इसलिये शिव में बुद्ध्यादि की व्याप्ति हो या न हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥ २२३ ॥

द्वैत शास्त्रों में भी यही मान्यता है—यही कह रहे हैं—

मतङ्ग आदि द्वैत प्रतिपादक शास्त्रों में भी यही निरूपित है । इनके अनुसार अधोव्यापक शिव का प्रकाश ही बुद्धि आदि है । बुद्धि आदि के शिवात्मक प्रकाश होने के कारण उनकी भूमि पर भी परम पद प्रकाशमान

ऐवमेतत्प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवाह

द्वावप्येतौ समावेशौ निर्विकल्पार्णवं प्रति ।

प्रयात एव तद्रूढिं विना नैव हि किंचन ॥२२६॥

प्रतिः आभिमुख्ये, तेन एतदुभयमपि परप्रकाशात्मनि शम्भवावेशे एव विश्रान्तम् इत्यर्थः । यद्धि तत्र न विश्रान्तं तदप्रकाशमानत्वात् न किंचित् स्यात् इत्युक्तं 'तद्रूढिं विना नैव हि किंचन' इति । एवं च निर्विकल्पात्मा परः प्रकाश एव सर्वेषामेषामुपायः इत्युक्तं स्यात् ॥२२६॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव इत्याह

संवित्तिफलभिच्चात्र न प्रकल्प्येत्यतोऽब्रवीत् ।

कल्पनायाश्च मुख्यत्वमत्रैव किल सूचितम् ॥२२७॥

अतः इति एकस्यामेव निर्विकल्पात्मिकायां संवित्तौ अनुप्रवेशात् । तदुक्तं

'संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः ।'

इति । अत्र च उपायानां नानात्वात् प्राप्तं तावत्फलभेदकल्पनम्, अन्यथा हि निषेधस्य प्राप्तिपूर्वत्वात् स एवात्र न स्यात् इति 'न प्रकल्प्या' इत्युक्त्या एतदाक्षिप्तम् इत्याह—कल्पनाया इति । मुख्यत्वम् इति अभिधेयत्वं । सूचितम् इति—न तु साक्षादभिहितम् इति भावः ।।२२७॥

होता है। मतङ्ग का वचन है कि "ऐसे गुणवान् तत्त्व से समस्त अनिन्दित तत्त्वात्मक (सृजन सम्भव है) अनन्त रश्मियों से स्फुरित होता हुआ, वह ऊपर नीचे भी सर्वत्र व्याप्त है ॥ २२४-२२५ ॥

पुनः प्रकृत का कथन कर रहे हैं—

ये दोनों ही समावेश निर्विकल्प समुद्र सदृश शाम्भव आवेश में ही विश्रान्त हैं। उसमें आरूढि के बिना कुछ भी नहीं रह सकता। जो उसमें नहीं है वह अप्रकाश ही है। निष्कर्षतः वही स्वप्रकाश परमोपाय है ॥ २२६ ॥

यह केवल व्यक्तिगत मत नहीं। अन्य आगम भी यही कहते हैं—

एक ही निर्विकल्पक संवित्ति में अनुप्रवेश के कारण यह कहा गया है कि "इस (प्रज्ञा) भूमि पर संवित्ति के फल की भिन्नता की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए।" वस्तुतः उपायों की अनेकता के कारण फल भेद की कल्पना होती है। विधान पहले रहता है। बाद में निषेध होता है। यहाँ तो कल्पना की ही मुख्यता सूचित की गई है। साक्षात् नहीं कही गयी है ॥ २२७ ॥

न केवलमिह निर्विकल्पके विश्रान्तिसतत्त्वं, यावदितो बाह्यानां मतेऽपि इत्याह

विकल्पापेक्षया योऽपि प्रामाण्यं प्राह तन्मते ।
तद्विकल्पक्रमोपात्तनिर्विकल्पप्रमाणता ॥२२८॥

तस्य विकल्पापेक्षनिर्विकल्पप्रामाण्यवादिनो वैभाषिकादेः मतेऽपि, ते च ते विकल्पाः, तेषां यः क्रमः—परम्परा, तया उपात्ता—जनिता, निर्विकल्पस्यैव प्रमाणता—विकल्पोपारोहेण निर्विकल्प एव विश्रान्तिः इत्यर्थः ॥२२८॥

एतदेव उदाहरति

रत्नतत्त्वमविद्वान्प्राङ्निश्चयोपायचर्चनात् ।
अनुपायाविकल्पाप्तौ रत्नज्ञ इति भण्यते ॥२२९॥

य कश्चन वैकटिकादिः आदौ अविकल्पवृत्या रत्नस्वरूपमजानानोऽपि 'किमेवमस्य तत्त्वं न वा' इत्यादिकल्पनामुखेन विचारमवलम्ब्य, अनुपायस्य स्वारसिकस्य अविकल्पस्य उत्थाने रत्नज्ञः तद्विषयतत्त्वं निर्विकल्पं जानानः इत्युच्यते इति वाक्यार्थः । एवमाणवाद्यभिज्ञेऽपि वाच्यम् ॥ २२९ ॥

इह खलु भेदभेदाभेदाभेदात्मना त्रिधा ज्ञानं, यदुक्तं

'वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना ।।'

केवल निर्विकल्प में विश्रान्ति अद्वैत मतवाद में ही नहीं; अपितु इसके अतिरिक्त मतवादी भो मानते हैं। यही कह रहे हैं—

वैभाषिक विकल्प की अपेक्षा निर्विकल्प की प्रामाणिकता मानते हैं। इनके अनुसार भी इन सारे विकल्पों से क्रमशः उत्पन्न निर्विकल्प में ही विकल्पोपारोह क्रम से विश्रान्ति स्वीकृत है ॥ २२८ ॥ इसी को उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—

पहले रत्नतत्त्व का न जानकार भी निश्चयतः ज्ञान के उपायों का चिन्तन करने के उपरान्त अनुपाय (स्वारसिक) विकल्प अर्थात् निश्चयात्म अविकल्पज्ञान पाकर रत्नज्ञ कहलाने लगता है। इसी तरह आणव समावेश में रहने वाला भी शाम्भव समावेश-विश्रान्ति का लाभ प्राप्त कर सकता है॥२२९॥

इस शास्त्र में भेद, भेदाभेद और अभेदात्मक तीन प्रकार के ज्ञान माने जाते हैं। कहा गया है—

इति। तत्र आणवं भेदप्रधानमुक्तं शाक्तं च भेदाभेदप्रधानं, शाम्भवं पुनः किं प्रधानम् ? इत्याशङ्क्याह

अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते ।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम् ॥ २३० ॥

ननु

'..................मुक्तिश्च शिवदीक्षया ।'

इत्याद्युक्तेः दीक्षादेः क्रियाया अपि मुक्त्युपायत्वमुक्तम् इति सा किमुपायान्तरमतिरिक्तम्, उत अत्रैव कुत्रचिदन्तर्भावमेति ? इत्याशङ्क्याह

अन्ते ज्ञानेऽत्र सोपाये समस्तः कर्मविस्तरः ।
प्रस्फुटेनैव रूपेण भावी सोऽन्तर्भविष्यति ॥ २३१ ॥

सोपाये इति उच्चाराद्युपायसहभूते इत्यर्थः। अत एव तत्र 'सोपाये' इति प्रागुक्तम्। समस्तः कर्मविस्तरः इति—दोक्षादिर्विचित्रः क्रियाकलापः, भावी वक्ष्यमाणः। अन्तर्भविष्यति इत्यनेन—नैतदतिरिक्तम् उपायान्तरमस्ति इत्यावेदितम् ॥ २३१ ॥

"वस्तुज्ञान की सत्ता तीन प्रकार से ही उल्लसित है। १—भेद रूप से, २—भेदाभेद रूप से और ३—अभेद रूप से।"

इनमें आणव ज्ञान भेदात्मक और शाक्त भेदाभेद प्रधान है। शाम्भव में किसकी प्रधानता है ? यह कह रहे हैं—

शाम्भवोपाय अभेदप्रधान है। शाक्त भेदाभेदप्रधान और आणव भेदप्रधान उपाय है ॥ २३० ॥

प्रश्न है कि "...... ... . शिव की दीक्षा से मुक्ति होती है।" यह कहा गया है। इसके अनुसार दीक्षा आदि क्रियायें भी मुक्ति की उपाय हैं। क्या ये अतिरिक्त उपाय हैं ? अथवा किसी के अन्तर्गत हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ज्ञान सोपाय ही होता है। उच्चार आदि के सहकार से आणव ज्ञान होता है। इसी तरह से वक्ष्यमाण यह सारा का सारा कर्मविस्तार अर्थात् दीक्षादि क्रियाकलाप स्पष्टतया उन्हीं उपायों के अन्तर्गत है, अतिरिक्त उपाय नहीं है ॥ २३१ ॥

ननु सजातीये सजातीयस्य अन्तर्भावो न्याय्यो न तु इतरथा, इति कथं दीक्षादेः क्रियाया आणवज्ञानान्तर्भावः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

क्रिया हि नाम विज्ञानान्नान्यद्वस्तु क्रमात्मताम् ।
उपायवशतः प्राप्तं तत्क्रियेति पुरोदितम् ॥२३२॥

तत् इति विज्ञानं, पुरा इति 'यतो नान्या क्रिया नाम' इत्यादौ ॥२३२॥

ननु 'ज्ञानं मोक्षैककारणम्' इत्यादिना 'ज्ञानान्मुक्तिः' इति तावत्प्रतिज्ञातं, तत्किं स्वाधिकरणं मोचकम्, उत पराधिकरणम्, स्वाधिकरणत्वे च तस्य किं दीक्षायां सत्यामसत्यां वा मोचकत्वम्, असत्यां चेत्

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ।'

इत्याद्युक्त्या ज्ञानाधिगमे एव अधिकारो नास्ति इति किं कस्य मोचकं स्यात्, सत्यां चेत् परोपेक्षात्मनैव स्वात्मनि दीक्षाकरणानुपपत्तेः, पराधिकरणत्वे च कारणमन्यत्र कार्यं च अन्यत्र इति महान् दोषः ? इत्याशङ्क्याह

सम्यग्ज्ञानं च मुक्त्येककारणं स्वपरस्थितम् ।
यतो हि कल्पनामात्रं स्वपरादिविभूतयः ॥२३३॥

अन्तर्भाव तो सजातीय का सजातीय में होता है। दीक्षादि क्रियाओं का आणव ज्ञान में अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? यही कह रहे हैं—

क्रिया विशेष विज्ञान के अतिरिक्त नहीं होती। पहले ही कहा गया है— "यतो नान्या क्रिया नाम।" उपागत क्रमात्मकता के कारण यह क्रिया है। यहाँ सजातीय-विजातीय का प्रश्न नहीं है। ज्ञान में क्रिया का अन्तर्भाव उचित है ॥ २३२ ॥

'ज्ञान मोक्ष का एकमात्र कारण है।' 'ज्ञान से ही मुक्ति होती है।' यह पहले ही प्रतिपादित है। तो क्या स्वाधिकरण ज्ञान मोचक है अथवा पराधिकरण ? यदि स्वाश्रित ज्ञान मोचक है तो दीक्षा होने पर या न होने पर मोचकत्व कब सम्भव है ? यदि दीक्षा न होने पर है, तो

"शाङ्कर परम्परा में दीक्षा के विना मोक्ष का अधिकार होता ही नहीं।" यह उक्ति असत्य हो जायेगी।

यदि दीक्षा के उपरान्त मोचकत्व है, तो परापेक्षा से स्वात्म में दीक्षा ही अनुपपन्न हो जायेगी। पराधिकरण में तो कारण अन्यत्र और कार्य अन्यत्र रूप महान् दोष उत्पन्न हो जायेगा। इन आशङ्काओं का उत्तर दे रहे हैं—

कल्पनामात्रम् इति, वस्तुतो हि एकैव संवित् तत्तत्स्वपराद्याभासतया प्रस्फुरति इत्यभिप्रायः ॥२३३॥

अत एवाह

तुल्ये काल्पनिकत्वे च यदैक्यस्फुरणात्मकः ।
गुरुः स तावदेकात्मा सिद्धो मुक्तश्च भण्यते ॥२३४॥

गुर्वगुर्वाद्यपेक्षया स्वपरकल्पनायाः साम्येऽपि येन शिष्येण गुरुणा वा यदैक्यम् एकीकारः तेन स्फुरणं स्वपराद्याभासविभागाभावेन एकघनसंवि-द्रूपतया विमर्शनं तदात्मा यो गुरुः स तावान् ऐक्यस्फुरणावधिः एक आत्मा यस्य तथा भूतः सन् सिद्धो मुक्तश्च पारमैश्वर्यमात्रमुच्यते इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—यावदस्य हि स्वसंविदेकात्मत्वेन परामर्शः तावदयम् एक एव प्राप्तपरप्रकाशैकात्म्यः परिस्फुरति इति । तदुक्तं

'एवं व्याप्तिं तु यो वेत्ति परापरविभागतः ।
स भवेन्मोचकः साक्षाच्छिवः परमकारणम् ॥'

इति ॥२३४॥

चाहे वह स्वाधिकरण हो या पराधिकरण, सम्यग् ज्ञान ही मुक्ति का कारण है । वस्तुतः स्व-पर भाव काल्पनिक है । एक ही शैव संविद् 'स्व' और 'पर' आदि में प्रस्फुरित होती है ॥ २३३ ॥

इसलिये कहते हैं—

दीक्ष्य और दीक्षक, गुरु और अगुरु (शिष्य) तथा स्व,पर में अपेक्षाकृत साम्य है । फिर भी शिष्य गुरु के ऐक्य से ही बोध-स्फुरण हो पाता है । स्व-पर आदि विभाग वहाँ समाप्त हो जाते हैं और एकात्मकता उल्लसित हो उठती है । ऐसा एकात्मक गुरु ही वास्तविक गुरु है, सिद्ध है और मुक्त है । संविदैक्य-परामर्श के कारण वह शैव महाभाव में प्रतिष्ठित आप्त विमुक्त होता है । कहा गया है—

"इस प्रकार की परापर विभागमयी व्याप्ति को जो अच्छी तरह जानता है, वही मोचक है, साक्षात् शिव है और परम कारण रूप साक्षात् शिव है" ॥ २३४ ॥

अत एवाह

यावानस्य हि संतानो गुरुस्तावत्स कीर्तितः ।

सम्यग्ज्ञानमयश्चेति स्वात्मना मुच्यते ततः ॥२३५॥

तत एव स्वसंतानं ज्ञानी तारयतीत्यदः ।

युक्त्यागमाभ्यां संसिद्धं तावानेको यतो मुनिः ॥२३६॥

संतानः शिष्यप्रशिष्यादिरूप इति, इति तावदात्मत्वेन एकस्यैवास्य स्फुरणात् । तत इति तावतः संतानात् । तावन्तं हि संतानमवलम्ब्य संविदैकात्म्यात् एक एवायं गुरुः इति यत् संतानिनो मुच्यन्ते, तत् स एव स्वात्मना मुच्यते इति स्वपरविभागस्य काल्पनिकत्वात् न कश्चिद्दोषः । अत एवाह 'तत एव' इत्यादि, तारयति इति । तदुक्तं

'आचार्यः स्वजनानां च कुलकोटिसहस्रशः ।
ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानात्सर्वान्संतारयिष्यति ॥'

इति । अत्र हेतुः 'तावानेको यतो मुनिः' मुनिः इति गुरुः ॥२३५-२३६॥

एवं च सति अयत्नेन परोक्तदूषणोद्धारः सिद्धः इत्याह

तेनात्र ये चोदयन्ति ननु ज्ञानाद्विमुक्तता ।

दीक्षादिका क्रिया चेयं सा कथं मुक्तये भवेत् ॥२३७॥

ज्ञानात्मा सेति चेज्ज्ञानं यत्रस्थं तं विमोचयेत् ।

इसलिये कहते हैं—

जब तक गुरु-शिष्य परम्परा है, तब तक वह मोचक गुरु आत्मत्वेन स्फुरित होता है। सम्यग्ज्ञानमय गुरु से ही शिष्यगण मुक्त होते हैं; क्योंकि संविदैक्य के कारण उसका अवलम्ब मिल जाता है। वह स्वयं भी मुक्त होता है और मुक्त कर भी देता है। कहा गया है—

"आचार्य अपने जनों की हजारों पीढ़ियों को ज्ञान और ज्ञेय के वास्तविक बोध के द्वारा तारने में समर्थ होता है" क्योंकि वही एक समर्थ गुरु है ॥ २३५-२३६ ॥

इस तरह पराधिकरणोक्त कारण अन्यत्र और कार्य अन्यत्र रूप दोष का निराकरण हो जाता है। यह कह रहे हैं—

अन्यस्य मोचने वापि भवेत्किं नासमञ्जसम् ।
इति ते मूलतः क्षिप्ता यत्त्वत्रान्यैः समर्थितम् ॥२३८॥

ये इति भेदवादप्रकाराः, ते इति एवं चोद्यविधायिनः, क्षिप्ताः प्रतिक्षिप्ताः। यन्मूलत एव ज्ञानक्रिययोरैक्यमभ्युपगतं स्वपरविभागस्य च काल्पनिकत्वम् इति तदेव च अत्र प्रतिसमाधानं नान्यत् इत्याह 'यत्तु' इत्यादि। यदन्यैर्भेदेश्वरवादिभिर्निरूपितं तत् पुरस्तात् निषेत्स्यामः इति संबन्धः ॥२३७-२३८॥

ननु यदि भेदवाद्युक्तं मलस्य द्रव्यरूपत्वं नाभ्युपेयते, ततस्य किं रूपम् ? इत्याशङ्क्याह

मलो नाम किल द्रव्यं चक्षुःस्थपटलादिवत् ।
तद्विहन्त्री क्रिया दीक्षा त्वञ्जनादिककर्मवत् ॥२३९॥
तत्पुरस्तान्निषेत्स्यामो युक्त्यागमविगर्हितम् ।
मलमायाकर्मणां च दर्शयिष्यामहे स्थितिम् ॥२४०॥

एतदेव अधिकावापेन उपसंहरति

एवं शक्तित्रयोपायं यज्ज्ञानं तत्र पश्चिमम् ।
मूलं तदुत्तरं मध्यमुत्तरोत्तरमादिमम् ॥२४१॥

ज्ञान और दीक्षा के इस प्रतिपादन के अनुसार भेदवाद और भेदवादी सभी क्षिप्त एवं प्रत्याख्यात कर दिये गये गये हैं। दूसरे अनेकेश्वरवादियों से समर्थित सिद्धान्त भी अमान्य हैं ॥ २३७-२३८ ॥

यदि भेदवादियों द्वारा कथित मल की द्रव्यरूपता अमान्य है, तो उसका क्या रूप हो सकता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

नेत्रपटलगत मल द्रव्य है। आँखों के इस दूषित द्रव्य को दूर करने वाले अंजन के समान दीक्षा होती है। युक्ति और आगम से निन्दनीय इस मत का आगे निषेध और साथ ही मल, माया और कर्म की स्थिति भी प्रदर्शित की गयी है ॥ २३९-२४० ॥

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए उपसंहार कर रहे हैं—

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों से सम्बन्धित शाम्भव, शाक्त और आणवोपाय से स्फुरित ज्ञान में पश्चिम अर्थात् आणव ज्ञान ही मूल है। शाक्त

पश्चिममिति आणवम् इति, तस्मादाणवात्, उत्तरं विश्रान्तिस्थानत्वाद-धिकं शाक्तम् उत्तरात् शाक्तादपि उत्तरं शांभवम्। यदुक्तं

'विभुशक्त्यणुसंबन्धात्समावेशस्त्रिधा मतः।
इच्छा-ज्ञान-क्रियायोगादुत्तरोत्तरसंभृतः ।'

इति ॥२४१॥

न केवलमाणवादेः विश्रान्तिधामतया शांभवमेव ज्ञानमुत्कृष्टं, यावद-स्मादनुपायाख्यम् अन्यत् इत्याह

ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम् ।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते ॥२४२॥

परमम् इति उपेयैकरूपत्वात्, अत एवोक्तम् 'उपायादिविवर्जितम्' इति। अत एव च 'आनन्दशक्तिविश्रान्तम्' इत्युक्तम्। इच्छादीनां हि एषणीयादिविषयावच्छेदेन बाह्योन्मुखत्वात् भेदसंभावनापि स्यात्, आनन्द-शक्तिः पुनः

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्……………।'

इत्याद्युक्त्या हि चितस्तत्स्वरूपमेव इति, नात्र उपायगन्धोऽस्ति इति तात्पर्यम् ॥२४२॥

क्रम से इसी की शाम्भव में विश्रान्ति होती है। शाक्त से उत्तर 'आदिम' अर्थात् शाम्भव है। शाक्त की विश्रान्ति शाम्भव में होती है। कहा गया है—

"विभु, शक्ति और अणु के सम्बन्ध से समावेश तीन प्रकार का होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया से यह उत्तरोत्तर संस्कृत होता है" ॥ २४१ ॥

आणवादि के विश्रान्तिधाम होने के कारण केवल शाम्भव ज्ञान ही उत्कृष्ट नहीं है; अपितु इससे भी उत्कृष्ट अनुपाय विज्ञान है। यही कह रहे हैं—

उक्त शाम्भव ज्ञान से भी उपेय की एकरूपता के कारण उत्कृष्ट, उपाय आदि से रहित और आनन्द शक्ति में विश्रान्त अनुत्तर विज्ञान है। वस्तुतः इच्छा आदि का एषणीय आदि विषयों में लगाव होने के कारण भेद की सम्भावना होती है। आनन्द शक्ति तो—

"आनन्द ब्रह्म का ही रूप है…… …… ……।" इत्यादि उक्ति के अनुसार चित् शक्ति का ही 'स्व' रूप है। यहाँ लेशमात्र भी उपाय की सम्भावना नहीं होती ॥ २४२ ॥

एतच्च न स्वोपज्ञम् अपि तु सर्वत्रैव आगमेषु उक्तम् इत्याह

तत्स्वप्रकाशं विज्ञानं विद्याविद्येश्वरादिभिः ।
अपि दुर्लभसद्भावं श्रीसिद्धातन्त्र उच्यते ॥२४३॥
मालिन्यां सूचितं चैतत्पटलेऽष्टादशे स्फुटम् ।
न चैतदप्रसन्नेन शंकरेणेति वाक्यतः ॥२४४॥
इत्यनेनैव पाठेन मालिनीविजयोत्तरे ।

तत्र हि 'अनायासमनारम्भमनुपायं महाफलम् ।
श्रोतुमिच्छामि योगेश योगं योगविदांवर ॥'

इति देव्या पृष्टे

'शृणु देवि प्रवक्ष्यामि योगामृतमनुत्तमम् ।
यत्प्राप्य शिवतां मर्त्या लभन्त्यायासवर्जिताः ॥
न चैतदप्रसन्नेन शंकरेणोपदिश्यते ।
कथंचिदुपलब्धेऽपि वासना न प्रजायते ॥'

इत्याद्युपक्रम्य

'तस्मात्तदभ्यसेन्नित्यमविरक्तेन चेतसा ।
स विसर्गो महादेवि अत्र विश्रान्तिमर्हति ॥

यह मेरा स्वोपज्ञ मत नहीं; अपितु सर्वत्र आगमों में उक्त है—

विद्या और विद्येश्वर आदि के द्वारा दुर्लभ स्वप्रकाश विज्ञान का प्रवर्त्तक सिद्धातन्त्र, मालिनी का अष्टादश पटल और मालिनीविजयोत्तर तन्त्र तीन ग्रन्थों के माध्यम से इस बात की पुष्टि होती है। वहाँ—

"हे योगवेत्ताओं में श्रेष्ठ योगेश्वर! अनायास महाफलप्रद आरम्भ रहित अनुपाय नामक योग को मैं जानना चाहती हूँ"।

इस प्रकार देवी द्वारा पूछे जाने पर "हे देवि! सुनो, मैं सर्वश्रेष्ठ अमृत योग का वर्णन कर रहा हूँ, जिसे पाकर मर्त्य प्राणी अनायास शैव महाभाव प्राप्त कर लेते हैं। अत्यन्त प्रसन्न शङ्कर ने यह उपदेश दिया। यह योग यदि किसी प्रकार उपलब्ध हो जाय तो वासना का विनाश हो जाता है।"

यहाँ से शुरूकर—

"इसलिये विरक्तिपूर्वक इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। हे देवि! वह विसर्ग भूमि है, जहाँ परा विश्रान्ति प्राप्त होती है।

गुरुवक्त्रं तदेवोक्तं शक्तिचक्रं तदुच्यते ।
तदेव सर्वमन्त्राणामुत्पत्तिस्थानमुत्तमम् ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥२४३-२४४॥

अयमेव च शास्त्रार्थः इत्याह

इति ज्ञानचतुष्कं यत्सिद्धिमुक्तिमहोदयम् ।
तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने ॥२४५॥

इतीति तन्त्रालोके-तन्त्राणां पारमेश्वराणाम् आलोक इव आलोकः, तानि आलोकयति प्रकाशयति इति वा । इति-उक्तस्वरूपं यत् ज्ञानचतुष्कं, किं भूतं ? सिद्धिमुक्त्योर्महान् उदयः अस्मिन् इति कृत्वा महोदयं, तत् अत्र तन्त्रालोके शासने तन्त्र्यते-विस्तरेण प्रकाश्यते इत्यर्थः ॥२४५॥

अथ

'तत्र नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीते प्रवर्तते ।
किं तु संशयिते न्यायस्तदङ्गं तेन संशयः ॥'

इत्याद्युक्त्या प्रायः संशयिते एव अर्थे निर्णयात्मनः शास्त्रस्य प्रणयनमुक्तम् इति संशयस्य तदङ्गत्वात् प्रथमं तत्स्वरूपमेव निरूपयितुम् उपक्रमते

तत्रेह यद्यदन्तर्वा बहिर्वा परिमृश्यते ।
अनुद्घाटितरूपं तत्पूर्वमेव प्रकाशते ॥२४६॥

इसे गुरुवक्त्र और शक्तिचक्र कहते हैं। यह सभी मन्त्रों का उत्पत्ति स्थान है।" यहाँ तक इसी विषय का वर्णन किया गया है ॥ २४३-२४४ ॥

सिद्धि और मुक्ति इन दोनों का महान् उत्स उक्त चार प्रकार का ज्ञान ही है। यह समस्त शैव तन्त्रों के आलोक के प्रतीक रूप इस तन्त्रालोक नामक शास्त्र में तन्त्रित किया जा रहा है।।२४५॥

प्रश्न है कि,

"अनुपलब्ध और अनिर्णीत अर्थ में कोई प्रवृत्त नहीं होता। हाँ संशयित अर्थ (के समाधान में प्रवृत्त होना) न्यायसंगत है, इससे संशय विषय-प्रवर्त्तन का एक अङ्ग बन जाता है।" इस उक्ति के अनुसार प्रायः संशयित अर्थ में निर्णायक शास्त्र का प्रणयन उचित कहा गया है। इस तरह संशय के अंग होने के कारण पहले संशय के स्वरूप के निरूपण का उपक्रम कर रहे हैं—

अन्तः—मानसविज्ञानादौ, अनुद्घाटितरूपमिति —अनुल्लिखित विशेषं, सामान्यधर्मात्मकम् इत्यर्थः ॥२४६ ॥

अयमेव च प्रायः 'संशयः' इत्युच्यते इत्याह

तथानुद्घाटिताकारा निर्वाच्येनात्मना प्रथा ।
संशयः कुत्रचिद्रूपे निश्चिते सति नान्यथा ॥२४७॥

तथा प्राथमिकत्वेन अनुद्घाटितः करचरणादिविशेषधर्मानवगमात् अनुन्मुद्रितो योऽसौ ऊर्ध्वतादिः सामान्यधर्मा आकारः तेन अनिर्वाच्येन अन्यतरधर्मिविशेषनिश्चयाभावात् उभयांशावलम्बित्वेन नियतरूपतया वक्तुमशक्येन आत्मना स्वरूपेण विशिष्टा या प्रथा—प्रतीतिः सा संशयः, स हि ऊर्ध्वतादेः सामान्यात्मनो धर्मस्य अधिगमे वक्रकोटरत्वादीनां विशेषधर्माणां च अनधिगमे सति उदियात् । तदाह 'कुत्रचित्' इत्यादि—कस्मिंश्चित् सामान्यधर्मावच्छेदिनि धर्मिणि इत्यर्थः । नान्यथा इति—सर्वात्मना निश्चिते धर्मिणि अनिश्चिते वा इति यावत् ॥२४७॥

एतदेव विभज्य दर्शयति

एतत्किमिति मुख्येऽस्मिन्नेतदंशः सुनिश्चितः ।
संशयोऽस्तित्वनास्त्यादिधर्मानुद्घाटितात्मकः ॥२४८॥

शास्त्रारम्भ के इस महाप्रयास के उपक्रम के अवसर पर जो कुछ बाह्य परामर्श या मानस विज्ञानात्मक अन्तःपरामर्श करना है, इसमें जिसका उद्घाटन अब तक नहीं है, पहले वही प्रकाशित हो रहा है ॥ २४६ ॥

संशय सामान्य धर्मात्मक होता है। इसका निरूपण हो रहा है—

जिसके आकार का उद्घाटन अभी नहीं है कर चरण रूप सामान्य अङ्गों का पता नहीं, जिसके ऊपर नीचे की बनावटों का ज्ञान नहीं, जिसके अवयवों का निश्चय नहीं; उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की स्थिति नहीं होती। ऐसा है या वैसा है, है भी या नहीं है—ऐसे उभयावलम्बी प्रश्न जहाँ हैं, वहाँ अनिर्वचनीयतामयी प्रतीति ही रहती है। इसी अनिर्वाच्य रूप से विशिष्ट अनिश्चयात्मक प्रथा को 'संशय' कहते हैं।

जैसे पेड़ में खोखला है। वह ऊपर है—यह प्रतीति तो हुई किन्तु वह टेढ़ा है और अन्धकार मय है। अतः भीतर की अप्रतीति भी हुई। यहाँ निश्चय और अनिश्चय दोनो हैं। ऐसी अवस्था में ही संशय का उदय होता है ॥ २४७ ॥

एतत्किमिति–परामर्शात्मा संशयः, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि-परामर्शान्तरापेक्षया सर्वेषामेव विशेषधर्माणाम् अनुद्घाटितत्वात् मुख्यः, तत्र च किम् इत्यंशापेक्षया य एतदंशः स धर्मिमात्रग्रहणात् सुष्ठु निश्चितः । ननु

'नियतोभयांशावलम्बो विमर्शः संशयः ।'

इति संशयस्य लक्षणं, तत्र चेत् एकः कश्चिदंशो निश्चितः तत्कृतं तेन, इत्याह 'संशयः' इत्यादि । अस्तित्वं च नास्तित्वं च तत् अस्तित्वनास्तित्व-मादिर्येषां विशेषधर्माणां तैः अनुद्घाटितः अनुन्मुद्रित आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा, यत्र हि सत्त्वासत्त्वाख्ययोरपि धर्मयोरनिश्चितत्वात् उद्घाटनं न वृत्तं तत्र का वार्ता अन्येषां धर्माणाम् ? इति सर्वेषामेव धर्माणाम् अनुल्लिखिताकारत्वात् नियतधर्मानवलम्बनात् अयं मुख्यः संशयः, किमित्यंशो हि अनुल्लिखितार्थाकाराभिधायक एव इति भावः ॥२४८॥

तदाह

किमित्येतस्य शब्दस्य नाधिकोऽर्थः प्रकाशते ।

अधिकः इति एतच्छब्दार्थात् ॥

इस तथ्य को विभाजन पूर्वक प्रदर्शित कर रहे हैं—

'एतत् किम्' यह प्रश्न सूचक वाक्य है । इसमें मुख्य अंश 'एतत्' है । यह सुनिश्चित है । यह स्थाणु है या पुरुष है ? इस वाक्य में दो विशेष परामर्श हैं । १– स्थाणु का और २—पुरुष का । ये उद्घाटित हैं । 'एतत्' में ये अनु-द्घाटित हैं । अतः यह मुख्य अंश है । 'किम्' की अपेक्षा इसमें धर्मिमात्र के ग्रहण के कारण निश्चितता भी है । यहाँ संशय होता है ।

'है या नहीं है' इन विशेष धर्मों से वह अनुद्घाटित है । सत्त्व या असत्त्व इन दोनों का जब निश्चय ही यहाँ नहीं है तो अन्य विशेष धर्मों का प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता । शङ्का होती है कि,

"नियत रूप से उभयांशावलम्बी विमर्श को संशय कहते हैं" इस नियम के अनुसार दोनों अंश नियत होने चाहिये । संशय विशेष धर्मों से अनुद्घाटित होता है । 'एतत् किम् में किम्' अनुद्घाटित अर्थ की स्थिति की ही प्रश्नात्मक उक्ति मात्र है ॥ २४८ ॥

तर्हि किमर्थमुपाधीयते ? इत्याशङ्क्याह

किं त्वनुन्मुद्रिताकारं वस्त्वेवाभिदधात्ययम् ॥२४९॥

अयम् इति किं-शब्दः ॥२४९॥

संशयस्य च मुख्यत्वं क्वचिदमुख्यत्वे सति युज्यत इत्यस्यामुख्यत्वमपि दर्शयितुमाह

स्थाणुर्वा पुरुषो वेति न मुख्योऽस्त्येष संशयः ।
भूयःस्थधर्मजातेषु निश्चयोत्पाद एव हि ॥२५०॥

न मुख्यः इति-पूर्ववत् सर्वेषामेव धर्माणाम् अनुद्घाटितरूपत्वाभावात्, यतः स्थाण्वादिनियतपरामर्शान्यथानुपपत्त्या भूयसामस्थाण्वादिवर्तिनां धर्माणाम् एष निश्चयात्मा प्रत्ययः ॥२५०॥

ननु यद्येवं तर्हि अत्र वा अर्थसंभेदसंभवात् नियतस्य च अनिश्चयात् उदितानुदितहोमन्यायेन विकल्प एव भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

आमर्शनीयद्वैरूप्यानुद्घाटनवशात्पुनः ।
संशयः स किमित्यंशे विकल्पस्त्वन्यथा स्फुटः ॥२५१॥

प्रथम पंक्ति का अधिक शब्द 'एतद्' शब्दार्थ से अधिक अर्थ में प्रयुक्त है। दूसरी पंक्ति का 'अयम्' 'किम्' शब्द के लिये प्रयुक्त है। 'एतत् किम्' इस वाक्य में 'किम्' शब्द 'एतद्' शब्द से कोई अधिक अर्थ नहीं प्रकट करता वरन् अनुद्घाटित वस्तु का ही कथन करता है ॥ २४९ ॥

जहाँ अमुख्यता होती है वहीं संशय की मुख्यता होती है। वही प्रदर्शित कर रहे हैं—

'स्थाणु है या पुरुष' इस वाक्य में मुख्य संशय नहीं है। यहाँ तो उद्घाटन है। स्थाणु और पुरुष रूप नियत परामर्श की अन्यथानुपपत्ति के कारण अस्थाणु रूप अनेक धर्मों का यहाँ एक प्रकार से निश्चय ही हो रहा है। जैसे यदि 'नील' शब्द के प्रयोग से यह निश्चयात्मकता उत्पन्न होती है कि दूसरे रंग यहाँ नहीं है। उसी प्रकार स्थाणु कह देने से यह निश्चय हुआ कि अस्थाणु यहाँ नहीं है ॥ २५० ॥

यदि ऐसी स्थिति है, तो यहाँ 'वा' से अर्थ की भिन्नता की सम्भावना और नियत की अनिश्चयता के कारण 'उदित अनुदित होम' न्याय के अनुसार विकल्प ही होगा ? इस आशङ्का का उत्तर रहे हैं—

आमर्शनीयं स्थाणुपुरुषलक्षणं यत् द्वैरूप्यं, तस्य अनुद्घाटनं–वक्रकोटरत्वादि विशेषरूपतयानाविष्करणं ततोऽयं प्रत्ययः किमित्यंशसंभेदात् संशय एव। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यत्र हि किं स्थाणुः किं पुरुषः इत्येव तात्त्विकः संशयार्थः, यदि परमेतत् किमिति केवले किमंशे सर्वेषामेव विशेषधर्माणाम् अनुद्घाटितरूपत्वात् मुख्यत्वम्, अत्र च नियतविशेषधर्मानवगमात् अमुख्यत्वम्–इति विशेषः। विकल्पे पुनर्व्रीहियवयोरुभयोरपि निश्चितत्वे सति नानुद्घाटितरूपत्वम्, तदाह 'विकल्पस्त्वन्यथा स्फुटः' इति। अन्यथा इति—आमर्शनीययोर्द्वयोरपि व्रीहियवयोर्विशेषधर्मात्मना निश्चयात्, एवं-विधश्चायं संशयः शास्त्रप्रवृत्तौ निमित्ततां भजते इत्युक्तप्रायम्।

शास्त्रं हि निर्णयात्म, निर्णयश्च प्रायः संदिग्ध एवार्थे प्रवर्तते, नहि उपलब्ध एव संशयविषयता प्रतिपद्यते नानुपलब्धः, संशयस्य च प्रमातृधर्मत्वात् यद्यपि केनचित्संशयानेन संदिग्धोऽर्थः प्रतिपद्यते तदा तस्योपलम्भः स्यात्, तत्प्रतिपादनमेव च प्रश्नः इति सोऽपि स्वकारणवत् शास्त्रप्रवृत्तौ निमित्ततां यायात्, तन्निर्णयाय च प्रारभ्यमाणस्य शास्त्रस्य

यह स्थाणु है या पुरुष इस वाक्य में स्थाणु और पुरुष दो रूपों का आमर्श होता है। इस द्वैरूप्य का उद्घाटन यहाँ उसी प्रकार नहीं हो पाता, जैसे टेढ़े खोखले की विशेषता का। वहाँ क्या यह स्थाणु है अथवा क्या यह पुरुष है–'क्या' रूप जो विचार का विषय है यह वस्तुतः संशय है।

पर ध्यान देने की बात है कि 'एतत् किम्' इस वाक्य में केवल किमंश में संशय है। यहाँ किसी विशेष धर्म का उद्घाटन नहीं है। अतः संशय मुख्य है। पर यह स्थाणु है या पुरुष इस किमंश में नियत विशेष का अवगम नहीं होता। अतः संशय मुख्य है। दोनों वाक्यों के किमंशों में यह आन्तरिक वैशिष्ट्य है। विकल्प में व्रीहि भी निश्चित है और यव भी निश्चित है। यहाँ दोनों का उद्घाटन होता है। अतएव वह स्फुट है। आमर्शनीयों के विशेष धर्म के निश्चय से ही विकल्प स्फुट होता है।

शास्त्र की प्रवृत्ति में उपर्युक्त संशय ही कारण बनते हैं। शास्त्र एक प्रकार का निर्णय होता है। निर्णय हमेशा संदिग्ध अर्थों में ही प्रवर्त्तित होता है। कोई विषय उपलब्ध है, प्राप्त है। कोई अनुपलब्ध है अप्राप्त है। क्या इन दोनों में संशय प्रवृत्त होगा? नहीं। संशय प्रमाता का धर्म है। यदि कोई संशयात्मा किसी संदिग्ध अर्थ में प्रवृत्त होता है तो वह अर्थ अवश्य उपलब्ध ही होता है। प्रश्न उसके प्रतिपादन का है। वह भी शास्त्र की प्रवृत्ति में

त्रिविधा प्रवृत्तिः—उद्देशो, लक्षणं, परीक्षा च इति, नामधेयेन पदार्थाभि-धानमात्रं चोद्देशः, तस्य च प्रथममवश्यमुपादानं कार्यम्—अनुद्दिष्टस्य लक्षणपरीक्षानुपपत्तेः, अतश्च उद्देशं विना लक्षणपरीक्षात्मशास्त्रस्य प्रणयनमेव न घटते—इत्यस्यापि तत्र अङ्गत्वम् ॥२५१॥

ननु एकेनैव शास्त्रप्रणयनसिद्धेः किमर्थं त्रितयम् ? इति चेत्, न चैतत्-परस्परानुषक्ततयैव अत्र एषां निमित्तत्वाभिधानात्। संशयित एव हि अर्थः केनचिदभिधीयमानः शास्त्रेण उद्देशादिद्वारेण निर्णीयते इति, अत एव च स्वरूपभेदेऽपि एवं शास्त्रप्रवृत्तौ अनुद्घाटितात्मप्रथात्मकेन समानेन रूपेण कारणत्वमस्ति इति प्रतिपादयितुमाह

तेनानुद्घाटितात्मत्वभानप्रथनमेव यत्
प्रथमं स इहोद्देशः प्रश्नः संशय एव च ॥२५२।

तेन—पूर्वोक्तेन न्यायेन अनुद्घाटितात्मत्वेन भावस्य वस्तुमात्रस्य प्रथमं यत् प्रथनं स एव इहोद्देशः—प्रश्नः संशयश्च इति, तत्र संशयस्य तावदेवंरूपत्वं समनन्तरमेव उक्तम्, उद्देशे च अनुद्घाटितत्वेमेव वस्तुनः

कारण होता है। उसके निर्णय के लिये शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की हो जाती है। १—उद्देश, २—लक्षण और ३—परीक्षा। नाम के साथ शास्त्र का कथन उद्देश कहलाता है। इसका प्रथमतः उपादान अनिवार्य है। जो अनुद्दिष्ट है, उसका लक्षण या उसकी परीक्षा नहीं हो सकती। इसीलिये उद्देश के बिना लक्षण परीक्षात्मक शास्त्रों का प्रणयन असम्भव होता है। वह एक अंग ही है ॥ २५१ ॥

प्रश्न है कि शास्त्र का प्रणयन एक प्रवृत्ति से भी सिद्ध हो सकता है। तीन प्रवृत्तियाँ क्यों? इसका उत्तर है कि ये तीनों परस्पर अनुषक्त हैं। अतः तीनों आवश्यक है। संशयित अर्थ ही किसी के द्वारा प्रतिपादित होकर शास्त्र बन जाता हैं। वह उद्‌देश आदि के द्वारा ही निर्णीत होता है। इसलिये स्वरूप में भेद रहने पर भी शास्त्र की प्रवृत्ति में समान रूप से ये तीनों ही कारण हैं। यही कह रहे हैं—

इसलिये अनुद्घाटित होने के कारण वस्तु मात्र का प्रथम प्रथन अर्थात् प्रवर्त्तन ही उद्देश कहलाता है। यही प्रश्न भी है और संशय भी। उद्देश में भी अनुद्घाटित वस्तु का ही प्रथम अर्थात् नाम के साथ वस्तु का अभिधान होता है।

प्रथनं रूपं–नामधेयमात्रेणैव पदार्थानामभिधानात् । प्रश्नेऽपि एवं वाच्यम्, अन्यथा हि निर्णयात्मत्वे प्रतिवचनादस्य विशेषो न स्यात् ॥२५२॥

तत्र संशयितेऽर्थे प्रश्नः प्रवर्तते, इति तन्निर्णयानन्तरम् निर्णेतव्यः प्रश्नः, इति प्राप्तावसर तत्सतत्त्वमेव वक्तुमाह

तथानुद्घाटिताकारभावप्रसरवर्त्मना ।
प्रसरन्तो स्वसंवित्तिः प्रष्ट्री शिष्यात्मतां गता ॥२५३॥

इह अद्वयनये 'परमार्थसती संविदेव सर्वम्' इति प्रष्टृप्रतिवक्तृरूपगुरुशिष्याद्यात्मनो भेदस्य तावदनुपपत्तिः इति । तथा पूर्वोक्तेन प्रकारेण अनुद्घाटिताकारः–सर्वभावनिर्भरत्वात् संविदेकरूपो, योऽसौ भावः–पारमार्थिकं पूर्णस्वभावं वस्तु, तस्य यः प्रसरः–पश्यन्त्यादिदशाक्रमणेन अवरोहः, तदेव वर्त्म, तेन प्रसरन्ती–वैखर्यादिरूपतामासादयन्ती, स्वसंविदेव, संकुचिता, प्रमात्रात्मशिष्यभूमिकाम् अवभासयन्ती 'प्रष्ट्री' इत्युच्यते इत्यर्थः ॥२५३॥

कुत्र कथं चास्याः प्रष्टृत्वम् ? इत्याह

तथान्तरपरामर्शनिश्चयात्मतिरोहितेः ।
प्रसरानन्तरोद्भूतसंहारोदयभागपि ॥२५४॥

प्रश्न में भी यही होता है अन्यथा निर्णय की स्थिति में उसी का विचार कैसे हो सकता है ? ॥ २५२ ॥

संशयित अर्थ में प्रश्न प्रवृत्त होता है। संशय के निर्णय के अनन्तर प्रश्न का निर्णय तो होता ही है। अतः प्रसङ्गवश प्रश्न का वास्तविक रूप कह रहे हैं—

इस अद्वयवादी शास्त्र का सिद्धान्त ही है कि 'परमार्थ सती संविदेव सर्वम्' अर्थात् पारमार्थिक रूप से संवित् ही सब कुछ है। अतः इसमें प्रष्टा और प्रतिवक्ता रूप शिष्य और गुरु रूप भेद भी अनुपपन्न माना जाता है। इसलिये ऊपर प्रतिपादित अनुद्घाटित आकार वाली और सभी भावों में निर्भर, पारमार्थिक भाव के पश्यन्ती आदि क्रम से बैखरी आदि रूपों में प्रसार प्राप्त करनेवाली स्वात्म संवित्ति ही प्रष्ट्री बन कर शिष्य भूमि का निर्वाह करती है। इस तरह शिष्य की जिज्ञासा ही प्रश्न बन जाती है ॥ २५३ ॥

यावत्येव भवेद्बाह्यप्रसरे प्रस्फुटात्मनि ।
अनुन्मीलितरूपा सा प्रष्ट्री तावति भण्यते ॥२५५॥

तथा-परमाद्वयमयत्वेन, आन्तरः-प्रमात्रैकात्म्यरूपो, योऽसौ परामर्शः, तस्य निश्चयो-दार्ढ्यं, तदात्मनस्तिरोहितेः-उत्तरोत्तरस्य रूपस्य पूर्वपूर्वत्रानवस्थितेः, प्रसरात्-बाह्यौन्मुख्यात्, अनन्तरमुद्भूतौ यौ संहारश्च-पराद्यात्मनो रूपस्य स्वात्मन्येव विश्रान्तिः, उदयश्च-पश्यन्त्याद्यात्मना रूपेण बहिरुद्भवः तौ भजते, तद्रूपा हि सा संवित् यावति प्रस्फुटात्मनि-ग्राह्यग्राहकयुगलकाद्याभासस्वभावे बाह्यप्रसरे, अनुन्मीलितरूपा-संविद्रूपत्वेन अनवभासमाना भवेत्, तावत्येव अनुद्घाटितात्मत्वेन प्रथनात् 'प्रष्ट्री' इत्युच्यते इत्यर्थः ॥२५४॥२५५॥

न केवलं संविदः प्रष्ट्रृत्वमेव अस्ति, यावत् प्रश्नादिरूपत्वमपि इत्याह

स्वयमेवं विबोधश्च तथा प्रश्नोत्तरात्मकः ।
गुरुशिष्यपदेऽप्येष देहभेदो ह्यतात्त्विकः ॥२५६॥

कहाँ और कैसे इसकी प्रष्ट्री दशा होती है-यही कह रहे हैं—

परमाद्वय मय आन्तर प्रमात्रैकात्म्यरूप परामर्श की निश्चयात्मकता के (क्रमशः) तिरोहित होने के कारण संविद् का बाह्य औन्मुख्य रूप प्रसार होने लगता है। इस प्रसार में संहार और उदय दोनों स्थितियां होती हैं। परात्पर की स्वात्म-विश्रान्ति दशा में संहार और पश्यन्ती आदि प्रसार की दशा में उदय दोनों से संवलित यह संविद् प्रस्फुटात्मक और बाह्य प्रसार में स्वात्म रूप से अनुन्मीलित भी रहती है। उसी दशा में यह प्रष्ट्री कहलाती है ॥२५४-२५५॥

यह केवल प्रष्ट्री ही नहीं अपितु प्रश्न भी बनती है—

संविद् स्वयं बोध रूप से उल्लसित होती है। वही प्रश्न और वही उत्तर बन कर समाधान भी करती है। गुरु और शिष्य पदों पर वही अधिष्ठित होती है। गुरु-शिष्य का देह-भेद वस्तुतः अतात्त्विक होता है।

कहा गया है--

'गुरुशिष्य रूप से स्वयं सदाशिव ही पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष उपस्थित करते हैं। वही तन्त्रशास्त्र है। उन्होंने ही तन्त्रशास्त्र अवतरित किये।" तथा "स्वयं देवी प्रश्नकर्त्री बनती हैं। स्वयं उत्तरदात्री भी हो जाती हैं।"

तदुक्तं

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं　समवतारयत् ॥'

इति । तथा

'प्रष्ट्री च प्रतिवक्त्री च स्वयं देवी व्यवस्थिता ।'

इति । ननु गुरुशिष्ययोः परस्परं भेदः साक्षादुपलभ्यते इति किं नाम अनयोर्बोधरूपत्वम् ? इत्याह-एष इत्यादि । अतात्त्विकः इति अवास्तवः । बोध एव हि स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वात्मनि तत्तद्देहादिभावम् आभासयति इति भावः ॥२५६॥

तदाह

बोधो हि बोधरूपत्वादन्तर्नानाकृतोः स्थिताः ।
बहिराभासयत्येव　द्राक्सामान्यविशेषतः　॥२५७॥

बोधात्मा परमेश्वरो हि बोधनक्रियाकर्तृत्वलक्षणात् बोधरूपत्वात् अन्तः स्थिता नानाकृतोः-तत्तद्भावजातं, द्राक्-अनन्यापेक्षितया निर्विलम्बन-मेव, सामान्यविशेषरूपत्वेन, बहिः-विच्छेदेन, अवभासयत्येव इति वाक्यार्थः ॥२५७॥

तत्र सामान्यस्य किं नाम बहिरवभासनम् ? इत्याह

स्त्रक्ष्यमाणविशेषांशाकांक्षायोग्यस्य　कस्यचित् ।
धर्मस्य सृष्टिः सामान्यसृष्टिः सा संशयात्मिका ॥२५८॥

तथ्य है कि गुरु और शिष्य का परस्पर भेद प्रत्यक्षसिद्ध है, पर अवास्तविक है। बोध रूप शिव ही स्वातन्त्र्य के प्रभाव से गुरु शिष्यादि देह भेदों का अवभासन करता है ॥२५६॥

वही कह रहे हैं—

परमात्मा स्वयं बोध रूप हैं। बोधन क्रिया के वे कर्ता भी हैं। बोधमय आन्तरिक स्फुरणों को भावात्मक आकृतियाँ भी अन्तःस्थित होती ही हैं। वही बोध महेश्वर अविलम्ब सामान्य या विशेष बाह्य उल्लास अवभासित करते हैं ॥२५७॥

सामान्य के बाह्यावभास का वर्णन कर रहे हैं—

बोध में उल्लिससिषा होती हैं। उसके द्वारा उल्लासयिष्यमाण विशेषांश की आकांक्षा रूप किसो धर्म को (गोत्व आदि को) सृष्टि सामान्य

स्रक्ष्यमाणाः—स्वालक्षणेन उल्लासयिष्यमाण, ये विशेषांशा', तत्र

'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या तदविनाभावित्वेन आकांक्षा-औन्मुख्यं, तत्र योग्यस्य—तदौन्मुख्याभावेऽपि सर्वगतत्वात् तत्स्वरूपानपायात् अनुगुणस्य, कस्यचित् नियतस्य गोत्वादेः धर्मस्य, बहिरवभासनात्मा सृष्टिः सामान्या सृष्टिः, सा एव च अनुद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् 'संशयः' इति—विशेषाकांक्षानुगुणसामान्यप्रतीतिरेव संशयप्रतीतिः ॥२५८॥

एवं विशेषसृष्टिरपि निश्चयप्रतीतिरूपा इत्याह

स्रक्ष्यमाणो विशेषांशो यदा तूपरमेत्तदा ।
निर्णयो मातृरुचितो नान्यथा कल्पकोटिभिः ॥२५९॥

यदा पुनर्निश्चयोपयोगिना सर्वविशेषाणां सृष्टत्वात् स्रक्ष्यमाणो विशेषांश उपरमेत्—विशेषविषया सृष्टिः समाप्येत, तदा स एव उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् 'स्थाणुरेवायम्' इति प्रत्ययात्मा निश्चयः स्यात् । एतदुत्पादे च प्रमातुरिच्छैव निबन्धनम्' इत्युक्तं 'मातृरुचितः' इति । प्रमाता हि यावदेव 'ज्ञातं मया' इति परितुष्येत्, तावदेव निश्चितं भवति इति भावः, अन्यथा पुनः स कदाचिदपि न भवेत्—प्रमात्रिच्छायामेवाविश्रान्तेः । तदाह 'नान्यथा कल्पकोटिभिः' इति ॥ २५९ ॥

सृष्टि कहलाती है । वह संशयात्मिका होती है । यह ध्यान देने की बात है कि विशेषांश के सर्जन की उन्मुखता के योग्य ही सामान्य प्रतीति होती है । इसे ही संशय प्रतीति कहते हैं ॥ २५८ ॥

विशेष सृष्टि निश्चय प्रतीतिरूपा होती है । यही कह रहे हैं—

बोध के अनुरूप सर्जन हो जाने पर सृष्टि का समापन हुआ । उसी समय प्रमाता की रुचि के अनुसार यह निर्णय भी हो गया कि यह पदार्थ गाय ही है । गोत्व सामान्य सृष्टि के अनन्तर गो विशेष का निर्णय भी हो गया । यह विशेष सृष्टि निश्चित प्रतीतिरूपा होती है । 'मया ज्ञातं-स्थाणुरयम्' यह निर्णायक वाक्य ही है । प्रमाता को इच्छा ही निर्णायक होती है । प्रमाता की इच्छा के विना यह कभी सम्भव नहीं, क्योंकि यहाँ अविनाभाव है ॥२५९॥

न केवलमस्य निश्चयमात्ररूपत्वमेवास्ति, यावल्लक्षणादिरूपत्वमपि इत्याह

तस्याथ वस्तुनः स्वात्मवीर्याक्रमणपाटवात् ।
उन्मुद्रणं तयाकृत्या लक्षणोत्तरनिर्णयाः ॥२६०॥

तस्य–विशेषात्मनो वस्तुनो, यत् स्वात्मनो वीर्यं–तदितरपरावृत्तत्वं तस्य आक्रमणं–स्वात्मना विषयीकरणं, तत्र पाटवं–नैराकांक्ष्यात्तीव्रत्वं, ततो यत् तेनैव आकारेण उन्मुद्रणं–प्रतिनियतस्वस्वरूपाविष्करणं, तत् उद्घाटितात्मप्रथामयत्वस्य अविशेषात् 'लक्षणम्' इति 'उत्तरम्' इति 'निर्णय' इति चोच्यते । तत्र–असाधारणस्तत्त्वावबोधको धर्मो लक्षणं, तत्त्वावबोधोपकरणं दूषणोद्धरणमुत्तरं, तत्त्वावबोधो निर्णयः ॥ २६० ॥

ननु तत्त्वावबोधसारत्वस्य अविशेषात्, परीक्षापि लक्षणेनैव निर्णयवत् कथं न संगृहीता ? इत्याशङ्क्याह

निर्णीततावद्धर्मांशपृष्ठपातितया पुनः ।
भूयो भूयः समुद्देशलक्षणात्मपरीक्षणम् ॥२६१॥

इसका न केवल निर्णय होता है अपितु लक्षण भी होता है । यही कह रहे हैं —

प्रत्येक वस्तु में एक स्वात्म वैशिष्ट्य होता है । उससे वह दूसरे वस्तु को अपने से पृथक् कर देता है । इसे शास्त्रीय भाषा में वीर्य कहते हैं । इस वीर्य भाव का आक्रमण अर्थात् स्वत्म विषयीकरण उस वस्तु का स्वभाव होता है । इससे ही के उसके आकार के प्रतिनियत स्वरूप का उन्मुद्रण अर्थात् आविष्कण होता है । इसे ही लक्षण, उत्तर या निर्णय कहते हैं । आसाधारण तत्त्वावबोधक धर्म ही लक्षण है । तत्त्वावबोध का उपकरण और समस्त दोषों से उद्धार करने वाला उत्तर है तथा तत्त्वका अवबोध ही निर्णय है ॥२६०॥

तत्त्व के अवबोध का रहस्य तो सामान्य है । वह उद्देश में भी होता है । उद्देश में सामान्य विशेष के निर्णय की तरह परीक्षा का संग्रह भी क्यों नहीं है ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि वह तो तदात्मक ही होता है —

वस्तु जब निर्णय का विषय बन जाता है, निर्णीत हो जाता है तो निर्णायक लक्षण का लक्ष्य उसका धर्मांश होता है । उसका पृष्ठपाती होने के कारण वारंवारं समुद्देश होता है अर्थात् तद्विषयक अभिधान होता है । उसके

निर्णीतो-निर्णयविषयीकृतः, तावान्-नियतलक्षणलक्ष्यो, योऽसौ धर्मांशः-तद्विषयतया पौनःपुन्येन यः समुद्देशः, यच्च लक्षणं साधारणासाधारणधर्म-निरूपणं, तदात्मकं, पुनः परितः-सर्वतो निःशेषप्रतिपक्षप्रतिक्षेपेण ईक्षणं-परीक्षा इति वाक्यार्थः ॥ २६१ ॥

एतच्च उद्देशादित्रयं सर्वत्रैवास्ति इत्याह

दृष्टानुमानौपम्याप्तवचनादिषु सर्वतः ।
उद्देशलक्षणावेक्षात्रितयं प्राणिनां स्फुरेत् ॥ २६२ ॥

एतदेव क्रमेण दर्शयति

निर्विकल्पितमुद्देशो विकल्पो लक्षणं पुनः ।
परीक्षणं तथाध्यक्षे विकल्पानां परम्परा ॥२६३॥
नगोऽयमिति चोद्देशो धूमित्वादग्निमानिति ।
लक्ष्यं व्याप्त्यादिविज्ञानजालं त्वत्र परीक्षणम् ॥२६४॥
उद्देशोऽयमिति प्राच्यो गोतुल्यो गवयाभिधः ।
इति वा लक्षणं शेषः परीक्षोपमितौ भवेत् ॥२६५॥
स्वःकाम ईदृगुद्देशो यजेतेत्यस्य लक्षणम् ।
अग्निष्टोमादिनेत्येषा परीक्षा शेषवर्तिनी ॥२६६॥

साधारण और असाधारण धर्मों का निरूपण होता है। साथ ही साथ पूर्ण रूप से पूर्वपक्षका प्रत्याख्यान पूर्वक ईक्षण अर्थात् परीक्षण किया जाता है। अर्थात् उद्देश, लक्षण और परीक्षा सब कुछ तत्त्वावबोध के अनिवार्य अंग हैं ॥२६१॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आप्तवचन आदि में उद्देश, लक्षण और परीक्षण रूप तीनों स्फुरित होते रहते हैं ॥२६२॥

इसी तथ्य का क्रमिक रूप से दिग्दर्शन कर रहे हैं—

उद्देश निर्विकल्पित होता है। विकल्प ही लक्षण बनता है। परीक्षण परितः इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप होता है। यह सब विकल्पों की ही परम्परा है ॥२६३॥

'यह पर्वत है' वह कथन उद्देश है। यहाँ धर्मी के साध्य धर्म का उद्घाटन नहीं है। अनुद्घाटित स्वात्मभाव पूर्वक वस्तु मात्र का प्रथन इस वाक्य में है। नग का नामधेय पूर्वक अभिधान है, अतः यह उद्देश है।

उद्देशः इति—आलोचनमात्रस्य अनुद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात्। **लक्षणम्** इति—नीलमिति विकल्पेन निर्विकल्पस्यैव उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात्। विकल्पानाम् इति—अर्थक्रियाज्ञानपूर्वापरभाविनाम्, तत एव च अर्थतथात्वनिश्चयोत्पादः इत्येषां परोक्षात्वम्। उद्देशः इति नगोऽयम् इति धर्मिमात्रस्यैव अनुद्घाटितसाध्यधर्मात्मत्वेन प्रथनात्। लक्ष्यमिति—साध्यधर्मविशिष्टतया उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात्। व्याप्तिः—अन्वयव्यतिरेकौ, तद्वशादेव हि साध्यसाधनयोरविनाभावनिश्चयोत्पादः इत्यस्याः परोक्षात्मत्वम्। अयमिति—पुरोवर्त्तिनः पिण्डमात्रस्य अनुद्घाटितात्मत्वेन प्रथनात्। प्राच्यः इति—प्रथमो धर्मिविशेषानवच्छिन्नः इति यावत्। गोतुल्योऽयम् इति—प्रमाणदशायां गवयशब्दवाच्योऽयम् इति—फलदशायां च विशेषावच्छेदस्य भावित्वात्। वा शब्दः समुच्चये, तेन प्रमाणदशायाः फलदशायाश्च उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वात् लक्षणत्वम्। शेषः इति—सास्नादिमद्वाहदोहादिकारी इत्यादि परामर्शः। इदृक् इति—स्वःकामः इत्येव। अस्य इति—स्वःकामस्य। लक्षणम् इति—अधिकारानुबन्धस्य विषयानुबन्धमन्तरेणानिर्णयात्।

'धूमवत्त्व के कारण पर्वत अग्निमान् है' यह लक्षण है क्योंकि साध्यधर्म से यह विशिष्ट है। यहाँ इसके असाधारण धर्म का निरूपण है। इसी अवस्था में व्याप्ति का कथन होता है। जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है। यह अन्वय व्याप्ति है। 'जहाँ धूम नहीं है वहाँ वहाँ अग्नि नहीं है' यह व्यतिरेक व्याप्ति है। साध्य साधन दोनों का निश्चय इसके विना हो ही नहीं सकता। यही परीक्षा है ॥ २६४ ॥

'अयम्' कहने के साथ पुरोवर्ती एक विशाल प्रस्तर पिण्ड में संकेत ग्रह हुआ। पर अभी वह अनुन्मीलितात्मक है। यहाँ धर्मी विशेष का अवच्छेदक नही है। यह प्रथम अनुभव है। जब 'यह गोतुल्य गवय है' इस वाक्य का प्रयोग करते हैं, तो गोतुल्य से प्रमाण और गवय से फल का बोध हो जाता है कि यह विशेष वस्तु है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण की अवस्था और फल की अवस्था दोनों में स्वात्म रूप तथ्य का उद्घाटन हो गया है। यह लक्षण है गाय की सास्ना, उसका दोहन और वाहनात्मक उपयोग रूप सारा परामर्श उपमान के परीक्षण में होता है ॥ २६५ ॥

स्वर्ग की इच्छा वाला यज्ञ करे। इस वाक्य में स्वर्गकामी उद्देश है। यज्ञ करे—यह लक्षण है और अग्निष्टोम यज्ञ करे—यह परीक्षा है।

'शेषः परमार्थत्वात् ।'

इति वचनात् सा अर्थवादव्यापारात्मा इति कर्तव्यता इत्यर्थः । परीक्षात्वं चात्र–उद्दिष्टलक्षितस्वर्गकामाधिकारनिस्तुषीकरणत्वात् ॥ २६३-२६६ ॥

ननु लक्ष्यमाणविशेषाकांक्षानुगुणसामान्यसृष्टिः 'उद्देशः' इत्युक्तं, न च विशेषस्य आकांक्षणीत्वमुचितं–तदानीं तस्य भविष्यत्तया वार्तामात्रस्यापि अभावात् ? इत्याशङ्कां सोपस्कारप्रागुक्तलक्षणानुवादपुरःसरं प्रतिक्षिपति—

विकल्पलक्ष्यमाणान्यरुचितांशसहिष्णुनः ।
वस्तुनो या तथात्वेन सृष्टिः सोद्देशसंज्ञिता ॥२६७॥
तदेव संविच्चिनुते यावतः लक्ष्यमाणता ।

विकल्पेन–तत्प्रधानेन प्रमात्रा सामान्यस्य सृष्टत्वात् तदपेक्षया लक्ष्यमाणाः –लक्षणात् उल्लासयिष्यमाणा, अत एव अन्ये-ये सामान्यव्यतिरिक्ताः प्रमातुः संतोषादायकत्वाच्च, रुचिता–इष्टाः, ये अंशा–विशेषाः, तान्–अर्थात् व्याप्यत्वेन सहते तच्छीलं यत् तस्यैवंविधस्य सामान्यात्मनो वस्तुनः, तथात्वेन-लक्ष्यमाणत्वादिविशेषणविशिष्टविशेषसहिष्णुत्वेन, या सृष्टिः, तस्या उद्देशः–अभिधानं तत्र यावतः आकांक्षणीयस्य विशेषष्य लक्ष्यमाणता तावत्, तदेव–उद्देशावसरे, संविच्चिनुते–अनुसंधत्ते इत्यर्थः ॥ २६७ ॥

यज्ञ करने से स्वर्ग का अधिकार मिलता है। यह अधिकारानुबन्ध यज्ञ क्रिया रूपी विषयानुबन्ध से ही ज्ञात होता है। "शेष परमार्थ होने के कारण....।" इस कथन के कारण परीक्षा शेष-वर्त्तिनी होती है। शेष अर्थवाद का व्यापार है और इति कर्त्तव्यता है। उद्देश और लक्षण के द्वारा सिद्ध स्वर्गकाम के अधिकार का सर्वेक्षण होने के कारण यहाँ परीक्षा है ॥ २६६ ॥

उद्देश की परिभाषा है—'विशेषाकांक्षानुगुण सामान्य सृष्टि' किन्तु विशेष में आकांक्षणीयता उचित नहीं। विशेष में भविष्यत् चाह की जगह नहीं हो सकती। इस आशङ्का का प्रत्याख्यान कर रहे हैं—

विकल्प प्रधान प्रमाता सामान्य की सृष्टि करता है। उसकी अपेक्षा लक्ष्यमाण विशेष हाता है। सामान्य से अन्य, रुचितांश भी विशेष ही है। इन विशेषों को सहन करने की शीलता तो सामान्यरूप से बहिरवभासित वस्तुओं में ही होती है। ऐसे प्रत्येक वस्तु को विशेष सहिष्णु सृष्टि ही उद्देश है। इस

तत्र हेतुः

यतो ह्यकालकलिता संधत्ते सार्वकालिकम् ॥२६८॥

हि-शब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ २६८ ॥

ननु उद्घाटितात्मप्रथारूपत्वे सति लक्षणस्य सामान्यविशेषयोर्द्वयोरपि प्रथनात् किं लक्ष्यं? किं वा लक्षणम्? इत्यत्र विवेकाभावादनियमः स्यात् इत्याशंक्याह

स्रक्ष्यमाणस्य या सृष्टिः प्राक्सृष्टांशस्य संहृतिः ।
अनूद्यमाने धर्मे सा संविल्लक्षणमुच्यते ॥२६९॥

इह विशेषसामान्यविषयसृष्टिसंहृतिमयी संवित् लक्षणं-व्यवहरणबीजमिति। तत्र सृज्यमानस्य विशेषांशस्य विधेयतया लक्षणत्वं वाच्यं, संह्रियमाणस्य च सामान्यांशस्य अनूद्यमानतया लक्ष्यत्वम् इत्यस्त्येव विवेकः ॥ २६९ ॥

ननु

'भूयो भूयः समुद्देशलक्षणात्म परीक्षणम् ।'

अवसर पर आकांक्षणीय विशेष की स्रक्ष्यमाणता का अनुसन्धान संवित् ही करती है। उसका कारण है—क्योंकि अकाल कलित संवित् ही समग्र काल-धर्मता को धारण करती है ॥ २६७-२६८ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि उद्घाटित आत्मप्रथा में सामान्य और विशेष दोनों का प्रथन स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में लक्ष्य और लक्षण का विवेक न होने से कोई क्रम नियम भी नहीं रह सकेगा? इस पर कह रहे हैं—

स्रक्ष्यमाण विशेष की सृष्टि और प्राथमिक सामान्य सृष्टांश दोनों की संहृतिमयी संवित् ही 'लक्षण' है। यही व्यवहार का बीज है। सृज्यमान (विशेष) के विशेषणांश की ही तो बहिरवभासनरूपा सामान्य सृष्टि होती है। इस तरह सृज्यमान में दो तरह की सृष्टि का अंश है। १—सृज्यमान का विशेषांश और २—सृज्यमान विशेषणांश। प्रथम विशेषांश की विधेयता में लक्षण तथा द्वितीय सामान्यांश की अनूद्यमानता में लक्ष्य का निर्णय करना चाहिये ॥ २६९ ॥

प्रश्न है कि पहले "बारम्बार समुद्देश लक्षण रूप परीक्षण" की चर्चा है। इसमें विराम के निमित्त के होने के कारण परीक्षा की विश्रान्ति कैसे होगी? इस आशङ्का का सानुवाद प्रत्याख्यान कर रहे हैं—

इत्युक्त, तत्र च विरामनिमित्ताभावात् परीक्षाया अविश्रान्तिरेव स्यात् ? इत्याशङ्कामनुवादगर्भां प्रतिक्षिपति

तत्पृष्ठपातिभूयोंशसृष्टिसंहारविभ्रमाः ।

परीक्षा कथ्यते मातृरुचिता कल्पितावधिः ॥२७०॥

ननु तत्र तत्र प्रत्यक्षादौ क्रमेण पश्यन्ती-मध्यमावैखरीरूपतया स्वात्मचमत्कारमयी विमर्शशक्तिरेव विजृम्भते इत्युक्तं, तत्कथमिह उद्देशाद्यात्मना स्वसिद्धान्ताप्रसिद्धं क्रमान्तरमासूत्रितम् ? इत्याशंक्याह

प्राक्पश्यन्त्यथ मध्यान्या बैखरी चेति ता इमाः ।

परा परापरा देवी चरमा त्वपरात्मिका ॥२७१॥

ननु संख्यासाम्यमात्रादेव उद्देशादित्रयस्य पश्यन्त्यानिरूपत्वम्, इति किमिदम् ? इत्याशंक्याह

इच्छादि शक्तित्रितयमिदमेव निगद्यते ।

समुद्देश और उसके अनन्तर विशेषांश की सृष्टि और उसके संहार के विभ्रम ही (तो विश्ववैचित्र्य के प्रतीक हैं)। ऐसी अवस्था में प्रमाता की प्रवृत्ति परीक्षा रूप में व्यक्त होती है। (अग्निष्टोम याग स्वर्ग कामना मयी प्रवृत्ति का परीक्षात्मक प्रयोग है।) संवित् शक्ति ही सामान्य और विशेष निरूपण रूप समुद्देश और लक्षण के उपरान्त पदार्थ का विशेष ईक्षण करती है। वह कल्पितावधिक होती है। अग्निष्टोम की प्रक्रिया भी सावधिक ही है और सभी कल्पना प्रसूत है ॥ २७० ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी रूपों में स्वात्म चमत्कारमयी विमर्श शक्ति ही—उल्लसित होती है। यहाँ इस प्रकरण में उद्देश, लक्षण और परीक्षा रूप क्रमान्तर क्यों प्रदर्शित कर रहे हैं ? जबकि यह क्रम उस शास्त्र में प्रसिद्ध भी नहीं है। इसका उत्तर दे रहे हैं—

सर्व प्रथम यही क्रम उज्जृम्भित होता है। पश्यन्ती परा, मध्यमा परापरा और बैखरी अपरात्मक उल्लास है ॥ २७१ ॥

क्या इस संख्या का साम्य उद्देश आदि पश्यन्ती की तरह है अथवा यह और कुछ है ? इस पर कहते हैं—

इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

एतत्प्राणित एवायं व्यवहारः प्रतायते ॥२७२॥

सकलः खलु अयं शुद्धाशुद्धात्मा व्यवहारः संविद्भित्तावेव अवभासते इति भावः । तदुक्तं

'इत्थमत्यर्थभिन्नार्थावभासखचिते विभौ ।
समलो विमलो वापि व्यवहारोऽनुभूयते ॥' इति ॥ २७२ ॥

न केवलमेषाम् एवं-रूपत्वं, यावत्

'परो महानन्तरालो दिव्यो मिश्रस्त्वदिव्यकः ।
संबन्धः षड्विधस्तन्त्रे................................ ॥'

इत्यादिना उक्तस्य संबन्धस्यापि, इत्याह

एतत्प्रश्नोत्तरात्मत्वे पारमेश्वरशासने ।
परसंबन्धरूपत्वमभिसंबन्धपञ्चके ॥२७३॥

एते समनन्तरोक्ततत्त्वे ये प्रश्नोत्तरे ते आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मिन्सति इत्यर्थः । प्रष्टृतद्वक्त्रोरेव सम्बन्धो भवति इति भावः । संबन्धपञ्चके इति महदादिके । षष्ठो हि परः संबन्धः सर्वेषामेव एषाम् अनुप्राणकत्वेन अनुवर्तते, इति पृथगिह नोक्तः ॥२७३॥

ये तीनों इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप ही हैं । वास्तविकता यह है कि इन्हीं की सामर्थ्य-सत्ता से यह सारा शास्त्र व्यवहार प्रसरित और प्रतानित होता है । यह शुद्ध और अशुद्ध अध्वात्मक विचित्र विश्व व्यवहार संवित्ति के फलक पर ही उरेहा गया है । कहा है--

"इस प्रकार अत्यन्त वैविध्यपूर्ण विश्वावभास से चित्रित सर्व समर्थ परमेश्वर में यह सारा समल और विमल व्यवहार उल्लसित होता है ॥२७२॥

इनका केवल ऐसा ही रूप नहीं अपितु--"पर, महान, अन्तराल, दिव्य दिव्यादिव्य और अदिव्य तन्त्र-प्रक्रिया इन छः प्रकार के सम्बन्धों से ही प्रवर्त्तित होती है .... ॥" केवल इतना ही नही अपितु इन सम्बन्धों के भी आतान प्रतान होते हैं--

प्रश्नोत्तर रूप, प्रष्टा और वक्ता के व्यवहारों से रूपायित यह पारमेश्वर सिद्धान्त तन्त्र महदादि पाँच सम्बन्धों से (सुशोभित है ।) तथा इन पाँचों में छठाँ का सम्बन्ध तो सबको अनुप्राणित करने वाला है ॥ २७३ ॥

एतच्च स्वोपज्ञमस्माभिर्नोक्तम्, इत्याह

यथोक्तं रत्नमालायां सर्वः परकलात्मकः ।
महानवान्तरो दिव्यो मिश्रोऽन्योऽन्यस्तु पञ्चमः ॥२७४॥

रत्नमालायाम् इति—श्रीकुलरत्नमालायाम्, उक्तम् इति अर्थतो, न तु शब्दतः । तत्र

'अदृष्टं निर्गुणं यच्च हेयोपादेयवर्जितम् ।
तत्तत्त्वं सर्वतत्त्वानां प्रधानं परिपठ्यते ॥
अदृष्टविग्रहश्चैव स शान्त इति गीयते ।
तस्येच्छा निर्गता शक्तिस्तद्धर्मगुणसंयुता ॥'

इत्यादिना पारमेश्वरी परा शक्तिरेव तत्तत्संबन्धात्मना प्रसृता इति सर्वस्यैव महदादेः सबन्धस्य परकलात्मकत्वमुक्तम् ! अत एव च एतदेव

यह सब केवल अपने ही ज्ञान पर आधारित नहीं है। वरन् अन्यत्र आगमों में भी उक्त है--

यह सब श्रीकुलरत्नमाला में शब्दतः वर्णित है। वहाँ "अलक्ष्य, गुण रहित, हेय और उपादेय भेदवाद से वर्जित तत्त्व ही सभी तत्त्वों में प्रधान माना जाता है। वही अदृष्ट विग्रहवान् शान्त तत्त्व है। उसकी उल्लासमयी यह इच्छा ही उन उन धर्मों और गुणों से संवलित है।" इत्यादि उद्धरणों से सिद्ध है कि पारमेश्वरी परा शक्ति ही उन उन सामान्य विशेष सम्बन्धों से अथवा सम्बन्ध पञ्चक के समन्वय से उल्लसित है। महद्, अवान्तर, दिव्य, दिव्यादिव्य और पाचवें अदिव्य सभी का सम्बन्ध कलात्मक ही है। यही तथ्य—

"सृष्टि के नियमों के अनुसार छठाँ पर-तत्त्व पृथ्वी पर व्यक्त और समावेश के विभिन्न स्तरों पर आकार ग्रहण करता है।" उस उक्ति में कहा गया है।

वस्तुतः विकल्प तो तीन प्रकार का ही होता है। १—दिव्य, २—दिव्यादिव्य और ३—अदिव्य। इसे इतरेतर भी कहा गया है—

"महान, अवान्तर, दिव्य, दिव्यादिव्य और इतरेतर सम्बन्धों के माध्यम से विविध रूपों में यह अभिव्यक्त है।"

यह सम्बन्ध पञ्चक शिव से सदाशिव का, उससे अनन्तनाथ का, उससे श्रीकण्ठनन्दिकुमार आदि का, इनसे भी सनत्कुमार आदि ऋषियों का और इनसे सभी मनुष्य आदि प्राणियों का भी जानना चाहिये।

'सृष्टिमार्गानुसारेण आयातश्चावनीतले ।
कथितो देवि षष्ठस्तु यथावेशस्वरूपतः ॥'

इत्यनेन उपसंहृतम् । मिश्रो—दिव्यादिव्यः । अन्योऽन्यः इति —दिव्यापेक्षया अन्यो मिश्रः, तस्मादन्योऽपि अदिव्यः इति । दिव्य-दिव्यादिव्य-अदिव्यात्मना त्रिधैव हि संभवति विकल्पः । अत एवायमत्र इतरेतरशब्देन उक्तः । तदुक्तं

'महानवान्तरो दिव्यो दिव्यादिव्यश्चतुर्थकः ।
इतरेतरमार्गेण पञ्चधा भिन्नलक्षणः ॥'

इति । एतच्च संबन्धपञ्चकं शिवात् सदाशिवस्य, तस्मात् अनन्तनाथस्य, तस्मात् श्रीकण्ठनन्दिकुमारादीनां, तेभ्योऽपि सनत्कुमारादीनामृषीणां, तेभ्योऽपि मनुष्यादीनां क्रमेण अवगन्तव्यम् । यदुक्तं तत्रैव

'शिवस्य परिपूर्णस्य परस्यामिततेजसः ।
तच्छक्तिश्चैव सादाख्या स्वेच्छाकर्तृत्वगोचरा ॥
सत्त्वं तेन च संप्राप्तं संबन्धं प्रथम विदुः ।
अवान्तरश्च योगेन सादाख्यात्क्रमशः पुनः ॥
प्राप्तोऽनन्तेशदेवेन द्वितीयस्तेन कीर्तितः ।
तृतीयस्तु पुनर्देवि श्रीकण्ठो नन्दिना सह ॥
द्वाभ्यां देवात्तु मत्वैवं तेन दिव्यः प्रकीर्तितः ।
ऋषीणां च समासेन नन्दिना प्रतिपादितम् ॥
चतुर्थस्तु भगवता दिव्यादिव्यः प्रकीर्तितः ।
व्याख्यानक्रमयोगेन विद्यापीठप्रपूजने ॥
शिष्याचार्यस्वरूपेण पञ्चमस्त्वितरेतरः ।
इति पञ्चप्रकारोऽयं संबन्धः परिकीर्तितः ॥' इति ॥२७४॥

श्रीकुलरत्नमाला में और भी कहा गया है कि—

"परात्पर, सर्वथा परिपूर्ण, परम ऊर्जस्वल शिव और उनकी शक्ति का यह उल्लास सदाशिव तत्त्व है । इसमें स्वेच्छा कर्तृत्व है । सदाशिव का सत्त्व वहीं से प्राप्त है । यह प्रथम सम्बन्ध है । इसके योग से अवान्तर सम्बन्ध प्रवर्त्तित हुए । सदाशिव से अनन्त भट्टारक का दूसरा सम्बन्ध बना । तीसरा श्रीकण्ठ और नन्दि कुमार इन दो देवों से हुआ । इससे इसे दिव्य कहते हैं । फिर नन्दिकुमार का ऋषियों से सम्बन्ध हुआ । यह चौथा सम्बन्ध देव और ऋषियों का है । अतः दिव्यादिव्य है । 'विद्या' पीठ के पूजन क्रम में उपदेश रूप से यह पांचवां शिष्य और आचार्य सम्बन्ध इतरेतर रूप से वर्णित हैं । ये पाँच प्रकार के सम्बन्ध कहे गये हैं" ॥ २७४ ॥

परकलात्मत्वमेव व्याचष्टे

भिन्नयोः प्रष्टृतद्वक्त्रोश्चैकात्म्यं यत्स उच्यते ।

प्रष्टा यथा सदाशिवो, वक्ता यथा शिवः, तच्छब्देन प्रश्नक्रियापरामर्शः, तयोर्भिन्नत्वेऽपि तावत्यर्थे संविद्दाढर्थैकात्म्यात् संबन्धः—तस्य भेदाभेदरूपत्वात्, ऐकात्म्यभावे यदा भेदगन्धस्यापि विगलनात् सर्वात्मतालक्षणा पूर्णता स्यात् तदा परः संबन्धः । तदाह

संबन्धः परता चास्य पूर्णैकात्म्यप्रथामयी ॥२७५॥

परता हि पूर्णैकात्म्यप्रथालक्षणा । पूर्णे हि सर्वमस्ति, सर्वत्र च पूर्णमस्ति इत्येतत् पञ्चस्वपि संबन्धेषु अस्ति इति युक्तमुक्तं 'सर्वः परकलात्मकः' इति । तदुक्तं

'संबन्धः परमेशानि सर्वः परकलामयः ।
महानवान्तरो दिव्यो मिश्रोऽदिव्यश्च तत्परः ॥ इति ॥२७५॥

संबन्धान्तरेष्वपि एतदेवातिदिशति

अनेनैव नयेन स्यात्संबन्धान्तरमप्यलम् ।
शास्त्रवाच्यं फलादीनां परिपूर्णत्वयोगतः ॥२७६॥

एतदेव संकलयति

इत्थं संविदियं देवी स्वभावादेव सर्वदा ।

पर कलात्मक-सम्बन्ध (शिव-सदाशिवात्मक) की व्याख्या कर रहे हैं—

प्रश्न कर्त्ता सदाशिव, प्रश्नोत्तर प्रदाता शिव दोनों भिन्न हैं किन्तु प्रश्नोत्तर प्रसङ्ग में संविदैक्यदाढर्य सम्बन्ध बनता है। यह भेदाभेद रूप सम्बन्ध है। अभेदवाद में ऐकात्म्य का उल्लास होता है। भेद विगलित हो जाते हैं। उस समय एक प्रकार का सार्वात्म्य होता है। परिपूर्णता होती है। वही 'पर' सम्बन्ध कहलाता है। वही कहते हैं—

पूर्ण ऐकात्म्य प्रथा को पूर्णता कहते हैं। पूर्ण में तो सब कुछ समाहित होता है। इसलिये यह पाँचों सम्बन्धों में उल्लसित रहता है। इसलिये श्लोक २७४ में सभी कुछ पर-कलात्मक हो कहा गया है है। और भी कहा है—

"हे परमैश्वर्यमयी मातः! सब कुछ पर-कला रूप ही होता है। महान् अवान्तर, दिव्य, दिव्यादिव्य और अदिव्य सर्वमय वही है" ॥ २७५ ॥

उद्देशादित्रयप्राणा　सर्वशास्त्रस्वरूपिणी ।। २७७ ।।

इत्थम्-उक्तेन प्रकारेण, सर्वदा संविदेव इयं भगवती स्वस्वातन्त्र्यात् उद्देशादित्रयप्राणेन सर्वात्मना शास्त्रेण स्वरूपिणा-शास्त्रात्मना संविदेव अवभासते इत्यर्थः ।। २७७ ।।

तत्र उद्देशस्वरूपमेव तावदाह

तत्रोच्यते पुरोद्देशः पूर्वजानुजभेदवान् ।
विज्ञानभिद्गतोपायः परोपायस्तृतीयकः ।। २७८ ।।
शाक्तोपायो नरोपायः कालोपायोऽथ सप्तमः ।
चक्रोदयोऽथ देशाध्वा तत्त्वाध्वा तत्त्वभेदनम् ।। २७९ ।।
कलाद्यध्वाध्वोपयोगः शक्तिपाततिरोहिती ।
दीक्षोपक्रमणं दीक्षा सामयी पौत्रिके विधौ ।। २८० ।।
प्रमेयप्रक्रिया सूक्ष्मा दीक्षा सद्यःसमुत्क्रमः ।
तुलादीक्षाथ पारोक्षी लिङ्गोद्धारोऽभिषेचनम् ।। २८१ ।।
अन्त्येष्टिः श्राद्धक्लृप्तिश्च शेषवृत्तिनिरूपणम् ।
लिङ्गार्चा बहुभित्पर्वपवित्रादि निमित्तजम् ।। २८२ ।।
रहस्यचर्या मन्त्रौघो मण्डलं मद्रिकाविधिः ।
एकीकारः स्वस्वरूपे प्रवेशः शास्त्रमेलनम् ।। २८३ ।।
आयातिकथनं शास्त्रोपादेयत्वनिरूपणम् ।

सम्बन्धान्तरों में भी वही व्यक्त है, यही कह रहे है—

शैवाद्वयवाद के इस नियम के अनुसार सम्बन्धान्तरों की परिकल्पना की गयी है। शास्त्रों में यही उक्त है। फल आदि भी परिपूर्ण यागमय ही होते हैं। इस प्रकार यह दिव्य शक्ति संपन्ना संविद् स्वभावतः स्वातन्त्र्य मयी है। उद्देश, लक्षण और परीक्षा आदि से, अनुप्राणित शास्त्रों में शास्त्र वचनों द्वारा यही अवभासित है। अर्थात् संविद् ही शास्त्र रूपों में उल्लसित है ।। २७७ ।।

यहाँ पहले उद्देश के स्वरूप का कथन कर रहे हैं—

सामान्य उद्देश पूर्वज, और विशेष उद्देश अनुज हैं। यहाँ पूर्वज उद्देश का ही कथन है। विज्ञानभिद्, अनुपाय, परोपाय, शाक्तोपाय, नरोपाय, कालोपाय,

सामान्यसंज्ञया कीर्तनं पूर्वज उद्देशः, विशेषसंज्ञया कीर्तनम् अनुज उद्देशः, स एव च विभागः इत्यन्यत्र उक्तः। तत्र पुर्वजमुद्देशमाह—विज्ञानभित् इत्यादिना निरूपणम् इत्यन्तम्, विज्ञानानि शाम्भवादीनि भिद्यन्ते यत्र इति। गतोपायः इत्यनुपायः। पौत्रिके विधौ इति पौत्रिकं विधिमाश्रित्य। दीक्षा इति पूर्वेण संबन्धः। प्रमेयप्रक्रिया इत्यर्थात् पौत्रिके विधौ इति योज्यम्। यद्वक्ष्यति

'तदाह्निकानुजोद्देशे कथितं पौत्रिके विधौ।'

इति ॥ २७८-२८३ ॥

किमेवमियता ग्रन्थेन उपनिबद्धेन ? इत्याशङ्क्याह

इति सप्ताधिकामेनां त्रिशतं यः सदा बुधः ॥ २८४ ॥
आह्निकानां समभ्यस्येत् स साक्षाद्भैरवो भवेत्।
सप्तत्रिंशत्सु संपूर्णबोधो यद्भैरवो भवेत् ॥ २८५ ॥
किं चित्रमणवोऽप्यस्य दृशा भैरवतामियुः।
इत्येष पूर्वजोद्देशः कथ्यते त्वनुजोऽधुना ॥ २८६ ॥

चक्रोदय, देशाध्वा, तत्त्वाध्वा, तत्त्वभेद, कलाध्वा, भुवन आदि अध्वा, शक्तिपात, तिरोधान, दीक्षोपक्रम, दीक्षा, समयदीक्षा पौत्रिक विधि में, प्रमेयार्थ प्रक्रिया, सूक्ष्मा दीक्षा, सद्यः समुत्क्रमण दीक्षा, तुला दीक्षा, परोक्ष दीक्षा, लिङ्गोद्धार, अभिषेक, अन्त्येष्टि, श्राद्ध, शेषवृत्ति निरूपण, लिङ्गार्चा, पर्व, रहस्यचर्या, मन्त्रौघ मण्डल, मुद्रिका विधि, स्वात्मैक्य में अनुप्रवेश, शास्त्र मेलन, आयातिकथा, शास्त्रोपादेयत्व निरूपण, इतने पूर्वज उद्देश हैं। "अनुजोद्देश के आह्निक की पौत्रिक विधि प्रकरण में प्रमेय प्रक्रिया कही गयी है।" ॥ २७८-२८३ ॥

इन ३७ विषयों से सम्बन्धित ३७ आह्निकों के इतने विशाल ग्रन्थ की रचना का तात्पर्य क्या है ? इसका उत्तर दे रहे हैं--

इन ३७ आह्निकों में कथित ३७ पूर्वजोद्देश विषयों को जो बुद्धिमान् व्यक्ति सदा अभ्यास करता रहेगा, वह साक्षात् भैरव हो जायेगा क्योंकि इनके अभ्यास से सम्पूर्ण (हो जाना निश्चित है) ॥ २८४-२८५ ॥

अणु (पुद्गल, पाशपद्ध, पशु) भी इस विधि से भैरवीभाव प्राप्त कर लेंगे। यहाँ पूर्वज उद्देश का वर्णन किया गया। अब अनुजोद्देश की चर्चा भी कर रहे हैं ॥ २८६ ॥

विज्ञानभित्प्रकरणे सर्वस्योद्देशनं क्रमात् ।
द्वितीयस्मिन्प्रकरणे गतोपायत्वभेदिता ॥ २८७ ॥
विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वं परामर्शोदयक्रमः ।
मन्त्राद्यभिन्नरूपत्वं परोपाये विविच्यते ॥ २८८ ॥
विकल्पसंस्क्रिया तर्कतत्त्वं गुरुसतत्त्वकम् ।
योगाङ्गानुपयोगित्वं कल्पितार्चाद्यनादरः ॥ २८९ ॥
संविच्चक्रोदयो मन्त्रवीर्यं जप्यादि वास्तवम् ।
निषेधविधितुल्यत्वं शाक्तोपायेऽत्र चर्च्यते ॥ २९० ॥
बुद्धिध्यानं प्राणतत्त्वसमुच्चारश्चिदात्मता ।
उच्चारः परतत्त्वान्तःप्रवेशपथलक्षणम् ॥ २९१ ॥
करणं वर्णतत्त्वं चेत्याणवे तु निरूप्यते ।
चारमानमहोरात्रसंक्रान्त्यादिविकल्पनम् ॥ २९२ ॥
संहारचित्रता वर्णोदयः कालाध्वकल्पने ।
चक्रभिन्मन्त्रविद्याभिदेतच्चक्रोदये भवेत् ॥ २९३ ॥

विज्ञानभेद प्रकरण में क्रमशः शाम्भव, शाक्त और आणव आदि का कथन है । द्वितीय आह्निक में अनुपाय विज्ञान, विश्व चिन्मात्र का प्रतिबिम्ब है, परामर्शों के उदय का क्रम, मन्त्रादि का अभिन्नत्व यह परोपाय प्रकरण में वर्णित है । विकल्पों के संस्कार, तर्क, गुरुसतत्त्व सत्तर्क, योगाङ्ग के रूप में उपयोगिता एवम् अनुपयोगिता, कल्पित अर्चादि का अनादर, संवित् चक्र का उदय मन्त्रवीर्य, उत्तम जप्य, निषेध और विधि यह सब शाक्तोपाय प्रकरण में चर्चित है ॥ २८७-२९० ॥

बुद्धि, ध्यान, प्राणतत्त्व चिदात्मकता, परतत्त्वान्तःप्रवेश, करण, वर्ण, स्थान प्रकल्पनादि यह आणवोपाय के विषय होंगे । चारमान, अहोरात्र, संक्रान्ति, संहार, वर्णोदय कालाध्व प्रकरण में हैं । चक्र भेद, मन्त्र-विद्यादि-भेद चक्रोदय प्रकरण के विषय हैं ॥ २९१-२९३ ॥

परिमाणं पुराणां च संग्रहस्तत्त्वयोजनम् ।
एतद्देशाध्वनिर्देशे द्वयं तत्त्वाध्वनिर्णये ॥ २९४ ॥
कार्यकारणभावश्च तत्त्वक्रमनिरूपणम् ।
वस्तुधर्मस्तत्त्वविधिर्जाग्रदादिनिरूपणम् ॥ २९५ ॥
प्रमातृभेद इत्येतत् तत्त्वभेदे विचार्यते ।
कलास्वरूपमेकत्रिपञ्चाद्यैस्तत्त्वकल्पनम् ॥ २९६ ॥
वर्णभेदक्रमः सर्वाधारशक्तिनिरूपणम् ।
कलाद्यध्वविचारान्तरेतावत्प्रविविच्यते ॥ २९७ ॥
अभेदभावनाकम्पह्रासौ त्वध्वोपयोजने ।
संख्याधिक्यं मलादीनां तत्त्वं शक्तिविचित्रता ॥ २९८ ॥
अनपेक्षित्वसिद्धिश्च तिरोभावविचित्रता ।
शक्तिपातपरीक्षायामेतावान्वाच्यसंग्रहः ॥ २९९ ॥
तिरोभावव्यपगमो ज्ञानेन परिपूर्णता ।
उत्क्रान्त्यनुपयोगित्वं दीक्षोपक्रमणे स्थितम ॥ ३०० ॥
शिष्यौचित्यपरीक्षादौ स्थानभित्स्थानकल्पनम् ।
सामान्यन्यासभेदोऽर्घपात्रं चैतत्प्रयोजनम् ॥ ३०१ ॥

पुर परिमाण संग्रह, देशाध्वा में, तत्त्व योजन, कार्य-कारण भाव, तत्त्वक्रम, वस्तुधर्म, तत्त्वविधि, जाग्रत् आदि प्रमाता भेद यह तत्त्वाध्वा में निरूपणीय हैं। कला का स्वरूप एक, तीन, पाँच आदि भेदाकलन, वर्ण भेद क्रम, सर्वाधार शक्ति निरूपण, कलाध्वा के विचार प्रसंग में विविच्यमान हैं ॥ २९४-२९७ ॥

अभेदभावन, कम्प, ह्रास, मलों की अनेकता, शक्तिवैचित्र्य, अनपेक्षित सिद्धि, तिरोभाव, यह सब शक्तिपात प्रकरण में । तिरोधान की समाप्ति, ज्ञान से पूर्णत्व, उत्क्रान्ति की अनुपयोगिता दीक्षा के उपक्रम में है। शिष्यौचित्य परीक्षा में स्थान भेद और स्थान प्रकल्पन, सामान्य न्यास भेद,

द्रव्ययोग्यत्वमर्चा च बहिर्द्वारार्चनं क्रमात् ।
प्रवेशो दिक्स्वरूपं च देहप्राणादिशोधनम् ॥ ३०२ ॥
विशेषन्यासवैचित्र्यं सविशेषार्घभाजनम् ।
देहपूजा प्राणबुद्धिचित्स्वध्वन्यासपूजने ॥ ३०३ ॥
अन्यशास्त्रगणोत्कर्षः पूजा चक्रस्य सर्वतः ।
क्षेत्रग्रहः पञ्चगव्यं पूजनं भूगणेशयोः ॥ ३०४ ॥
अस्त्रार्चा वह्निकार्यं चाप्यधिवासनमग्निगम् ।
तर्पणं चरुसंसिद्धिर्दन्तकाष्ठान्तसंस्क्रिया ॥ ३०५ ॥
शिवहस्तविधिश्चापि शय्याक्लृप्तिविचारणम् ।
स्वप्नस्य सामयं कर्म समयाश्चेति संग्रहः ॥ ३०६ ॥
समयित्वविधावस्मिन्स्यात्पञ्चदश आह्निके ।
मण्डलात्मानुसन्धानं निवेद्य पशुविस्तरः ॥ ३०७ ॥
अग्नितृप्तिः स्वस्वभावदीपनं शिष्यदेहगः ।
अध्वन्यासविधिः शोध्यशोधकादिविचित्रता ॥ ३०८ ॥
दीक्षाभेदः परो न्यासो मन्त्रसत्ताप्रयोजनम् ।
भेदो योजनिकादेश्च षोडशे स्यादिहाह्निके ॥ ३०९ ॥
सूत्रक्लृप्तिस्तत्त्वशुद्धिः पाशदाहोऽथ योजनम् ।
अध्वभेदस्तथेत्येवं कथितं पौत्रिके विधौ ॥ ३१० ॥

अर्घ पात्र और उसका प्रयोजन, द्रव्य शुद्धि, बाह्य द्वार पूजन, मण्डप प्रवेश, दिक्स्वरूप, देह प्राण आदि का शोधन, विशेष न्यास वैचित्र्य, विशेषार्घ देह पूजा आदि १५ वें आह्निक पर्यन्त वर्णित हैं ॥२९८-३०७॥

मण्डलानुसन्धान, निवेद्य पशु (अणु) अग्नितृप्ति, शिष्यदेहस्थ आत्मभावदीपन, अध्वन्यास विधि, शोध्य-शोधक भाव, दीक्षा भेद, परात्मक न्यास, मन्त्र सत्ताप्रयोजन, योजनिका भेद सोलहवें आह्निक में वर्णित हैं।

जननादिविहीनत्वं मन्त्रभेदोऽथ सुस्फुटः।
इति संक्षिप्तदीक्षाख्ये स्यादष्टादश आह्निके ॥ ३११ ॥
कलावेक्षा कृपाण्यादिन्यासश्चारः शरीरगः।
ब्रह्मविद्याविधिश्चैवमुक्तं सद्यःसमुत्क्रमे ॥ ३१२ ॥
अधिकारपरीक्षान्तःसंस्कारोऽथ तुलाविधिः।
इत्येतद्वाच्यसर्वस्वं स्याद्विंशतितमाह्निके ॥ ३१३ ॥
मृतजीवद्विधिर्जालोपदेशः संस्क्रियागणः।
बलाबलविचारश्चेत्येकविंशाह्निके विधिः ॥ ३१४ ॥
श्रवणं चाभ्यनुज्ञानं शोधनं पातकच्युतिः।
शङ्काच्छेद इति स्पष्टं वाच्यं लिङ्गोद्धृतिक्रमे ॥ ३१५ ॥
परीक्षाचार्यकरणं तद्व्रतं हरणं मतेः।
तद्विभागः साधकत्वमभिषेकविधौ त्वियत् ॥ ३१६ ॥
अधिकार्यथ संस्कारस्तत्प्रयोजनमित्यदः।
चतुर्विशेऽन्त्ययागाख्ये वक्तव्यं परिचर्च्यते ॥ ३१७ ॥

सूत्र क्लृप्ति, तत्त्वशुद्धि, पाश-दाह, योजन, अध्वभेद यह सब पौत्रिक विधि में वर्णित हैं। जननादि राहित्य, मन्त्रभेद, यह सब संक्षिप्त दीक्षा नामक अठारहवें आह्निक का विषय है ॥३०८-३११॥

कला का वीक्षण, कृपाणी न्यास, शरीर न्यास, ब्रह्म विधि, सद्यः समुत्क्रमण प्रकरण में कहे गये विषय हैं। अधिकार परीक्षा, संस्कार, तुला विधि आदि बीसवें आह्निक में वर्णित हैं। मृतजीव विधि, जाल विधि, संस्कार बलाबल २१ वें में हैं। श्रवण, अभ्यनुज्ञान शोधन, पातकच्युति, शङ्का निवृत्ति, लिङ्गोद्धार क्रम में आते हैं। परीक्षा, आचार्य करण, व्रत, मति का आहरण, उसके विभाग और साधकत्व यह सब अभिषेक विधि प्रकरण में हैं। अधिकारी संस्कार, इसका प्रयोजन यह सब अन्त्ययाग नामक २४ वें आह्निक में परिचर्चित होंगे ॥३१२-३१७॥

प्रयोजनं भोगमोक्षदानेनात्र विधिः स्फुटः ।
पञ्चविंशाह्निके श्राद्धप्रकाशे वस्तुसंग्रहः ।। ३१८ ।।

प्रयोजनं शेषवृत्तेर्नित्यार्चा स्थण्डिले परा ।
लिङ्गस्वरूपं बहुधा चाक्षसूत्रनिरूपणम् ।। ३१९ ।।

पूजाभेद इति वाच्यं लिङ्गार्चासंप्रकाशने ।
नैमित्तिकविभागस्तत्प्रयोजनविधिस्ततः ।। ३२० ।।

पर्वभेदास्तद्विशेषश्चक्रचर्चा तदर्चनम् ।
गुर्वाद्यन्तदिनाद्यर्चाप्रयोजननिरूपणम् ।। ३२१ ।।

मृतेः परीक्षा योगीशीमेलकादिविधिस्तथा ।
व्याख्याविधिः श्रुतविधिर्गुरुपूजाविधिस्त्वियत् ।। ३२२ ।।

नैमित्तिकप्रकाशाख्येऽप्यष्टाविंशाह्निके स्थितम् ।
अधिकार्यात्मनो भेदः सिद्धपत्नीकुलक्रमः ।। ३२३ ।।

अर्चाविधिर्दौतविधी रहस्योपनिषत्क्रमः ।
दीक्षाभिषेकौ बोधश्चेत्येकोनत्रिंश आह्निके ।। ३२४ ।।

मन्त्रस्वरूपं तद्वीर्यमिति त्रिंशे निरूपितम् ।
शूलाब्जभेदो व्योमेशस्वस्तिकादिनिरूपणम् ।। ३२५ ।।

भोगमोक्ष दान प्रयोजन श्राद्ध प्रकाश नामक २५ वें आह्निक में हैं। शेष वृत्ति का प्रयोजन, नित्या, स्थण्डिल में विशेषार्चन, लिङ्ग स्वरूप, अक्षसूत्र निरूपण, पूजाभेद यह सब लिङ्गार्चा संप्रकाशन प्रकरण में हैं। नैमित्तिक विभाग, प्रयोजन विधि, पर्व भेद, तत्सम्बन्धी चक्र चर्चा एवम् अर्चन, गुरु आदि प्रयोजन निरूपण, मृतिपरीक्षा, योगीशी मेलक आदि विधि, व्याख्या और श्रुति-विधियाँ, गुरु पूजा विधि, आदि नैमित्तिक प्रकाश नामक २८ वें आह्निक में हैं। अधिकारी भेद, सिद्धपत्नीकुल क्रम, अर्चा विधि, दौतविधि, रहस्योपनिषत्, दीक्षाभिषेक, बोध आदि २९ वें आह्निक में वर्णित हैं ।। ३१८-३२४ ।।

विस्तरेणाभिधातव्यमित्येकत्रिंश आह्निके ।
गुणप्रधानताभेदाः स्वरूपं वीर्यचर्चनम् ॥ ३२६ ॥
कलाभेद इति प्रोक्तं मुद्राणां संप्रकाशने ।

इत्यादि न केवलमेवं, यावत् अन्यदपि अस्य माहात्म्यं स्यात् इत्याह 'इति सप्ताधिकां, संप्रकाशने' इत्यन्तम् । इह ग्रन्थकृता तत्त्वतः समस्तव्यस्तत्वेन सप्तत्रिंशदाह्निकानि उपनिबद्धानि इति । यथा पृथ्वीतत्त्वे भेदस्य प्राधान्यात् स्थूलेन रूपेण सर्वमस्ति, तथा इहापि वक्ष्यमाणम् इत्युक्तं 'सर्वस्योद्देशनं क्रमात्' इति । परोपाये इति-शाम्भवोपाये, अस्य च वाच्यवाचकात्मनो विश्वस्य संविदैकरूपत्वे सति स्यात्, तत्र वाच्यात्मनो विश्वस्य चित्प्रतिबिम्बत्वेन सामान्यविशेषात्मतया द्विविधस्य, वाचकात्मनो विश्वस्य च परामर्शोदयक्रममन्त्राद्यभिन्नरूपत्वाभ्यां संविदनतिरेकात् तदेकरूपत्वमुच्यते इत्यत्र एतत्प्रमेयत्रयोपक्षेपः । शाक्तस्य च विकल्पकमेव रूपम् इति प्रथमं विकल्पस्यैव संस्कार उक्तः, स च हेयाद्यालोचनद्वारेण तर्केण अभिधीयत इति तदनन्तरम् तत्तत्त्वम् । अन्यच्च शुद्धविद्यात्मनस्तर्कस्यैव विस्फूर्जितं यत् तद्वशादेव सद्गुरुप्राप्तिर्भवेद् इति तत्सतत्त्वमुक्तम् । तर्क एव च साक्षाद्योगस्याङ्गम् इति अन्येषां योगाङ्गानामनुपयोगित्वम्—तर्कस्य च शुद्धविद्यात्मतया भेदभावकमायीयविकल्पप्रतिघातित्वात् कल्पितस्य अर्चादेरनादरः, ततः एवाविकल्पसंस्कारस्य दाढर्यात् संविच्चक्रोदयः, तदुदय एव च मन्त्राणां परं वीर्यं, तथामर्श एव च वास्तवं जप्यादि, अत एव च संविदि भेदाभावाद् निषेधविधितुल्यत्वम् इत्येतन्नवसंख्याकं प्रमेयमुपक्षिप्तम् । एवमाणवादावपि बुद्धिध्यानादेः साक्षात्तदौपयिकत्वम् इत्येतदस्माभिः—स्पष्टत्वाद् ग्रन्थविस्तरभयाद् अग्रे च निर्णेष्यमाणत्वाद् न प्रातिपद्येन व्याख्यातम् इति स्वयमेव अवधार्यम् ॥ २८४-३२६ ॥

मन्त्र का स्वरूप और मन्त्रवीर्य, तीसवें आह्निक, शूलाब्ज भेद, व्योमेश, स्वस्तिक आदि इकतीसवें और गुण प्रधानतादि भेद, उनके स्वरूप, वीर्य और कलाभेद मुद्रासंप्रकाशन प्रकरण में वर्णित हैं । मुद्रासंप्रकाशन ३२ वाँ आह्निक है ।

इसके बाद ३३ वाँ आह्निक—एकीकार आह्निक है । इसके बाद अनुज उद्देश नहीं कहे गये हैं । प्रश्न होता है कि क्यों नहीं चर्चित हैं ? उसके उत्तर में कह रहे हैं कि—

ननु एकोकाराह्निकादौ किमिति न अनुजोद्देशः कृतः ? इत्याशङ्क्याह

द्वात्रिंशतत्त्वादीशाख्यात्प्रभृति प्रस्फुटो यतः ॥ ३२७ ॥
न भेदोऽस्ति ततो नोक्तमुद्देशान्तरमत्र तत् ।

द्वात्रिंशं तत्त्वं स्वरूपं यस्य तन्मुद्राह्निकं, तस्माद् द्वात्रिंशसंख्यादनन्तरं यद् ईशाख्यं त्रयस्त्रिंशमेकीकाराह्निकं तत आरभ्य भेदस्य प्राधान्याभावाद् अनुज उद्देशो न कृत इत्यर्थः ॥ ३२७ ॥

ननु यद्यतः प्रभृति भेदो नास्ति तत्किमिति आह्निकान्तरपरिगणनमेव कृतम् इत्याशङ्क्याह

मुख्यत्वेन च वेद्यत्वादधिकारान्तरक्रमः ॥ ३२८ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

इत्युद्देशविधिः प्रोक्तः सुखसंग्रहहेतवे ।
अथास्य लक्षणावेक्षे निरूप्येते यथाक्रमम् ॥ ३२९ ॥

अस्य इति—उद्दिष्टस्य प्रमेयजातस्य ॥ ३२९ ॥

इदानीमाह्निकार्थमेव संचिनोति

आत्मा संवित्प्रकाशस्थितिरनवयवा संविदित्यात्तशक्ति-
व्रातं तस्य स्वरूपं स च निज-महसश्छादनाद् बद्धरूपः ।

वस्तुतः बत्तीसवें आह्निक के बाद कोई प्रस्फुट भेद परिलक्षित नहीं है। इसीलिये आगे भेद प्राधान्य के अभाव में अनुजोद्देश की चर्चा नहीं है ॥ ३२५-३२८ ॥

यदि भेद प्राधान्य नहीं है तो अलग आह्निकों की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न का उत्तर है कि, मुख्यत्वेन वेद्य होने के कारण अन्य आह्निकों की अवताररणा आवश्यक है।

इसका उपसंहार करते हुए नये विषय का अवतरण कर रहे हैं—

सौविध्य की दृष्टि से यहाँ तक प्रमेय वर्ग का वर्णन किया गया। इसके बाद इनके लक्षण और परीक्षण निरूपित किये गये हैं ॥ ३२९ ॥

आत्मज्योतिःस्वभावप्रकटनविधिना तस्य मोक्षः स चायं
चित्राकारस्य चित्रः प्रकटित इह तत्संग्रहेणार्थ एषः ॥३३०॥

इह आत्मनस्तावद् धामत्रयो बाह्यप्रकाशविलक्षणः संविद्रूप एव प्रकाशः स्वरूपं, संविच्च निरवयवा इति एक एव अखण्डप्रकाशरूप इति यावत्। अत एव च

'शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या तस्य आत्मनः क्रोडीकृतानन्तशक्तिकं स्वरूपम्, एवमद्वयात्मत्वेऽपि स एव अतिदुर्घटकारित्वलक्षणात् स्वस्वातन्त्र्यात्, निजस्य–अनन्यसाधारणस्य ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणस्य, महसो गोपनाद् ग्राह्यग्राहकात्मकं द्वन्द्वमाभासयन्

'...................शिव एव गृहीतपशुभावः।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या 'बद्धः' इत्युच्यते, एवमपि तस्य आत्मनः प्रत्यावृत्त्या

'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।
स्वरूपं चात्मनः संवित्..............................॥'

अब समग्र आह्निक का संग्रहार्थ व्यक्त कर रहे हैं—

आत्मा संवित्प्रकाशस्वरूप है। संवित् भी अखण्ड प्रकाशरूपा है। अतः निरवयवा है। इसीलिये "भाव का मातृकल्पित 'स्व' रूप ही शक्ति है।" इत्यादि उक्ति के अनुसार आत्मा का अपने ही अङ्क में अनन्त शक्तिसंभारवाला रूप ही 'स्व' रूप है। इस तरह अखण्ड प्रकाशस्वरूप होते हुए भी अघटित-घटना-पटीयसी स्वतन्त्रता के कारण अपने ज्ञत्व-कर्तृत्वादिरूप मह अर्थात् तेज के छादन (गोपन) से ग्राह्य-ग्राहक रूप द्वन्द्व को आभासित करता हुआ स्वतन्त्र शिव बद्ध भी कहलाता है। कहा गया है—

"..... ... ... शिव ही गृहीत पशुभाव है।"

इतना होने पर भी आत्मज्योति से अपने स्वाभाव्य-भूषित-प्रकटन-विधि के द्वारा मोक्ष भी उसी का होता है। कहा गया है—

"मोक्ष कोई अन्य पदार्थ नहीं, वरन् स्वरूप-प्रथन मात्र है। स्वरूप भी आत्मसंवित् ही है ... ...।"

इत्याद्युक्तयुक्त्या ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणस्य स्वमहस एव प्रथनं मोक्षः, यदर्थमेव च तत्तदनन्तशास्त्रात्मक इयान् परिकरः। तदाह 'स चायम्' इत्यादि, स चायं मोक्षः—तत्तद्गृहीताधरदर्शनभूमिकस्य अस्य

'रागाद्यकलुषोऽस्म्यन्तः शून्योऽहं कर्तृतोज्झितः ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या चित्रस्वभावस्य, यद्वा

'तेनाजडस्य भागस्य पुद्गलाण्वादिसंज्ञिनः ।
अनावरणभागांशे वैचित्र्यं बहुधा स्थितम् ॥'

इत्यादिनीत्या चित्राकारस्य

'अतः कंचित्प्रमातारं प्रति प्रथयते प्रभुः ।
पूर्णमेव निजं रूपं कंचिदंशांशिकाक्रमात् ॥'

इत्याद्युक्त्या चित्रः शाम्भवाद्यावेशात्मा प्रकटितः, इह इति-अस्मिन्नाह्निके। ययोर्बन्धमोक्षयोः संग्रहेण संक्षेपेण एषोऽर्थः प्रकटित इत्यनेनैव संबन्धः ॥ ३३० ॥

ननु आत्मनः स्वरूपप्रथनमेव 'मोक्षः' इत्युक्तम्, आत्मा चैक एव अखण्ड इति तत्प्रथात्मनो मोक्षस्यापि वैचित्र्यं कुतस्त्यम् ? इत्याशङ्क्याह

और यह मोक्ष अधर दर्शनों की भूमिका में गृहीत-पाशबद्ध पुरुषों का "रागादि कलुष से रहित कर्त्तृत्व भाव से विरक्त मैं शून्य रूप हूँ।" ऐसा विभ्रम रूप भी है। इसलिये विचित्र स्वभाववान् है। कहा है—

"अतः पुद्गल और अणु संज्ञावाले लोगों का जो अनावृत भाग है और जो अजड भागांश है, इन दोनों दशाओं में अकल्प्य वैचित्र्य की चारुता है।" इस तरह वह चित्राकार भी है। कहा है—

अतः वह किसी प्रमाता के प्रति प्रथित हो जाता है। कभी प्रत्यभिज्ञान-वश अपना पूर्ण रूप प्रकाशित कर देता है और कहीं अंशांशिका के क्रम से स्फुरित होता है। इसलिये वह चित्रस्वभाववान् माना गया है। इस आह्निक में यह संग्रहार्थ अर्थात् बन्ध और मोक्ष संक्षेप में प्रकटित किया गया है ॥ ३३० ॥

'आत्मा का स्वरूप प्रथन ही मोक्ष है' यह कहा गया है। वह एक ही है। अखण्ड है। उसका प्रथन रूप मोक्ष भी एक होना चाहिए। यह वैचित्र्य कहाँ से आ जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं--

मिथ्याज्ञानं तिमिरमसमान् दृष्टिदोषान्प्रसूते
तत्सद्भावाद्विमलमपि तद्भाति मालिन्यधाम।
यत्तु प्रेक्ष्यं दृशि परिगतं तैमिरीं दोषमुद्रां
दूरं रुन्ध्येत्प्रभवतु कथं तत्र मालिन्यशङ्का ॥ ३३१ ॥

तिमिरम्–आणवमलमेव मिथ्याज्ञानं भेदप्रथात्मकम् अपूर्णं वेदनं, दृष्टेः पूर्णायाः संवित्तेः, असमान्–आत्मनि अनात्माभिमानादिरूपाद् दोषान् जनयति इति मिथ्याज्ञानसद्भावाद् विमलं पूर्णमपि तत् ज्ञानं मालिन्यधाम भाति–स्वस्वातन्त्र्यादपूर्णेन आत्मना परिस्फुरति इत्येतावानर्थ इति व्यवह्रियते, यत् पुनरुपेयत्वेन प्रेक्षणीयम्—अवश्यज्ञातव्यं परप्रमात्रेकात्मपूर्णं ज्ञानं

'नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहं
नाहं बुद्धिर्नाहमहङ्कारधियौ च।
योऽत्र ज्ञांशः सोऽस्म्यहमेव..............।'

इत्यादिनीत्या उद्वेष्टनक्रमेण विमर्शपदवीमारूढं सत्, मिथ्याज्ञानसमुत्थाम् अनात्मनि आत्माभिमानरूपां दोषमुद्रां दूरं रुन्ध्येत्—आत्मन्येव आत्माभिमानेन तिरस्कुर्यात्, तत्र का नाम मालिन्यशङ्का तत्र संभावनापि न भवेद् इति वस्तुवृत्तेन बन्धो मोक्षो वापि न नाम कश्चिदस्ति इति का वा नाम तत्र वैचित्र्यसंभावना स्यात्।

तिमिर रूप आणवज्ञान ही मिथ्या ज्ञान है। यह भेद प्रथात्मक और अपूर्ण होता है। वह संवित्ति की पूर्ण दृष्टि में विषम दोषों का प्रसव करता है। इस तरह मिथ्या ज्ञान के सद्भाव से वह विमल और पूर्णज्ञान भी मालिन्य-धाम प्रतीत होता है। यह संवित्स्वातन्त्र्य ही है कि पूर्णज्ञान अपूर्ण और मलिन लगने लगता है।

जब कभी उपेय रूप से अवश्य ज्ञातव्य परप्रमातात्मक पूर्णज्ञान विमर्श का विषय बन जाता है, तब वही—

"मैं प्राण नहीं, शरीर और मन भी नहीं, बुद्धि और अहङ्कार भी नहीं, मैं तो केवल 'ज्ञ' का जो भाव है, वही हूँ।" इस उक्ति के अनुसार उद्वेष्टन क्रम से आत्मा पर पड़ी अन्धतामसी दोषमुद्रा को ध्वस्त कर देता है। ऐसी अवस्था में वहाँ किसी प्रकार की मालिन्य की आशङ्का उत्पन्न हो नहीं हो सकती है।

अनेन चाभिप्रायेण

'संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किंचित्त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थितः ॥'

इत्यादि अन्यत्र उक्तम्। अथ च तिमिरेण नेत्ररोगविशेषेण दृष्टौ अन्यथा-ज्ञानात्मदोषजातमुत्पादितं प्रेक्ष्येण अञ्जनादिस्थानीयेन रोध्यत इति तत्र मालिन्य-शङ्कापि न भवति इति औपम्यं ध्वनितम् ॥ ३३१ ॥

इदानीमस्य शास्त्रस्य परं गाम्भीर्यं मन्यमानो ग्रन्थकृत्, एतदर्थसतत्त्व-मजानानैरपि अन्यैरन्यथाबोधेन यत्किंचिद् उत्तानमेव अन्यथा उच्यते, तान्प्रति अप्रस्तुतप्रशंसया उपहसितुमाह

वहाँ इसकी सम्भावना ही नहीं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वास्तविक रूप से न यहाँ बन्ध है और न मोक्ष है। वैचित्र्य का प्रश्न भी इस तरह अपास्त हो जाता है।

इसी अभिप्राय से कहा गया है कि--

"वस्तुतः प्राणधारियों का यहाँ कोई आवागमन रूप संसार नहीं। बन्धन की बात ही व्यर्थ है। जिसका बन्ध ही नहीं, उसकी मुक्ति प्रक्रिया भी नितान्त तथ्यहीन है। यह रस्सी और साँप की भ्रान्ति रूप पिशाची की छाया मात्र मिथ्या मोहप्रसूत ही है। यहाँ कुछ छोड़ना नहीं। कुछ भी उपादेय नहीं। बस जैसे हो वहीं उसी अवस्था में रम रहो। केवल अस्तित्व के आकलन में खो जाओ।"

मुख्य श्लोक में रतौंधी के औषधोपचार की ध्वनि भी है। तिमिर दोष में अञ्जन लगाते हैं। आँख ठीक हो जाती है और दोष की शङ्का समाप्त हो जाती है।। ३३१ ॥

इस शास्त्र के गाम्भीर्यातिशय का ध्यान रखते हुए ग्रन्थकार, इस महत्त्व से अपरिचित लोग अन्यथा बोध के आधार पर जो कुछ तरङ्ग में ही बोल दिया करते हैं, उनकी अप्रस्तुतप्रशंसा के माध्यम से हँसी करते हुए से कह रहे हैं--

भावव्रात ? हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे ।
यस्त्वामाह जडं जडः सहृदयंमन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसंभावनात् ।। ३३२।।

हे भावव्रात—नीलाद्यर्थ ? आत्मनो हृदयं तेन आत्मतथ्यं रूपं गोपयित्वा जनस्य सर्वस्यैव वादिनो हृदयानि आशयान् बलात्कारेण आक्रम्य–

'अद्यास्मानसतः करिष्यति सतः किं नु द्विधा वाप्ययं
किं स्थास्नूनुत नश्वरानुत मिथोभिन्नानभिन्नानुत ।
इत्थं सद्वदनावलोकनपरैर्भाविजगद्वर्तिभि-
र्मंन्येमौननिरुद्ध्यमानहृदयैर्दुःखेन तैः स्थीयते ।।

इत्यादिस्थित्या विविधाभिर्भङ्गीभिः नर्तयन् यत् संक्रीडसे—नटवद् अतात्त्विकेन रूपेण समुल्लससि, अतः स सर्वो वादी असहृदयमपि आत्मानं सहृदयत्वेन मन्यमानोऽत एव दुःशिक्षितो मिथ्याभिमानात् अकिंचिञ्ज्ञः, त्वां भावव्रातं, जडम्—अचेतनम् आह, अतोऽस्माभिरुत्प्रेक्ष्यते–यद् अमुष्य वादिनो वस्तुतश्चैतन्यस्वभावेन भवता यत् साम्यं तस्य संभावनात् भाववत्त्वमेव जडात्मा इति यद्युच्यते सा अस्य निन्दास्थाने स्तुतिः ।

हे भावसमूह ! नीलादि पदार्थवर्ग ! आत्म हृदय अर्थात् आत्मस्वरूप का प्रच्छादन कर जननाभिमान ग्रस्त जीवों के आशयों को आक्रान्त कर—

"आज भाग्य, अस्तित्वहीन को अस्तित्व का प्रतीक बना देगा, अथवा क्या दोनों रूप प्रदान कर देगा, अथवा क्या शाश्वत को विनश्वर कर देगा ? अथवा पार्थक्य से प्रथित प्रतीकों को एकत्व से विभूषित कर देगा ? इस प्रकार के व्यर्थ सांसारिक मौन और संरुद्ध-विवेक-भाव दुःख ही दे रहे हैं।" इत्यादि विविध भङ्गियों द्वारा नर्त्तनरत रहते हुए जो क्रीड़ा कर रहे हो, इसके प्रभाव से सभी वादी अपने को सहृदय न रहते हुए भी सहृदय मानने वाले अहंमन्य हो जाते हैं। परिणामतः उनकी शिक्षा भी दूषित हो जाती है; क्योंकि उन पर मिथ्याभिमान का भूत सवार हो जाता है। ऐसे लोग यदि तुम्हें (भावव्रात को) जड कहते हैं, (तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं)। हमें तो लगता है कि चैतन्य रूप तुम्हारी समता की सम्भावना के कारण उनकी जड़ता भी स्तुत्य हो गयी है।

भावानां हि वस्तुतश्चैतन्यमेव रूपम् अचेत्यमानत्वे हि तेषां न किंचिद्रूपं स्यात्, अतस्तदेव ये न जानते ते जडेभ्योऽपि जडा इति कथं च तेषां चेतनात्मकैर्भावैः निन्दापर्यवसायि साम्यं स्यात् इति भावः। एवं प्रकृतेऽपि अस्य ग्रन्थस्य यस्तत्त्वं न जानाति मा ज्ञासीत्, प्रत्युत अन्यथापि यत्किंचन वक्ति इत्यसावेव जडो, न पुनरस्य ग्रन्थस्य कश्चिद्दोष इत्यर्थः॥ ३३२॥

ननु यद्येवं तर्हि एतच्छास्त्राधिगमाय केषांचन परेषां विदुषामभ्यर्थना क्रियतां, यदत्र यथावस्त्वेव बुद्ध्वा द्वेषो मा कार्यः ? इत्याशङ्क्याह

इह गलितमलाः परावरज्ञाः शिवसद्भावमया अधिक्रियन्ते।
गुरवः प्रविचारणे यतस्तद्विफला द्वेषकलंकहानियाच्ञा॥३३३॥

इह द्वये पुरुषाः सन्ति—अनायातशक्तिपाता आयातशक्तिपाताश्च, तत्र पूर्वेषां शतशोऽभ्यर्थितानाम् एतदधिगमाय मनोऽपि न प्रसरति, इत्यत्र अवधातव्यम्, द्वेषो माकार्य इत्यभ्यर्थनाया असामर्थ्यम्। अपरे च अनभ्यर्थिता अपि स्वयमेव एतदधिगमाय प्रवर्तन्त इति तत्रापि एवमभ्यर्थनाया वैयर्थ्यम्। तदाह 'द्वेषकलङ्कहानियाच्ञा' इति। आयातशक्तिपाताश्च कीदृशाः ? इत्याह

वास्तविकता यह है कि भाव सदा चेतन स्वभाववाले होते हैं। अचेतन मानने पर उनका कोई रूप ही नहीं हो सकता। यह तथ्य जो नहीं जानते हैं वे तो जडों से भी जड हैं। प्रकृत में भी इस आगमिक विश्वकोष की महत्ता जो नहीं जानते वे न जानें, यह तो ठीक है; किन्तु कुछ अन्यथा कहें—यह तो उनका निरा पुद्गलत्व ही होगा। इसमें इस महान् कृति का क्या दोष ? ॥३३२॥

यदि ऐसे लोग इस शास्त्र की जानकारी के लिये अन्य विद्वानों की अभ्यर्थना करें, जिससे इस शास्त्रीय वस्तुतत्त्व को जानकर द्वेष न करें, तो ? इसका विचार कर रहे हैं—

यहाँ पर दो प्रकार के पुरुष हैं। १—अनायात शक्तिपात और २—आयात शक्तिपात। अनायात शक्तिपात व्यक्तियों की आप कितनी भी प्रार्थना करें, इस शास्त्र के जानने के लिए मन चलेगा ही नहीं। उनकी इच्छा हो ही नहीं सकती। ऐसे लोगों से द्वेष न करने की अभ्यर्थना ही व्यर्थ है। दूसरी श्रेणी के लोग तो बिना प्रार्थना के स्वयमेव प्रवृत्त होते हैं। वहाँ भी इस अभ्यर्थना की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिये ऐसे लोगों से द्वेष और कलङ्क रूप हानिप्रद अभ्यर्थना व्यर्थ ही है।

गलितमला इति, गलितं मलम् –अज्ञानं येषां ते तथाविधाः, अत एव च परम् आदिमम् अनुत्तरम् अवरम् अन्त्यं विसर्गं च ये जानते ते पराहंपरामर्शात्मक-मन्त्रवीर्यज्ञा इत्यर्थः, एत एव शिवसद्भावमयाः—परप्रमात्रैकात्मज्ञानशालिनः इति यावत्, अत एव च गुरवः–तात्त्विकार्थोपदेशिन इति—एतदधिगमाय त एव परमाधिकारिण इत्युक्तं यतः प्रविचारणेऽधिक्रियन्त इति, यद्वक्ष्यति

'गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत् ।
पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवो देवतात्मकः ॥

इति ॥ ३३२ ॥

इह आह्निकादाह्निकान्तरस्य संचयन्यायेन परस्परमनुस्यूततां दर्शयितुम् एकेनैव श्लोकेन तत्पर्यन्तप्रारम्भयोरुपसंहारोपक्रमौ करोति, 'अस्य ग्रन्थकारस्य शैली'—इति श्लोकस्य प्रथमार्धेन, आह्निकार्थमुपसंहरति

तन्त्रालोकेऽभिनवरचितेऽमुत्र विज्ञानसत्ता-
भेदोद्गारप्रकटनपटावाह्निकेऽस्मिन्समाप्तिः ॥

पटौ इति पाक्षिकः पुंवद्भावः। इति शिवम् ॥

इस शास्त्र के अवगम के लिये अज्ञान रूपी मल से रहित, पर और अवर अर्थात् अनुत्तर तत्त्व और अवर अर्थात् विसर्ग-प्रसर रूप विश्व के वेत्ता, पराहन्ता परामर्श रूप मन्त्रशक्ति के विशेषज्ञ और परम प्रमाता शिव के तादात्म्य-बोध से विभूषित आप्त जन ही अधिकारी होते हैं। ऐसे प्रविचारक गुरुदेव से यह आगमिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जैसा कि कहेंगे—

"आदिमान्त तत्त्वज्ञान का वेदन कराने वाला ही गुरु है। तत्त्वबोधक ही गुरु हो सकता है। वह अहं के प्रतीक, परम पूज्य, भैरव सदृश, पर-देवता रूप ही होता है। ऐसा ज्ञानसम्पन्न महाज्ञानी ही गुरु है। परम ज्ञानवान् होना, ही उसका लक्षण है ॥ ३३३ ॥

यहाँ पर 'आह्निक से आह्निकान्तर संचय' न्याय के अनुसार परस्पर अनुस्यूत भाव प्रदर्शित करने के लिए एक श्लोक से ही पर्यन्त और प्रारम्भ दोनों का उपसंहार कर रहे हैं—यह इस ग्रन्थकार की एक शैली मात्र है। अतः श्लोक के प्रथमार्ध से आह्निकार्थ का उपसंहार कर रहे हैं—

महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्त विरचित इस तन्त्रालोक नामक ग्रन्थ के इस विज्ञानभिद् (भेदोद्गार के प्रकटीकरण में समर्थ) आह्निक की समाप्ति हो रही है। पटु शब्द में वैकल्पिक पुंवद्भाव है।

श्रीशृङ्गाररथादवाप्य कृतिनो जन्मानवद्यक्रमं
श्रीमच्छङ्खधरात्परं परिचयं विद्यासु सर्वास्वपि ।
श्रीकल्याणतनोः शिवादधिगमं सर्वागमानामपि
व्याख्यातं प्रथमाह्निकं जयरथेनात्रावधेयं बुधैः ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके श्रीमद्राजानकजयरथकृतप्रकाशाभिख्यव्याख्योपेते विज्ञान-भेदप्रकाशनं नाम प्रथममाह्निकं समाप्तिमगमत् ॥

श्री शृङ्गाररथ के शिष्य, श्रीमान् शङ्खधर से अनवद्य शास्त्रीय परम्परा के अध्येता, साक्षात् शङ्कर स्वरूप श्रीकल्याण तनु नामक गुरु से शक्ति प्राप्त कर आगमिक रहस्यों के अधिकारी जयरथ ने इस प्रथम आह्निक की व्याख्या की है। विज्ञ जन इस रहस्य-सुधा का ध्यान पूर्वक समास्वादन करें।

'हंसः' सूर्यमणिप्रियः प्रियपराकालीप्रसूपुत्रकः
तन्त्रालोकप्रकाशनैकधिषणो राजानकानन्तरम् ।
मातुः प्राप्तवरो वरं व्यरचयद् विज्ञानभेदस्य वै
नीर-क्षीर-विवेकभाष्यममृतं पेयं स्वभाषाश्रितम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित श्रीमद्राजानकजयरथकृत
प्रकाशाभिख्यव्याख्योपेत डॉ० परमहंसमिश्रविरचित
नीरक्षीरविवेकाभिख्य-हिन्दीभाष्य-संवलित तन्त्रालोक का
विज्ञानभेदप्रकाशन नाम प्रथम आह्निक सम्पूर्ण
इति शुभं भूयात्।

अथ

श्रीतन्त्रालोकस्य

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचितस्य
श्रीमदाचार्यजयरथकृतप्रकाशाख्यव्याख्योपेतस्य
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाष्यसंवलितस्य

द्वितीयमाह्निकम्

जयताज्जनजयकृत्सजयो रुद्रो विनाभ्युपायं यः।
पूरयति कं न कामं कामं कामेश्वरत्वेन ॥ १ ॥

इदानीं

'यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते।'

इति स्थित्या आणवादीनां यथायथमुत्कर्षादिह पूर्व-पूर्वमेवाभिधानमिष्यते इत्युपेयैकरूपत्वेन शांभवादप्यनुपायस्योत्कृष्टत्वम्, इति–प्रथमं तत्स्वरूपमेवाभिधातुमाह्निकान्तरारम्भं द्वितीयार्धेन प्रतिजानीते

अथ

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित श्रीमदाचार्यजयरथकृत
प्रकाशाख्य व्याख्योपेत डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेक
हिन्दीभाष्यसंवलित

श्रीतन्त्रालोकका द्वितीय आह्निक

नत-जन जयकृत सजय शिव, कामेश्वर निष्काम।
बिन उपाय करते सदा, सबके काम ललाम ॥

विनीत जनों के शाश्वत उत्कर्ष विधायक, भगवान् रुद्र जयनशील हैं। वही भक्तों की समस्त कामनाओं की पूर्ति करते हैं ॥ १ ॥

"जो जिससे गुणों में उत्कृष्ट होता है, वह उससे ऊर्ध्व कहलाता है।" इस उक्ति के अनुसार आणव आदि के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होने के कारण पहले आणवका वर्णन न यहाँ सर्वोत्तम उपेय रूप और शाम्भव विज्ञान से भी श्रेष्ठ अनुपाय विज्ञान का प्रारम्भ प्रथम आह्निक के अन्तिम श्लोक की द्वितीय अर्धाली से कर रहे हैं—

यत्त्रायं पदमविरतानुत्तरज्ञप्तिरूपं
तन्निर्णेतुं प्रकरणमिदमारभेऽहं द्वितीयम् ॥ १ ॥

तन्निर्णयमेवाह

अनुपायं हि यद्रूपं कोऽर्थो देशनयात्र वै ।
सकृत्स्याद्देशना पश्चादनुपायत्वमुच्यते ॥ २ ॥

वै शब्दोऽवधारणे, तेन नैव कश्चिदर्थः इत्यर्थः । अत्रैव समाधत्ते 'सकृत्स्यात्' इत्यादिना, देशना इत्युपलक्षणं—तेन सिद्धदर्शनाद्यपि ग्राह्यं, यदुक्तम्

'सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनं चरुभोजनम् ।
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम् ॥
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने ।'

इति । सकृदिति–न पुनरुपायानुभवः पौनः पुन्येनेत्यर्थः । अत एवाह 'पश्चादनुपायत्वमुच्यते' इति, आणवादौ असकृद्भाव्यमानो हि देशनादि उपेयप्राप्तिं विदधाति इति तत्र तथात्वमुक्तम्, इह तु न तथा इत्यनुपायत्वं,

---

अपनी स्वतन्त्र शैली के अनुसार आचार्य ने श्लोक की पहली अर्द्धाली पहले आह्निक के अन्त में देकर उससे आह्निक का उपसंहार किया है । दूसरी अर्द्धाली दूसरे आह्निक के प्रारम्भ में दे रहे हैं । इसमें प्रारम्भ की प्रतिज्ञा की गयी है—

अनुपाय का जो रूप है (वह इतना श्रेयस्कर है कि) यहाँ देशना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है । उपेय की प्राप्ति के लिये उपाय की आवश्यकता होती है । अनुपाय विज्ञान में उपायों की कोई आवश्यकता नहीं होती । प्राप्तव्य की प्राप्ति का यदि निश्चय हो, तो उपाय का निरर्थक प्रयोग कोई नहीं करता । जहाँ तक देशना का प्रश्न है इसके अन्तर्गत "सिद्धों और मातृरूपा योगिनियों के दर्शन, चरु भोजन, सुन्दर उपदेश, शास्त्र का स्वाध्याय, साधना और गुरु सेवा आदि सभी बातें आती हैं ।

पर्युदासस्य 'अनुदरा कन्या' इतिवदल्पार्थत्वेऽपि भावात् अल्पोपायत्व-मित्यर्थः, प्राप्तव्ये हि प्राप्ते किं नाम निरर्थकैरायासकारिभिर्भावनादिभिरिति भावः, यदुक्तम्

'उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः॥
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत्केचन निश्चिताः।
बिना भूयोऽनुसंधानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः॥' इति॥२॥

नन्वत्र प्रसज्यप्रतिषेधपक्षावलम्बनेनाविद्यमानोपायत्वमेव, इति मुख्योऽर्थः कस्मान्न व्याख्यातः ? इत्याशङ्क्याह

अनुपायमिदं तत्त्वमित्युपायं विना कुतः।
स्वयं तु तेषां तत्तादृक् किं ब्रूमः किल तान्प्रति॥ ३॥

अनुपाय विज्ञान में यदि उपाय करने भो पड़े, तो कम से कम उपायों से काम चल जाता है। यह अर्थ न+उपाय=अनुपाय विग्रह में 'न' से लिया जाता है। जैसे 'अनुदरा कन्या' के प्रयोग में 'न+उदर' विग्रह में 'न' से सूक्ष्म अर्थ लिया जाता है।

"उपायों के द्वारा शिव का भान नहीं होता। उपाय तो स्वयं उनको कृपा-पूर्ण प्रसन्नता से भासित होते हैं। "मैं वही स्वप्रकाश परमेश्वर हूँ। मैं स्वयं भासित हो रहा हूँ"। मैं विश्वरूप हूँ। गुरुदेव की इन बातों को सुनकर कुछ दत्तावधान शिष्य निश्चित रूप से यह दृढ़ धारणा बना लेते हैं। किसी अनुसन्धान ऊहापोह, या तर्क के विना ही वे संविन्मय स्थित-प्रज्ञ, स्वात्म-स्थित एवं स्वयं प्रकाश हो जाते हैं॥" यही अनुपाय विज्ञान का महत्त्व है॥ २॥

प्रसज्यप्रतिषेध न्याय के अनुसार अविद्यमानोपाय रूप मुख्य अर्थ यहाँ क्यों नहीं लिया गया ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

'यह अनुपाय तत्त्व है' इत्यादि उपदेश आदि के रूप में अनुपाय भी एक उपाय ही प्रतीत होता है। विना उपाय के किसी लक्ष्य की सिद्धि कैसे हो सकती है ? उपाय के न होने पर अनुपाय रूप परतत्त्व की ज्ञप्ति कैसे होगी ?

'इदमनुपायं तत्त्वम्' इत्याद्युपदेशादिना केनचिदुपायेनावश्यं भाव्यम्, अन्यथा लक्षणमुपायमन्तरेण कथं सिद्धयेत्, इत्युक्तम् 'इत्युपायं विना कुतः' तेन सकृदुपदेशादिना केनचिदुपायेनावश्यं भाव्यम्, अन्यथा ह्यनुपायपरतत्त्वज्ञप्तिरेव न स्यात्। ननु स्वविमर्शबलात्स्वयमेव प्राप्तप्राप्तव्या अपि केचिद् दृश्यन्ते, इति—किं सकृदुपदेशाद्यात्मना' स्वल्पेनाव्युत्पन्नेन ? इत्याशंक्याह 'स्वयमित्यादिना' तदित्यनुपायं परप्रकाशात्मकं रूपं, किं ब्रूम इति—नहि तदधिकारेण शास्त्रस्यैव प्रवृत्तिर्भवेदिति भावः, तदुक्तम्

'तत्त्वज्ञस्य तृणं शास्त्रं ....।' इति।

यदभिप्रायेणैव

'संसाराम्बुनिधिं यः स्यात्तितीर्षुः कश्चिदुत्तमः'
नात्यन्ततज्ज्ञो नो मूर्खः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान्'।

इत्यादावत्यन्ततज्ज्ञस्य शास्त्रे नाधिकार उक्तः, तेन वयमर्वाग्दर्शिनोऽप्यदृष्टेऽर्थे शास्त्रैकदिव्यचक्षुष आरुरुक्षूनायातशक्तिपातान्प्रत्येव किंचन ब्रूमः- तेषां ह्येवमुपायमन्तरेण न कदाचिदप्युपेयप्राप्तिर्भवेत् इत्येवमुक्तम्, यद्वक्ष्यति

'नानिर्मलचितः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः।' इति ॥ ३ ॥

कुछ ऐसे लोग हैं, जो स्वात्मविमर्श के आधार पर ही प्राप्तव्य की प्राप्ति कर लेते हैं। उनके लिये क्या कहा जाय ? उनकी दृष्टि से तो शास्त्र की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ? कहा गया है—

"तत्त्वज्ञ के लिए शास्त्र तृणवत् (हैं)··· ···· ····।" इसी अभिप्राय से अत्यन्त ज्ञानवान् सिद्ध पुरुष का इस शास्त्र में अधिकार नहीं है-"संसार सागर को पार पाने की आकांक्षा से युक्त अत्यन्त उत्तम कोटि के साधकों का इस शास्त्र में अधिकार नहीं अथवा अत्यन्त मूर्ख का भी अधिकार नहीं।"

अतः मोक्ष मार्ग के आरोहण की आकाङ्क्षा वाले शक्तिपात से पवित्र शिष्यों के लिये ही शास्त्र का प्रवर्त्तन किया जाता है।

"जिनकी चेतना स्वच्छ दर्पण के समान हो गई है—उनके ऊपर अनुग्रह होता है। इससे उपाय रहित (अनुपाय) विज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

ननु यद्येवं तर्हि अल्प एव कश्चिदुपायांशः समुपदिश्यतां येनोपदेश्यजनस्य सुखमेव उपेयप्राप्तिः स्यात्, किं बह्वायासदायिभिरन्यैरुपायैः ? इत्याशंक्याह

यच्चतुर्धोदितं रूपं विज्ञानस्य विभोरसौ।
स्वभाव एव मन्तव्यः स हि नित्योदितो विभुः ॥ ४ ॥

यच्चतुर्धा—अनुपायादिभेदेन विज्ञानस्य रूपमुक्तं तद्विभोः परमेश्वरस्यैव स्वातन्त्र्यं ज्ञेयम्, स एव हि स्वस्वातन्त्र्यादतिनिर्ह्रासितारतम्यादियोगाद्विचित्रेणोपदेश्यजनात्मना प्रस्फुरन् तदनुसारमेव तत्तदुपायवैचित्र्यमप्याभासयेत्। नन्वेक एव विचित्रेण रूपेण च स्फुरति, इति किमेतत् ? इत्याशंक्याह 'स हीत्यादि' नित्योदित इति-अप्रच्युतप्राच्यस्वरूपः, अत एव 'विभुः' व्यापकः-तत्तद्वैचित्र्यग्रहणकालेऽप्यनुगत एवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अत एवाह

एतावद्भिरसंख्यातैः स्वभावैर्यत्प्रकाशते।
केऽप्यंशांशिकया तेन विशन्त्यन्ये निरंशतः ॥ ५ ॥

एतावद्भिरिति–चतुर्भिः, असंख्यातैरिति–तत्तदवान्तरभेदात्, तेनेति-अनेकेन स्वभावेन प्रकाशनात् ॥ ५ ॥

ऐसी स्थिति में ऐसे उपदेश की आवश्यकता है, जिससे सरलता पूर्वक उपेय की प्राप्ति हो सके ! आयास साध्य उपायों से क्या लाभ ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

अनुपाय आदि भेद से यह विज्ञान चार प्रकार का माना जाता है। उस सर्व समर्थ परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का ही यह स्वभाव है। उसमें किसी का प्रवेश अंश अंश के क्रम से होता है और किसी का अक्रम अखण्ड प्रवेश हो जाता है। वह नित्योदित विभु सर्व समर्थ है। उसकी कृपा से स्वात्म विमर्श स्फुरित हो जाता है ॥ ४ ॥

चार भेदों से या अवान्तर अनन्त भेदों से वही परमेश्वर प्रकाशित हो रहा है। कुछ साधक उसमें अंश अंश अनुप्रवेश कर पाते हैं और कुछ साधक अनुग्रह के कारण अखण्ड रूप से अक्रम प्रवेश प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५ ॥

न केवलमत्रेयदेव वैचित्र्यं यावदन्यदप्यस्तीत्याह

तत्रापि चाभ्युपायादिसापेक्षान्यत्वयोगतः ।
उपायस्यापि नो वार्या तदन्यत्वाद्विचित्रता ॥ ६ ॥

उपायस्यापीति अपिशब्दो भिन्नक्रमः, तेन नो वार्या तदन्यत्वादपि, इति व्याख्येयम्, एतच्च प्रथमाह्निक एव वितत्य निर्णीतम्, इति–नेह पुनरायस्तम् ॥ ६ ॥

एवमेतत् प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवाह

तत्र ये निर्मलात्मानो भैरवीयां स्वसंविदम् ।
निरुपायामुपासीनास्तद्विधिः प्रणिगद्यते ॥ ७ ॥

ये केचन तीव्रतीव्रशक्तिपातानुविद्धा विकल्पकलंकान्मुक्ताः, भैरवीयां पूर्णाम्, अत एवानुपायाम्-अनपेक्षाम्, आत्मसंविदमाविष्टाः, तेषां विधिः-पूर्णसंविदावेशक्रमात्मा प्रकारः, प्रकर्षेण निगद्यते–युक्तियुक्तत्वेन भण्यते इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तदेवाह

तत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।

उपाय सापेक्ष हो या अन्य के योग से हो, किसी प्रकार प्रकाश में अनुप्रवेश संभव है। इसलिये चाहे उपाय से हो या अन्य किसी प्रकार से, इस में वैचित्र्य की अनुभूति होती है। इसका निवारण नहीं किया जा सकता ॥ ६ ॥

प्रसङ्गवश उपाय रहित विचित्र निरुपाय विज्ञान का प्रकाशन कर रहे हैं—

शैव समावेश के उच्चस्तर पर तीव्रतीव्र शक्तिपात से पवित्रित जो निर्मल आत्मा वाले साधक अपनी भैरवीय स्वात्मसंविद् की निरुपाय उपासना में संलग्न हैं, वे (धन्य हैं। वे समस्त विकल्प कालुष्य कलङ्क से निर्मुक्त हैं और निरपेक्ष उपासक हैं)। उस परमोपेय स्वात्म-संविदावेश की समस्त विधियाँ यहां बतलाई जा रही हैं ॥ ७ ॥

वही कह रहे हैं—

क्रिया योग में क्रिया मुख्य होती है। क्रिया हमेशा संविद्विश्रान्त होती है। इसका कोई प्रयोग संविद् शक्ति के विना सिद्ध नहीं हो सकता।

उपायः खलु करणे प्रसृते, अतश्च पूर्णेन भाव्यमेव, इति सर्वेषामविवादः, न चात्रैवं–क्रियादयो हि संवेद्यमानत्वात्संविन्निष्ठा एव, इति संविच्छक्तिं विना अप्रसिद्धत्वात् कथं तत्रोपायतामासादयेयुः, अतः प्रत्युत क्रियादीनां बहिराभासने संविदुपायः, इति युक्तम् । अत एवाह

स हि तस्मात्समुद्भूतः प्रत्युत प्रविभाव्यते ॥ ८ ॥

तस्मादित्यनुपायात्संवित्तत्त्वात् ॥ ८ ॥

अथ यद्यस्य क्रियादि न कारकम् अपि तु ज्ञापकम् इति उच्यते, तदपि न युज्यते, इत्याह

ज्ञप्तावुपाय एव स्यादिति चेज्ज्ञप्तिरुच्यते ।
प्रकाशत्वं, स्वप्रकाशे तच्च तत्रान्यतः कथम् ॥ ९ ॥

इह जडस्तावत् स्वयमप्रकाशात्मा स्वात्मनो न प्रकाशते, अपि तु परस्य, इति—पर एवास्य प्रकाशः, अजडस्तु स्वयं प्रकाशात्मा स्वात्मन एव प्रकाशते, न परस्य, इति—न परोऽस्य प्रकाशोऽपितु स्व एव अस्य प्रकाशः, तस्यापि परप्रकाशत्वे ह्यप्रकाशात्मत्वात् जाड्यं स्यात्, अत एवाह 'स्वप्रकाशे तच्च तत्रान्यतः कथम्' इति प्रकाशत्वम्, एवं चान्योऽपि स्वप्रकाशो वा स्यात् अन्यथा वा, स्वप्रकाशत्वे प्रथमस्येव तथाभाव उच्यताम्, अनेनापि कोऽर्थः, अन्यथात्वे तस्यापि जाड्यापत्तिः, इति प्रकाशस्वात्तत्प्रकाशनाय प्रमात्रन्तरापेक्षायामनवस्थापत्तिः, इति सर्वेषामेव अप्रकाशात्मत्वान्न किंचिदपि प्रकाशेत, इति—सर्वमिदमन्धं स्यात् ॥ ९ ॥

परिणामतः यह कहा जा सकता है कि क्रिया-योग उपाय बनने योग्य ही नहीं होता। क्रिया के अवभासन में संविद् ही उपाय है। इसीलिये यह माना जाता है, कि--

क्रिया योग अनुपाय संवित्तत्त्व से केवल समुद्भूत ही नहीं है अपि तु विशेषतः समुद्भासित भी होता है ॥ ८ ॥

ज्ञप्ति, उपाय और प्रकाश के सम्बन्ध में अपना दृष्टि कोण प्रस्तुत कर रहे हैं—

उपाय ज्ञप्ति का ज्ञापक है, यह मानने में कठिनाई है। वस्तुतः सभी जड पदार्थ स्वयं प्रकाशित नहीं होते। दूसरे प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। चेतन स्वयं का स्वयं प्रकाशक है। वह पर-प्रकाश से ज्ञापित नहीं होता। चेतन को

तदाह

संवित्तत्त्वं स्वप्रकाशमित्यस्मिन्किं नु युक्तिभिः ।
तदभावे भवेद्विश्वं जडत्वादप्रकाशकम् ।। १० ।।

किं नु युक्तिभिरिति—बह्वीभिर्युक्तिभिर्न किंचित्प्रयोजनमित्याह, एकैव हि युक्तिरियं सर्वातिशायिनी—यत्संविदः स्वप्रकाशत्वं यदि न स्यात्, न किञ्चिदपि प्रकाशेत इति ।। १० ।।

ननु यदि नाम अत्र न बाह्यः क्रियादिः प्रगल्भते तदा गुरुज्ञानादि उपायतां भजताम् ? इत्याशंक्याह

यावानुपायो बाह्यः स्यादान्तरो वापि कश्चन ।
स सर्वस्तन्मुखप्रेक्षी तत्रोपायत्वभाक्कथम् ।। ११ ।।

यावानिति—नानाशास्त्रापदिष्टः, सर्व इति—बाह्य आन्तरो वा, तन्मुखप्रेक्षीति–संविदधीनसिद्धिरित्यर्थः, यदपेक्ष्य हि यस्य सिद्धिरेवं भवति स कथं तस्य उपायतां यायादिति भावः ।। ११ ।।

पर प्रकाश्य मानने पर अप्रकाशत्व के कारण उसे चेतन नहीं, जड़ कहना पड़ेगा। इसलिये प्रकाश का कोई दूसरा प्रकाशक मानने पर अनवस्था दोष होगा और सारी मान्यतायें ध्वस्त हो जायेंगी ।। ९ ।।

उसी का उपबृंहण रहे हैं—

संवित् तत्त्व स्वप्रकाश तत्त्व है। इसमें युक्तियों और ऊहापोह को कोई स्थान नहीं। संवित् को स्वप्रकाश मानने की सर्वातिशायिनी युक्ति यही है कि ऐसा न मानने पर सारा विश्व जड़ और अन्ध हो जायेगा ।। १० ।।

आन्तर और बाह्य सभी उपाय स्वयम् अक्षम हैं। संवित् शक्ति ही क्रिया का वास्तविक उपाय है। यही कह रहे हैं—

जितना भी उपाय है, भले हो वह बाह्य हो या आन्तर, सभी संवित् शक्ति की अपेक्षा रखते हैं। विना इसके उनकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। जिसकी अपेक्षा के विना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, वह उसका उपाय कैसे बन सकता है ? ।। ११ ।।

अत एवाह

त्यजावधानानि ननु क्व नाम
धत्सेऽवधानं विचिनु स्वयं तत् ।
पूर्णेऽवधानं न हि नाम युक्तं
नापूर्णमभ्येति च सत्यभावम् ॥ १२ ॥

इह उपदिश्यमानेन स्वयमेव तावदवधातव्यम् इति परामर्शनीयम्, किं पूर्णे रूपे उतापूर्णे ? तत्र तावत्पूर्णे रूपेऽवधानं न युक्तम्, अवधानं खलु प्रतिनियतावधेयविषयनिष्ठम् ऐकाग्र्यम्, अतश्च भेदप्रधानं न किंचित्फलमादातुं समर्थम् ॥ १२ ॥

तस्मादसामर्थ्यवैयर्थ्योपहतत्वादवधानस्यापि यत्र नास्ति उपायभावस्तत्र का वार्ता तदनुप्राणितस्य भावनादेः ? इत्याह

तेनावधानप्राणस्य भावनादेः परे पथि ।
भैरवीये कथंकारं भवेत्साक्षादुपायता ॥ १३ ॥

भैरवीये इति–पूर्णे ॥ १३ ॥

इसलिये यह निर्देश कर रहे हैं, कि,

अवधान का परित्याग ही श्रेयस्कर है। यह अवधान हो भी कहाँ ? यह एक ज्वलन्त और अनुत्तरित प्रश्न है। इसलिए सब कुछ छोड़कर स्वात्मचिन्तन को चुनें। स्वयं यह सोचें कि पूर्ण में तो अवधान हो ही नहीं सकता। अवधान हमेशा प्रतिनियत अवधेय विषयनिष्ठ होता है। इसलिये यह भेदप्रधान और अपूर्ण होता है। जो स्वयम् अपूर्ण है, वह पूर्ण अखण्ड सत्य को उपलब्ध नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

असामर्थ्य और वैयर्थ्य दो कारणों से खण्डित अवधान भी उपेयोपलब्धि का उपाय नहीं होता। यहाँ अवधानानुप्राणित भावना आदि का मूल्याङ्कन कर रहे हैं—

इसलिये इस चिन्मय चिरन्तन अद्वय भैरवीय मार्ग में अवधान से अनुप्रणित भावना आदि को किसी प्रकार साक्षात् उपाय नहीं माना जा सकता ॥ १३ ॥

ये पुनरनेनापि उपायेनानुपायं परं तत्त्वमनुसरन्ति तान्प्रति किमुच्यते ? इत्याह

येऽपि साक्षादुपायेन तद्रूपं प्रविविक्षते ।
नूनं ते सूर्यसंवित्त्यै खद्योताधित्सवो जडाः ॥ १४ ॥

तदुक्तम्

'अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते ।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥' इति ॥ १४ ॥

अत्रैव निमित्तान्तरमप्याह

किं च यावदिदं बाह्यमान्तरोपायसंमतम् ।
तत्प्रकाशात्मतामात्रं शिवस्यैव निजं वपुः ॥ १५ ॥

इह खलु यत्किंचन उपायत्वेनाभीष्टं तदप्रकाशमानं प्रकाशमानं वा ? अप्रकाशमानं चेत्, तस्य न किंचिदपि रूपं स्यात्, इति किं नाम उपायतां भजताम्, प्रकाशमानं चेत्, प्रकाशात्मा शिव एवावस्थितः, नहि तदतिरिक्त-

---

जो ऐसे भेदप्रधान उपायों का आश्रय अनुपाय रूप परतत्त्व की उपलब्धि के लिये करते हैं, उनको क्या कहा जाय ? इस पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं—

जो साधक साक्षात् उपायों का उस अद्वैत तत्त्व की उपलब्धि के लिये प्रयोग करते हैं, निश्चय ही वे सूर्य की संवित्ति के लिए जुगनू पाने की प्रवृत्ति वाले जड़ लोग हैं। कहा भी गया है—

'सर्वव्यापक, सर्वतः समभिव्यक्त आपरूप अद्वैत तत्त्व की उपलब्धि के लिये जो उपायों के वितान तानते हैं, वे निश्चय ही हे भगवन् ! आपको नहीं जानते" यह निश्चित है ॥ १४ ॥

समस्त उपायों का शिवमयत्व प्रतिपादित कर रहे हैं—

जितना यह बाह्य और आन्तर उपायसंमत वस्तुवर्ग है, यह सारा का सारा प्रकाशरूपता मात्र है। यह सब शिव का ही निजी शरीर है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह समग्र बाह्य और आन्तर प्रपञ्च प्रकाशमान है या अप्रकाशमान ? अप्रकाशमान मानने पर उसका कोई स्वरूप ही नहीं रह सकता। प्रकाशमान मानने पर तो इस सिद्धान्त की ही पुष्टि होती है; क्योंकि प्रकाश ही तो शिव का अपना शरीर है। उसके अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की सत्ता हो

मन्यत्किंचिदुपपद्यते, इति–कस्योपायभावः, उपायेन हि उपेयाद्व्यतिरिक्तेन भाव्यम्, तच्चात्र न युक्तम्, इति को नाम उपायोपेयभावार्थः ॥ १५ ॥

न केवलं भावनाद्येव उपायत्वेनाभीष्टमेवम्, यावदन्यदपीत्याह

नीलं पीतं सुखमिति प्रकाशः केवलः शिवः ।

अमुष्मिन्परमाद्वैते प्रकाशात्मनि कोऽपरः ॥ १६ ॥

उपायोपेयभावः स्यात्प्रकाशः केवलं हि सः ॥ १७ ॥

भावनादेः सुप्रसिद्धेऽपि उपायत्वे निरस्ते अन्यस्य कस्यचित्संभावनामात्रमपि माभूत्, इत्येवमुक्तं 'कोऽपर' इति, यत्र उपायत्वसंभावनापि स्यात् ॥ १७ ॥

ननु यद्येवं तर्हि सर्वत्र प्रसिद्धोऽयं द्वैतव्यवहारः कथमपह्नूयते ? इत्याशंक्याह

इदं द्वैतमयं भेद इदमद्वैतमित्यपि ।

प्रकाशवपुरेवायं भासते परमेश्वरः ॥ १८ ॥

द्वैतव्यवहारोऽपि प्रकाशमानत्वात्प्रकाशात्मैवेत्यभिप्रायः, एतच्च बहूनां वादिनां मतम्–इति द्योतयितुम् 'अयं भेद' इति पुनरुपादानम्, यथा चाद्वैत-

---

नहीं हो सकती, तो किसे उपाय कहा जाय ? उपाय का अस्तित्व उपेय के अतिरिक्त होना चाहिये—यह भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यहाँ कोई उपायोपेय भाव ही नहीं है ॥ १५ ॥

ऐसी स्थिति केवल भावना तक ही नहीं; अपितु अन्यत्र सर्वत्र भी है। यही कह रहे हैं—

नील, पीत, सुख, दुःख आदि जितने पदार्थ हैं, ये सभी प्रकाश स्वरूप हैं। यह सिद्धान्त ही है कि प्रकाश केवल शिव ही है। प्रकाशमय इस परमाद्वैत उल्लास में प्रकाश के अतिरिक्त दूसरा भी कुछ है—इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। भावना आदि की उपायता के निरस्त हो जाने पर किसी अन्य उपाय की सम्भावना ही कैसे हो सकती है ? उपायोपेयभाव भी तो केवल प्रकाश ही है और प्रकाश ही शिव है ॥ १६-१७ ॥

यदि यह बात है तो यह सर्वत्र प्रसिद्ध द्वैत-व्यवहार कहाँ जायगा ? यह छिपाया तो नहीं जा सकता ? इस पर कह रहे हैं—

यह द्वैत व्यवहार, यह भेदवाद (जिसे द्वैतवादी मानते हैं) तथा यह

प्रतिभासे प्रकाशात्मा परमेश्वर एक एव प्रतिभासते तथा द्वैतप्रतिभासेऽपि इत्यर्थमौपम्यं कटाक्षयितुम् 'इदमद्वैतमित्यपि' इत्युपात्तम् ॥ १८ ॥

ननु 'बाह्योऽर्थः प्रकाशमानत्वात्प्रकाशात्मैव इत्यास्ताम्, अन्योन्यं पुनरस्य भेदे किमायातम्' इत्यापतितमेव द्वैतम् ? इत्याशंक्याह

अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः ।

घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च ॥ १९ ॥

अस्यां भूमाविति-परमाद्वयदशायामित्यर्थः, 'एकार्थाः' इति-एकः प्रकाश एवार्थोऽभिधेयो येषां ते तथा, सुखदुःखादीनां हि प्रकाशातिरेकेण प्रातिस्विकं नियतं किञ्चन रूपं यदि स्यात् तदेवं संभावनापि भवेदिति भावः, अत एव

'घटो मदात्मना वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना ।'

इत्यादिरन्यैरुक्तम् । ननु यद्येवं तर्हि तदभिधायकत्वशब्दाभिप्रायेणापि द्वैतं स्यात् ? इत्याह 'शब्दास्तेऽप्येकमेव च' ज्ञातम्, एकमिति-संवेद्यमानत्वात्संवेदनमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

अद्वयवाद (जिसे अद्वैतवादी मानते हैं) यह सब प्रकाशमान होने के कारण प्रकाशवपुष परमेश्वर ही है। द्वैत प्रतिभासन हो या अद्वैत प्रतिभासन हो, प्रत्येक अवस्था में प्रकाशरूप परमेश्वर ही प्रतिभासित हैं ॥ १८ ॥

माना कि अर्थ बाह्य प्रकाशमान होने के कारण प्रकाशात्मक हो हैं, पर अन्य भेद-प्रभेदों क क्या स्थिति होगी ? द्वैतवाद तो रहता ही है ? इस पर कह रहे हैं—

इस परमाद्वैतमयी अद्वयभूमि पर सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष और चिति-जड़ (जड़ और चेतन) सभो कुछ घट और कुम्भ की तरह एकार्थवाचक हैं। यह उपमा इसी अद्वैत भाव को सिद्ध कर रही है। सुख दुःख इत्यादि शब्दों से उक्त इनका प्रातिस्विक नियतरूप भी प्रकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये अनुभवी पुरुष –

"घड़े को मेरे रूप में ही जानते हैं तथा, मैं घड़े के रूप में भी उसे जानता हूँ।" अतः कहीं कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। शब्दभेद से भी द्वैत का अस्तित्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता; क्योंकि सारे शब्द भी एक हो हैं। सबका संवेदन होता है। संवेद्यमानता से शब्दाद्वैत भी स्वतःसिद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

ननु यदि नीलसुखादि प्रकाशमानत्वात्प्रकाश एव तर्हि तत्केन रूपेण प्रकाशते ? इत्याशंक्याह

प्रकाशे ह्यप्रकाशांशः कथं नाम प्रकाशताम् ।
प्रकाशमाने तस्मिन्वा तद्द्वैतास्तस्य लोपिताः ।। २० ।।
अप्रकाशोऽथ तस्मिन्वा वस्तुता कथमुच्यते ।
न प्रकाशविशेषत्वमत एवोपपद्यते ।। २१ ।।

अप्रकाशांश इति—सुखादिजडोऽर्थः, कथं नामेति–केन रूपेणेत्यर्थः, तत्र यदि प्रकाशात्मनैव प्रकाशते तत्तस्य नीलसुखादेः स्वभावस्य दोषः स्यात् नियतेन नीलत्वादिना बाह्येन रूपेण न भायात्प्रकाश एव शिष्येत इति यावत्, अथ अप्रकाशात्मना नियतेनैव रूपेण प्रकाशते तत्तस्य सत्तानिश्चय एव न भवेत्, नहि प्रकाशमन्तरेण नीलादीनां कदाचिदपि स्वरूपं दृष्टम्, 'अप्रकाशात्मना रूपेण प्रकाशते' इति वाचोयुक्तिश्च रिक्ता स्यात्, तदाह 'अप्रकाश' इत्यादि प्रकाशः पुनर्नीलादिपरिहारेणानीलादावपि प्रकाशते, नीलादिर्हि उपाधिः, स च स्वस्वातन्त्र्यविजृम्भामात्ररूपत्वान्न वास्तवः, इत्यखण्ड एक एव प्रकाश उज्जृम्भते, यन्महिम्नैव इदं तत्तन्नीलाद्याभासात्म विश्वं स्फुरेत्, अत एवाह 'न प्रकाशविशेषत्वमुपपद्यते' इति, अत इति—एकस्यैव अखण्डस्य प्रकाशस्य तत्तदाभासात्मना स्फुरणात् । ननु 'नीलप्रकाशोऽन्यः, पीतप्रकाशश्चान्यः' इत्यादिरस्त्येव एषां भेदः, इति किमुक्तं 'न प्रकाशविशेषत्वमुपपद्यते' इति ? नैतत्–औपाधिको ह्ययं भेदः, स च न वास्तवः-इत्युपपादितं बहुशः, नीलादयो हि प्रकाशत्वात्प्रकाशात्मका एव इति किं केन भेद्यम्, नहि स्वात्मनैव स्वात्मा भिद्यत इत्येतदुक्तम्—'न च प्रकाशैकरूपायां संविदि संविदन्तरमस्ति' एवं हि

आश्चर्य है ! नील पीत आदि यदि प्रकाश हैं, तो वे किस रूप से प्रकाशित हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं

प्रकाश में अप्रकाशांश जड़ किस तरह प्रकाशित हो सकते हैं ? यदि प्रकाशरूप से ही प्रकाशित हैं, तो इसमें नीलत्व, सुखत्व आदि बोध क्या प्रकाश का दोष है ? नीलादि रूप न दीख पड़ें तो प्रकाश ही बचेगा । नियत और प्रातिस्विक रूप से प्रकाशित मानने पर उनकी सत्ता का निश्चय कैसे होगा ? क्योंकि हम तो प्रकाश की सत्ता मानते हैं । अप्रकाश रूप से प्रकाशित भी नहीं मान सकते; क्योंकि नील-पीत आदि तो उपाधिमात्र हैं । मानो सत्ताकी विजृम्भा हों । वे वास्तविक नहीं ।

स्वरूपभेदकृते भेदव्यवहारे क्रियमाणे एकभेदप्रकाशरूपत्वमेवोक्तं भवेत् इति गजस्नानतुल्यत्वं स्यात्, ततश्च पुनरपि 'एकैवाखण्डवित्' इत्येव पर्यवस्येत्, एवं च देशकालावपि प्रकाशदशामेवाधिशयानौ प्रकाश्यत्वात्प्रकाशैकात्म्यमेवावगाहमानौ कथंकारं प्रकाशस्य भेदाधायकौ स्याताम्, प्रकाशातिरेकाभ्युपगमे वा अनयोरत्र नित्यत्वव्यापकत्वाभ्यां भेदाधानेऽसामर्थ्यम्, इत्येक एवाखण्डः प्रकाशः, इति—मतान्तरसिद्धिमभिवाञ्छन्तः परे परं निरस्ताः ॥ २१ ॥

तदाह

अत एकप्रकाशोऽयमिति वादेऽत्र सुस्थिते ।
दूरादावारिताः सत्यं विभिन्नज्ञानवादिनः ॥ २२ ॥

ननु यदि ज्ञानानि विभिन्नानि न संभवन्ति, तद् एकशब्दः किमपोहनायात्र प्रयुक्तः ? इत्याशंक्याह

प्रकाशमात्रमुदितमप्रकाशनिषेधनात् ।
एकशब्दस्य न त्वर्थः संख्या चिद्व्यक्तिभेदभाक् ॥ २३ ॥

अप्रकाशः—प्रकाश्यो नीलादिर्बाह्योऽर्थस्तावन्निषिद्धः, अतः 'प्रकाशः केवलोऽस्ति' इत्येकशब्दस्यात्रासहायाद्वृत्तिः, तदुक्तं 'एकशब्दस्यार्थः प्रकाशमात्रमुदितम्' इति, न पुनः प्रकाशभेदभाक् इत्येकद्वित्र्यादिलक्षणः संख्यार्थो येन—मतान्तराण्यप्यपोह्यतया संभावनीयानि स्युः ॥ २३ ॥

प्रकाश ही वास्तविक सत्तात्मक है। अतः एक अखण्ड प्रकाश प्रकाशमान है, यह निश्चित है। प्रकाश विशेष की उपपत्ति भी उससे निरस्त हो जाती है। औपाधिक भेद से वस्तुभेद नहीं होता। देश-काल आदि सभी इसी में समाप्त हैं। स्वात्मा से स्वात्मा भिन्न और संविद् से संविद् भिन्न नहीं हो सकती ॥ २०-२१ ॥

सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं—

वह एक प्रकाश स्वरूप है, इस सिद्धान्त के स्थिर हो जाने पर विभिन्न ज्ञानवादी स्वतः निरस्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

यदि ज्ञान विभिन्न नहीं है, तो एक शब्द का प्रयोग क्यों ? इस पर कह रहे हैं—

एक शब्द का प्रयोग वहां 'मात्र' अर्थ में किया गया है। इससे प्रकाश्य नील-पीतादि समस्त 'बाह्य' अर्थों का निषेध हो जाता है। एक शब्द का यहां कोई संख्यावाची अर्थ नहीं है, जिससे प्रकाश की अभिव्यक्ति में भेद हो जाय ॥ २३ ॥

अत एवात्र भेदापूरकं व्यवहारमात्रमपि न ज्ञायते, इत्याह

नैष शक्तिर्महादेवी न परत्राश्रितो यतः ।
न चैष शक्तिमान्देवो न कस्याप्याश्रयो यतः ॥ २४ ॥
नैष ध्येयो ध्यात्रभावान्न ध्याता ध्येयवर्जनात् ।
न पूज्यः पूजकाभावात्पूज्याभावान्न पूजकः ॥ २५ ॥
न मन्त्रो न च मन्त्र्योऽसौ न च मन्त्रयिता प्रभुः ।
न दीक्षा दीक्षको वापि न दीक्षावान्महेश्वरः ॥ २६ ॥

एष इति-व्याख्यातस्वरूपः परः प्रकाशः, शक्ति-शक्तिमदादयो हि शब्दाः संबन्धिशब्दत्वान्नित्यसापेक्षा इत्यन्यागूरणमन्तरेण स्वार्थ एव विश्रान्तिं लभन्ते, इति तैः क्रियमाणो व्यवहारो भेदनिष्ठ एव स्यात्, न चात्र परप्रमात्रेकात्मनि प्रकाशे भेदः कश्चिदस्ति, इत्येवं—व्यवहारमात्रतां कदाचिदपि स न यायात्, अतश्च नायं शक्तिः, सा हि परं शक्तिमन्तमाश्रित्यैव वर्तत इत्यनपेक्षत्वाद्भेदाविर्भावे प्रकाश एवैकः, इति प्रतिज्ञाया हानिः स्यात्, एवं शक्तिमच्छब्दव्यवहारोऽपि नायम्, सोऽपि हि परं शक्तिलक्षणमर्थमुररीकृत्यैव वर्तते, इति भेद एवापतेत्, एवं ध्येयादावपि ज्ञेयम्, मन्त्र इति मन्त्रस्य प्रणवादेर्वाच्यः, मन्त्रयिता मन्त्राणां पाठकः, न दीक्षेति कर्तृकर्मापेक्षित्वात्, अत्र च माहेश्वर्ये प्रभुत्वं हेतुः ॥ २४–२६ ॥

इसीलिये शक्ति और शक्तिमान् आदि भेद व्यक्त करने वाले व्यवहार भी यहाँ अमान्य हैं। यही कह रहे हैं—

वह परप्रकाश महेश्वर न शक्ति हैं, न शक्तिमान्। शक्ति सदा शक्तिमान् का आश्रय ग्रहण कर ही अधिष्ठित होती है। शक्तिमान् भी शक्ति रूप अर्थ को स्वीकार कर ही व्यवहृत होता है। इसी तरह ध्याता के अभाव में ध्येय नहीं और ध्येय के अभाव में कोई ध्याता कैसे संभव है? पूजक के अभाव में पूज्य नहीं और पूज्य के अभाव में पूजक भी कैसे माना जाय? मन्त्र, मन्त्र्य और मन्त्रयिता, दीक्षा, दीक्ष्य और दीक्षक, ये सभी व्यवहार एक दूसरे से सम्बन्धित होने के कारण परस्पर सापेक्ष हैं। इनसे सिद्ध सारे व्यवहार भेदनिष्ठ ही होंगे। पर प्रमाता परमेश्वर केवल प्रकाश रूप है। उसमें किसी प्रकार का भेद स्वीकार्य नहीं है। ये सारे व्यवहार इस महाभाव दशा में अमान्य ही हैं ॥ २४-२६ ॥

अत एव यत्किंचन भेदाधायकं तदत्र नास्ति, इत्याह

स्थानासननिरोधार्घसंधानावाहनादिकम् ।
विसर्जनान्तं नास्त्यत्र कर्तृकर्मक्रियोज्झिते ॥ २७ ।

स्थानं—स्थापनमुद्रया भगवतोऽवस्थापनम्, आसनं—संनिधानमुद्रया पूजां प्रति औन्मुख्यम्, निरोधः—तत्रैवाविचलत्त्वेनावस्थानम्, अर्घोऽष्टाङ्गः, संधानं मन्त्रादिविषयम्, आवाहनं—अनभिमुखस्याभिमुखीकरणम्, विसर्जनम्—अभिमुखीभूतस्यानभिमुखीकरणम्, एषामावाहनादिविसर्जनान्तानामसत्त्वे हेतुगर्भं विशेषणं—'कर्तृ इत्यादि', कर्त्रादीनां हि विकल्पैकपरमार्थत्वात्, प्रकाशस्य च परप्रमात्रैकात्मकत्वेनाविकल्प्यत्वाद् न केनचिदपि व्यपदेशेन व्यपदेष्टुं शक्यते, इति 'नैष शक्तिः' इत्याद्युक्तम् ॥ २७ ॥

न चैतद्युक्तिमात्रशरणम्, अपि त्वागमेनापि सिद्धम्, इति श्रीभर्गशिखां संवादयति

न सन्न चासत्सदसन्न च तन्नोभयोज्झितम् ।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम् ॥ २८ ॥

अयमित्यवभासो हि यो भावोऽवच्छिदात्मकः ।
स एव घटवल्लोके संस्तथा नैष भैरवः ॥ २९ ॥

इसलिये जो क्रिया भेदवाद का आधान करती है, वह इस विज्ञान की दृष्टि से निरर्थक है, यही कह रहे हैं—

स्थापन मुद्रा द्वारा प्राणप्रतिष्ठा, संनिधान मुद्रा से आसन देकर पूजा के प्रति उन्मुख होना, उसी भावना में अविचल स्थिति से अन्य वृत्ति का निरोध करना, अर्घ, मन्त्र-सन्धान, आवाहन और विसर्जन आदि व्यापार यहाँ अमान्य हैं; क्योंकि अविकल्प प्रकाश में कर्त्ता, कर्म और क्रिया रूप विकल्प व्यापारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती ॥ २७ ॥

इस मान्यता में युक्ति कारण नहीं, यह आगमसिद्ध है। प्रमाण रूप भर्गशिखागम का उद्धरण दे रहे हैं—

व्यवहार में सत् "अयम्' पदार्थ है, जिसे दूसरी वस्तुओं से अलग सामने देखते हैं। ऐसा 'सत्' पदार्थ रूप प्रकाश नहीं है; क्योंकि यह अनादि अनन्त है।

लोके हि सजातीयव्यावृत्तो यः कश्चिदर्थः, 'अयमिति' पुरोवर्तित्वेनावभासते भावः, स एव 'सत्' इत्यभिधीयते, यथा—घट इति, समनन्तरव्याख्यातस्वरूपः प्रकाशः पुनरनन्तभावनिर्भरो न तथा—महासत्तात्मत्वेनानवच्छिन्नत्वात् नैवंरूपः - सच्छब्दव्यवहार्यो न भवति, इति यावत् ॥२८-२९॥

एवं तर्ह्यसच्छब्दव्यवहार्यो भवेत् ? इत्याशंक्याह

असत्त्वं चाप्रकाशत्वं न कुत्राप्युपयोगिता ।

प्रकाश एव सर्वभावानां परा सत्ता इत्यसत्त्वं नामाप्रकाशत्वमकिञ्चिद्रूपत्वमुच्यते, यथा—शशविषाणादेः, अत एव च तन्न कुत्रापि कस्यांचिदपि अर्थक्रियायामुपयुक्तम्—न कांचिदप्यर्थक्रियां करोति, इति यावत् ।

प्रकाशः पुनर्न तथा इत्याह

विश्वस्य जीवितं सत्यं प्रकाशैकात्मकश्च सः ॥ ३० ॥

विश्वस्य—चेतनाचेतनात्मनः सर्वस्य, पारमार्थिकं जीवितं—स्फुरत्तात्मकत्वेन अनुप्राणकम्, नहि तेन विना किञ्चिदपीदं प्रकाशते, इत्युक्तम् 'प्रकाशैकात्मकश्च' इति—एवमनेकरूपत्वादसच्छब्दव्यवहार्योऽपि, न भवेदिति भावः ॥ ३० ॥

घट और पट की तरह भी नहीं है। यह महासत्तात्मक और अनवच्छिन्न अखण्ड तत्त्व है। इसलिए लोकप्रचलित सत्, असत्, सदसद्विलक्षणवत् भी नहीं है। यह कोई अनिर्वचनीय दुर्विज्ञेय अनुत्तर तत्त्व है।' यह भैरव तत्त्व केवल चिदैक्य प्रतिपत्तिदार्ढ्य दशा में ही अनुभवनीय है ॥ २८-२९ ॥

यदि ऐसी स्थिति है, तो उसे असत् ही कहा जाय ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

असत् तत्त्व तो अप्रकाश रूप है। व्यवहार में इसकी उपयोगिता नही। प्रकाश समग्र भाव राशि की परा सत्ता है। वह असत् कैसे कही जा सकती है। शश की सींग की तरह यह नहीं है। वह किसी अर्थ क्रिया में प्रयुक्त नहीं होती, न ही कोई अर्थ-क्रिया करती है। अब सत्य और प्रकाश के ऐकात्म्य का प्रतिपादन कर रहे हैं—

सत्य जड़, चेतन मय इस विश्व का जीवन है, पारमार्थिक स्फुरण सत्तात्मक प्राण ही है। उसके विना कुछ भी प्रकाशित नहीं हो सकता। इसलिये वह प्रकाशमात्र रूप परतत्त्व है। इस तरह वह विश्वात्मक भी हो जाता है। अतः सत् किसी अर्थ में असत् नहीं कहा जा सकता ॥ ३० ॥

अत एव सदसदात्मापि न, इत्याह

आभ्यामेव तु हेतुभ्यां न द्व्यात्मा न द्वयोज्झितः ।
सर्वात्मना हि भात्येष केन रूपेण मन्त्र्यताम् ॥३१॥

आभ्यां—समनन्तरोक्ताभ्यामनवच्छिन्नत्वप्रकाशमानत्वलक्षणाभ्याम्, ननु यद्येवं तर्हि सदसदात्मकरूपद्वयोत्तीर्णः स्यात्? इत्याशंक्याह 'न द्वयेत्यादि' भावाभावावभासकालेऽपि स एव हि परमवभासते, इति कथं सदसद्भ्यामप्युज्झितः स्यात्? अत आह 'सर्वात्मना हि भात्येष' इति—एवमेतत्परप्रमात्रैकात्म भवत्येव अन्यथा ह्यनवच्छिन्नरूपत्वात्कदाचिदपि विकल्पतां न यायाद् इति तात्पर्यार्थः, यदुक्तम्

'सतोऽवश्यं परमसत्सच्च तस्मात्परं विभो ।
त्वं चासतः सतश्चान्यस्तेनासि सदसन्मयः ॥' इति ।

तथा

'न शान्तमुदितं वापि तव रूपं न मध्यमम् ।
रूपं रूपं तव हरे यन्न केनचिदुच्यते ॥'

इति, अतश्च केन तावत्कल्पितेन रूपेण एतदुच्यत इति न जानीमः, इयं हि दशा विकल्पोपहतबुद्धीनां मायाप्रमातॄणां दुर्विज्ञेया—यथोक्तयुक्त्या ज्ञातुमशक्यैवेत्यर्थः, ।

वह सदसद् रूप भी नहीं है—

अनवच्छिन्नत्व और प्रकाशमानत्व इन लक्षणों के कारण वह सदसत् भी नहीं है। इन सदसत् रूपों से उज्झित भी नहीं है; क्योंकि भाव और अभाव दोनों अवस्थाओं में वही अवभासित होता है। निष्कर्षतः वह सर्वात्मना भासित होने वाला परम तत्त्व है। उसे किस रूप से विमर्श का विषय बनाया जाय? क्योंकि वह सर्वतोभावेन विमृश्य है। कहा गया है—

"हे विभु! तुम सत् से पर तत्त्व हो। इस रूप में असत् भी हो और असत् तथा सत् दोनों से अन्य भी हो। इसलिए तुम सदसन्मय भी हो"।

तथा "तुम्हारा न शान्त और न उदित कोई रूप नहीं। तुम मध्य भी नहीं हो। हे हरि! रूप रूप में तुम्हीं रूपायित हो! वस्तुतः तुम अनिर्वचनीय तत्त्व रूप हो॥"

साक्षात्कृतपरमात्मतत्त्वानामविकल्पवृत्तीनां पुनरेतत्स्वानुभूतिमात्ररूपपरानन्दचमत्कारघनत्वेन सर्वातिशायि भासते एव, इत्युक्तं 'किमप्येतदनुत्तरम्' इति ॥ ३१ ॥

न केवलमेतदत्रैवोक्तं यावदन्यत्रापि, इत्याह

श्रीमत्त्रिशिरसि प्रोक्तं परज्ञानस्वरूपकम् ।
शक्त्या गर्भान्तर्वर्तिन्या शक्तिगर्भं परं पदम् ॥ ३२ ॥

'परं ज्ञानं कथं देव' इति देवीप्रश्ननिर्णयार्थं ह्येतदत्र परज्ञानरूपं भगवतोक्तमित्याशयः, तदेव पठति 'शक्त्या' इत्यादि, यदेतत्परं पदं तच्छक्तिगर्भम्, शक्तिरेव स्वातन्त्र्यविमर्शादिपदाभिधेया गर्भः, सारं यस्य तत्, सा च न तदतिरेकिणी, इत्याह 'शक्त्या गर्भान्तर्वर्तिन्या' इति, यतस्तयैव स्वातन्त्र्याख्यया शक्त्या गर्भोऽन्तरं प्रमात्रैकात्म्यं तस्यान्तः परा काष्ठा तेन वर्तते तच्छीला—तया स्वस्वभावरूपयोपलक्षितमित्यर्थः, अन्यथा ह्यस्य परत्वमेव न स्यात् यदुक्तम्

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥'

माया प्रमाताओं के लिये यह निर्विकल्प स्थिति अनिवार्यतः दुर्विज्ञेय है। अविकल्प वृत्ति-विभूषित भाग्यशाली साधकों को तुम सर्वातिशायी परानन्द चमत्कारायतन रूप से अनुभूति दशा में भासित हो जाते हो ! इसीलिये तुम अनुत्तर हो ॥ ३१ ॥

आगमप्रामाण्यों को उपस्थित कर रहे हैं —

देवी के प्रश्न 'हे देव ! परम ज्ञान क्या है' के उत्तर में श्रीमत्त्रिशिरस् शास्त्र में परम ज्ञान के स्वरूप का कथन भगवान् शङ्कर ने इस प्रकार किया है—

'यह परम पद शक्तिगर्भ है। स्वातन्त्र्य और विमर्श रूपा शक्ति ही गर्भ है। गर्भ का अर्थ यहाँ सार रहस्य है। इसी तथ्य को स्वयं ग्रन्थकार ने तन्त्रसार नामक अपने ग्रन्थ में परनादगर्भ आमर्श लिखा है'[1]। प्रमात्रैकात्म्य की अन्तर्वत्तिनी पराकाष्ठामयी शक्ति के स्वात्म स्वभाव से उपलक्षित यह परमपद है। कहा गया है कि—

---

१. तन्त्रसारे—नीर—क्षीर—विवेकभाष्ये, पृष्ठ ५७, आ० ३ ।

इति, अत एव शक्तौ स्वातन्त्र्यात्मनि स्वभाव एव तिष्ठति—सदैव ताद्रूप्येण वर्तत इत्यर्थः, अत एव शक्तिगर्भं—स्वातन्त्र्यशक्तिमन्तरेण नास्यान्याः शक्तयो विद्यन्त इत्यर्थः, सैव हि तत्तदेषणीयाद्यर्थोपाधिवशान्नानात्वेन व्यवह्रियत इति भावः, यदुक्तम्

'तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ।
बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ॥'

इति, तेन 'स्वतन्त्रो बोधः परमार्थः' इत्याद्युक्तनीत्यानवच्छिन्नस्वरूपः स्वातन्त्र्यशाल्यविकल्पकः प्रकाश एव परं तत्त्वम्, इति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

अत एव च नियतव्यवच्छेदासहिष्णुत्वादेतद्विकल्प्यतां नैति, इत्याह

न भावो नाप्यभावो न द्वयं वाचामगोचरात् ।
अकथ्यपदवीरूढं शक्तिस्थं शक्तिवर्जितम् ॥ ३३ ॥

'अवभास के 'स्व' भाव को ही विमर्श कहते हैं। अन्यथा अर्थोपरक्त प्रकाश भी स्फटिक आदि में स्थित प्रकाश की तरह जड़ हो जायेगा"[1]। इसके अनुसार शक्ति में स्वातन्त्र्य और विमर्शात्मक 'स्व' भाव शाश्वतिक है। इसके विना इसकी अन्य शक्तियाँ भी उल्लसित नहीं हो सकतीं।"

तथा "उस परमेश्वर का अहं प्रत्यवमर्श रूप एक ही 'स्व' भाव है। अहं प्रत्यवमर्श ही स्वातन्त्र्य शक्ति है। उसी से वह युक्त है, यही तात्त्विक स्थिति है। एषणीय आदि अनेक शक्ति-रूपना में भी वही प्रत्यवमर्शात्मक एक शिव स्थित है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनवच्छिन्न स्वरूप स्वतन्त्र अविकल्पक प्रकाश ही परम तत्त्व है। शक्तिगर्भ परं पद का वही तात्त्विक अर्थ है ॥ ३२ ॥

भाव अभाव आदि द्वन्द्व, किसी प्रकार का व्यवच्छेद या वैकल्पिकता इस विज्ञान की परिधि में नहीं आते। इस श्लोक में इसी तथ्य को व्यक्त कर रहे हैं—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्, अ० १, आ० ५।११।

अगोचरादिति भावप्रधानो निर्देशः, तेन वाचामगोचरत्वादकथ्यपदवीरूढमित्यर्थः। एतच्च सर्वमसकृत्वेनैव व्याख्यातम्, इति न पुनरायस्तम् ॥ ३३ ॥

ये चातोऽवहितास्त एव परं कृतकृत्याः, इत्याह

इति ये रूढसंवित्तिपरमार्थपवित्रिताः।
अनुत्तरपथे रूढास्तेऽभ्युपायानियन्त्रिताः ॥ ३४ ॥

इति—उक्तेन गुरूपदेशादिना, रूढा—तदैकात्म्यलाभादापादितप्ररोहा, या संवित्तिः, तस्या यः परमार्थः—सर्वसर्वात्मत्वेन स्फुरणम्, तेन पवित्रिताः—भेदविकारकालुष्यापनयनेन परमाद्वयपात्रतामापादिताः, अत एव ते व्यतिरिक्तेन बाह्येनाभ्यन्तरेण वाभ्युपायेन अनियन्त्रिताः-तन्निरपेक्षाः सन्तः, अनुत्तरपथेपूर्णानन्दचमत्कारघनतया सर्वातिशायिनि चिद्विकासात्मवृत्तिमार्गे विश्रान्ताः—स्वरसावस्थानेनैव लब्धतत्सामरस्या इत्यर्थः, तदुक्तम्,

'यथा स्थितस्तथैवास्स्व मा गा बाह्यमथान्तरम्।
केवलं चिद्विकासेन विकारनिकराञ्जहि ॥' इति।

तथा **'आनन्दशक्तिविश्रान्तो योगी समरसो भवेत्।'** इति।

प्रातिस्विक नियत व्यवच्छेद वस्तु-जगत् में होते हैं। वस्तु जगत् ही भाव है। प्रकाश इसे सहन भी नहीं करता। इसी तरह प्रकाश अभाव पदार्थ भी नहीं है। भावाभाव भी नहीं है। वाणी के द्वारा अगोचर होने के कारण इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। यह शक्तिस्थ भी है और शक्ति से रहित भी है ॥ ३३ ॥

जो साधक इसमें दत्तावधान है, वही कृतकृत्य हो जाता है—

इस प्रकार जो परमेश्वर की ऐकात्म्य अनुभूति के परमार्थ से पवित्रीकृत साधक हैं और अनुत्तर पथ में आरूढ हो चुके, हैं, वे बाह्य या आभ्यन्तर सभी उपायों से अनियन्त्रित अर्थात् निरपेक्ष रहते हुए परमानन्दघन के संविदद्वैत आनन्द समुद्र में निमग्न हो जाते हैं। कहा गया है—

"जैसे हो उसी सत्तात्मक आनन्द स्तर पर बने रहो। कहीं बाहर और भीतर जाने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल चित् शक्ति के विकास द्वारा विकारों के विकार (समूह) का निराकरण करो।"

तथा "आनन्द शक्ति में विश्राम करने वाला योगी समरस हो जाता है।"

तथा 'उपायो नापरः कश्चित्स्वसत्तावगमादृते ।
तामेवानुसरन्योगी स्वस्थो यः स सुखी भवेत् ॥' इति ॥ ३४ ॥

ततश्च किम् ? इत्याह

तेषामिदं समाभाति सर्वतो भावमण्डलम् ।
पुरःस्थमेव संवित्तिभैरवाग्निविलापितम् ॥ ३५ ॥

तेषाम्–अनुपायसमावेशशालिनाम्, देहाद्यपेक्षया पुरोऽवभासमानमपि इदं सर्वं भावमण्डलं

'मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
मदभिन्नमिदं च.................................. ॥'

इत्यादिनीत्या पूर्णसंविन्मयतयैवावभासत इत्यर्थः, यदुक्तम्

'यथा रुमायां पतिताः काष्ठपर्णोपलादयः ।
लवणत्वाय कल्पन्ते तथा भावाश्चिदात्मनि ॥' इति ॥ ३५ ॥

अत एवाह

एतेषां सुखदुःखांशशंकातंकविकल्पनाः ।
निर्विकल्पपरावेशमात्रशेषत्वमागताः ॥ ३६ ॥

तथा "अपने अहमात्मक स्वात्मसत्ता के संज्ञान के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। उसी का सतत स्मरण करता हुआ योगी स्व में स्थित और सुखी हो जाता है" ॥ ३४ ॥

उसके बाद क्या होता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ऐसे अनुपाय-समावेश विश्रान्त योगी को यह प्रतीत होने लगता है कि यह सारा समक्ष समुल्लसित भावमण्डल सम्पूर्णतया संवित्तिरूपी भैरवी भाव के प्रकाश में समाहित हो रहा है। उसे लगता है कि,

"यह निखिल स्फुरण मुझसे ही उदित है। यह मुझ में ही प्रतिबिम्बित है। यह सब कुछ मुझसे भिन्न नहीं, अपितु आत्ममय ही है।" इत्यादि अनुभूति के अनुसार पूर्ण संविद् सद्भाव से भावित होकर ही यह सारा उल्लास अवभासित है। कहा गया है कि,

"नमक निर्माण करने वाली भट्ठी में लकड़ी या पत्ता या उपल आदि कुछ भी पड़ जाने पर जैसे वह पदार्थ नमक ही हो जाता है, उसी प्रकार चिदात्म भैरव भाव में कोई भाव पड़ जाय तो वह वैसा ही हो जाता है" ॥३५॥

एषां न मन्त्रो न ध्यानं न पूजा नापि कल्पना ।
न समय्याविकाचार्यपर्यन्तः कोऽपि विभ्रमः ॥ ३७ ॥

न केवलमेषामविकल्पकावेशमयत्वापत्तेः लौकिक्य एव कल्पना न किञ्चित्, यावदलौकिक्योऽपि, इत्याह 'एषामित्यादि' कल्पना-स्थानादिका ॥ ३६–३७ ॥

ननु यद्येवं तर्ह्यस्य शेषवृत्तिः कथं स्यात् ? इत्याशंक्याह

समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटंकधर्मिणः ।
नानुग्रहात्परं किञ्चिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम् ॥ ३८ ॥

समस्ताः–निखिलाः शास्त्रोक्ता यन्त्रणा–इदं कार्यम् इदं न' इत्यादयो नियमाः, ता एव तन्यमानत्वात्तन्त्रं पटाद्यारम्भकं तन्तुजालम्, तस्य त्रोटनायां विच्छेदे, टंकधर्मिणः शस्त्रकल्पस्येत्यर्थः, यथा हि टंकस्तन्त्रं छिनत्ति, तथायमपि अनुपायसमाविष्टः शास्त्रीय यन्त्रणाः—नहि आरूढ-स्यास्य ततः कश्चित्संकोच इति भावः ।

इसीलिये कहते हैं—

ऐसे शाम्भव समावेश समरस योगियों के लिये, समग्र सुख, दुःख रूप लौकिक अलौकिक परिमित शङ्काओं के कालुष्य से कलङ्कित विकल्पों की कल्पना भी निर्विकल्प समावेश सिन्धु में समाहित हो जाती है । इनके लिए मन्त्र, जप, ध्यान, पूजा, पूजा की कल्पना, अथवा समय-साधना सहित आचार्यों द्वारा निर्धारित आचार आदि नियमों के पालन का कोई विभ्रम शेष नहीं रह जाता है ॥ ३६-३७ ॥

यदि ऐसी स्थिति है, तो शेष वृत्ति कैसे होगी ? इस शङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

शास्त्रों में उल्लिखित 'यह करो, यह मत करो' रूप यन्त्रणा के समान नियमों का एक तन्यमान विधि निषेध स्वरूप आनुशासनिक तन्त्र है । अनुपाय विज्ञान के अनुसार इसके त्रोटन के लिये टंक (छेनी या कैंची) की आवश्यकता है । अनुग्रह से बढ़कर यह काम कोई नहीं कर सकता । उसके अतिरिक्त शेष वृत्ति में दूसरा प्रयोजन नहीं । वास्तव में शास्त्र, आरुरुक्षु मुमुक्षु साधकों के ही नियामक हैं ।

शास्त्रं हि आरुरुक्षूनुपदेश्यान्प्रत्येव नियामकम्, इति समनन्तरमेवोक्तम्, अत एव चास्य स्वात्मनि कृतकृत्यत्वात्परानुग्रहार्थमेव वर्तनम् इत्याह 'नानुग्रहादिति' किञ्चिदिति–समयपरिपालनादि ॥ ३८ ॥

तदाह

स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्नान्नो
पारार्थ्यं प्रति घटयते कांचन स्वप्रवृत्तिम् ।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम् ॥ ३९ ॥

एष लोकः संकुचितः प्रमातृवर्गः तावत्

'.... ....अभिलाषो मलोऽत्र तु ।'

इत्यादिनीत्या लौकिकाणवमलयोगादात्मन्यपूर्णंमन्यतया 'किमपि' इति सामान्येन निर्देशात्सर्वमात्मीयं कर्तव्यम्, यत्नतः—आकांक्षणीयत्वेन, कलयन्

'तदसिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ।'

इत्यादिनीत्या यस्य स्वार्थ एव न सिद्धः, स कथं परार्थं प्रत्यपि कांचन स्वल्पामपि स्वप्रवृत्तिं घटयते घटितापि वा तत्प्रवृत्तिर्न किञ्चित्कुर्याद् इति भावः, यः पुनरनुपायसमाविष्टत्वादेव खिलीकृतनिखिलबन्धा, अत एव भैरवीभावेन भगवदद्वयज्ञानापत्त्या स्वात्मनि कृतकृत्यत्वेन–आकांक्षणी-

---

जो इस पथ पर आरूढ़ है, वह विधि-निषेध से परे है। आरुरुक्षु के ऊपर अनुग्रह हो जाने पर उसे समय-धर्म पालन रूप शेष वृत्ति के निर्वाह की कोई आवश्यकता नहीं होती ॥ ३८ ॥

वही कह रहे हैं—

'यह लोक अर्थात् संकुचित प्रमाता वर्ग लौकिक आणवमल के प्रभाव से अपना कर्त्तव्य समझकर अभिलाषापूर्वक कुछ भी करने के लिए प्रयत्नशील हैं। अभिलाषा भी मल ही है।' मल असिद्ध होता है। इसके प्रभाव से वह जो कुछ भी करता है, वह भी असिद्ध ही होता है। लौकिक प्राणी इसी में रचा पचा है। वह पारलौकिक परमार्थ के प्रति अपनी प्रवृत्ति को नहीं मोड़ पाता। जो साधक अनुपाय विज्ञान के प्रभाव से समस्त सांसारिक बन्धनों को ध्वस्त कर चुका है, भैरवी भाव के अद्वय सामरस्य पीयूष से तृप्त हो चुका है और सर्वात्मना

यस्यैवाभावात् पूर्णः–अनन्योन्मुखतया स्वात्मन्येव विश्रान्तः, तस्येयता निखिलस्य लोकस्य ग्रन्थकर्तव्यमवश्यं कार्यं स्वात्मप्रत्यभिज्ञापनं, तन्मात्रमेवेदं स्फुटम्—अपरिम्लानं कृत्यं–लोकानुग्रह एवास्य कर्तव्य इत्यर्थः, नहि अस्यात्मनि प्राप्तप्राप्तव्यत्वात्किंचित्करणीयमस्तीति भावः, यद्गीतं भगवता

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥'

इति ।

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥'

इति च ॥३९॥

द्विविधाश्च परानुग्रहाः–निर्मलसंविदोऽनिर्मलसंविदश्च, तत्र निर्मलसंविदः प्रति तावन्निरुपकरणमेवास्यानुग्रहकारित्वम्, इत्याह

तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविदः ।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता ॥ ४० ॥

कृतकृत्य हो चुका है, उसका कोई स्वात्मोत्कर्ष रूप कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। उसका सबसे पुनीत कर्त्तव्य है कि वह लोकसंग्रह के लिए ही कार्य करे। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

"जो साधक आत्मरत और आत्मतृप्त हो चुका है तथा स्वात्मभाव में ही सन्तुष्ट है, उसका कोई कार्य अवशिष्ट नहीं है।" तथा यह भी कहा है कि "हे पार्थ ! तीनों लोकों में मेरे लिये कुछ करणीय शेष नहीं है। मुझे कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। मुझे सब कुछ अवाप्त है। इतना होने पर भी मैं कर्म में वर्त्तन कर रहा हूँ" ॥ ३९ ॥

परानुग्रह दो प्रकार का होता है। १—निर्मल संविद्रूप और २—अनिर्मल संविद्रूप। इसमें प्रथम अनुग्रह की बात कह रहे हैं—

अभ्यास आदि के कारण जिनकी संविद् निर्मल हो गई है या तीव्र तीव्र शक्तिपात के जो अधिकारी हैं, यह सोचकर कि यह साधक निरुपाय समावेश पा सकता है, उसे अनुग्रह पूर्वक देखते हैं—

ये पूर्वाभ्यासादिना निर्मलसंविदः, तीव्रतीव्रशक्तिपातभाजो वा, तंसमनन्तरोक्तस्वरूपं, ताद्रूप्यक्रमेण पश्यन्ति 'निरुपायसमावेशभागयम्' इति ज्ञानपूर्वं साक्षात्कुर्वन्ति, अतस्ते परदर्शनमात्रेणैव तत्संवित्संक्रमात्

'.............. दीपाद्दीपमिवोदितम् ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या निरुपायसमावेशभाक्त्वेन तत्सदृक्षा एव भवन्ति इति शेषः, एवंरूपं सिद्धादिदर्शनं च निरुपायसमावेशे निमित्तम्, इति प्रागेव संवादितम्

'सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनम्.............. ।'

इत्यादि, अत एव तावतो दर्शनमात्ररूपैवास्य अनुग्रहात्मता, न तु वक्ष्यमाणोपायादिसव्यपेक्षा, इत्यर्थः ॥ ४० ॥

ननु सर्वत्र दीक्षायाः

'..... ....मुक्तिश्च शिवदीक्षया ।'

इत्याद्युक्त्या मुक्तावुपायत्वमुक्तम्, इति कथमत्र दीक्षां विनापि दर्शनमात्रादेव तदवाप्तिरुक्ता ? इत्याशंक्याह

एतत्तत्त्वपरिज्ञानं मुख्यं यागादि कथ्यते ।
दीक्षान्तं विभुना श्रीमत्सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ४१ ॥

"..... .... दीप से दीप प्रज्ज्वलित होते हैं ।" इस नीति के अनुसार अनुगृहीत शिष्य निरुपाय समावेश पा लेते हैं और तद्रूप ही हो जाते हैं। इस तरह सिद्धों के दर्शन भी इसमें निमित्त बन जाते हैं। पहले ही कहा है—

"सिद्धों और योगिनी वर्ग के दर्शन .... (कारण हैं)।" इस स्थिति में निरुपाय समावेश के लिए अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रहती ॥ ४०॥

शास्त्रवचन है कि "शिव दीक्षा से ही मुक्ति मिलती है।" किन्तु यहाँ दीक्षा के विना ही मुक्ति की बात कही गई है। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

इस निरुपाय विज्ञान को अच्छी तरह जान लेना ही सबसे बड़ी 'दीक्षा है। यही मुख्य रूपसे याग है और होम आदि का विधान है।

एतस्य समनन्तरोक्तस्य निरुपायात्मनस्तत्त्वस्य परिज्ञानमेव मुख्यया वृत्त्या 'यागहोमादि' श्रीसिद्धयोगीश्वरीमतादौ–सर्वत्रैवागमे 'विभुना' कथ्यत इति संबन्धः, अत एव च बाह्यं यागादि गौणम्–इत्यर्थसिद्धम्, अन्यथा ह्यस्य मुख्यत्वमेव न स्यात्, यदभिप्रायेणैव चर्याक्रमेऽप्येतन्निषिद्धम्; यदुक्तम्

'नास्य मण्डलकुण्डादि किंचिदप्युपयुज्यते ।
न च न्यासादिकं पूर्वं स्नानादि च यथेच्छया ॥'

इति ॥ ४१ ॥

तदेव पठति

स्थण्डिलादुत्तरं तूरं तूरादुत्तरतः पटः ।
पटाद्ध्यानं ततो ध्येयं ततः स्याद्धारणोत्तरा ॥ ४२ ॥

ततोऽपि योगजं रूपं ततोऽपि ज्ञानमुत्तरम् ।
ज्ञानेन हि महासिद्धो भवेद्योगीश्वरस्त्विति ॥ ४३ ॥

स्थण्डिलं–यागार्थं गृहीतो भूप्रदेशः, तूरं–पात्रादावुत्कीर्ण आकारविशेषः, ज्ञानस्य सर्वोत्कृष्टत्वे हेतुमाह 'ज्ञानेन' इति, ज्ञानेन हि योगिनामपीश्वरः स्यादित्यर्थः, अत एव तदुपोद्बलनार्थं महच्छब्देश्वरशब्दयोरपि प्रयोगः ॥ ४२–४३ ॥

श्री सिद्धयोगीश्वरी शास्त्र में परमेश्वर द्वारा यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है । वहाँ कहा गया है कि,

"इसके लिए मण्डल, कुण्ड आदि न्यास विधान, और अभिषेक आदि सभी निषिद्ध है । यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह करे या न करे ॥४१॥

उसी तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं—

स्थण्डिल से तूर, तूर से पट, पट से ध्यान, ध्यान से ध्येय, इससे भी धारणा, धारणा से योगारूढता, इससे भी ज्ञान उत्तम है । ज्ञान ही ऐसी वस्तु है, जिससे साधक योगीश्वर हो जाता है । स्थण्डिल याग भूमि को कहते हैं । 'तूर' एक विशेष आकार होता है, जो पात्र आदि पर उत्कीर्ण किया जाता है ॥ ४२-४३ ॥

अनिर्मलसंविदः प्रति पुनरस्य सोपकरणमेव अनुग्रहकारित्वम्, इत्याह

सोऽपि स्वातन्त्र्यधाम्ना चेदप्यनिर्मलसंविदाम् ।
अनुग्रहं चिकीर्षुस्तद्भाविनं विधिमाश्रयेत् ॥ ४४ ॥

स्वातन्त्र्यधाम्ना, न पुनः शास्त्रीययन्त्रणया—तत्त्रोटनायाः समनन्तरमेवोक्तत्वात् ॥ ४४ ॥

भावी च विधिः कीदृक् ? इत्याह

अनुग्राह्यानुसारेण विचित्रः स च कथ्यते ।
परापराद्युपायौघसंकीर्णत्वविभेदतः ॥ ४५ ॥

'परापर' इत्येकशेषः, तेन—परः शाम्भवः, अपरः आणवः, परापरः शाक्तः, संकीर्णत्वमुपायान्तरसाहित्यात् ॥ ४५ ॥

न केवलमस्य परानुग्रहार्थं भाविविध्याश्रयणमुपयुक्तम्, यावत्तदभिधायकं शास्त्राद्यपि, इत्याह

तदर्थमेव चास्यापि परमेश्वररूपिणः ।
तदभ्युपायशास्त्रादिश्रवणाध्ययनादरः ॥ ४६ ॥

अनिर्मल संविद् वाले शिष्य को अनुगृहीत करने की भावी विधि का निर्देश कर रहे हैं—

यदि अनिर्मल संविद् शिष्य पर अनुग्रह करना है, तो उसमें शास्त्रीय नियम पालन आदिक उपयोगी योजना गुरु स्वयं शुरू करे। अनुग्रह की इच्छा रखने वाला गुरु ऐसी विधि का उपयोग करे, जिसे वह उचित समझे ॥ ४४ ॥

अनुग्रह की विधि का निर्देश कर रहे हैं—

अनुग्राह्य शिष्य के स्तर के अनुसार यह विधि विचित्र अर्थात् अनेक प्रकार की हो सकती है। पर अर्थात् शाम्भव, परापर [शाक्त] अथवा आणव आदि अन्य संकीर्ण उपाय भी प्रयोग में लाये जा सकते हैं ॥ ४५ ॥

न केवल इन विधियों का आश्रय ही उपयोगी है; अपितु विधिविधायक शास्त्र भी प्रयोज्य हैं। यही कह रहे हैं--

अनुग्राह्य और अनुग्राहक दोनों के लिये शास्त्र श्रवण-मनन में आदर आवश्यक है। कहा गया है कि,

न केवलमारुरुक्षूणामेव शास्त्रमुपादेयं यावदस्यापि, इति अपिशब्दार्थः, यदुक्तम्

'शंकाशून्योऽपि तत्त्वज्ञो मुमुक्षुप्रक्रियां प्रति ।
न त्यजेच्छास्त्रमर्यादामित्याज्ञा पारमेश्वरी ।।'

इति ।। ४६ ।।

नन्वेवमुपायमुखप्रेक्षित्वादस्य स्वातन्त्र्यहानिः स्यात् ? इत्याशंक्याह

नहि तस्य स्वतन्त्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना ।
नानिर्मलचितः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः ।। ४७ ।।

नहि अस्य आरुरुक्षुवदात्मन्युपायापेक्षा येन स्वातन्त्र्यखण्डना स्यात्, किं तु स्वात्मनि कृतकृत्यत्वात्परार्थमस्य तत्स्वीकारः, यतः परेषामनिर्मलचित्त्वादुपायमन्तरेण न अनुग्रहः सेत्स्यति, इति—भाविविध्याश्रयणाद्यप्युक्तम्, यद्गीतं

'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।

इति ।। ४७ ।।

न चैतत्स्वोपज्ञमेवास्माभिरुक्तम्; अपि तु भगवता, पूर्वाचार्यैश्च सर्वत्रैवोक्तम्, इति—निखिलस्य आह्निकार्थस्याविगीततां दर्शयितुमाह

"शंकाओं से रहित तत्त्वज्ञ पुरुष भी मुमुक्षु प्रक्रिया में आदरवान् बने । कभी भी शास्त्र की मर्यादा का उल्लङ्घन न करे । यह परमेश्वर का आदेश है ।" ।। ४६ ।।

इस प्रकार शास्त्र का मुखापेक्षी होने पर स्वातन्त्र्य की हानि की सम्भावना भी नहीं होगी । यही कह रहे हैं—

आरुरुक्षु की तरह शंकाशून्य गुरु को उपाय की अपेक्षा नहीं होती, जिससे उसके स्वातन्त्र्य की उपेक्षा हो सके । वह तो स्वात्मरत है । दूसरे के लिये वह ऐसा करता है; क्योंकि अनिर्मल संविद् शिष्य के लिये गुरुकृपा के अतिरिक्त कोई उपाय ही नहीं होता । वस्तुतः अनुग्रह तो अनुपायक ही होता है । गीता में कहा है—

"कर्म में आसक्त अज्ञ लोग जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही आचरण लोककल्याण की आकांक्षा से विद्वान् (गुरु आचार्य आदि) भी करे ।" ।।४७।।

यह केवल मेरी युक्ति नहीं; अपितु स्वयं भगवान् ने तथा पूर्वाचार्यों ने भी सर्वत्र कहा है—

श्रीमदूर्मिमहाशास्त्रे सिद्धसंतानरूपके ।
इदमुक्तं तथा श्रीमत्सोमानन्दादिदैशिकैः ।। ४८ ।।

ऊर्मिमहाशास्त्र इति—श्रीमदूर्मिकौलसिद्धसंतानरूपके, इत्यनेन पादोवल्यां पारम्पर्येऽप्यम्लानत्वं दर्शितम्, तत्र हि

'शून्यं न कंचित्तच्छून्यं त्वशून्यं शून्यता नहि ।
यदकिंचित्कथं तद्धि न किंचिच्छेत्तुमर्हति ।

इति भगवत्या पृष्टो भगवान्

'आत्मा शून्य इह ज्ञेयः शिवधर्माविनाकृतः ।
शिव। शून्योऽधिगन्तव्यो विमलोऽमूर्तविग्रहः ॥

इत्याद्युपक्रम्य

'नास्त्यस्ति नास्ति नास्तीति कोटयो न स्पृशन्ति हि ।
वाचामगोचरं यस्मात्तत्तत्त्वमिह कथ्यते ॥
यदभावि न तद्भावि यद्भावि न तदन्यथा ।
एवं विचिन्त्य मतिमान्विकल्पं न समाश्रयेत् ॥
तच्च सर्वगतं सूक्ष्ममुपाधिपरिवर्जितम् ।'

श्रीमदूर्मिकौलसिद्धसंतान रूपी श्रीमदूर्मिमहाशास्त्र में यह कहा गया है कि,

"शून्य भी कोई शून्य नहीं होता। वह अशून्य भी होता है, शून्यता मात्र नहीं होता। जो कुछ है ही नहीं, वह कैसे हो सकता है? वह तो किसी का अवच्छेदक नहीं बन सकता।" इस भगवती के प्रश्न पर परमेश्वर ने शून्य को अच्छी तरह परिभाषित किया है—

"आत्मा शून्य है; क्योंकि शिव शासन की मान्यताओं के अनुकूल है। अतः शिव को भी शून्य मानना चाहिये; क्योंकि वह मल रहित अमूर्त्त विग्रह है।" यहाँ से प्रारम्भ कर "वह नास्ति भी है। 'नहीं है' यह भी नहीं है। विचारों की ये कोटियाँ भी उसको नहीं छू पातीं। वह वाणी से भी अगोचर है। इसलिये वह वही है—यही कहा जा सकता है। जो नहीं है, वह नहीं हो सकता।

इत्यादिपर्यन्तं बहूक्तवान् । श्रीमत्सोमानन्दादिदेशिकैः उक्तमिति—श्रीशिवदृष्टयादौ, यदुक्तं तत्र

भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदितेः ।

इति ।

'सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणं व्रजेत् ।
एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ।।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा ।।'

इति च ।।४८।।

तदेव सर्वत्रावधातव्यमित्याह

गुरोर्वाक्याद्युक्तिप्रचयरचनोन्मार्जनवशात्
समाश्वासाच्छास्त्रं प्रति समुदिताद्वापि कथितात् ।

जो है या होने वाला है, वह अन्यथा भी नहीं हो सकता। ऐसा सोचकर बुद्धिमान् पुरुष विकल्पों का आश्रय ग्रहण नहीं करता। परमेश्वर सर्वगत सर्वव्यापक तत्त्व है, सूक्ष्म है और सर्वोपाधिरहित है।" यहाँ तक उसी का विश्लेषण है।

शिवदृष्टि (७।१०१) में दैशिक शिरोमणि श्रीमान् सोमानन्द ने भी कहा है कि "भावना और करण सततोदित शिव के लिए कुछ भी नहीं हैं।"

"एक बार सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर क्या भावना को इन्द्रियों से पूछने की आवश्यकता होती है ? एक बार यदि प्रमाण के द्वारा या गुरु वाक्य के द्वारा सर्वव्यापक शिव का ज्ञान हो गया और दृढ़ चिदैक्य प्रतिपत्ति हो गई, तो करण और भावना दोनों निरर्थक हो जाते हैं।" (शि० दृ० ७।५-६) ।।४८।।

यही तथ्य सर्वत्र अवधान के योग्य है—इसका निर्देश कर रहे हैं—

गुरुदेव के उपदेश के प्रभाव से, युक्ति प्रचय पूर्ण शास्त्र परम्परा के स्वाध्याय से, बौद्ध ज्ञान के उदय हो जाने के कारण, अद्वयागम शास्त्र के प्रति समाश्वासन से, उसके प्रति उदित विश्वास से और शङ्कारूपी बादलों के छँट जाने से हृदयाकाश में परम प्रतापी बोध-आदित्य का प्रकाश प्रसरित हो जाता है। उसकी अन्ध-तमस-विध्वंसिनी रश्मियों के स्पर्श से अपने परम श्रेय का उत्कर्ष कर प्रकाशमान बनो।

विलीने शंकाभ्रे हृदयगगनोद्भासिमहसः
प्रभोः सूर्यस्येव स्पृशत चरणान्ध्वान्तजयिनः ॥ ४९ ॥

गुरोरित्यादिवाक्यात्सकृदुपदेशाद्यात्मनः 'आत्मैवेश्वरः सर्वज्ञः सर्वकर्ता च' इत्यादिकानां युक्तीनां प्रचयस्य या रचना--परपक्षबाधनस्वपक्षसाधना-धायिका शास्त्रपरिपाटी, तया उन्मार्जनं--बोद्धाज्ञानोत्पुंसनम्, तद्वशात्--बौद्ध-ज्ञानोदयेन स्वपरामर्शदार्ढ्यादित्यर्थः। शास्त्रं--प्रभुसंमितमद्वैतागमं प्रति समाश्वासात्प्रत्ययादिति, व्यस्तात्-गुरुतः शास्त्रतः स्वतः तीव्रतीव्रशक्तिभाजाम्, यद्वा समुदितात्--समस्तात्कथिताद् एतस्मात्त्रयादपि तीव्रमध्यादिशक्तिपात-भाजाम्, शंकाविकल्प एवावारकत्वादभ्रम्, तस्मिन्विलीने सति, हृदयं विमर्श एव अनवच्छिन्नत्वाद्गगनं तत्रोच्चैर्भासनशीलंज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणं महः तेजो यस्य, अत एव ध्वान्तस्य स्वात्मप्रच्छादनेनोपाश्रितस्य द्वैतप्रथात्मकस्य अज्ञानस्य, जयिनः प्रभोः-विश्वात्मकत्वेन प्रभवनशीलस्य परमात्मनः, चरणान्-चरेर्गत्यर्थ-त्वादाणवादीनि ज्ञानानि, यूयं-समनन्तरोद्दिष्टाः तीव्रतीव्रादिशक्तिपातभाजः,

---

इस श्लोक में रूपक, उपमा, श्लेष आदि अलंकारों के माध्यम से शास्त्रीय परिपाटी का उट्टङ्कन किया गया है। गुरु के महत्त्वपूर्ण उपदेश शिष्य का कल्याण करते हैं। अपने पक्ष को सिद्ध करने वाली और परपक्ष को बाधित करनेवाली युक्तिसमूह की रचना की जाती है, जिससे उन्मार्जन अर्थात् अज्ञान के नष्ट हो जाने पर बौद्धज्ञान का उदय होता है-इन तथ्यों की ओर ही संकेत किया गया है।

शास्त्र के प्रति, गुरुजनों के प्रति, आत्मा-अनात्मा के प्रति जो शंकायें होती हैं-वस्तुतः वे बादल के समान मन-मस्तिष्क पर छा जाती हैं। इन बादलों का विनाश, हृदय रूपी विमर्श के विशाल आकाश में ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश प्रसार से ही सम्भव है। बादलों के कारण होने वाला अन्धकार भी स्वात्म के ऊपर मलों के आवरण के ही समान है। इसी से द्वैत-बुद्धि उत्पन्न होती है। प्रभु तो सर्वसमर्थ परमेश्वर ही हैं। ग्रन्थकार यहाँ कहना चाहते हैं कि अनुपाय विज्ञान में निष्णात जो तीव्र तीव्र-शक्तिपात वाले लोग हैं, वे भी स्वात्म रूप

स्पृशत—यथोत्तरं स्वात्ममयतयैव भावयध्वमित्यर्थः, अत एव चास्य सूर्येणौपम्यमुक्तम्, तस्यापि हि अभ्रगलिते गगनोद्भासित्वेन अन्धकारम् निराकुर्वतः पादस्पर्श उचितः ॥ ४९ ॥

इदानीमाह्निकार्थं श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इदमनुत्तरधामविवेचकं विगलितौपयिकं कृतमाह्निकम् ॥ ५० ॥

उपाय एवौपयिकमिति शिवम् ।

तत्तद्ग्रन्थाधिगमोपायशतान्वेषणप्रसक्तेन ।
अनुपायाह्निकमेतद् व्याख्यातं जयरथेनाशु ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते, श्रीजयरथाचार्यकृत-प्रकाशाख्यव्याख्योपेते श्रीतन्त्रालोके अनुपायप्रकाशनं नाम द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

से सबको आत्मसात् करें, किसी में अन्य भाव को यहाँ आवश्यकता नहीं। लोक में भी सूर्योदय हो जाने पर अन्धकार निवारक रश्मियों को पूजा को जाती है ॥ ४९ ॥

अब आह्निक का उपसंहार उभय आह्निक-योजक श्लोक की प्रथम अर्धाली से कर रहे हैं—

इस प्रकार अनुत्तर धाम का विवेचन करने वाले, समस्त उपाय-जाल से रहित अनुपाय विज्ञान नामक आह्निक को रचना सम्पन्न की गयी।

"सम्बन्धित ग्रन्थाधिगम, कर पा विविध उपाय।
जयरथ ने पूरा किया अनुपायाह्निक दाय" ॥
अनुपायसुधास्वादस्वस्थसंविदनुग्रहात् ।
सोऽस्म्यहंपरमाचार्यः व्याख्यामनुपायाह्निकम् ॥

श्रीमदाचार्यभिनवगुप्तपादविरचित, श्री राजानकजयरथाचार्यकृत प्रकाशाख्य-व्याख्योपेत, डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य-संवलित, श्रीतन्त्रालोक का अनुपाय प्रकाशन नामक द्वितीय आह्निक सम्पूर्ण इति शुभं भूयात् ॥ २ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोकस्य

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचितस्य
श्रीमदाचार्यजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेतस्य
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाष्यसंवलितस्य

तृतीयमाह्निकम्

स्वात्मत्वेऽपि विचित्रं निखिलमिदं वाच्यवाचकात्म जगत् ।
दर्पणनगरवदात्मनि विभासयन्विजयते विजयः ॥ १ ॥

इदानीमनुपायानन्तर्येण क्रमप्राप्तं शाम्भवोपायं द्वितीयार्धेन प्रणिगदितुं प्रतीजानीते

अथ परौपयिकं प्रणिगद्यते पदमनुत्तरमेव महेशितुः ॥

ननु यदि नाम परोपायस्यापि अनुत्तरमेव रूपं तत्पूर्वेणैव गतार्थत्वात् किमर्थमिदमाह्निकान्तरमारभ्यते ? इत्याह

अथ

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित श्रीमदाचार्यजयरथकृत
प्रकाशाख्यव्याख्योपेत डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेक
हिन्दीभाष्यसंवलित

श्रीतन्त्रालोकका तृतीय आह्निक

मुकुरनगरवत् स्वात्म में, वाचक वाच्य समान ।
भासित करते स्व इव शिव, जयनशील ईशान ॥

अब अनुपाय विज्ञान के अनन्तर क्रमप्राप्त शाम्भवोपायका प्रवर्त्तन द्वितीय आह्निक के अन्तिम श्लोक की द्वितीय अर्धाली से कर रहे हैं—

उपायों में श्रेष्ठ, शाम्भव उपाय से सम्बन्धित महेश्वर शिव के अनुत्तर पद का वर्णन किया जा रहा है।

प्रश्न है कि यदि परोपाय अनुत्तर रूप ही है, तब तो पहले आह्निक में ही गतार्थ हो जाने के कारण पुनः उसी को परिभाषित करने के लिये इस नये आह्निक के आरम्भ की क्या आवश्यकता ? इस पर कह रहे हैं—

प्रकाशमात्रं यत्प्रोक्तं भैरवीयं परं महः ।

तत्र स्वतन्त्रतामात्रमधिकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

प्रकाशमात्रमिति प्राधान्यात्, नहि निर्विमर्शः प्रकाशः समस्ति उपपद्यते वा प्रोक्तमित्यनुपायाह्निके, अधिकमिति कल्पनामात्रेण, नहि वस्तुतो वस्तुनः स्वभावोऽतिरिच्यते--तथात्वे वा स स्वभाव एव न स्यात्, स्वतन्त्रतेति प्रकाशनक्रियाकर्तृत्वं, तस्य चेयत्तत्वं--यत् स्वभित्तावेव स्वेच्छया सर्वं प्रकाशयतीति ॥ १ ॥

तदेवाह

यः प्रकाशः स सर्वस्य प्रकाशत्वं प्रयच्छति ।

यः खलु प्रकाशनक्रियायां कर्ता परप्रमात्रात्मानुत्तरशब्दाभिधेयः प्रकाशः स सर्वस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य प्रकाशत्वं प्रकाशमानतां प्रयच्छति—स्वात्मैकात्म्येन अवभासयतीत्यर्थः । नहि विश्वं नाम प्रकाशमानत्वात्तदतिरिक्तं किञ्चित्संभवति—तदतिरेकाभ्युपगमे ह्यस्य प्रकाशमानत्वायोगाद्भानमेव न स्यात् इति ।

तदाह

न च तद्व्यतिरेक्यस्ति विश्वं सद्वावभासते ॥ २ ॥

वा शब्दोऽभ्युपगमे ॥ २ ॥

अनुपाय आह्निक में यह कहा गया है कि प्रकाश निर्विमर्श नहीं हो सकता। वस्तु से वस्तु का स्वभाव अलग नहीं किया जा सकता। भैरवीय पर-प्रकाश पहले वर्णित है। विमर्श उसका स्वभाव है, वह, उससे अलग नहीं हो सकता। उसी प्रकाश के स्वतन्त्रता नामक गुण की इस आह्निक में विवेचना की जा रही है ॥ १ ॥

प्रकाश के उसी स्वभाव का वर्णन कर रहे हैं—

प्रकाशन क्रिया का कर्त्ता प्रकाश है। यह परप्रमाता है। इसे अनुत्तर कहते हैं। यही सारे प्रमेयों और प्रमाताओं से संवलित इस विश्व में प्रकाशमान है। वही सबको प्रकाशित भी करता है अर्थात् स्वात्मैक्य रूप से अवभासित करता है। प्रकाशमानता के अतिरिक्त विश्व कुछ नहीं है। प्रकाश की प्रकाशमानता के विना जगत् का भान ही नहीं हो सकता। वही कह रहे हैं—

प्रकाश का कोई प्रतियोगी नहीं होता। यह सारा विश्व ही सद्रूप से भासित हो रहा है ॥ २ ॥

ननु यद्येवं तर्हि प्रकाश एव प्रकाशते इति विश्वस्य अवभास एव न स्यात्, अथ च भासते विश्वमिति किमेतत् ? इत्याशंक्याह

अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः।
इत्यतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रदर्शकः ॥ ३ ॥

अत इति—प्रकाशातिरिक्तस्य विश्वस्य भानायोगात्, परमेश्वरो हि अनर्गलत्वलक्षणस्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वात्मभित्तावेव अनतिरिक्तमप्यतिरिक्तायमानम् इयद्विश्ववैचित्र्यं प्रदर्शयति इति। इत्येवं विश्ववैचित्र्योल्लासेऽपि प्रकाशमात्रस्वभावे स्वात्मनि अस्य नाधिकं किञ्चित् जातम्—इति कटाक्षयितुमत्र व्योम्ना निरूपणं कृतम्, अत एव चानेन विश्वस्य चित्प्रतिबिम्बत्वम्—इत्यनुजोद्देशोद्दिष्टस्य प्रतिबिम्बवादस्य अवकाशो दत्तः। यथा हि दर्पणादौ परस्परव्यावृत्तात्मानः प्रतिबिम्बिता आकारविशेषाः ततोऽनतिरिक्तत्वेऽपि अतिरिक्ता इव भासन्ते तद्वदिहापीति ॥ ३ ॥

तदाह

निर्मले मकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥ ४ ॥

यदि यह तथ्य है, तब तो इसके अनुसार प्रकाश ही प्रकाशित होता है। प्रकाश के अतिरिक्त विना विश्व का प्रकाशन असम्भव है किन्तु यह विश्व तो अवभासित हो रहा है ! इस पर कह रहे हैं--

स्वात्म व्योम में अनर्गल ईशान परम शिव ही इतनी बड़ी सृष्टि और संहार रूपी आडम्बर का प्रदर्शन करते हैं। परमेश्वर का अनर्गल होना उनकी स्वतंत्रता का ही स्वरूप है। स्वात्म व्योम ही फलक है। उसी पर सृष्टि संहार रूपी विस्मय जनक आडम्बर का प्रदर्शन वे करते हैं। अर्थात् शिव का स्वात्म प्रकाश ही स्वात्म फलक पर चित्र रूप में एक रहते हुए भी दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह अलग प्रतिभासित होता है। प्रकाश से अतिरिक्त विश्व का भान हो नहीं सकता।

वही कह रहे हैं—

स्वच्छ दर्पण में जिस प्रकार भूमि और जल आदि पृथक् पृथक् भासित होते हैं, उसी तरह एक ही प्रकाश रूप परमेश्वर में यह समग्र विश्व व्यवहार अमिश्रित रूप से ही प्रतिफलित है।

सुबोधमञ्जर्याम्

'रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि।
गृह्यते पञ्चभिस्तच्च चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या पञ्चैव रूपादयस्तावत्सर्वमिति ॥ ४ ॥

तेषां प्रतिबिम्बेन व्यवस्थया विषयभागं दर्शयति

सदृशं भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु।

सदृशमिति सजातीयम्, अम्बरेति अम्बरस्थं नातितीव्रं नातिमन्दं—सौरं चान्द्रं वा तेजः, तत्र हि छायापुरुषोपदेशविद्भिः शरीरसंस्थानप्रतिबिम्बं दृश्यते। यदाहुः

'नभस्थे च तेजसि रूपप्रतिबिम्बयोगः'।

इति। यद्वा विषयान्तरोपलक्षणपरतया शब्दप्रतिबिम्बविषयत्वेन व्याख्येयम्, तेन—नभसि प्रतिश्रुत्का तथा परानुभूयमानस्य कटुतिक्तादे रसस्य, स्त्र्यादिस्पर्शस्य, गन्धस्य च दन्तोदके, कन्दादौ स्पर्शक्षेत्रे त्वचि, घ्राणे गन्धक्षेत्रे च क्रमेण प्रतिबिम्बनमिति ॥

सुबोधमञ्जरी में यह इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द रूप पाँच वर्ग में विश्व उल्लसित है। यही चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत होता है।" इससे यह सिद्ध है कि यह सारा का सारा विश्व प्रपंच इन तन्मात्राओं और इन्द्रियों के व्यवहार मात्र में ही उल्लसित है ॥४॥

इनके प्रतिबिम्बों से सभी विषय-विभाग विभासित होते है। उनका व्यवस्थित वर्णन कर रहे हैं—

नयन, दर्पण, अम्बर और जल इन में वही शक्ति सदृश रूप से आभासित होती है। अम्बर (आकाश) में चान्द्र और सौर तेज के माध्यम से वही प्रकाशित है। कुछ लोगों को यह प्रतिभासित होता है कि मनुष्य के शरीर की बनावट की तरह ही छाया पुरुष दीख रहे हैं। इन सब में रूप मात्र ही भासित होता है। इसी तथ्य को उद्धरण द्वारा कह रहे हैं—

"आकाशीय तेज में भी रूप प्रतिबिम्बित होता है।" अथवा यहाँ विषयान्तर का उपलक्षण मान कर भी इसकी व्याख्या की जा सकती है। जैसे

एतदेव दर्शयति

तथा हि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते ॥ ५ ॥

इह पृथिव्यप्तेजसां त्रयाणामेव रूपवत्त्वमिति—पार्थिवे दर्पणादौ, आप्ये स्तिमिते जलाशयादौ, तैजसे चक्षुरादौ च रूपाख्योऽस्ति स्वच्छो गुणः संनिवेशस्य संस्थानात्मा—इति तत्प्रतिबिम्बनमेव तत्रावभासते न स्पर्शादिः, तत् खलु आनन्दस्थानाद्यात्मकेषु कन्दाद्याधारादिषु स्पर्शादिः संभवात् प्रतिसंक्रामति, तेन य एव यत्र स्वच्छोऽस्ति गुणः स एव तत्र प्रतिसंक्रामतीत्याशयः ॥ ५ ॥

न चेतदसंबद्धमित्यवधारयितुमत्र दृष्टान्तमाह

प्रच्छन्नरागिणी कान्तप्रतिबिम्बितसुन्दरम् ।
दर्पणं कुचकुम्भाभ्यां स्पृशन्त्यपि न तृप्यति ॥ ६ ॥

अत्र तावत्प्रच्छन्नरागिण्याः कान्ताया गुरुसंनिधानादेरन्तरायप्रायत्वात् साक्षात् दर्शनाद्यप्राप्तावपि दर्पणप्रतिबिम्बद्वारेणापि अनन्यसंचेत्यं 'दृष्टो मया

आकाश में प्रतिध्वनि, रसना द्वारा कटुतिक्त आदि रसका आस्वादन, स्त्री आदि के संयोग में स्पर्श, नासिका द्वारा गन्ध और दन्तोदक इत्यादि में भी रस इत्यादि का प्रतिबिम्बन होता है। इसी को स्पष्ट कर रहे हैं।

पृथ्वी, जल और तेज में रूपवत्त्व है। पार्थिव दर्पण आदि में, जलाशय में और तैजस अंग आँख में रूप नामक स्वच्छ गुण है। रूप सन्निवेशात्मक संस्थान वहाँ है। इस तरह वहाँ रूप की स्वच्छता के कारण ही रूप का प्रतिबिम्व प्रतिभासित होता है, स्पर्श आदि का नहीं। स्पर्श आदि आनन्दप्रद इन्द्रियों द्वारा अनुभूत होते ही हैं। उन उन स्थानों पर स्पर्श आदि के स्वच्छता गुण होते हैं। इस लिये वहाँ वे प्रतिसंक्रान्त होते हैं। यह कहना युक्ति संगत है कि जहाँ जैसा स्वच्छता का गुण है, वहां उसी प्रकार का प्रतिभासन होता है ॥५॥

यह कोई असम्बद्ध तथ्य नहीं है। इसी को स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त दे रहे हैं—

गुप्त रूप से प्रेम करने वाली प्रेमिका गुरुजन-सान्निध्य के संकोच से साक्षात् नहीं मिल पाती। दर्पण में उसके प्रतिबिम्ब को देख कर वह सोचती है—

कान्तः' इति सन्तोषाभिमानात् कान्तदर्शनं वृत्तम्, अत एव सुन्दरमित्यनेन दर्शनवशोन्मिषिताह्लादातिशयकारित्वाद्यपि सूचितम्। एवमन्यासंवेद्य एतत्स्पर्शोऽपि मे भूयादिति तत्र कृतप्रयत्नापि सा दर्पणे स्पर्शाप्रतिसंक्रमात्त-मलभमाना न तृप्यति न प्रीयत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु यद्यत्र रूपं प्रतिबिम्बितं तत्तदव्यभिचरितस्वभावः स्पर्शोऽपि किं न प्रतिबिम्बितः ? इत्याशंक्याह

न हि स्पर्शोऽस्य विमलो रूपमेव तथा यतः ।
नैर्मल्यं चातिनिविडसजातीयैकसंगतिः ॥ ७ ॥

अस्येति दर्पणस्य, तथेति विमलं, स्वच्छमेव हि अस्वच्छस्य दर्पण इव मुखस्य प्रतिबिम्बं स्वीकरोतीति भावः। नैर्मल्यं नाम च एतत्किमुच्यते ? इत्याह—नैर्मल्यं चेति, अतिशयेन निविडाः विजातीयभावैरकलुषिता ये सजातीयाः, यथा—दर्पणे रूपपरमाणवः, तेषां एका विजातीयाभावाद-सहाया या संगतिः-नैरन्तर्येणावस्थानात्स्थपुटत्वादिपरिहारेण श्लक्ष्णत्वात्म संहतत्वं नैर्मल्यम्। यदैव हि विजातीयैः सजातीयाभावैश्चाकलुषितं दर्पणादे रूपमुपलभ्यते तदा रूपप्रतिबिम्बयोगः। यदा तु विजातीयैर्बाष्परजोरूपादि-

---

'मैंने प्रियतम का दर्शन पा लिया' उसके सौन्दर्य से भी उसे तृप्ति होती है किन्तु स्पर्श पाने के लिये जब वह दर्पण को सीने से लगाती है, तो स्पर्श के प्रतिबिम्ब के अभाव में वह तृप्त नहीं हो पाती। इससे यह सिद्ध होता है कि स्पर्श की स्वच्छता जहाँ है, वहीं स्पर्श प्रतिबिम्बित होता है। वह दर्पण में नहीं है ॥६॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि रूप प्रतिबिम्बित होता है तो, उसके साथ स्वभावतः शाश्वत सम्बद्ध स्पर्श भी क्यों नहीं प्रतिबिम्बित होता ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

दर्पण में स्पर्श रूपी स्वच्छ गुण नहीं होता। उसकी स्वच्छता रूप की स्वच्छता है। स्वच्छ ही अस्वच्छ का, दर्पण की तरह मुख का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। रुप के अत्यन्त निविड सजातीय परमाणु दर्पण में हैं। उनके पारस्परिक उल्लास में विजातीयता का नाम तक नहीं होता। उसमें इतनी निरन्तरता होती है कि वहाँ अन्तराल का अवकाश तक नहीं होता। इन परमाणुओं की यही निविडता (घनता) है।

भिस्तत्कालुष्यमुपनीयते तदा न—इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते, यद्यस्यैव प्रतिबिम्बार्पकापेक्षा विशिष्टः स्वच्छताख्यो गुणः स एव तत्प्रतिबिम्बं गृह्णाति इति, अत एव च 'रूप एव रूपमवभासते, इत्यादौ प्रतिज्ञातो दर्पणोऽपि मुखे प्रतिबिम्बेत्—इत्यविशेषेण बिम्बप्रतिबिम्बभावो न भवति—इत्यप्यावेदितम् ॥ ७ ॥

एतदेव प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे

स्वस्मिन्नभेदाद्भिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या ।
अत्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद्गुरूदितम् ॥ ८ ॥

अत्यक्तप्रतिबिम्बितेऽपि भावान्तरे तस्याविकल्पस्यैव निर्भासादतिरोहितः स्वप्रकाशो यस्य दर्पणादे, स्वात्मन्यभेदमवलम्ब्य यद्भिन्नस्य भिन्नदेशस्य प्रतिबिम्बार्पकस्य पर्वतादेर्दर्शनं गर्भीकृतण्यर्थत्वात्प्रकटीकरणं—नहि दर्पणदेशादणुमात्रेऽपि बाह्ये देशे प्रतिबिम्बं भवति इति भावः, तत्र या क्षमता—कुड्यादिवैलक्षण्येन प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुता तदेव नैर्मल्यम् । न चैतत्स्वोपज्ञमेवास्माभिरुक्तमित्याह 'गुरूदितमिति' गुरुणा परमगुरुणा श्रीमदुत्पलदेवेन

'अथार्थस्य यथारूपं..............................' इत्यादि ।

इसको अन्वय व्यतिरेक पद्धति से भी समझ सकते हैं । १—विजातीयता से अकलुषित दर्पण आदि के रूप-परमाणु रूप के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकते हैं । २—जब विजातीय वाष्प आदि से कलुषित होंगे तो नहीं । इससे यह निश्चय होता है कि प्रतिबिम्ब के अर्पक की अपेक्षा विशिष्ट स्वच्छता गुण वाला ही उस प्रतिबिम्ब का ग्रहण कर सकता है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दर्पण मुख में प्रतिबिम्बित नहीं होता । बिम्बप्रतिबिम्बभाव में स्वच्छता ही प्रधान हेतु है ॥७॥

इसी तथ्य को प्रकारान्तर से कह रहे हैं—

स्वात्म में अभेद रूप से भिन्न के दर्शन की क्षमता के साथ ही साथ स्वात्म प्रकाश पूर्ण अभिव्यक्ति के हेतु को ही नैर्मल्य कहते हैं । दर्पण के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी दूसरे स्थान पर नैर्मल्य के बिना रूप प्रतिबिम्बित नहीं होता ।

तथा

'न च युक्तं जडस्यैवं.......................'इत्यादि ।

श्रीप्रत्यभिज्ञाकारिकाद्वयटीकायामेतन्निखिलमेव प्रतिबिम्बसतत्त्वमुदितमुक्त-मित्यर्थः ॥ ८ ॥

तदेतन्नैर्मल्यं मुख्यामुख्यतया द्विप्रकारमिति दर्शयितुमाह

नैर्मल्यं मुख्यमेकस्य संविन्नाथस्य सर्वतः ।

अंशांशिकातः क्वाप्यन्यद्विमलं तत्तदिच्छया ॥ ९ ॥

मुख्यमिति सर्वस्यैव रूपाद्यात्मनो विश्वस्य प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वात्, अत उक्तं—सर्वत इति । संवित्संलग्नमेव हि विश्वं संवेद्यते, अत एव अस्याः सर्वतः स्वच्छत्वं, तथा क्वापि दर्पणादौ अंशांशिकातो—रूपादिलक्षणमंशमंश-मवलम्ब्य अन्यदमुख्यं नैर्मल्यम्, तद्धि क्वचिदेव किंचिन्निर्मलम्, अन्यथा, 'सर्वत्र सर्वं भायात्' इति दर्पणेऽपि स्पर्शः प्रतिबिम्बं गृह्णीयात्, एवं च मुख्यादस्य भेदो न स्यात् । तन्नैर्मल्ये च तत्स्वातन्त्र्यमेव निमित्तमित्याह 'विमलं तत्तदिच्छया' इति । तदिति रूपादि, अत एव स्पर्शादि, तत्र अविमलम् इत्यर्थसिद्धं, तेन तच्छक्तिरेव तथा प्रसृतेति भावः ॥ ९ ॥

क्षमता का तात्पर्य है कि प्रतिबिम्ब के ग्रहण की उसमें कितनी शक्ति है । इसी शक्ति को नैर्मल्य कहते हैं । यह स्वोपज्ञमत नहीं अपितु गुरु सम्मत सिद्धान्त है । परमगुरु श्रीमदुत्पलदेव कहते हैं—

"अर्थ का जैसा रूप है.........।" तथा "जड में यह मानना उचित नहीं...........।" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा कारिका में इस विषय का विशद विवेचन है ॥८॥

मुख्य और अमुख्य भेद से स्वच्छता दो प्रकार की होती है, यही प्रदर्शित कर रहे हैं—

संविन्नाथ परमेश्वर के स्वात्म दर्पण में सभी रूप, रस, गन्ध आदि के प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता है । संवित् से संलग्न हो कर ही विश्व बोध का विषय बनता है । इस लिये संवित् में सभी के ग्रहण की शक्ति है । इसे मुख्य नैर्मल्य मानते हैं । वहीं पर दर्पण आदि में आंशिक रूप से अर्थात् रूप मात्र के ग्रहण की ही क्षमता है । यह अमुख्य, नैर्मल्य है । ऐसा न मानने पर "सबके सर्वत्र भान होने की अव्यवस्था होने लगेगी । यह नैर्मल्य उसी परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर है ॥ ९ ॥

अत आह

भावानां यत्प्रतीघाति वपुर्मायात्मकं हि तत् ।

तेषामेवास्ति सद्विद्यामयं त्वप्रतिघातकम् ॥ १० ॥

प्रतीघाति इति, प्रतिहन्तृत्वादन्यानुप्रवेशासहमित्यर्थः, तद्धि माया-स्वरूपगोपनाकारित्वात् 'येयं पारमेश्वरी क्रियाशक्तिः' तदात्मकम्, अत एव भेदप्राधान्याद्वेद्यतायाः स्थौल्यात् तत्रास्वच्छत्वम् इति प्रतिबिम्बग्रहणा-सामर्थ्यम् । यत्पुनरप्रतीघाति भावानां वपुः तत्सद्विद्यामयं—ज्ञानशक्तिस्व-भावम्, अत एव तदपेक्षया तत्स्वच्छम् इति तत्र प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वं तेन पूर्वं प्रतिबिम्बात्मकम् इदं तु तद्ग्राहि—इति विशेषः । एवं परमेश्वर एव स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात्तत्तद्बिम्बप्रतिबिम्बाद्याभासवैचित्र्येण अवभासते इति तात्पर्यार्थः ॥ १० ॥

तदाह

तदेवमुभयाकारमवभासं प्रकाशयन् ।

विभाति वरदो बिम्बप्रतिबिम्बदृशाखिले ॥ ११ ॥

इस लिये कहते हैं—

भावों के प्रतिघाती भाव मायात्मक होते हैं । ऐसे भाव जो अप्रतिघाती होते हैं, वे सद्विद्यामय होते हैं । मायात्मक भाव स्थूल होते हैं । उनमें भेद की प्रधानता होती है । वे अस्वच्छता के गुण से युक्त होते हैं । उनमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती । इसी लिये अन्यानुप्रवेश में असमर्थ होते हैं । उनमें क्रियाशक्ति की प्रधानता होती है ।

सद्विद्यात्मक भाव ज्ञानात्मक होते हैं । अपेक्षाकृत स्वच्छ होते हैं । इस लिये प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होते हैं । मायात्मक पदार्थ प्रतिबिम्ब रूप होते हैं और ज्ञानात्मक भाव उसके ग्रहण करने वाले होते है। यह इन दोनों का विशिष्ट अन्तर है । अर्थात् परमेश्वर ही अपने स्वातन्त्र्य के बल पर विविध बिम्बों और प्रतिबिम्बों के आभासन का विस्मय जनक कार्य सम्पन्न करता है । यही उसकी क्षमता है ॥ १० ॥

यही कह रहे हैं—

इस प्रकार उभय प्रकारक अवभास को प्रकाशित करने वाला वही वर-प्रदाता महेश्वर बिम्बप्रतिबिम्ब रूप से अखिल सर्जन में शोभित हो रहा है ।

उभयाकारमितिप्रतीघात्यप्रतीघात्यात्मकम् आभासमात्रसारमेव एतत्, न तु तात्त्विकमित्युक्तम्—अवभासं प्रकाशयन्' इति। उक्तं च

'तस्मादेको महादेवः स्वातन्त्र्योपहितस्थितिः।
द्वित्वेन भात्यसौ बिम्बप्रतिबिम्बोदयात्मना॥' इति॥ ११॥

एवं यथाप्रतीति प्रतिबिम्बसतत्त्वमुपपाद्य केषांचन नैयायिकानां प्रत्यावृत्तैर्नयनरश्मिभिः स्वस्यैव मुखस्य ग्रहणेऽपि दर्पणमुखमिति भ्रान्तिरियम् न पुनः सत्यत्वभ्रान्तत्वव्यतिरेकेण तृतीयस्य राश्यन्तरस्य अभावात्प्रतिबिम्बं नाम किंचिदस्ति—इति मतं निराकर्तुमाह

यस्त्वाह नेत्रतेजांसि स्वच्छात्प्रतिफलन्त्यलम्।
विपर्यस्य स्वकं वक्त्रं गृह्णन्तीति स पृच्छ्यते॥ १२॥

य इत्येकवचनेन सूत्रकारासूत्रितत्वात्सर्वेषां नैयायिकानां नेतन्मतम्—इति सूचितम्, कैश्चिदेव हि आग्रहप्रवृत्तैरेतदुक्तमिति भावः। अत एव वृत्तिकारभूषणकारादिभिरेतन्नामापि न स्पृष्टम्। स्वच्छादिति बाह्याद्दर्पणादेः, विपर्यस्य इति परावृत्त्येत्यर्थः। अत्र च प्रतिफलन्तीति विशेषणद्वारेण हेतुः, अन्यथा हि स्वदेहसंमुखीभाव एव एषां न स्यात् इति कथं स्वमपि वक्त्रं गृह्णीयुः, पृच्छ्यते इति एतदभ्युपगमे कस्तवाशय इति॥ १२॥

कहा गया है—

"इस लिये स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न ...श्वर बिम्ब और प्रतिबिम्ब रूप उभयात्मक रूप से प्रकाशित है॥११॥"

यहाँ तक अनुभव के आधार पर प्रतिबिम्ब की वास्तविकता का प्रतिपादन किया गया। कुछ नैयायिकों के अनुसार नेत्रज्योति ही प्रत्यावृत होकर अपने ही मुख का ग्रहण दर्पण में करती है, यह उनकी भ्रान्ति ही है। सत्य और भ्रान्ति के अतिरिक्त कोई तृतीय राश्यन्तर नहीं होता। अतः प्रतिबिम्ब भी भ्रान्ति ही है—इस मत का निराकरण कर रहे हैं—

श्लोक में 'यः' एक बचन प्रयोग यह सिद्ध करता है कि यह मत सभी नैयायिको का नहीं है।

जो नैयायिक वर्ग यह मानता है कि नेत्र के ही तेज, स्वच्छ दर्पण से प्रतिफलित होते हैं। दर्पण से लौट कर वे ही अपने मुख का ग्रहण करते हैं। यहाँ प्रतिफलन ही कारण है। यदि प्रतिफलन न हो तब इनके शरीर का भी संमुखीभाव असम्भव होगा, फिर इनके मुख के ग्रहण कैसे होंगे? यह प्रश्न होता है कि प्रतिफलन से इनका आशय क्या है?॥ १२॥

तदेवाह

देहादन्यत्र यत्तेजस्तदधिष्ठातुरात्मनः ।

तेनैव तेजसा ज्ञत्वे कोऽर्थः स्याद्दर्पणेन तु ॥ १३ ॥

उद्घाटितचक्षुषः प्रमातुर्देहाद्बहिः प्रसृतं यन्नायनं तेजः तेनैव विपर्यस्तेन तेजसा स्वाधिष्ठायकस्यात्मनो यदि स्वमुखज्ञातृता जायेत तद्दर्पणेन पुनः कोऽर्थः-पुरः प्रतिफलनहेतूनामन्येषामपि कुड्यादीनां तत्र संभवात् । अथ दर्पणादय एव प्रतिफलनहेतवो न कुड्यादय ? इति चेत् स्वच्छन्दाभिधानमेतत्—यतः समानेऽपि प्रतिघातहेतुत्वे दर्पणादय एव तथा न कुड्यादय--इत्यत्र न किंचिन्निमित्तमुत्पश्यामः । अथात्राधिकः स्वच्छत्वाख्यो धर्मोऽस्ति निमित्तम् ? इति चेत्, नैतत्—स्वच्छत्वं हि न प्रतीघाते निमित्तम्, एवं ह्यालोकस्य स्वच्छत्वात् तस्मिन्सति नभसि न कस्यापि अवकाशः स्यात् प्रत्युत तत्प्रतिबिम्बग्रहणे निमित्तम्—इति विरुद्धत्वमेव हेतोरावहति, तेन प्रतीघाते मूर्तत्वाद्येव निमित्तं, तच्चोभयत्रापि समानं, यद्वा दर्पणेन प्रतिफलनस्य वृत्तत्वादिदानीं दर्पणं विनापि स्वमुखग्रहणं स्यात्—इति तेन किं प्रयोजनम् ॥ १३ ॥

वही कह रहे हैं—

देह से बाहर देखने वाले की दृष्टि का तेज ही जब लौट कर शरीर के अधिष्ठाता रूप अपने ही मुख का ज्ञापन करता है तो प्रश्न उपस्थित होता कि दर्पण से क्या लाभ ? बाहर तो दीवाल आदि बहुत सी चीजें हैं। उनसे भी तेज लौट कर मुख का ज्ञापन कर सकता है।

यदि दर्पण ही प्रतिफलन कर सकता है, कुडय आदि नहीं, तब तो यह मनमानी बात कही जायेगी। प्रतिघात में तो समान रूप से दर्पण और दीवाल दोनो कारण हैं। कहा जा सकता है कि इस प्रतिफलन में वहाँ स्वच्छता गुण विशेष काम करता है किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वच्छता का गुण प्रतिफलन नहीं करता अपितु ग्रहण करता है। यही स्थिति आलोक स्वच्छता और आकाश की है। वे भी प्रतिबिम्ब ग्रहण में ही निमित्त हैं। इसलिये प्रतीघात में मूर्त्त होना आवश्यक है। वह गुण दर्पण में भी है और कुडय में भी। दर्पण में तो प्रतिबिम्ब घटित होता ही है। अब तो विना दर्पण के भी घटित होने की अनवस्था होगी। अतः निष्प्रयोजन यह तर्क व्यर्थ है ॥१३॥

एवं च प्रतिफलनबलात्प्रत्यावृत्ता यदि नायना रश्मयः स्वकमेव वक्त्रं गृह्णन्ति तन्निज एव देशे तन्न्याय्यं नान्यत्र दर्पणादेरन्तरित्याह

विपर्यस्तैस्तु तेजोभिर्ग्राहकात्मत्वमागतैः ।
रूपं दृश्येत वदने निजे न मकुरान्तरे ॥ १४ ॥

रूपमिति, स्ववदनसंबन्धि—वदने निज इति—स्ववदनदेशे एवत्यर्थः, स्वदेशावस्थितमेव हि ग्राह्यं ग्राहको गृह्णातीति भावः। न हि नीलदेशं परिहृत्य नीलज्ञानं नीलं परिच्छिन्दत् क्वचिद्दृष्टम्, ग्राहकात्मत्वमिति ग्रहीतृसंबद्धमेव चैतज्ज्ञेयम्—आत्माधिष्ठितानामेव ह्येषां ग्राहकत्वव्यवहारः। किं च बहिःनिःसृतानां नयनतेजसामात्मनाधिष्ठानं किमशरीरेण सशरीरेण वा ? आद्ये पक्षे शरीरस्य भोगायतनत्वं न स्यात्—तेन विनापि बहिर्बुद्धिलक्षणस्य भोगस्य उल्लासात्, एवं च तस्य 'भोगायतनं शरीरम्' इति स्वसिद्धान्तभङ्गो भवेत् ॥ १४ ॥

सशरीरेणाधिष्ठानेन च बिम्बवदेवास्य प्रतिपत्तिः स्यान्न त्वन्यथा इत्याह

स्वमुखे स्पर्शवच्चैतद्रूपं भायान्ममेत्यलम् ।
न त्वस्य स्पृश्यभिन्नस्य वेद्यैकान्तस्वरूपिणः ॥ १५ ॥

यदि प्रतिफलन के बल पर प्रत्यावृत्त नेत्र रश्मियाँ अपना ही मुख ग्रहण करतीं तब तो ठीक है। अपने अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं दीखना चाहिये ? इस पर कह रहे हैं—

प्रत्यावृत्त ग्राह्य तेज जब ग्राहक से सम्बद्ध हैं, तो अपने मुख में ही रूप दृश्य होना चाहिये। ग्राह्य नीलत्व नील को छोड़ कर अलग नहीं रह सकता। ग्राह्य स्वदेश में रहता है, तभी ग्राहक नेत्र उसे ग्रहण करता है। प्रश्न है कि—

बाहर निःसृत नेत्र के तेज का स्वात्माधिष्ठान अशरीर है या सशरीर ? पहले पक्ष में शरीर भोगायतन नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके बिना भी बाह्यबुद्धि का उल्लास सम्भव हो जायेगा और 'भोगायतन शरीर' रूप सिद्धान्त ही अमान्य हो जायेगा ॥ १४ ॥

सशरीर पक्ष में तो फिर बिम्ब के समान ही इसकी प्रतिपत्ति होने लगेगी। इसपर कह रहे हैं—

यदीदं निजमुखाधिकरणत्वेनात्मनो रूपमवभासेत तत् 'ममेदं रूपम्' इत्यहन्तास्पदत्वेन पर्यस्ता प्रतिपत्तिः स्यात्, न पुनर्वेद्यकात्मनोऽस्येदं रूपम् इति इदन्तास्पदत्वेन, अत्र हि अव्युत्पन्नानां बालादीनामयमित्येवैकरसा प्रतिपत्तिः, व्युत्पन्नस्तु 'मन्मुखमवेदेमत्र प्रतिबिम्बितम्' इत्यभिमन्यतां नाम, को दोषः ?, बिम्बात्पुनरस्य प्रतिबिम्बत्वे भेदेन प्रतिपत्तिरस्त्येव—तत्र एवंरूपत्वस्य अपह्नोतुमशक्यत्वात्, किं च स्वमुख एव यद्यात्मनो रूपभानं स्यात् तत्स्पर्शोऽपि भायात्, रूपसंनिवेशौ हि कामं गुरुत्वगन्धवत्त्वादिरहितौ स्याताम्, न पुनस्तदव्यभिचरितस्वभावत्वात् स्पर्शहीनौ क्वचिदृष्टौ, रूपप्रतिबिम्बे तु स्पर्शाद्भिन्नमेव रूपं प्रतीयते, नह्यग्निप्रतिबिम्बभाजो मुकुरस्य क्वचिदुष्णत्वमुपलब्धम्, तद्रूपावभासे यथा तद्धर्मस्य संनिवेशस्य अवश्यं भानं तथा तदव्यभिचारिणः स्पर्शस्यापि स्यात्, यदि स्वमुखमेव गृह्येत तस्मान्न युक्तमुक्तं 'स्वकस्यैव वक्त्रस्य ग्रहणम्' इति। ननु अत एव उक्त 'भ्रान्तिरियम्' इति यत्स्वमुखमेव गृह्यमाणं भ्रान्त्याभिमन्यते—दर्पणे गृहीतमिति, यद्येवं तर्हि सैवास्तु किमसंवेद्यमानस्य सत्यमुखग्रहणस्याभ्युपगमेन, भ्रान्तौ हि आरोप्यमाणमेव परिस्फुरति न वस्तुतत्त्वमपि, शुक्तिकारजतनिर्भासे हि यदि शुक्तिकापि भायात् तत्कृतं रजतनिर्भासेन इति भ्रान्तिरेव न स्यात्, एवं सत्यमेव चेन्मुखं गृहीतं का नाम भ्रान्तिः, भ्रान्तावपि वा किं दर्पण एव मुखत्वेन भाति उत स्वमुख परमुखत्वेन ? न तावत् आद्यः पक्षो—दर्पणस्याखण्डस्यैव निर्भासमानत्वात्, नहि रजतनिर्भासावसरे शुक्तिकाया अपि भानं भवेत्, नापि द्वितीयः—एवं हि औदासीन्यमवलम्बमानः सर्वो जनः स्वमुखे भूषणविन्यासप्रसाधनादौ अनादृतः स्यात्, तस्माद्भ्रान्त्यभावाद्बिम्बविलक्षणं प्रतिबिम्बाख्यं वस्त्वन्तरमेवैतदभ्युपगन्तव्यम् ॥ १५ ॥

बिम्ब से प्रतिबिम्ब की भिन्न प्रतीति स्वाभाविक है। 'मेरा यह रूप है' इस वाक्य प्रयोग से अहन्तास्पद प्रतीति, इदन्तास्पद प्रतीति, बालकों को केवल मुख की प्रतीति और व्युत्पन्न व्यक्तियों को 'मेरा मुख ही यहाँ प्रतिबिम्बित है' इत्यादि भिन्न भिन्न प्रतीतियों का झमेला बना ही रहता है।

अपने मुख में ही अपने रूप का भान स्पर्श के साथ ही होना चाहिये। भले ही यह गुरुत्व, गन्धवत्त्व से रहित हो ! किन्तु स्पर्श तो रूप से अलग रह ही नहीं सकता । इसलिये रूपावभास में तद्धर्मावच्छिन्न स्पर्श का भी ग्रहण होने लगेगा जो नितान्त असम्भव है।

अत आह

रूपसंस्थानमात्रं तत्स्पर्शगन्धरसादिभिः ।
न्यग्भूतैरेव तद्युक्तं वस्तु तत्प्रतिबिम्बितम् ॥ १६ ॥

तत्—उक्तात् भ्रान्त्यभावादेर्हेतोः, स्पर्शादिशून्यत्वात् केवलं तद्रूपसंस्थानं, तत्र दर्पणादौ प्रतिबिम्बितं सत् वस्त्वेव, न पुनरवस्तु, किं तु स्पर्शादिभिर्न्यग्भूतैरेव तद्युक्तम्, अन्यथा ह्यस्य बिम्बादविशेष एव स्यात्, तस्मादस्त्येव प्रतिबिम्बलक्षणस्तृतीयो राशिरित्याशयः ॥ १६ ॥

किं नाम चेदं स्पर्शादीनां न्यग्भूतत्वमित्याह

न्यग्भावो ग्राह्यताभावात्तदभावोऽप्रमाणतः ।
स चार्थसंयमाभावात्सोऽप्यादर्शेऽनवस्थितेः ॥ १७ ॥

स इति—प्रमाणाभावः, अनवस्थितेरित्यर्थात्स्पर्शादीनां, यदि वा नामात्र हि स्पर्शादीनामवस्थानं स्यात् ततैः सह इन्द्रियाणि संयुज्येरन्, तत्संनिकर्षादेव चोत्पद्यमानं ज्ञानं तत्र प्रमाणतां यायात्—इति तत्प्रमीयमाणस्य स्पर्शादेर्ग्राह्याभावो भवेदिति भावः ॥ १७ ॥

दर्पण में गृहीत प्रतिबिम्ब यदि भ्रान्ति मानेंगे, तो अमुख भी भ्रान्ति वश मुख रूप से प्रतीत होने लगेगा। भ्रान्ति में आरोप्यमाण पदार्थ की प्रतीति होती है। यदि सत्य मुख की प्रतीति हुई तो भ्रान्ति कैसी ? भ्रान्ति में असंवेद्यमान सत्य मुख ग्रहण होगा—इन तर्कों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वेद्यमान बिम्ब से विलक्षण प्रतिबिम्ब स्वरूप मुख का ही ग्रहण होता है ॥ १५ ॥

इसलिये कहते हैं—

इस तरह भ्रान्ति के अभाव में न्यग्भूत स्पर्शादिशून्य केवल रूपस्थैर्य के कारण मुख रूप ही दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। यही मान्य सिद्धान्त है। वहाँ अवस्तु का प्रश्न ही नहीं। न्यग्भूत स्पर्शादि से पृथक् ही यह प्रतीति होती है। इसे न मानने पर बिम्ब प्रतिबिम्ब में अन्तर क्या होगा ? अतः बिम्ब के अतिरिक्त यह प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित तृतीय वस्तु ही मान्य है ॥ १६ ॥

यह स्पर्श आदि तन्मात्राओं का न्यग्भूतत्व क्या है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

किं च

अत एव गुरुत्वादिर्धर्मो नैतस्य लक्ष्यते ।
नह्यादर्शे संस्थितोऽसौ तद्दृष्टौ स उपायकः ॥ १८ ॥

अत इति—स्पर्शादीनामनवस्थितेः, यदि ह्येतस्य प्रतिबिम्बितस्य रूपसंस्थानमात्रस्य स्पर्शाद्यपि स्यात् तत्तद्धर्मो गुरुत्वादिरपि भायात्, तदभावे चास्य किं प्रमाणमित्याह 'नह्यादर्शे संस्थितोऽसाविति' असाविति गुरुत्वादिर्धर्मः, प्रतिबिम्बितस्य पर्वतादेः, गुरुत्वादिधर्मसंभवे हि तद्योगात् दर्पणोऽप्यचाल्यः स्यात्, न चैवम्—इति प्रतिबिम्बेऽपि तन्नास्तीत्युक्तं 'गुरुत्वादिर्धर्मो नैतस्य लक्ष्यते' इति । ननु रूपं तावत्स्पर्शाव्यभिचारि सर्वत्रैव दृष्टं, बिम्बे चैवमिति दर्पणे रूपमेव केवलं किमिति प्रतिसंक्रान्तम् ? इत्याशंक्याह 'तद्दृष्टौ स उपायक' इति; तद्दृष्टाविति तस्य रूपसंस्थानमात्रस्य दृष्टाववभासन इत्यर्थः, दर्पणे हि पूर्वोक्तयुक्त्या रूपमेव स्वच्छमस्तीति तदवभासन एवास्य साधनत्वं, न स्पर्शादेरपीति भावः । उपाय एव उपायकः, इति स्वार्थे कन् ॥ १८ ॥

स्पर्श आदि का अवस्थान यदि नाम मात्र को भी प्रतिबिम्ब में होता, तो इन्द्रियों से उनका संयोग होता । इन्द्रिय संन्निकर्ष से उत्पद्यमान विषयों का ज्ञान ही प्रमाण बन जाता । इससे यह स्पष्ट है कि प्रमीयमाण स्पर्श आदि की ग्राह्यता होती ही नहीं । यही उनका न्यग्भाव अर्थात् प्रमाण भूमि से निम्न स्थिति में रहना है ॥ १७ ॥

और भी—

स्पर्श आदिकों की अनवस्थिति के कारण यदि प्रतिबिम्ब में स्पर्श आदि भी आ जाएँगे तो उसका गुण भारीपन भी अनिवार्यतः आ जायेगा । जो कभी नहीं होता । आदर्श में गुरुत्व की स्थिति नहीं होती । यदि ऐसा होगा तो पर्वत का प्रतिबिम्ब पड़ने पर दर्पण भी पर्वत की तरह अचल हो जायेगा । प्रश्न होता है कि स्पर्श तो रूप का अव्यभिचरित धर्म है । दर्पण में केवल रुप मात्र ही प्रतिबिम्बित होता है । उस दृष्टि से अर्थात् रूप संस्थान की दृष्टि से अवभासन में दर्पण की स्वच्छता ही उपाय बनती है ॥ १८ ॥

ननु यथा दर्पणस्तद्दृष्टावुपायस्तथान्येऽप्यालोकादयः, इत्युपायत्वाविशेषेऽप्येष एव कस्मादस्याधार उच्यते ? इत्याशंक्याह

तस्मात्तु नैष भेदेन यद्भाति तत उच्यते ।
आधारस्तत्र तूपाया दीपदृक्संविदः क्रमात् ॥ १९ ॥

यतः पुनस्तस्मादादर्शादिषु प्रतिबिम्बो भेदेन पृथक्तया न भाति ततो हेतोस्तिलेषु तैलमितिवदभिव्यापकतयास्य एष आधार उच्यते, अत्र पुनरुत्पन्नस्य सतः प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्तावालोकादय उपाया, इति—तेभ्योऽस्य विशेषः, तदाह–तत्र त्विति, क्रमादिति दर्पणाभेदेन उत्पत्त्यवभासात्, उत्तरकालं संनिहितेऽपि दर्पणे जातेऽपि प्रतिबिम्बे दीपं विना कस्तद्व्यवहारः, को हि वेद अन्धतमसे दर्पणे मुखं संक्रान्तमिति, एवमन्धस्य संक्रान्तेऽपि मुखे सत्यपि आलोके न तद्व्यवहारः, अनन्धस्य तु सत्यामपि एवंसामग्र्यां केनापि वैगुण्येन यदीन्द्रियार्थसंनिकर्षाभावात् तज्ज्ञानं नोत्पन्नं तत्क एवं परिच्छिन्द्यात्—इत्येतज्ज्ञप्तावेषां समुदितानामुपायत्वम्, अवभासनमात्रसारमेव हि प्रतिबिम्बसतत्त्वम्—इत्येतदिह प्राधान्येनोक्तम् ॥ १९ ॥

यदि दर्पण उपाय बनता है तो आलोक आदि भी उपाय कहे जा सकते हैं। इस तरह उपाय में कोई विशेषता नहीं रह जाती है। इसलिये केवल अवभासन ही आधार है—यह कैसे कहा जा सकता है ? उसका उत्तर दे रहे हैं—

दर्पण से प्रतिबिम्ब भेद युक्त भासित नहीं होता। इसलिये जिस तरह तिल में तैल व्याप्त है। अतः तिल आधार है, उसी प्रकार यहाँ भी कहा गया है। प्रतिबिम्ब की ज्ञप्ति में आलोक उपाय है। यह वैशिष्ट्य यहाँ है। यहाँ क्रमिकता भी होती है। दर्पण है और अन्धकार है। उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। आलोक होने पर ही अवभासन होता है। दीप से ज्ञप्ति होने पर प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है। इसलिये आलोक के पहले और बाद में ज्ञप्ति की क्रमिकता भी स्वभावतः इसमें सहायक होती है। अन्धे के लिये तो आलोक रहने पर भी ज्ञप्ति नहीं होती। यहाँ और भी कई प्रकार के वैगुण्य हो सकते हैं। इन्द्रियार्थ संन्निकर्ष के न होनेपर प्रतिबिम्ब का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये कह सकते हैं कि अवभासन ही प्रतिबिम्ब का आधार है ॥ १९ ॥

ननूक्तयुक्त्या दर्पणात् दीपादीनामपि अविशिष्टमेव प्रतिबिम्बग्रहण सहिष्णुत्वम्, इति किमिति न तेऽपि स्वात्माभेदेन तद्भासयेयुः ? इत्याशंक्याह

दीपचक्षुर्विबोधानां काठिन्याभावतः परम् ।
सर्वतश्चापि नैर्मल्यान्न विभादर्शवत्पृथक् ॥ २० ॥

सत्यमस्त्येव दीपादीनां स्वात्मनि प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वं, किं तु प्रतिबिम्बस्य दर्पणे यथानतिरिक्तत्वेऽपि ततोऽतिरिक्तायमानत्वेन प्रकाशः, तथा नात्रेति अत आह 'न विभादर्शवत्पृथक्' इति, यतो दीपादीनां काठिन्यस्याभावः, कठिने हि दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तं मुखादि आधारस्य स्थैर्यात् पृथक्प्रतिभासते, दीपादितेजः पुनः काठिन्याभावात् एकवदिति, तत्रास्थैर्यात्तथा न प्रकाशते यथा निर्मलेऽपि जलाशयादावस्तिमितत्वा-त्प्रतिसंक्रान्तमपि मुखादि न लक्ष्यते तथेहापीति भावः । नन्वेवमप्स्वपि द्रवत्वात्काठिन्याभावात् स्तैमित्येऽपि प्रतिबिम्बस्य पृथक् प्रतिभासो न स्यात् ? न—अस्त्येव हि अपां काठिन्यम्, नहि यथा नभसि भुजं परिभ्रमयतो न प्रतीघातस्तथात्रापीति, अत एवात्र बाहुभ्यां तरतः पुंसो बाह्वोः परं तद्भेदने परिश्रमः किं तु तदापेक्षिकं, नहि यथा पृथिव्यां काठिन्यमस्ति तथाप्सु, यथा चात्र तथा न तेजसि, नहि तेजसि काठिन्यं नास्तीत्युच्यते किं तु तदपेक्षयापि स्वल्पं प्रतिबिम्बस्य पृथक्प्रकाशनायोग्य-मिति, अन्यथा हि अमूर्तत्वादाकाशतुल्या एव दीपादयोऽपि भवेयुः, संविदि पुनरेतन्नास्त्येव—इत्यमूर्तत्वात्तत्र न प्रतिबिम्बस्य पृथक्प्रकाशः, किं च

प्रश्न है कि दर्पण से व दीपादि से अविशिष्ट रूप से प्रतिबिम्ब का अव-भासन होता है। फिर वे समान क्यों नहीं भासित होते ? इसपर कह रहे हैं—

दीप और आँख आदि में भी प्रतिबिम्ब ग्रहण सहिष्णुता है किन्तु दर्पण में काठिन्य के कारण प्रतिबिम्ब अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भासित होता है । वैसा काठिन्य दीप आदि में नहीं। अतः प्रतिबिम्ब को आधार नहीं मिल पाता। जल में चाञ्चल्य से स्थिर अवभास नहीं हो पाता।

यह कहा जा सकता है कि जल और तेज में काठिन्य है किन्तु स्तैमित्य भी है। आकाश में तो शून्यत्व ही है। इसलिये प्रतिबिम्ब योग्यता केवल दर्पण में है। पृथिवी में यद्यपि काठिन्य है किन्तु रूप-परमाणुओं की घनता नहीं है और स्वच्छता भी नहीं है।

दर्पणादि पुरत एव स्वच्छं, न पश्चादिति, तत्र मलिनं पश्चाद्भागं भित्ति-न्यायेनाश्रित्य स्वच्छे पुरोभागे प्रतिबिम्बं भासते, इह तु सर्वतः स्वच्छत्वात् एकेन भागेन प्रतिसंक्रान्तमपि मुखादि न लक्ष्यते भागान्तरेण—अन्ततः आलोकादिनां प्रतिसंक्रान्तेन तस्यावृतत्वात् । यद्वा यथा काचस्फटिकश-कलादयः सर्वतः स्वच्छत्वात् तद्व्यवहितवस्तुदर्शनान्यथानुपपत्त्या नायनानां रश्मीनां न प्रतिघातकास्तथा दीपादयोऽपि, काठिन्याभावे सति सर्वतः स्वच्छत्वाद्भागान्तरेण निर्गच्छतः प्रतिबिम्बस्येति न तत्र तत्प्ररोहमेति—मलिनस्य तत्प्रतीघातकस्य भागान्तरस्याभावात्, संवित्पुनः सर्वतो निर्मलया-स्वप्रकाशेति न तस्या वेद्यत्वगन्धोऽप्यस्तीति तत्र कथं प्रतिबिम्बस्य पृथक्प्रकाशः, यत्पुनः प्रसरावसरे दीपे छायापुरुषज्ञाने वा नभस्थे तेजसि प्रतिबिम्बं लक्ष्यते तन्मन्त्रादिमाहात्म्याच्चक्षुष्यपि वा यत्प्रतिबिम्बं दृश्यते तन्न तैजसे चक्षुरिन्द्रिये—तस्य नित्यपरोक्षत्वात्, किं तु आप्ये गोलके इति न कश्चिद्दोषः ॥ २० ॥

न चैतत्प्रतिबिम्बसतत्त्वमस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

एतच्च देवदेवेन दर्शितं बोधवृद्धये ।
मूढानां वस्तु भवति ततोऽप्यन्यत्र नाप्यलम् ॥२१॥

प्रतीघाति स्वतन्त्रं नो न स्थाय्यस्थायि चापि न ।
स्वच्छस्यैव कस्यापि महिमेति कृपालुना ॥२२॥

एतत्प्रतिबिम्बसतत्त्वं कृपालुना देवदेवेन 'मूढानाम्' इति वक्ष्यमाणेन प्रकारेण बोधवृद्धये दर्शितमिति संबन्धः। दर्शितमिति सामान्येनोक्तेः सर्वत्रैवेति भावः, तदुक्तम्

संविद् तो अमूर्त्त है। अतः उसमें प्रतिबिम्ब का पृथक् प्रकाशन नहीं होता। दर्पण भी पृष्ठ भाग में मलिन है। वहाँ स्वच्छता के अभाव के कारण प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। मुकुरमें भित्ति के आगे प्रतिबिम्ब होता है, पीछे नहीं। संविद् सर्वतोभावेन निर्मल है। अतः स्वप्रकाश है। उसमें तो वेद्यत्व का गन्ध भी नहीं है। अतः आदर्श की तरह पृथक् प्रतिबिम्ब की वहाँ सम्भावना नहीं। दीप में या आकाश में छाया का दीखना मन्त्र बल से सम्भव है किन्तु आँख में तैजस इन्द्रिय के नित्यपरोक्ष होने के कारण छाया पुरुष दर्शन गोलक की आर्द्रता में ही हो सकता है ॥ २० ॥

'पूजयेद्बिम्बवद्देवी: करणत्वेन दीधितीः ।' इति । तथा
'जलदर्पणवत्तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम् ।' इति । तथा
'सदसद्वस्तुनिर्भासी दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।' इति । तथा
'यथान्तर्निर्मलादर्शे भान्ति भावा विरोधिनः ।
अमिश्रास्तथैतस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥' इति । तथा
'प्रतिबिम्बन्ति यस्यार्थास्त्वन्तः स्वच्छमणेरिव ।' इति । तथा
'न मे बन्धो न मे मोक्षो जीवस्यैता विभीषिकाः ।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः ॥'

इति । तत्र तावदेतत्प्रतिबिम्बं वस्तु भवति—प्रतिभासमानत्वात्, न च भातमभातं भवति इति हि सर्वेषामेवात्राविवादः, न चात्र कश्चिद्बाधकः प्रत्ययोऽस्ति—तस्योत्तरकालमनुदयात् । ननु यद्येवं तदेतेन प्रसिद्धतद्वस्तु-जातीयेन भवितुं युक्तम्, अन्यथा हि अनियतं वस्तुत्वं भवेत्, तेन 'शशस्या-रूपस्पर्शाद्यात्मकं विषाणं वस्तुभूतमस्ति' इत्यपि स्यात्, न चास्य प्रसिद्ध-वस्त्वन्तरजातीयत्वमस्तीति कथं वस्तुभूतत्वं स्यात्, बाह्यं खलु उत्पन्नं वस्तु देशाद्देशान्तरमपि व्रजेत्, न चैवमेतत् ? तदाह 'ततोऽप्यन्यत्र न' इति, तत इति दर्पणदेशात्, अन्यत्रेति देशान्तरे भवति—इति सर्वत्रैव संबन्ध-नीयम्, बाह्यं च रूपादि स्पर्शाद्यव्यभिचरितमेव भवति, नैवमेतदित्याह 'नाप्यलमिति' नैतत्पर्याप्तमित्यर्थः, यतोऽत्र स्पर्शादिपरिहारेण रूपसंस्थान-मात्रस्यैव प्रतिभासः ।

यह प्रतिबिम्बवाद मेरी बुद्धि की उपज नहीं अपितु शास्त्रोक्त है । वही कह रहे हैं—

कृपालु देवदेव परमेश्वर द्वारा मूढों की बोधवृद्धि के लिये स्थान स्थान पर कहा गया है । जैसे—

"दीधिति देवियाँ भी करणत्वेन पूजित हैं ।" तथा

"जल दर्पणवत् सारा चराचर उससे व्याप्त है" तथा

"दर्पण में निर्भासित प्रतिबिम्ब की तरह वह भी सदसत् वस्तु का निर्भासन करता है ।"

"निर्मल दर्पण में जैसे विरोधी भाव भी भासित होते हैं । उसी तरह भगवत् चिन्नाथ में सारी विश्ववृत्तियाँ अमिश्रित भाव से भासित होती हैं ।" तथा

"अन्तः स्वच्छमणि के समान जिसमें सारे अर्थ प्रकाशित होते हैं ।" तथा "न मेरा मोक्ष होता है और न मेरा बन्ध होता है । यह सारी

न-शब्दोऽत्र काकाक्षिवद्योज्यः, बाह्यं पर्वतादि सर्वस्यैव प्रतिहन्तृ—सर्वं चास्य मूर्तत्वात्, न चैवमेतत् अत आह 'प्रतिघातीति' न-शब्दोऽत्रापि संबन्धनीयः, अन्यथास्य भग्ने दर्पणे कथं तदन्तः प्रवेशः स्यात्, न चेतद्दर्पणस्य पृष्ठतो युज्यते, तथात्वे हि दर्पणस्यादर्शनं भवेत्, बाह्यस्य च सर्वस्यैवोत्पत्तौ कारणापेक्षास्ति, नहि स्वयंभु किंचित् वस्तु संभवति, उत्पन्नं पुनरन्यनिरपेक्षमेवास्ते, यथा चक्रादिपरिहारेण घटः, इदं पुनरुत्पत्तिनिमित्तं दर्पणादि उपेक्ष्य स्वातन्त्र्येण न किंचिदपि सत्तां लभते, न हि दर्पणादिपरिहारेण प्रतिबिम्बं क्वचिदृश्यते तदुक्तं 'न स्वतन्त्रमिति' अत एव च नैतत्स्वयं स्थिरमस्थिरं वापीत्याह 'न स्थाय्यस्थायि चापि नेति' बाह्यं हि वस्तु उत्पन्नं सत् बहुकालयोगित्वात्स्थायीत्युच्यते अन्यथा तु अस्थायि, एतत्पुनर्दर्पणादेरतिरेकेण सत्तामेव नोपलभत इति कस्य कालयोगो येन स्थायित्वमस्थायित्वं वापि भवेत् तस्मात्प्रसिद्धतद्वस्तुजातीयत्वाभावात् शशविषाणादिवदेतदवस्त्वेवेति नास्य प्रतिभासो न्याय्यः। अथ चास्ति प्रतिभास इति किमेतदुच्यते? इत्याह 'स्वच्छस्यैवैष कस्यापि महिमेति' स्वच्छस्य दर्पणादेरेवैष प्रभावो यद्वस्तु अवस्तुविलक्षणमाभासमात्रसारं प्रतिबिम्बं नामेदं प्रतिभासते इति, तेन भगवता यथा दर्पणादौ आभासमात्रसारा एव भावा अवभास्यन्ते तथा संवित्तावपीति न बहीरूपत्वेनैषां सत्त्वमस्तीति बोधं वर्धयितुं बाह्यार्थाभिनिवेशिनामेतदुपदिष्टम्, अतः सर्वमेवेतदाभासमात्रसारमेवेति, न बाह्येऽर्थेऽभिनिवेष्टव्यं येन द्वैतमोहः शाम्येत् ॥२१-२२॥

विभीषिकायें जीव की हैं। सूर्य के जल में पड़ते हुए प्रतिबिम्ब की तरह यह बुद्धि का ही वैभव है" इन उक्तियों से सिद्ध है।

प्रतिबिम्ब भी वस्तु ही होता है क्योंकि यह भी प्रतिभासमान है। 'जो भात है, वह अविभात नहीं हो सकता' यह सत्य सिद्धान्त है। इसमें बाधक कोई प्रत्यय नहीं क्योंकि भान होने के पहले इसका उदय ही नहीं होता। शशविषाण की तरह प्रतिबिम्ब अवस्तु नहीं। दर्पण से पृथक् बाह्य वस्तु की तरह यह अलग भी नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, यह स्पर्शादि से रहित रूप संस्थान मात्र से ही प्रतिभासित होता है।

यह प्रतिघाती भी नहीं होता क्योंकि बाह्य वस्तु ही प्रतिघाती होते हैं। यह स्वतन्त्र भी नहीं है क्योंकि दर्पण के न रहने पर यह नहीं प्रकाशित होता। न यह स्थायी है और न अस्थायो। इसी लिये प्रसिद्ध वस्तु जातीय न होने के कारण यह अवस्तु की तरह होने पर भी वस्तुवत् प्रतिभासित है—यह दर्पण की स्वच्छता का प्रभाव है ॥ २१-२२ ॥

अत एवाह

न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा
न चान्योन्यासंगो न च तदपहानिर्न घनता ।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद्दर्पणविधिः ॥२३॥

प्रतिबिम्बं तावद्दर्पणातिरेकेण स्वतन्त्रतया पृथक् सत्तां नोपलभत इत्युपपादितम्, ततश्च नास्त्यस्य दर्पणात्पृथग्देश इत्युक्तं 'न देश इति' एवं चास्य न घनता—काठिन्यलक्षणा मूर्तिरपि नास्तीत्यर्थः, अन्यथा हि दर्पणादस्य पृथग्देशः स्यात्–एकस्यैव नभोदेशस्य मूर्तेन दर्पणेनाक्रान्तस्य मूर्तान्तरेणाक्रमितुमशक्यत्वात् मूर्तानां समानदेशत्वविरोधात्, अत एव चास्य नो रूपं – रूपाख्यगुणयोगो नास्ति इत्यर्थः स हि मूर्त एव भवतीति भावः, अत एव चास्य न कालेन संबन्धः, स हि कंचित्पूर्वापरभाविनमपेक्ष्य पृथग्लब्धसत्ताकस्य स्यात्, अस्य पुनर्दर्पणात् पृथक् सत्तैव नास्तीत्युक्तं बहुशः, अत एव चास्य 'न परिमा' परिमाणं नास्ति —सत एव तद्योगोपपत्तेः, अन्यथा हि परिमिते दर्पणदेशे महाकारं पर्वतादि कथं प्रतिसंक्रान्तं भवेत्, नापि दर्पणान्तरनेकेषामर्थानां सहप्रतिभासेऽपि परस्परं नैबिडयेन संश्लेष इत्याह 'न चान्योन्यासंग इति' । ननु नगरप्रतिभासादौ यद्यनेकेषां भिन्नदेशानामर्थानामेकस्मिन्नेव परिमिते दर्पणदेशे प्रतिभासः तदेतेषामेकदेशत्वान्यथानुपपत्त्या परस्परंसंमेलनेनैकपिण्डीभावेनैवासौ न्याय्यः, न चेदेवं तर्हि तत्र नगरप्रतिभास एव न भवेदित्याह 'न च तदपहानिरिति' सर्वेषामेवार्थानां परस्परं वैविक्त्येनैव प्रतिभासात् 'न च भातमभातं भवतीत्युक्तं बहुशः, अत एव च नास्य अवस्तुत्वमित्याह 'न चावस्तुत्वं स्यात् इति' सर्वेषामेवार्थानां प्रतिभासात्, एवमप्यस्य वस्तुत्वोपपादकमल्पमपि निजं तथ्यरूपं नास्तीत्याह 'न च किमपि सारं निजमिति' ।

इसलिये कहते हैं कि,

दर्पण से पृथक् प्रतिबिम्ब का कोई देश नहीं। रूप की घनता भी इसमें नहीं। क्योंकि वह मूर्त वस्तु में ही होती है। इसका कोई समय-योग नहीं होता। इसकी कोई परिमा भी नहीं होती क्योंकि यह घन वस्तु का ही परिमाण होता है। दर्पण में प्रतिभासित अनेकानेक पदार्थों से इसका कोई मेल भी नहीं होता। इसकी कोई अपहानि नहीं क्योंकि प्रतिभासित सभी पदार्थ पृथक् भाव से प्रकाशित होते हैं।

इत्येवमाभासमात्रसारं प्रतिबिम्बसतत्त्वं बाह्यार्थवादिनो निश्चितमेव द्वैतप्रथात्मकं संकुचितं ज्ञानं शाम्यतामित्येदर्थं दर्पणविधिः—कुड्यादिवैलक्षण्येन प्रतिबिम्ब-सहिष्णुवस्तुप्रकारो, निरदिशत् निर्दिष्टवान्। एवं च सत्ययमर्थः प्रदर्शितो भवति – यद्विश्वमिदं संविदि दर्पणप्रतिबिम्बन्यायेन अवस्थितं न तु तदतिरिक्ततया बहीरूपत्वेन वस्तुसदिति न तत्राभिनिवेष्टव्यमिति ॥२३॥

तदेवमुपपादिते प्रतिबिम्बमार्गे यच्छब्दस्य प्रतिबिम्बं तत्सामवायिकेन अभिधानान्तरेणाप्यभिधीयते इत्याह

इत्थं प्रदर्शितेऽमुत्र प्रतिबिम्बनवर्त्मनि ।
शब्दस्य प्रतिबिम्बं यत् प्रतिश्रुत्केति भण्यते ॥२४॥
न चासौ शब्दजः शब्द आगच्छत्त्वेन संश्रवात् ।
तेनैव वक्त्रा दूरस्थैः शब्दस्याश्रवणादपि ॥२५॥
पिठिरादिपिधानांशविशिष्टछिद्रसंगतौ ।
चित्रत्वाच्चास्य शब्दस्य प्रतिबिम्बं मुखादिवत् ॥२६॥

प्रतिसंक्रमणेन श्रुत् श्रवणमस्या इति 'प्रतिश्रुत्का' यद्वा प्रति सदृशं श्रवणं प्रतिश्रुत् सैवेति। इह खलु नैयायिकानां दर्पणादौ चाक्षुषाणां रश्मीनां प्रतिफलनात् स्वकवक्त्रग्रहणेन रूपस्य प्रतिबिम्बे श्रोत्रादेः प्रतिफलनाद्ययोगात् प्रतिश्रुत्कादौ मुख्यशब्दादिरूपतापरिकल्पनेनापि तदपह्नव इति न क्वचिदपि प्रतिबिम्बमस्तीत्याशयः। तत्र रूपप्रतिबिम्बं तावदस्तीत्युपपादितम्।

यह अवस्तु भी नहीं। इसका कोई निजो तथ्य या सार नहीं होता। यह आभास मात्र सार वस्तु है। यह संसार भी संविद् में दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित है। इस लिये इसके स्वाध्याय से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस विश्व के प्रति मोह व्यर्थ है। इसी उद्देश्य से इस दर्पण विधि का निर्देश यहाँ किया गया है ॥२३॥

प्रतिबिम्ब मार्ग के प्रदर्शित हो जाने पर शब्द प्रतिबिम्ब की चर्चा उसके सामवायिक अभिधान के आधार पर कर रहे हैं ?

इस प्रकार प्रतिबिम्ब वाद का जो प्रतिपादन किया गया, इस पद्धति में नैयायिक मतानुसार नेत्र की रश्मियों से मुख का जैसे दर्पण आदि में प्रतिफलन हमें अमान्य है। वैसे ही शब्द आदि का प्रतिफलन भी अमान्य है। शब्द के प्रतिबिम्ब को प्रतिश्रुत्का कहते हैं।

एवं शब्दादीनामपि प्रतिबिम्बास्तित्वोपपादनाय तन्मतमाशंक्य दूषयति— 'न चासौ' इत्यादिना, असाविति प्रतिश्रुत्का, शब्दज इति न पुनः संयोगजो विभागजो वा—स्वत एव स्वहेतुसमुत्थत्वादयं मुख्यः शब्द इति भावः' स वक्त्रदेशात् गच्छन्नेव प्रतीयते अत एव तत्सविधवर्तिभिः प्रमातृभिराद्य एवं शब्दस्तीव्रतमप्रायः श्रूयते, न पुनरन्त्यो मन्दतमप्रायः, दूरदेशवर्तिभिः पुनरन्त्य एव न त्वाद्य इति, प्रतिश्रुत्का पुनस्तेनैव वक्त्रा तत्समीपस्थैर्वा प्रमातृभिरागच्छ स्वेन स्वसंमुखं प्रवर्तमानत्वेन संश्रूयते, अत एव च दूरस्थैः गह्वरगुहाप्रायदेशस्थैः प्रमातृभिर्न श्रूयते—तदाभिमुख्येन तस्याः प्रवर्तमानत्वाभावात्, मुख्यः शब्दश्च बहूनां श्रोतॄणां श्रोत्राकाशदेशमधिशयानो न भिन्नस्वरूपतामभ्येति, तथात्वे हि सर्वेषामेवश्रोतॄणामेकविषयत्वेन प्रवृत्तिर्न स्यात्, प्रतिश्रुत्का पुनरधःस्थितक्वथितसशब्दपानीयभाण्डाच्छादनरूपाः पिठिरादयो ये उपादानविशेषास्तेषां यानि विशिष्टानि स्थूलसूक्ष्मादिरूपाणि छिद्राणि—सुषिरा भागास्तत्र संगतो तदाकाशमेलनेन एकशब्दात्मवैचित्र्यं यायादिति वस्तुभूतशब्दजातीयत्वानुपलब्ध्या नासौ शब्दजः शब्दः, तस्माद्यथा मुखस्य दर्पणादौ प्रतिबिम्बमस्ति तथास्य मुख्यस्य शब्दस्यापि नभसीत्याह 'अस्य शब्दस्य प्रतिबिम्बं मुखादिवत्' इति ।।२४-२६।।

इसका विग्रह है—प्रतिसंक्रमणेन श्रुत् श्रवणमस्याः सा श्रुत्का, अथवा प्रति सदृशं श्रवणं प्रतिश्रुत् सेव प्रतिश्रुत्का। जहाँ प्रतिश्रुत्का है, वहाँ मुख्य शब्द की परिकल्पना होती है। क्या प्रतिश्रुत्का शब्दज शब्द है? नहीं। न तो यह संयोगज या न ही विभाग से उत्पन्न है। यह स्वयं श्रुति समुदित मुख्य शब्द है। ज्यों हा कोई शब्द का उपयोग करता है, उसकी प्रतीति होती है। शब्द कथन करने वाले प्रमाता के समोप स्थित पुरुष ही उसे सुनते हैं। दूरस्थित श्रोता शब्द का अच्छी तरह श्रवण नहीं कर पाते। दूर व समीप के भेद से श्रवण में अन्तर पड़ता है।

यही दशा गर्म जल के ढक्कन में भी होती है। आजकल प्रेशर कूकर के शिखर से चित्र विचित्र सीटियाँ सुन पड़ती हैं। छिद्र के ऊपर निर्भर है कि शब्द कैसा होता है? वहाँ भी ऐसी प्रतीति होती है कि यह बिम्ब रूप शब्द से उत्पन्न शब्द है। इसलिये जैसे मुख से दर्पण में प्रतिबिम्ब होता है, उसी तरह मुख्य शब्द का आकाश में शब्दात्मक प्रतिबिम्ब ही उभरता है और वही सुन पड़ता है। इस तरह नैयायिक मत स्वतः निरस्त हो जाता है ॥२४-२६॥

न केवलं वस्तुभूतमुख्यशब्दजातीयत्वाभावात् अत्र प्रतिबिम्बत्वं याव-द्रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वादपीत्याह

इदमन्यस्य वेद्यस्य रूपमित्यवभासते ।
यथादर्शे तथा केनाप्युक्तमाकर्णये त्विति ॥२७॥

यथा दर्पणादावहन्ताप्रत्ययस्यापि स्वमुखसंबन्धिनो रूपस्यान्यसंबन्धि-त्वेन वेद्यतया प्रतीतिः तथा 'मयेतदुक्तम्' इति परामर्शनीयस्यापि स्वयमु-च्चारितस्य शब्दस्य 'केनाप्युक्तम् अहमाकर्णये' इति, अतश्च प्रतिबिम्बान्तर-जातीयत्वादप्यत्र प्रतिबिम्बत्वमित्याशयः । तु-शब्दश्चार्थे स च पूर्वापेक्षया, इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ ॥२७॥

ननु केनचिद्वक्त्रा यद्युच्चारितः शब्दो दूरे गुहाद्याकाशे प्रतिसंक्रान्तिमेति तत्तद्देशवर्तिनामेव तच्छ्रवणं भवेत् न त्वन्येषाम् ? इत्याह

नियमाद् बिम्बसांमुख्यं प्रतिबिम्बस्य यत्ततः ।
तन्मध्यगाः प्रमातारः शृण्वन्ति प्रतिशब्दकम् ॥२८॥

यस्माद्दर्पणादाविव प्रतिबिम्बस्य नियमेन बिम्बसांमुख्यमेव भवति तस्मात्तयोः बिम्बप्रतिबिम्बयोरन्तर्वर्तिन एव प्रमातारस्तं बिम्बसांमुख्येन प्रवर्तमानं प्रतिशब्दं शृण्वन्ति, न पुनर्दूरगास्तदतिरिक्तगह्वरगुहादिदेशस्थाः—तदाभिमुख्येन तस्याप्रवर्तनात् ॥२८॥

न केवल वस्तु रूप मुख्य शब्द-जातीयता के अभाव में भी यहाँ प्रतिबिम्ब मानते हैं वरन् रूप प्रतिबिम्ब की सजातीयता में भी मानते हैं । वहा कह रहे हैं–

दर्पण में रूप देखने वाले को अहमात्मक प्रतीति के साथ यह भी जान पड़ता है कि यह प्रतिबिम्ब इस मुख का है, वेद्य का है । उसी तरह 'मैंने यह कहा' इस स्वयम् परामर्शनीय वाक्य में 'किसी का कहा मैं सुन रहा हूँ' यह प्रतीति भी होती है । दोनों स्थलों में बिम्ब प्रतिबिम्ब का अन्तर सहज प्रतीत होता है ॥२७॥

प्रश्न होता है कि किसी वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द दूर गुहाकाश आदि में प्रतिसंक्रान्त होता है तो क्या वह उसी स्थान पर रहने वाले को सुन पड़े, दूसरों को नहीं । इस पर कह रहे हैं–

दर्पण की तरह प्रतिबिम्बका नियम पूर्वक बिम्ब-सांमुख्य होता है । इस लिये उन बिम्ब प्रतिबिम्बों के मध्य के प्रमाताओं को उनकी प्रमिति होती

ननु यद्येवं तर्हि तन्मध्यगत्वेऽपि केनापि निमित्तेनाश्रुतबिम्बाभिमत-शब्दकाराः कथं बिम्बाभिमुख्येन प्रवर्तमानं प्रतिशब्दं गृह्णीयुः ? इत्याशंक्याह

मुख्यग्रहं त्वपि विना प्रतिबिम्बग्रहो भवेत् ।
स्वपश्चात्स्थं प्रियं पश्येद्दृङ्क्ङ्कितं मुकुरे वपुः ॥२९॥

'भवेदिति' प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यदेशावस्थानात् 'स्वपश्चास्थिति' अतर्कितोपनतबिम्बभूतप्रियादर्शने विशेषणद्वारेण हेतुः ॥२९॥

ननूक्तयुक्त्या दर्पणादेरतिरेकेण प्रतिबिम्बं पृथक्सत्तामेव नोपलभत इति कथं तस्य बिम्बसांमुख्यं भवति ? इत्याशंक्याह

सांमुख्यं चोच्यते तादृग्दर्पणाभेदसंस्थितेः ॥३०॥

तादृग्बिम्बसंमुखो योऽसौ दर्पणः, तेनाभेदो दर्पणैकात्म्यं, तेन या प्रतिबिम्बस्य सा स्थितिरवस्थानं, तेन एतदेवास्य सांमुख्यं—यद्दर्पणो बिम्बसांमुख्येन वर्तते, तदनधिकवृत्तित्वात् तस्य दर्पणादेः पुनरवश्यंभाविबिम्बसांमुख्यम्, अन्यथा हि प्रतिबिम्बस्योत्पत्तिरेव न स्यात्, एवमाकाशादेरपि बिम्बसांमुख्येनैव हि शब्दादिप्रतिबिम्बग्राहित्वमित्यवगन्तव्यम् ॥३०॥

है। उसी तरह शब्द में भी मध्यग प्रमाताओं को श्रावण प्रत्यक्ष अवश्यम्भावी है। जो उस से बहुत दूर हैं या अन्यत्र हैं, उनके लिये तो उसका प्रवर्त्तन भी नहीं हुआ तो सुनने का प्रश्न ही कैसे हो सकता है।

श्रोता यदि मध्यमें हों और किसी कारणवश शब्द न सुन सकें, ऐसे अश्रुत बिम्बाभिमत-शब्दकार प्रमाता विम्बाभिमुख प्रवर्त्तमान प्रतिशब्द कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

मुख्य ग्रह के विना भी प्रतिबिम्ब ग्रहण होता है। प्रच्छन्न रागमयी कान्ता अपने पीछे स्थित प्रिय को आदर्श में प्रतिबिम्बित देखती है। यह दर्शन क्रिया प्रतिबिम्ब ग्रहण रूप ही है। 'पश्चात् स्थित' शब्द अतर्कित रूप से सम्भवतः विम्बरूप प्रिय के दर्शन का विशेषण द्वारा हेतु बनता है ॥२९॥

उक्त युक्ति के अनुसार दर्पण आदि के अतिरिक्त प्रतिबिम्ब की पृथक् सत्ता ही नहीं रहती फिर उसका बिम्बसांम्मुख्य कैसे ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

बिम्ब के सामने स्थित दर्पण में प्रतिबिम्ब का अभेदावस्थान स्पष्ट परिलक्षित होता है। दर्पण बिम्ब के समक्ष वर्त्तमान है। यही अवस्थान ही सांमुख्य है। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब की वृत्ति नहीं होती है। अतः दर्पण का

तदाह

अतः कूपादिपिठिराकाशे तत्प्रतिबिम्बतम् ।
वक्त्राकाशं सशब्दं सद्भाति तत्परवक्तृवत् ॥३१॥

अतो—यथोक्ताद्बिम्बसंमुखाधारविशेषैकात्म्याद्धेतोः, कूपाद्याकाशे तद्बिम्बभूतं सशब्दं वक्तुः संबन्ध्याकाशं प्रतिबिम्बितं जाततदभेदवृत्ति सत् भाति प्रतिभासते इत्यर्थः । शब्दस्य गुणत्वेन गुणिनि समवेतत्वात्तत्परतन्त्रत्वमेवेति गुणिनैव सह अस्य गुणिनि प्रतिबिम्बनं युक्तमित्युक्तम्—'आकाशे आकाशम्' इति । कूपाद्याकाशस्य वक्त्राकाशसांमुख्यं हृदयङ्गमीकर्तुं दृष्टान्तयति 'तत्परवक्तृवत्' इति—ततः प्रकृताद्वक्तुः परो वक्ता प्रतिवक्ता तस्मिन्निवेत्यर्थः, यथा वक्तृसंमुखीन एव प्रतिवक्तृसंम्बन्धी श्रोत्राकाशो वक्तृसंम्बन्धिनः सशब्दस्याकाशस्य प्रतिबिम्बं गृह्णाति तथा कूपाद्याकाशोऽपीति । इह खलु तत्तदिन्द्रियजं ज्ञानं गृहीतत्तत्प्रतिबिम्बमेव विषयं परिच्छिन्द्यात्, अन्यथा हि निराकारस्य ज्ञानस्य नीलपीताद्यनेकविषयसाधारणत्वात् 'इदं नीलज्ञानम्, इदं पीतज्ञानम्' इति नियमो न स्यात्, अतश्च साकारं ज्ञानम्—आकारवत्तामन्तरेणास्य प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तेः ।

बिम्बसांमुख्य अवश्यंभावी है। अन्यथा प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। इसी तरह आकाश आदि का भी शब्द रूप बिम्ब-सांमुख्य अनिवार्य है। इसी से प्रतिबिम्ब का ग्रहण हो सकता है ॥३०॥

वही कह रहे हैं—

बिम्ब और बिम्बाधार के विशेष ऐकात्म्य के कारण कूप आदि के आकाश में वक्ता का शब्द गूंजता है और वह आकाश शब्द से भर जाता है। वक्ता बोलता है। वहाँ का आकाश, कूप का आकाश शब्द बिम्ब सहित प्रतिबिम्बित और अभेद भाव से प्रतिभासित होता है। शब्द आकाश का गुण है। गुणी आकाश में वह समवाय भाव से स्थित होता है। अतः शब्द गुणी के परतन्त्र है। इसी लिये गुणी के साथ ही और गुणी में ही प्रतिबिम्बत होना स्वाभाविक है। शब्द के उच्चारण के समय दो आकाश हैं। १-वक्त्राकाश और २-कूप आदि के आकाश। दोनों का सांमुख्य इस प्रकार समझा जा सकता है—

वक्ता बोलता है। शब्द आकाश से होकर कूप आदि आकाश में पहुंचा। वहाँ श्रोता का श्रोत्राकाश है। वह उस शब्द को ग्रहण भी करता है। सशब्द

न च यदेवास्य जनकं तदेव विषय इति प्रतिकर्मव्यवस्थापि सिद्ध्येत्, इति वक्तुं युक्तं—जनकत्वाविशेषाच्चक्षुरादीनामपि तद्विषयत्वप्रसंगात्। अथैतन्नीलेन कर्मणा सत्ता जन्यते न त्वेवं चक्षुरादिना इत्यस्य-तदेकविषयत्वम्? इति चेत् नैतत्--कर्मत्वं हि कारकत्वं तच्च क्रिया-वेशवशाद्भवति, अन्यथा हि तद्वस्तुमात्रं स्यात्, न कारकं, नीलस्य चेह ज्ञानाख्यक्रियावेश एव विचारयितुं प्रस्तुत इति कथं तत्पूर्वमपि अस्य कर्मत्वं स्यात् इति। न जनकत्वेनापि तदेकविषत्वं सिद्ध्येत् यत्पुनर्जनकत्वाविशेषेऽपि वस्तुस्वभावकृत एवायं विशेष इत्युच्यते तत्पलायनप्रकारासूत्रणम्, इत्यलं बहुना। एतेन इन्द्रियाण्यपि गृहीततत्प्रतिबिम्बान्येव तत्तद्विषयपरिच्छेदमाधातुमुत्सहन्ते इति साधु दृष्टान्तितम्—'तत्परवक्तृवदिति' यद्यप्येतत् श्रोतृमात्रे संभवति तथाप्यभिनिवेशादिना वक्तृप्रतिवक्त्रोः परस्परमवश्यंभावि सांमुख्य-मित्येतन्निदर्शनीकृतम्।

वक्त्राकाश प्रतिवक्ता के श्रोत्राकाश में भी प्रतिबिम्बित होता है" जैसे श्रोत्राकाश प्रतिबिम्बरूप से ग्रहण करता है। उसी तरह कूपादि आकाश भी उसे ग्रहण करते हैं।

यहाँ इन्द्रिय ग्राह्य अन्य विषय भी विमृष्टव्य हो जाते हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पाँच प्रकार के ज्ञान हैं। सभी पृथक् पृथक् हैं। यह ज्ञान क्या हैं? ये सभी प्रतिबिम्ब हैं। विषयों का परिच्छेद इसी आधार पर होता है। अन्यथा जहाँ निराकार ज्ञान होता है वहाँ तो सामान्य भाव होता है-वहाँ 'यह नीला है' 'यह पीला है। यह नियम नहीं बन सकता। इस लिये इन्द्रिय जन्य ज्ञान साकार ज्ञान है क्योंकि इन्द्रियों से ग्राह्य आकारवत्ता के बिना उसकी प्रतिकर्त्तव्यता सिद्ध नहीं हो सकती। अर्थात् क्यों न यह माना जाय कि इदम् नीलम् तथा नीलमिदम् में प्रतिकर्म है।

प्रश्न है कि जो इस ज्ञान का जनक है, वही विषय है। इस मान्यता के अनुसार तो जनकत्व रुप प्रतिकर्मव्यवस्था भी पूर्ण हो जाती है, किन्तु इसमें दोष यह है कि जनकत्व का और विषयत्व का निर्धारण न होने से चक्षु आदि भी जनकवत् ग्राह्य होने लगेंगे। नील रूप कर्म के द्वारा एक नीलत्व सत्ता की उत्पत्ति होती है। उसी तरह आंख के द्वारा नहीं होती है। इस तरह ज्ञान का जनक विषय है-यह मानने में यह अन्तर है कि कर्म कारक होता है। क्रिया के आवेश के कारण ही कारकत्व होता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो कर्म वस्तु मात्र रह

श्रोतॄणां पुनरसांमुख्यमपि संभाव्यते, तथाहि—एवं वदन्तो लौकिकाः श्रोतारो दृश्यन्ते 'न मया श्रुतमनेनोक्तमिति'। यद्वा सामान्येन कूपाद्याकाशे प्रतिबिम्बितो वक्त्राकाशः पर इव वक्ता भाति—वक्त्रन्तरेण इव उच्चारितः शब्द श्रूयते इत्यर्थः। एवं प्रतिबिम्बमपि तदभेदवृत्तित्वाद्बिम्बसंमुखमेवेति युक्तमुक्तम् 'नियमाद् बिम्बसांमुख्यं प्रतिबिम्बस्येति' ॥३१॥

अत एव च बिम्बप्रतिबिम्बयोर्मध्यदेशग एव प्रमाता तत्तद्गृह्णाति नान्य इत्याह

यथा चादर्शपाश्चात्यभागस्थो वेत्ति नो मुखम् ।
तथा तथाविधाकाशपश्चात्स्थो वेत्ति न ध्वनिम् ॥३२॥

मुखमित्यन्यसंबन्धिमुखप्रतिबिम्बं, तथाविधेति बिम्बसंमुखीनः पश्चात्स्थो—गह्वरगुहाप्रायदेशस्थ इत्यर्थः।

जायेगा, कारक नहीं हो सकता। नील में ज्ञान रूपी क्रिया का आवेश ही विचार का विषय है। इसके पूर्व यह कर्म नहीं कहा जा सकता था। देखने और विचार का विषय होने पर ही नील विषय की नीलता का ज्ञान होता है। इस लिये विषय जनक नहीं हो सकता। यह प्रतिबिम्बमात्र ही होता है।

जनक मानने पर भी दोनों की एक विषयता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जनकत्व में सामान्य भाव होता है। वस्तु के स्वभाव से विशेष की सिद्धि होती है। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ विविध विषयों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हैं। इस से विषयों का परिच्छेद हो जाता है। 'पर वक्तृवत् श्रोता के श्रुत शब्द से सम्बन्धित प्रयोग है फिर भी अभिनिवेश आदि से वक्ता और श्रोता का अवश्यंभावी सांमुख्य यहाँ निर्दशित हो जाता है। उसी तरह इन्द्रिय जन्य विषय, ज्ञान के प्रतिबिम्ब मात्र हैं।

जो केवल श्रोता हैं। इनमें परस्पर सांमुख्य नहीं होता। व्यवहार में श्रोता लोग कहते हैं-'इसने जो कुछ कहा है-मैंने नहीं सुना है' अथवा सामान्यतया कूपाद्याकाश में प्रतिबिम्बित वक्ता-सम्बन्धित आकाश कभी दूसरा वक्ता ही जान पड़ता है। प्रतीत होता है कि कोई दूसरा हो इसे बोल रहा है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब और बिम्ब की अभेद वृत्ति होने के कारण परस्पर सांमुख्य स्वीकार्य होता है। यही तथ्य श्लोक २८ में भी प्रतिपादित है ॥३१॥

इसीलिये बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों के बीच का प्रमाता ही ग्रहण करता है, दूसरा नहीं। यही कह रहे हैं—

ध्वनिमिति प्रतिश्रुत्कालक्षणं, नो वेत्ति इति वेदनमात्रनिषेधात्प्रतिबिम्बस्य वस्तुतोऽवस्थानमस्तीति सूचितम्, न हि ज्ञानाभावाज्ज्ञेयस्याप्यभाव इति भावः–तेनोत्पन्नमपि प्रतिबिम्बं योग्यदेशा-वस्थानाभावान्न जानातीत्यर्थः, यद्यपि चैतन्नियमाद् बिम्बसांमुख्यमित्यादिनैव गतार्थं तथापि रूपप्रतिबिम्बसाजात्योपोद्बलनाय पुनरुपात्तम् ॥३२॥

नन्वत्र रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वं किमंशांशिकया सर्वंसर्विकया वा? तत्राद्ये पक्षे वस्तुभूतशब्दजातीयत्वमपि प्रतिभासमानत्वादिना केनाप्यंशेनास्तीति तद्रूपतापि प्रसक्ता स्यात्, सर्वंसर्विकया चैतन्नास्ति—यदुत्पन्नेऽपि रूपप्रतिबिम्बे हस्तादेर्बिम्बस्य प्रतीतिः, इह तु न तथा,—इत्याशंकां दर्शयति

शब्दो न चानभिव्यक्तः प्रतिबिम्बति तद्ध्रुवम् ।
अभिव्यक्तिश्रुती तस्य समकालं द्वितीयके ॥३३॥

क्षणे तु प्रतिबिम्बत्वं श्रुतिश्च समकालिका ॥

इह शब्दस्तावत् अनभिव्यक्तोऽनुच्चारितः प्रतिबिम्बात्मतां नाभ्येति इति नूनमसौ प्रथमे क्षणे स्थानकरणाभिघातादभिव्यक्तः सन् श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यतामवगाहते ।

मुख अन्य सम्बन्धित मुख का प्रतिबिम्ब है। उसे आदर्श के पीछे रहने वाला द्रष्टा नहीं देख सकता। उसी तरह बिम्ब शब्दाकाश के पीछे गुहागह्वर में रहने वाला श्रोता ध्वनि के प्रतिबिम्ब को श्रोत्राकाश में ग्रहण नहीं कर सकता।

प्रतिश्रुत्का का लाभ उसे नहीं मिल सकता, यह इससे स्पष्ट है। यद्यपि संवेदन का निषेध है पर प्रतिबिम्ब की सत्ता वहाँ है। इस लिये ज्ञान के अभाव में ज्ञेय का अभाव नहीं होता। इस लिये प्रतिबिम्ब तो उत्पन्न है, पर योग्य देशावस्थान के अभाव में श्रोता नहीं जान पाता। इससे शब्द प्रतिबिम्ब और रूप प्रतिबिम्ब में साजात्य है–यह श्लोक २७ की उक्ति भी सिद्ध हो जाती है ॥३२॥

प्रश्न होता है कि रूप प्रतिबिम्ब-साजात्य अंशांश रूप से होता है या सर्वांशतः? आदि पक्ष में वस्तु भूत शब्दज शब्द-जातीयता, प्रतिभासमानता के कारण यदि कुछ अंशो में भी हुई तो ताद्रूप्य भी प्रसक्त हो जायेगा? द्वितीय पक्ष में ऐसा कुछ नहीं होता जैसा कि रूप प्रतिबिम्ब के उत्पन्न हो जाने पर हस्त आदि बिम्ब की प्रतीति होती ही है। यहां ऐसा नहीं होता। क्यों? इसका उत्तर दे रहे हैं—

द्वितीये क्षणे पुनः प्रतिबिम्बतामश्नुवानः श्रूयते, इति—नास्योच्चारितप्रध्वंसिनो बिम्बसंमतस्य प्रतिबिम्बात्मतावसरे प्रतीतिः, अतश्च नात्र रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वं--तत्र प्रतिबिम्बकालेऽपि बिम्बस्य प्रतीतेः ॥३३॥

तदेतन्नेत्याह

तुल्यकालं हि नो हस्ततच्छायारूपनिश्चयः ॥३४॥

निश्चय इति विमर्शात्मावभासः, तत्रापि न प्रतिबिम्बकाले बिम्बस्य प्रतीतिः, न हि प्रतिबिम्बप्रतीतौ बिम्बस्यापि हस्तादेः प्रतीतिर्युक्ता—युगपत्प्रतीतिद्वयोदयविरोधात्, न चेयं चित्रज्ञानवदेकैव उभयालम्बना—बिम्बप्रतिबिम्बयोर्विदूरदेशवर्तित्वात् अविच्छेदेन प्रतिभासाभावात्। ननु हस्तादेः प्रतिभासाभावेऽपि वस्तुनोऽवस्थानमस्ति? इति चेन्नैतत्—आभास एव हि सर्ववस्तुव्यवस्थापकः तमन्तरेण अर्थानां सत्त्वासत्त्वनिश्चयायोगात्, स एव चात्र नास्ति, इति हस्तादेर्बिम्बस्य वस्तुतः सद्भावे किं प्रमाणं, शब्दस्य च द्वितीये क्षणेऽपि नश्यदवस्थस्य वस्तुतः सद्भावोऽस्ति किं तु प्रतिबिम्बात्मतावसरे तस्य प्रतीतिरेव न भवेदित्यत्रापि न बिम्बप्रतिबिम्बयोर्युगपत्प्रतीतिरितिस्थितमेवास्य तज्जातीयत्वम् ॥३४॥

शब्द यदि उच्चारित नहीं हुआ तो उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। इस लिये पहले ध्रुव रूप से जब स्थान और करण के अभिघात से शब्द अभिव्यक्त होता है, वह तभी श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होता है। दूसरे क्षण में वह प्रतिबिम्ब बन जाता है। समकालिका श्रुति भी स्वाभाविक रूप से होती है। यह ध्यान देने की बात है कि शब्द उच्चारण के बाद ध्वंस हो जाता है। अतः रूप की तरह बिम्ब सदृश उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। इस लिये रूप प्रतिबिम्ब साजात्य यहाँ नहीं हो सकता क्यों कि रूप के बिम्ब की प्रतीति प्रतिबिम्ब बनने पर भी होती ही है ॥ ३३ ॥

तुल्यकालिक अवभास भी मान्य नहीं है। हस्त और छाया में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। इनकी युगपत्प्रतीति असंभव है। वस्तुतः छाया का विमर्शात्मक अवभास होता है। इसी तरह शब्द और प्रतिशब्द में भी होता है। यद्यपि उच्चरित शब्द तत्काल नश्यदवस्थ होता है अतः प्रतिबिम्ब के अवसर पर उसकी प्रतीति नहीं हो सकती।

यह ध्यान देने की बात है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब रूप हाथ और उसकी छाया की युगपत्प्रतीति का उदय अस्वाभाविक है। ऐसा हो ही नहीं

एवं नैयायिकमतापहस्तनेन प्रतिबिम्बपरमार्थमुपपाद्य प्रकृतमेवोपक्रमते

इत्थं प्रदर्शितेऽमुत्र प्रतिबिम्बसतत्त्वके ।
प्रकृतं ब्रूमहे तत्र प्रतिबिम्बनमर्हति ॥३५॥

शब्दो नभसि सानन्दे स्पर्शधामनि सुन्दरः ।
स्पर्शोऽन्योऽपि दृढाघातशूलशीतादिकोद्भवः ॥
परस्थः प्रतिबिम्बत्वात्स्वदेहोद्धूलनाकरः ॥३६॥

तदाह--तत्रेत्यादि, तत्रेति एवंस्थिते सतीत्यर्थः । नभसीति तत्रैव शब्दस्य नैर्मल्यात्, स च परस्थः सन् प्रतिबिम्बनमर्हतीत्यन्वयः, एतच्च सर्वत्रैव योज्यम्, सानन्द इति आनन्दस्थानात्मके कन्दहृत्तालुतलादौ आधारविशेषे, तत्रैव हि स्पर्शस्य नैर्मल्यान्मिथुनोपभोगसमुचितः स्पर्शः प्रतिसंक्रामति येन धातुनिःष्यन्द-सुखाद्यपि स्यात् । अत एवानन्दातिशयकारित्वात् 'सुन्दर' इत्युक्तम् । अन्यो दुःखादिकारित्वादसुन्दरोऽपि स्पर्शोऽर्थात् दुःखाद्यात्मके मत्तगन्धजठरकूर्मनाडी-कण्ठप्रभृतौ आधारविशेषे प्रतिसंक्रामति येन मूर्च्छाद्यपि स्यात्, परस्थ इति परानुभूयमानः, तत्र हि स मुख्य इति भावः ।

सकता । यह चित्रवत्प्रतीति भी नहीं है । बिम्बप्रतिबिम्ब अलग अलग रहते हैं । इसलिये अवभास भी पृथक्-पृथक् ही होगा । ऐसा भी नहीं कह सकते कि प्रतिभास न होने पर भी वस्तु का सद्भाव रहता है क्योंकि आभास ही सभी वस्तुओं की व्यवस्थापक है । उसके विना वस्तु के सद्भाव या असद्भाव का निश्चय नहीं हो सकता ॥३४॥

इस प्रकार नैयायिक मतवाद निरस्त कर प्रतिबिम्बवाद की प्रतिपादकता के अनन्तर प्रकृत विषय का उपक्रम कर रहे हैं—

इस प्रकार बिम्बप्रतिबिम्बवाद की प्रतिस्थापना करने के उपरान्त अब मैं प्रकृत का पुनः उद्घोष करता हूँ कि शब्द का नैर्मल्य आकाश में विद्यमान है । वहीं उसका प्रतिबिम्बोदय स्वाभाविक है । यही बात अन्यत्र स्पर्श आदि में भी लागू होती है । आनन्द के स्थान कन्द, हृदय और तालु आदि में स्पर्श का नैर्मल्य है । मिथुन के उपभोग के अवसर पर तदनुरूप स्पर्श का प्रतिसंक्रमण होता है और परिणामतः धातुस्रावजन्य सुखोपलब्धि होती है । आनन्दातिशय के कारण ही वह सुन्दर होता है । असुन्दर स्पर्श भी मत्तगन्ध, जठर, कूर्मनाडी और कण्ठ आदि में त्वरित संक्रमण करता है । परिणामतः मूर्च्छा से लेकर

एतच्चोपलक्षणं—तेन स्मर्यमाणोत्प्रेक्ष्यमाणादिरूपोऽप्यसौ एवं स्यात्। प्रतिबिम्बत्वं च अस्य कुतो लक्ष्यते ? इत्याह--'प्रतिबिम्बत्वात्स्वदेहोद्धूलनाकर' इति, एतच्च सुखदुःखयोरनुभवे समानमित्यविशेषेणोपात्तम् ॥३५-३६॥

नन्वेवमर्थक्रियाकारित्वादेषु मुख्य एव स्पर्शः किं न भवति ? इत्याशंक्याह

न चैष मुख्यस्तत्कार्यपारम्पर्याप्रकाशनात् ॥३७॥

मुख्य इति बिम्बरूपः, तस्य स्पर्शस्य यत्कार्यमानन्दादि तस्य यत् पारम्पर्यं—प्रबन्धेन प्रवृत्तिः तस्यानवभासनात्, साक्षाद्धि संनिहिते कारणे कार्यमविच्छेदेनैव उद्गच्छद्भवति, न चैवमिह, इत्यस्य न मुख्यत्वम् ॥३७॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

एवं घ्राणान्तरे गन्धो रसो दन्तोदके स्फुटः ॥३८॥

दन्तोदक इति निर्मलरसगुणयुक्ते--रसनेन्द्रियाधिष्ठानभूत इत्यर्थः ॥३८॥

मृत्यु तक हो जाती है। इसकी दो स्थितियों का आकलन होता है। १-परस्थ और २-प्रतिबिम्ब। पहली अवस्था में वह मुख्य होता है। दूसरी अवस्था में प्रतिबिम्ब रूप से अपने ही आधार भूत शरीर में उदीप्ति का उद्भावक बन जाता है। कभी-कभी यह स्मृतिजन्य या उत्प्रेक्षा जन्य भी होता है। सभी अवस्थाओं में यह अपना प्रभाव उसी प्रकार स्थापित करता है ॥३५-३६॥

प्रश्न होता है कि इस प्रकार अर्थ-क्रिया कारी होने के कारण यह स्पर्श मुख्य क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

मुख्य तो बिम्ब रूप स्पर्श होता है। उसका ही कार्य आनन्द आदि है। इसमें पारम्पर्यका प्रकाशन होता है किन्तु प्रतिबिम्ब-अर्थ के क्रियाकारी होने के बावजूद स्पर्शानन्द आदि की परम्परा का प्रकाशन नहीं हो पाता। इसलिये इसे मुख्य नहीं कह सकते। नियम है कि कारण के सान्निध्य में रहने पर कार्य नैरन्तर्य से अनवरत गति से होता है। ऐसा यहां नही होता ॥३७॥

इसी का अन्यत्र भी प्रतिनिर्देश कर रहे हैं—

गन्ध की भी यही दशा है। नासिका में गन्ध के नैर्मल्य के कारण वहाँ गन्ध प्रतिबिम्बित होता है। दन्तमूल में रसना से स्रवित जल को दन्तोदक कहते हैं। रस के रसना में प्रतिबिम्बित होते ही दन्तोदक फूट पड़ता है। किसी को चटपटी चीज खाते देख कर मुख में पानी भर आता है। वह रस का प्रतिबिम्ब है। यह स्मृति से या उत्प्रेक्षा से भी होता है ॥३८॥

एवं प्रतिश्रुत्कावद्रसादिप्रतिबिम्बानामपि रूपप्रतिबिम्बजातीयत्वं कटाक्षयन् यथासंभवं व्यवस्थां दर्शयति

यथा च रूपं प्रतिबिम्बितं दृशोर्न
चक्षुषान्येन विना हि लक्ष्यते ।
तथा रसस्पर्शनसौरभादिकं
न लक्ष्यतेऽक्षेण विना स्थितं स्वपि ॥३९॥

इह अवभासनमात्रसारमेव प्रतिबिम्बसतत्त्वमित्युक्तं बहुशः, अवभासनं च तत्तद्विषयग्राहकेन्द्रियानुग्राहकान्तःकरणाधिष्ठानायत्तम्, यतः संनिहितेऽपि दर्पणादौ यदि चक्षुरादीन्द्रियजातमन्तःकरणाधिष्ठितं न जातं तत्को नाम मुखादिप्रतिबिम्बावभासः, ततश्च दृशोः दृगिन्द्रियाधिष्ठेययोः गोलकयोः प्रतिसक्रान्तं रूपमन्येन अन्यसंबन्धिना चक्षुरिन्द्रियेण विना नाभिलक्ष्यते—

इस तरह प्रतिश्रुत्का की भांति रसादि प्रतिबिम्बों में भी रूप प्रतिबिम्ब साजात्य-दृष्टिकोण पर कटाक्ष करते हुए यथा सम्भव व्यवस्था का दिग्दर्शन कर रहे हैं—

यहाँ बहुधा यह प्रतिपादित है कि प्रतिबिम्ब अवभास मात्र सार है ! अवभासन भी उन-उन विषयग्राही इन्द्रियों से अन्तः करण में अधिष्ठित अनुभूति के अधीन होता है । यह देखा जाता है कि पास में ही दर्पण पड़ा हुआ है, पर अतःकरण से इन्द्रिय संयोग नहीं है । परिणामतः प्रतिबिम्ब नहीं दीख पड़ता । इस लिये आँख और चक्षु इन्द्रिय के अधिष्ठेय गोलक में प्रतिसंक्रान्त प्रतिबिम्ब का अवभासन अन्य आंख के व्यापार के बिना संभव नही है । यह बात केवल प्रतिबिम्ब के आधार-रूप दर्पण में प्रतिसंक्रान्त रूप के अवभासन में ही अन्य इन्द्रिय ब्यापार के उपयोग के विषय में हो नहीं लागू होती है अपितु स्वयं अपनी ही आखों में प्रतिसंक्रान्त रूप के सम्बन्ध में भी यह लागू होती है ! आंख में अञ्जन लगता है । वह आँख से अलग नहीं रहता । आँख उसे नहीं देखती । आँख में प्रतिसंक्रान्त रूप को दूसरी आँख ही देख सकती है ।

चक्षुरिन्द्रियान्तरव्यापारमन्तरेण न निर्भासत इत्यर्थः। न केवलं तत्परिच्छेद-कौशलशून्ये दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तस्य रूपस्यावभासने अन्यसंबन्धिचक्षुरिन्द्रियो-पयोगो यावत्स्वयमेवं कुशलयोर्दृशोरपि इति दर्शयितुमुक्तं 'दृशोरिति'। न खलु चक्षुरञ्जनादिवदतिसंनिकृष्टं परिच्छेत्तुमलमिति भावः, तेन न इन्द्रियव्यापार-मन्तरेणैतन्निर्भासत इति तात्पर्यम्। एवं यथैतत्तथा रसादि प्रतिसंक्रान्तं सत् स्थितमपि स्वेन्द्रियव्यापारमन्तरेण पुनर्न लक्ष्यते नावभासत इत्यर्थः। अत्र चक्षुरादीन्द्रियाणामवभासनान्यथानुपपत्त्या अन्तःकरणाधिष्ठानं लक्ष्यते इति न स्वकण्ठेनैतदुपात्तम्, अन्यथा हि व्याप्रियमाणमपि चक्षुरादि न किंचित्परि-च्छिन्द्यात्। ननु इह रूपशब्दयोरन्तश्चक्षुःश्रोत्रादौ बहिश्च दर्पणाकाशादौ प्रतिबिम्बयोग इति बाह्यं प्रतिबिम्बमन्यसंबन्धिभ्यां चक्षुश्रोत्राभ्यां परिच्छिन्द्यते इत्युपपन्नम्। स्पर्शादि पुनरन्तर्देह एव कन्दादौ प्रतिसंक्रामति इति तत्र स्थितं, तत्परसंतानस्य नित्यानुमेयत्वाच्च अन्यस्य संबन्धिनो बाह्येन्द्रियज्ञानस्य विषयो न भवेत्, तत्कथमुक्तं—रूपप्रतिबिम्बवदेतदक्षेण विना न लक्ष्यते इति ॥३९॥

उसी प्रकार रसादि के प्रतिसंक्रान्त हो जाने पर भी बिना अन्य इन्द्रिय व्यापार के वे अवभासित नहीं हो सकते। यह ध्यान देने की बात है कि आँख आदि सभी इन्द्रियों से अन्तःकरण का संयोग आवश्यक है। बिना अन्तःकरण के संयोग के अवभासन अनुपपन्न ही माना जायगा। अतः इन्द्रिय वर्ग का अन्तःकरणाधिष्ठान अनिवार्य है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो व्यापार-संलग्न भी आँख आदि इन्द्रियां कुछ भी परिच्छेद पूर्ण अनुभव नहीं कर सकतीं।

यही स्थिति रस, स्पर्श और गन्ध आदि की भी है। यह सब भी बिना अन्य इन्द्रिय व्यापार के लक्षित नहीं हो सकते, भले ही प्रतिसंक्रान्त हों। रूप और शब्द इन दोनों का आँख और कान के आकाश में भीतरी ओर तथा बाहर दर्पण और आकाश में उभयत्र प्रतिबिम्ब-योग होता है। इसमें बाह्य प्रतिबिम्ब अन्य आंख आदि से या अन्य आँख आदि के व्यापार से परिच्छिन्न रूप से अवभासित होते हैं। किन्तु स्पर्श, रस और गन्ध में यह बात नही लागू होती। यहाँ अन्तर् देह में ही प्रतिसंक्रमण होता है। इस लिये अन्य सम्बन्धी बाह्येन्द्रिय व्यापार की आवश्यकता ही नहीं होती ॥३९॥

तदाह

न चान्तरे स्पर्शनधामनि स्थितं
बहिःस्पृशोन्याक्षधियः स गोचरः ॥४०॥

आन्तरे इति अन्तर्देहवृत्तित्वात्, स्पर्शनधामनीत्युपलक्षणम् तेन गन्ध-रसक्षेत्रयोरपि ग्रहणम्, अन्याक्षधियश्चान्तरस्पर्शाद्यग्रहणे 'बहिःस्पृश' इति विशेषणद्वारको हेतुः, स इति गोचरशब्दापेक्षो निर्देशः। एवमन्तर्देहवृत्ति-त्वात्कन्दादेः स्पर्शादिक्षेत्रस्य च चक्षुर्गोलकादिवत् प्रमात्रन्तरे इन्द्रियगोचरता नास्तीति ॥४०॥

तत्र स्थितं स्पर्शादि अन्तःकरणाधिष्ठितस्वेन्द्रियव्यापारादेव निर्भासत इत्याह

अतोऽन्तिकस्थस्वकतादृगिन्द्रिय-
प्रयोजनान्तःकरणैर्यदा कृता।
तदा तदात्तं प्रतिबिम्बमिन्द्रिये
स्वकांक्रियां सूयत एव तादृशीम् ॥ ४१ ॥

अतो—यथोक्तादान्तरत्वादेर्हेतोः, मनःप्रभृतीनामन्तःकरणानां क्रमेण सर्वेन्द्रियसंयोगसंभवादन्तिकस्थं संयुक्तं स्वकं विषयौचित्येन नियतं तादृगि-न्द्रियघाताद्यभावाददुष्टं च तदिन्द्रियं त्वगादि तस्य प्रयोजनान्तःकरणकर्तृका स्पर्शादौ विषये प्रेरणा यदा भवेत् तदार्थाद् बिम्बभूतबाह्यस्पर्शादिसंनिकर्षात् जाते इन्द्रिये—इन्द्रियज्ञाने, गृहीताकारस्येव ज्ञानस्य तत्तन्नियतविषयपरिच्छेदो-पपत्तेः पूर्वमुक्तत्वात् स्पर्शाद्यात्म प्रतिबिम्बमात्तं गृहीतं सत् तादृशीमानन्दादि-लक्षणां स्वकां बिम्बसंमतामर्थक्रियां सूयते करोतीत्यर्थः। अत एव चात्र वास्तवत्वं—सर्वत्रैव ग्राहकभावस्यैवंभावात् ॥४१॥

स्पर्श, गन्ध और रस अन्तर्देह में अवस्थित हैं। इनका ऐसी इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता जो चक्षु गोलकवत् बाह्य प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हैं। कन्द, नासिकान्तर और दन्तोदक आदि के क्षेत्र अगोचर ही हैं। ये केवल अनुभूति के विषय हैं ॥ ४० ॥

वहाँ स्थित स्पर्श आदि अन्तःकरण स्थित ग्राहकेन्द्रियों द्वारा ही अवभासित होते हैं। यही कह रहे हैं—

बाह्यबिम्बाभावे पुनः स्मर्यमाणं स्पर्शादि स्वक्षेत्रे प्रतिसंक्रान्तमपि न सत्यार्थक्रियाकारि इत्याह

न तु स्मृतान्मानसगोचरादृता
भवेत्क्रिया सा किल वर्तमानतः ।
अतः स्थितः स्पर्शवरस्तदिन्द्रिये
समागतः सन्विदितस्तथाक्रियः ॥४२॥

स्मृतादिति बहिरस्यासंभव उक्तः—तस्या अतीतार्थविषयत्वात्, मानसज्ञानस्य हि सुगन्धिबन्धूकादि बहिरसंभवदपि विषयो भवेदिति भावः । ऋता भवेत्, न तु न भवेदेव इत्यभिप्रायः । स्मर्यमाणादपि हि स्पर्शादेः सुखादि स्यात्, किंतु न तत्सत्यं—प्राबन्धिन्यास्तत्प्रवृत्तेरभावात्, अत्र हेतुः—सा किल वर्तमानत इति, किलेति हेतौ, यतः सा अर्थक्रिया वर्तमानतो बहिः संभवत एवार्थाद्भवतीत्यर्थः, तदाह अत इत्यादि, अत उक्ताद्बहिर्बिम्बात्मना संभवन् उत्कृष्टः स्पर्शः तदिन्द्रिये—स्पर्शनेन्द्रियज्ञाने, समागतो—दत्तप्रतिबिम्बः, अत एव विदितः सन्, तथाक्रियः—सत्यनिजार्थक्रियाकारी भवतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

इसी अन्तर हेतु के कारण मन इत्यादि अन्तःकरणों का और क्रमशः समीपस्थ सभी इन्द्रियों का संयोग अपने विषय के अनुसार होता है । इन्द्रियों के जैसे त्वग् आदि के प्रयोजनीय अन्तःकरण के संयोग से स्पर्श विषयक प्रतिबिम्ब आत्त होते हैं । परिणामतः तादृश स्पर्शानन्द आदि क्रिया-व्यापार का प्रसव होता है । यह अर्थक्रिया प्रतिबिम्ब रूप ही होती है ॥ ४१ ॥

बाह्य बिम्ब के अभाव की अवस्था में स्पर्श आदि स्मर्यमाण होते हैं । ये अपने क्षेत्र में प्रतिसंक्रान्त होने पर भी सत्य अर्थक्रिया का प्रसव नहीं करते हैं । यही कह रहे हैं—

स्मृति का विषय होने कारण कोई क्रिया बाह्य दृष्ट नहीं वरन् मानस गोचर होती है । जैसे स्पर्श की स्मृति । इससे सुख तो सम्भव है पर वह क्रिया सत्य नहीं होती क्यों कि वह वर्त्तमान अर्थात् बाह्य रूप स्मृति बिम्ब से आती है । परिणामतः ऐसे स्पर्श, रस और गन्धादि सुख उस इन्द्रिय में उत्पन्न हो जाते हैं और जान पडता है—विदित होता है कि वह तथा-क्रिया ही है । सच्चे रूप से अपनी अर्थ-क्रिया के वे प्रसविता जान पड़ते हैं ॥ ४२ ॥

नन्वेवं सत एवार्थस्य प्रतिबिम्बार्पणक्षमत्वात् बहिरसंभवन् स्पर्शादिः प्रतिसंक्रान्तिमेव नैतीति स्मृत्यादौ को नामार्थक्रियामेव कुर्यात् यस्या असत्यत्वमपि परिकल्प्येत ? इत्याशंक्याह

असंभवे बाह्यगतस्य तादृशः
स्व एव तस्मिन्प्रतिबिम्बतस्तथा ।
करोति तां स्पर्शवरः सुखात्मिकां
स चापि कस्यामपि नाडिसंततौ ॥४३॥

बाह्यबिम्बाभावे तत्सदृशः स्मृत्यादिविकल्पैरुल्लिखितः स्व एवाकारीभूतः स्पर्शादिर्न तु बाह्यः तस्मिन् स्पर्शक्षेत्रादौ प्रतिबिम्बितः सन् तथा स्वौचित्यादसत्यां सुखलक्षणां तामर्थक्रियां करोतीति वाक्यार्थः। ननु कन्दादीनां बहूनां स्पर्शक्षेत्राणां संभवात् किं सर्वत्रैव स्पर्शः प्रतिसंक्रामति उत कुत्रचिदेव ? इत्याशंक्याह 'स चापि कस्यामपि नाडिसंततावित‍ि' कस्मिश्चिदेव नाडिसंतत्यात्मके कन्दादावाधारविशेष इत्यर्थः, कन्दादिप्राधान्याद्धि केषांचित्केचिदेवाधारविशेषाः संभवन्तीति—यत्रैवैषां नैर्मल्यातिशयः तालुतल इव षण्ठानां तत्रैव तेषां स्पर्शप्रतिसंक्रान्तिरिति भावः ॥४३॥

जिज्ञासु कहता है कि सत् अर्थ में ही प्रतिबिम्ब अर्पण की क्षमता हो सकती हैं। बाह्य रूप से असंभव स्पर्श आदि प्रतिसंक्रान्त ही नहीं हो सकते। फिर स्मृति आदि में अर्थ क्रिया को संपादित ही कौन करेगा, जिसकी असत्यता की परिकल्पना की जाय ? इसका उत्तर दे रहे हैं –

बाह्य बिम्ब के अभाव में उसी के सदृश (स्मृति आदि विकल्पों से उल्लसित) 'स्व' ही मानो साकार हो कर उन स्पर्श आदि क्षेत्रों में प्रतिबिम्बित हो जाता है। वही स्वानुरूप स्पर्शसुखादि अर्थ-क्रिया का सम्पादन करता है। जैसे स्पर्श की निजात्मक सत्ता यदि उद्दीप्त हुई तो वह स्पर्श सुखात्मिका अर्थ-क्रिया को उत्पन्न कर देता है। कन्द आदि विशिष्ट नाडी संस्थान में यह उल्लास अनुभूत होने लगता है। यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ जिसका नैर्मल्यातिशय होता है जैसे तालु तल में षण्ठ-वर्णों का होता है, वहीं स्पर्श आदि की प्रतिसंक्रान्ति होती है ॥ ४३ ॥

एवं प्रतिबिम्बसतत्त्वमुपपाद्य प्रकृते योजयति

तेन संवित्तिमकुरे विश्वमात्मानमर्पयत् ।
नाथस्य भासतेऽमुष्य विमलां विश्वरूपताम् ॥ ४४ ॥

तेन समनन्तरोक्तेन हेतुना, विश्वं संवित्तिरेव स्वच्छतातिशयान्मकुरः तस्मिन्नात्मानमर्पयत्-प्रतिबिम्बं दददमुष्य संवित्त्यात्मनो नाथस्य विमलां युक्त्यनुभवोपपादितत्वान्निरवद्यां विश्वरूपतां स्वात्माभिन्नतां वदते-भासयति, संवित्तेरतिरेकेण न स्फुरति इति यावत्, न खलु दर्पणादेः स्वाधारान्मुखादेः पृथक् स्वातन्त्र्येण प्रतिभासो भवतीति भावः, तेन निखिलमिदं जगत् संवित्त्यात्मनः परमेश्वरस्यैवैकस्य रूपमिति पिण्डार्थः । यदुक्तं प्रज्ञालंकारे

'एवं तर्हि जगत एकस्यैव कस्यचिदनंशस्य
यथोक्तविधिना रूपमस्तु किं नः क्षीयते ।'

इति । वदत इति 'भासनोपसंभाषा०' (पा० सू० १ । ३ ४७) इत्यादिना भासने आत्मनेपदम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार प्रतिबिम्ब की तात्त्विकता का उपपादन कर प्रकृत में नियोजित कर रहे हैं—

फलितार्थतः विश्व ही संवित्ति रूपी दर्पण में अपने आपको प्रतिबिम्ब रूप से अर्पित करता है। चूंकि संविद् स्वातन्त्र्य संपन्न संवित्तिनाथ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के समग्र नैर्मल्यातिशय से परिपूर्ण है। इस लिये अपनी निर्दोष विश्वरूपता का आभासन करता है। श्लोक में वद धातु से "भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः" पा. सू. १।३।४७ के अनुसार आभासन अर्थ में तङ (आत्मेनपद) हुआ है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व अतिरिक्तायमान होते हुए भी अतिरिक्त नहीं है अपितु संविदुल्लास रूप से ही स्फुरित है। जैसे दर्पण में मुख के अतिरिक्त प्रतिभासन नहीं होता। अर्थात् यह सारा विश्व संविद्रूप परमेश्वर का ही एक मात्र रूप है, पृथक नहीं। प्रज्ञालंकार ग्रन्थ में कहा गया है—' ऐसी स्थिति में यह जगत् उसी एक अनंश का अंश रूप हो, इससे वस्तु सत्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता।" इत्यादि ॥ ४४॥

ननु संवित्तेरनतिरिक्तमेव चेद्विश्वं तत्संवित्त्यात्मकत्वात्तस्य तद्धर्मधर्मित्व-मपि स्यात्? सत्यम्–अस्त्येव तत्, इति बाह्यदृष्टान्तपुरःसरमाह

यथा च गन्धरूपस्पृग्रसाद्याः प्रतिबिम्बिताः ।
तदाधारोपरागेण भान्ति खड्गे मुखादिवत् ॥ ४५ ॥
तथा विश्वमिदं बोधे प्रतिबिम्बितमाश्रयेत् ।
प्रकाशत्वस्वतन्त्रत्वप्रभृति　　धर्मविस्तरम् ॥ ४६ ॥

इह खलु रूपादयः प्रतिबिम्बिताः सन्तः स्वाधारोपाधिवैष्ट्येनैव अवभासन्ते, यथा खड्गे तद्धर्मोर्ध्वताद्युपरक्ततया मुखं तथा महति सूक्ष्मे वा दर्पणे तथात्वेनेति, तद्वद्विश्वमपीदं प्रकाशे प्रतिबिम्बितं सत् प्रकाशमानत्वादि तद्धर्मजातमाश्रयेत्—स्वीकुर्यादेवेत्यर्थः। प्रकाशादनतिरिक्तत्व एव हि विश्वस्य प्रकाशमानत्वं स्यात् अन्यथा हि प्रकाशमानत्वायोगात् न किंचिदपि स्फुरेत्, अत एव च स्वयं प्रकाशमानत्वादस्य स्वातन्त्र्यं; प्रकाशादतिरिक्तत्वे हि जडस्य नीलमुखाद्यात्मनो विश्वस्य स्वयमप्रकाशरूपत्वात् स्वात्मना न प्रकाशः अपितु परेण इति परापेक्षायां पारतन्त्र्यं भवेदिति भावः, अत एव च सर्वमेवेदं वेद्यजातं प्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य शरीरीभूतम्—इति प्रकाशात्मत्वाद्विश्वात्मैव, तदुक्तम्

यदि संविद् से विश्व अनतिरिक्त है तो संवित्तिरूप होने के कारण दोनों में धर्म धर्मी भाव भी होना चाहिये। बाह्य दृष्टान्त से इस जिज्ञासा का समर्थन कर रहे हैं—

जैसे गन्ध, रूप, स्पर्श, रस आदि प्रतिबिम्बित हो कर अपने आधार की उपाधिगत विशिष्टता के साथ ही अवभासित होते हैं। खड्ग में मुख ऊपर नीचे लम्ब की तरह, दर्पण में भी लम्बई चौड़ाई के अनुसार प्रतिबिम्बित होता है। उसी तरह यह समग्र विश्व भी बोधात्मक प्रकाश में प्रतिबिम्बित होता है। साथ ही प्रकाश के कारण प्रकाश धर्म का भी आश्रय बनता है। प्रकाश के बिना तो इसका प्रकाशन ही नहीं हो सकता। स्वयं प्रकाशमान होने के कारण स्वातन्त्र्य भी इसमें है। यदि यह पर-प्रकाश्य होता तब तो पारतन्त्र्य होता। इसमें पर-प्रकाश्यता नहीं है। इसलिये स्वातन्त्र्य धर्म से भी संवलित है। विश्वात्मकता भी प्रकाश्यमानता पर ही निर्भर है। कहा गया है—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च'

इति । तथा

'एकैकस्यापि तत्त्वस्य षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता' ।

इति च ॥ ४५-४६ ॥

ननु रूपादीनां मध्यात्क्वचिदेव किंचित्प्रतिबिम्बमेतीति प्रतिपादितं प्राक्, तत्कथं रूपाद्यात्मकं निखिलमेव विश्वमेकस्मिन्बोधे प्रतिसंक्रान्तिमियात् ? इत्याशंक्याह

यथा च सर्वतः स्वच्छे स्फटिके सर्वतो भवेत् ।
प्रतिबिम्बं तथा बोधे सर्वतः स्वच्छताजुषि ॥ ४७ ॥

सर्वत इति स्फटिकपक्षे सर्वस्याः पूर्वापरादिकाया दिशः, बोधपक्षे सर्वस्माद्रूपादेः, यद्यपि सर्वतः स्वच्छे स्फटिके सर्वतो रूपमात्रप्रतिबिम्बमव भवेदिति नास्य दृष्टान्तस्य रूपादिप्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णौ बोधे साम्यं तथापि यथायथं स्वच्छतातिशयसम्भवात् भावानां प्रतिबिम्बग्रहणोत्कर्षप्रतिपिपादयिषया एतदुपात्तम्, तथाहि दर्पणस्य पुरोभाग एव खड्गस्य पूर्वापरभागयोरेव स्फटिकस्य च सर्वत एव स्वच्छतातिशय इत्येषां यथायथं प्रतिबिम्बग्रहणे तारतम्यं संभवति,

---

"प्रदेश भी ब्रह्म की सर्वरूपता को अतिक्रान्त नहीं करता । वह भी अविकल्प्य है ।" तथा—

"एक-एक तत्त्व में ३६ तत्त्वात्मकता उल्लसित है ।" इत्यादि ॥४५-४६॥

प्रश्न है कि रूपादि के मध्य से कोई तन्मात्र ही कहीं प्रतिबिम्बित होता है, यह पहले कहा गया है । यहाँ कहा गया है कि रूपाद्यात्मक निखिल विश्व ही एक बोध में ही प्रतिसंक्रान्त है । यह क्यों और कैसे ? इसी का प्रतिपादन कर रहे हैं–

प्रतिबिम्ब के आश्रय के रूप में पहले दर्पण, पुनः खड्ग और उसके बाद स्फटिक रूप तीन दृष्टान्त आये । इनमें स्फटिक में चारों ओर प्रतिबिम्ब होता है क्यों कि वह चारों ओर से स्वच्छ है । खड्ग में दोनों ओर प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और दर्पण में एक ओर ही रूप प्रतिबिम्ब होता है । इसमें एक तारतम्य दीख पड़ता है । यहाँ स्फटिक का दृष्टान्त सार्वत्रिक नैर्मल्यातिशय के लिये दिया गया है । जैसे सर्वतः स्वच्छ स्फटिक में रूपादि प्रतिबिम्ब ग्रहण सामर्थ्य है,

एवं बोधस्यापि सर्वतः स्वच्छत्वाद्रूपादिप्रतिबिम्बग्रहणे सामर्थ्यमिति, एवं च स्फटिकादपि अत्यन्तस्वच्छो बोध इति तात्पर्यार्थः ॥ ४७ ॥

ननु का नामास्य ततोऽप्यत्यन्तस्वच्छता ? इत्याह

अत्यन्तस्वच्छता सा यत्स्वाकृत्यनवभासनम् ।
अतः स्वच्छतमो बोधो न रत्नं त्वाकृतिग्रहात् ॥ ४८ ॥

इह खलु प्रकाशः स्वप्रकाशत्वात् स्वात्मन एव प्रकाशते न परस्य इत्यन्यानपेक्षणात् वेद्यत्वगन्धमात्रमपि न स्पृशति इति नास्य स्फटिकादिवज्ज्ञानान्तरग्राह्यत्वं येनाकारावभासेऽपि स्यात्, इह स्वच्छमेव हि अस्वच्छस्य प्रतिबिम्बं स्वीकर्तुं शक्नुयात् सितदुकूलमिव स्फटिकमणिः, न च परप्रमात्रेकरूपं प्रकाशमपेक्ष्य अन्यदधिकस्वच्छं किंचिदस्ति यदस्याप्याकारग्रहणनिपुणं स्यात् इति यक्तमुक्तम् 'अत्यन्तस्वच्छता सा यत्स्वाकृत्यनवभासनम्' इति । स्फटिकादि पुनर्ग्राह्यत्वादेतदपेक्षया न स्वच्छं—यथा यथा हि स्फुटावेद्यता तथा तथा स्वच्छस्वस्याभाव इति भावः, अनेनैव चाभिप्रायेण पूर्वं

'नैर्मल्यं मुख्यमेतस्य संविन्नाथस्य सर्वतः ।
अंशांशिकातः क्वाप्यन्यत्............. ॥'

इत्यादिना बोधस्य तदितरेषां केषांचन भावानां च स्वच्छत्वस्य मुख्यामुख्यतया द्वैविध्यमुक्तम् । एवं दर्पणादि स्वच्छं स्फटिकं स्वच्छतरं बोधस्तु स्वच्छतम इत्याशयः ॥ ४८ ॥

उसी तरह बोध में सार्वत्रिक स्वच्छता के कारण सर्वप्रतिबिम्ब ग्रहण सामर्थ्य है । स्फटिक से भी अधिक स्वच्छता का उत्कर्ष बोध में है, जिसमें विश्व प्रतिबिम्बित है ॥ ४७ ॥

यह नैर्मल्यातिशय क्या है ?--इसका वर्णन कर रहे हैं—

अत्यन्त स्वच्छता वही है कि उसमें उसकी अपनी आकृति का अवभासन भी न हो । रत्न और स्फटिक तथा दर्पण और खड्ग ये सभी पर-प्रकाश्य हैं इस लिये परतन्त्र हैं । वे स्वच्छ-स्वच्छतर हो सकते हैं किन्तु बोध स्वच्छतम है । औरों में स्वाकारावभास है । बोध में नहीं है । इसीलिये श्लोक ९ में स्वच्छत्व का द्वैविध्य उल्लिखित है । अर्थात् बोध और बोधेतर दो दो भेद अंशाशिकार्थ में दिये गये हैं । दर्पण स्वच्छ है । स्फटिक स्वच्छतर है । बोध सर्वातिशायी उत्कर्ष वाला अर्थात् स्वच्छतम है ॥ ४८ ॥

तदेवं संवित्प्रतिबिम्बेन विश्वस्य सर्वतः संभवत्यपि बाह्यप्रतिबिम्बसाम्ये अस्ति कश्चित्ततो युक्तिबलानीतो विशेष इत्याह

प्रतिबिम्बं च बिम्बेन बाह्यस्थेन समर्प्यते ।
तस्यैव प्रतिबिम्बत्वे किं बिम्बमवशिष्यताम् ॥ ४९ ॥

इह खलु मुखादिना बाह्येन बिम्बेन दर्पणादौ प्रतिबिम्बं समर्प्यते इत्यत्र तावन्न कस्यापि विमतिः, यदा पुनस्तस्य बिम्बत्वेन संमतस्य बाह्यस्यैव प्रतिबिम्बत्वमुपगम्यते तदा किं नाम बिम्बप्रतिबिम्बार्पणक्षमं वस्तु अवशिष्यताम्, न किंचिदपि संभवतीत्यर्थः । नहि यथा ज्ञानाद्विच्छिन्नो नीलसुखादिरर्थस्तथा ततोऽपि विच्छिन्नमर्थान्तरमस्तीति कस्याप्यभ्युपगमः ॥ ४९ ॥

ननु यद्यप्येतदेवं तथापि निर्निमित्तमेव कथं प्रतिबिम्बमुदियात् इति, तत्र बिम्बभूतं किंचित्कारणं वक्तव्यम् ? इत्याशंक्याह

यद्वापि कारणं किंचिद् बिम्बत्वेनाभिषिच्यते ।
तदपि प्रतिबिम्बत्वमेति बोधेऽन्यथा त्वसत् ॥ ५० ॥

इस प्रकार संवित्प्रतिबिम्ब के द्वारा समग्र विश्व का समुद्भव होता है फिर बाह्य प्रतिबिम्ब की समानता में कोई सत्तर्क संगत वैशिष्ट्य को कलना यहां है । वही कह रहे हैं—

बाह्यस्थ बिम्ब मुख है । उसके द्वारा दर्पण में प्रतिबिम्ब का समर्पण होता है । यह तथ्य प्रत्यक्षसिद्ध है । यहाँ तो बाह्यस्थित उस बिम्ब में ही प्रतिबिम्ब की अनुभूति हो रही है । यह प्रतिबिम्ब है–ऐसा बोध हो रहा है । फिर बिम्ब अवशिष्ट ही कहाँ रहता है ? जब बिम्ब ही नहीं है, तो उससे उत्पन्न प्रतिबिम्ब की कल्पना भी नहीं हो सकती । यह स्पष्ट है कि ज्ञान के अतिरिक्त किसी पदार्थ नील-पीत, सुख-दुःख आदि की सत्ता ही स्वीकार्य नहीं है । इनसे जिनकी स्वयं सत्ता ही नहीं है, पदार्थान्तर की उत्पत्ति भी असंभव है ॥४९॥

मान लिया कि यह सिद्धान्त सत्य पर आधारित है परन्तु यह सोचने की बात है कि बिना कारण के कार्य रूप प्रतिबिम्ब का उदय ही कैसे होता है ? वहां बिम्ब रूप कोई कारण तो होना ही चाहिये । इस पर कह रहे हैं—

अत्र खलु बिम्बत्वेन यत्किंचन प्रतिबिम्बार्पणक्षमं कारणमिष्यते तत्किं बोधादनतिरिक्तमतिरिक्तं वा ? अनतिरिक्तत्वे तत् उक्तयुक्त्या प्रतिबिम्बमेव न बिम्बम्, अतिरिक्तत्वे च बुद्ध्यमानत्वाभावात् तन्न किंचिदेव इति युक्तमुक्तं 'तस्यैव प्रतिबिम्बत्वे किं बिम्बमवशिष्यताम्' इति ॥ ५० ॥

एतदेवोपसंहरति

इत्थमेतत्स्वसंवित्ति दृढन्यायास्त्ररक्षितम् ।
साम्राज्यमेव विश्वत्र प्रतिबिम्बस्य जृम्भते ॥ ५१ ॥

एवकारो भिन्नक्रमः—तेन प्रतिबिम्बस्यैव, न पुनर्बिम्बस्यापीत्यर्थः, विश्वत्रेति–न पुनर्बाह्ये मुखादौ, तत्र हि बिम्बप्रतिबिम्बयोर्द्वयोरपि सामर्थ्यमिति भावः ॥ ५१ ॥

ननु तयोः परस्परसापेक्षत्वात् कथं बिम्बाभावे प्रतिबिम्बस्यैव सद्भावः ? इत्याह

ननु बिम्बस्य विरहे प्रतिबिम्बं कथं भवेत् ।
किं कुर्मो दृश्यते तद्धि ननु तद् बिम्बमुच्यताम् ॥ ५२ ॥

प्रश्न तो यही है। यहाँ बिम्ब रूप जिस कारण को हम अपनी वृत्तियों के अमृत से अभिषिंचित करना चाहते हैं, क्या वह बोध रूप ही है अथवा बोध के अतिरिक्त है ? यदि बोध रूप है, तो प्रतिबिम्ब मात्र ही सिद्ध हुआ। यदि उसे अतिरिक्त कहें तो यह बात बुद्धि के स्तर पर जँचती ही नहीं। इस लिये वह असत् ही है। अतः श्लोक ४९ की उक्ति युक्ति-संगत है कि 'तब बिम्ब ही नहीं बचा' ॥५०॥

इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

इस प्रकार स्वात्मसंवित्ति के अकाट्य तर्क रूपी अस्त्र से रक्षित प्रतिबिम्ब का साम्राज्य सर्वतोभावेन समुल्लसित है। जहाँ तक बाह्य मुख आदि का प्रश्न है, वहाँ तो बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव अनुभव सिद्ध ही है ॥५१॥

प्रश्न है कि उन दोनों के परस्पर सापेक्ष होने के कारण क्यों बिम्ब के अभाव में भी प्रतिबिम्ब का ही सद्भाव है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब नहीं होना चाहिये। पर किया क्या जाय ? वह तो दीख ही पड़ता है। यदि किसी की इच्छा उसे ही बिम्ब कहने

एतदेव समाधत्त किं कुर्म इत्यादिना, दृश्यते इति–नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति भावः। ननु न खलु वयं दुष्टमपह्नुमहे यदेवमुच्यते किं तु दृश्यमानमिदं विश्वं प्रतिबिम्बतया न वाच्यमपि तु बिम्बतया इत्यभिदध्म इत्याह 'ननु तद्बिम्बमुच्यताम्' इति ॥ ५२ ॥

एतदेव निराकरोति

नैवं तल्लक्षणाभावाद् बिम्बं किल किमुच्यते ।
अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद्भासमानं मुखं यथा ॥ ५३ ॥

तल्लक्षणाभावादिति -- बिम्बलक्षणायोगात्, किं नाम बिम्बलक्षणम् ? इत्याह (बिम्बमित्यादि) अन्यामिश्रमिति—सजातीयविजातीयव्यावृत्तमित्यर्थः। अत एव 'स्वतन्त्रं' स्वरूपमात्रनिष्ठं—परस्य परनिष्ठतानुपपत्तेः, तथात्वे हि स ततः पृथगेव न भवेदिति भावः। एवं रूपत्वे चास्याबाधितत्वमेवास्ति प्रमाणमित्युक्तं 'भासमानमिति' ॥ ५३ ॥

एवं बिम्बलक्षणानन्तरं तत्तुल्यकक्ष्यतया लक्षणीयस्य प्रतिबिम्बस्य पीठिकाबन्धं कर्तुं तदाधारस्य तावत् सर्ववादिसिद्धतां द्योतयितुम्

की हो, तो वह कहे। तथ्य में कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं। इस दृश्यमान विश्व को यदि कोई प्रतिबिम्ब कहने से संतुष्ट नहीं हैं, तो वह इसे बिम्ब कह कर सन्तोष कर सकता है ॥५२॥

इसका ही समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

वास्तव में उसमें बिम्ब का लक्षण घटित नहीं हो रहा है। प्रश्न करते है कि विम्ब का लक्षण क्या है ? दूसरी अर्धाली में बिम्ब की परिभाषा दे रहे हैं १—बिम्ब किसी भी अवस्था में दूसरे से चाहे वह सजातीय हो या विजातीय, मिश्रित नहीं होता। २—वह स्वतन्त्र होता है। जो दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता वही स्वतन्त्र होता है। इस लिये यह स्वरूपमात्र निष्ठ होता है। ३—इन गुणों से अधिष्ठित होने के कारण वह निर्बाध रूप से भासमान होता है। इन तीन लक्षणों से लक्षित बिम्ब होता है ॥५३॥

इस प्रकार विम्ब की परिभाषा करने के बाद इसी श्रेणी के योग्य लक्षणीय प्रतिबिम्ब की पृष्ठभूमिको प्रस्तुत करने के लिये, उसके आधार की सर्ववादिसंमत स्थिति द्योतित करने के लिये—

'निजधर्माप्रहाणेन परस्पानुकारिता ।
प्रतिबिम्बात्मता सोक्ता खड्गादर्शतलाविवत् ॥'

इति प्रज्ञालङ्कारकारिकार्थगर्भीकारेण लक्षणमाह

स्वरूपानपहानेन परस्पसदृक्षताम् ।
प्रतिबिम्बात्मतामाहुः खड्गादर्शतलादिवत् ॥ ५४ ॥

इह दर्पणादेस्तनुत्वपरिमण्डलत्वाद्यात्मनः स्वस्यासाधारणस्य रूपस्थापरित्यागेऽपि परस्य मुखादेः संबन्धिना रूपेण यत् सादृश्यं तदेव प्रतिबिम्बात्मत्वं न तु तद्रूपतासादनमेव इति सर्व एव वादिन आहुः, नात्र कस्यापि विप्रतिपत्तिरिति भावः। ताद्रूप्ये हि श्लक्ष्णैकवपुषोऽपि दर्पणस्य निम्नोन्नतमुखप्रतिबिम्बपरिग्रहे श्लक्ष्णत्वाभावो भवेत्—नगरादिप्रतिबिम्बयोगेऽनेकरूपपरिग्रहात् दर्पणस्य आनैक्यं स्यात्, तेन यथा चित्रज्ञानस्य अनेकवेदनेऽपि चित्रपतङ्गादौ एकत्वानपायात् अनेकसदृशाकारतया एकत्वमेव नानेकत्वम्, एवं दर्पणादेरप्यनेकप्रतिबिम्बयोगे न अनेकरूपत्वमिति नानैक्यप्रसङ्गः अपि तु तत्सादृश्यमात्रमेव, न च

"स्वधर्म को न छोड़ते हुए पर रूप की अनुकृति ही जिसका स्वभाव है, वही प्रतिबिम्बात्मकता है। वह खड्ग और आदर्श के तल फलक पर पुलकित होती है।" इस प्रज्ञालङ्कार की उक्ति का सार ग्रहण कर अपनी परिभाषा दे रहे हैं –

प्रतिबिम्ब की परिभाषा में दो बातें विचारणीय हैं। १—स्व रूप का परित्याग उसमें नहीं होता और २-दूसरे रूप का सादृश्य रहता है। इन दोनों से युक्त प्रतिबिम्बात्मकता होती है। दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—१-खड्ग और २—दूसरा दर्पण का तल। प्रतिबिम्बात्मकता में इन दोनों की समानता होती है। दर्पण अपने छोटे बड़े गोल आदि और खड्ग अपने लम्बे और गोल तल से युक्त होते हैं। अपने रूप का वे परित्याग नहीं करते फिर भी उसमें पड़े बिम्बित मुख आदि रूपों का सादृश्य भी प्रस्तुत करते हैं। इस तरह उनका अपना स्वरूप भी स्थिर रहता है और दूसरे का सादृश्य भी हो जाता है। यही प्रतिबिम्बात्मकता है। इसमें सादृश्य होता है, ताद्रूप्य नहीं। क्योंकि मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी उसकी चिकनाहट में अन्तर नहीं पड़ता तथा अनेक प्रतिबिम्बों जैसे नगर या पतङ्ग आदि के पड़ने पर उसमें अनेकता नहीं आती। चित्रवत् इसमें भी अनेकता नहीं होती। केवल सादृश्य भान होता है। यह नहीं

सादृश्यमात्रादेव ताद्रूप्यं, न हि गवयसादृश्यादेव गौर्गवयः, तस्माद्बिम्बसदृशा-कारत्वमेव प्रतिबिम्बधारित्वमिति तात्पर्यार्थः ॥ ५४ ॥

एतदेवार्थद्वारेण संवादयति

उक्तं च सति बाह्येऽपि धीरेकानेकवेदनात् ।
अनेकसदृशाऽऽकारा न त्वनेकेति सौगतैः ॥ ५५ ॥

उक्तमिति प्रज्ञालंकारादौ । तदुक्तम् तत्र

'तस्मात्सत्यपि बाह्येऽर्थे धीरेकानेकवेदनात् ।
अनेकसदृशाकारा नानेकैव प्रसज्यते ॥'

इति ॥ ५५ ॥

नन्वेवमपि प्रतिबिम्बस्य लक्षणं न किंचिदुक्तं स्यात् ? इत्याशंकां प्रदर्श्य तल्लक्षणमेवाह

नन्वित्थं प्रतिबिम्बस्य लक्षणं किं तदुच्यते ।
अन्यव्यामिश्रणायोगात्तद्भेदाशक्यभासनम् ॥
प्रतिबिम्बमिति प्राहुर्दर्पणे वदनं यथा ॥ ५६ ॥

कहना चाहिये कि सदृशता ही ताद्रूप्य है । गो सदृश होने से गवय गाय नहीं हो जाता । इस लिये यह कह सकते हैं कि बिम्ब सदृश आकार ग्रहण करना ही प्रतिबिम्बधारकता है ॥५४॥

इसी तथ्य का अर्थ द्वारा विसंवाद प्रस्तुत कर रहे हैं—

कहा जाता है कि "आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता" अर्थात् सौगत मतवाद की योगाचार शाखा मानती है कि बुद्धि अनादिवासना के कारण अनेक आकार वाली भासित होती है । वास्तव में वह अनेक नहीं एक ही है । प्रज्ञालंकार में भी यही कहा गया है कि बाह्य अर्थों के रहते हुए भी बुद्धि एक ही होती है । मात्र ग्राह्य ग्राहक के भेद से अनेक वेदन का सादृश्य प्रतीत होने लगता है । बाह्य प्रतिबिम्बों के योग के कारण अनेक प्रतिबिम्ब योग होने पर भी वह अनेक नहीं होती । प्रतिबिम्बात्मकता में सादृश्य मात्र है, ताद्रूप्य नहीं ॥५५॥

इतना वर्णन करने पर भी प्रतिबिम्ब के लक्षण के विषय में तो कुछ नहीं कहा गया । इस लिये उसका लक्षण ही यहाँ वर्णित कर रहे हैं—

इह खलु सर्व एव वादिनस्तत्प्रतिबिम्बमाहुः यदन्येन स्वाधिकरणभूतेन दर्पणादिना या व्यामिश्रणा तादात्म्यं तया योगात्तदनतिरिक्तत्वाद्धेतोः, ततोऽन्यस्मात् तदाकारग्रहणसहिष्णोर्दर्पणादेर्भेदेन पृथक्स्वातन्त्र्येणाशक्यं भासनं यस्य तत्, तत्परतन्त्रमित्यर्थः। अनेन चास्य बिम्बवैपरीत्यं दर्शितम्, तद्धि अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं चेत्युक्तम्। एतच्च पूर्वमेव बहूक्तम् इतीह न पुनरायस्तम् ॥ ५६ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

बोधमिश्रमिदं बोधाद्भेदेनाशक्यभासनम्।
परतत्त्वादि बोधे किं प्रतिबिम्बं न भण्यते ॥ ५७ ॥

इदं खलु तत्त्वभुवनाद्यात्मकं विश्वं बोधे प्रतिबिम्बं किं न भण्यते—अवश्यमेवाभिधातव्यमित्यर्थः, यस्मादिदमपि दर्पणेनेव मुखं बोधेन प्राप्ततदैकात्म्यम्, अत एव दर्पणादिव मुखस्य बोधाद्भेदेन पृथगशक्यं भासनं यस्य तत् नहि प्रकाशमन्तरेण किंचिदपीदं भावजातं स्फुरेदिति भावः, यदुक्तम्

प्रतिबिम्ब क्या है ? यह प्रश्न स्वयम् उपस्थित कर स्वयं परिभाषा भी दे रहे हैं—अपने से अन्य और अपने आश्रय (आधारभूत दर्पण) से व्यामिश्रित अर्थात् तादात्म्य भाव युक्त होने के कारण आश्रय से पृथक् जिसका स्वतन्त्र अवभासन अशक्य हो वही प्रतिबिम्ब है। दृष्टान्त रूप में दर्पण और मुख को लिया जा सकता है। मुख से दर्पण अन्य है। दर्पण में मुख की छाया पड़ती है। इस तरह दर्पण आश्रय हो जाता है। आश्रय से उक्त छाया का तादात्म्य सम्बन्ध है। उससे पृथक नहीं हो सकती, स्वतन्त्र नहीं हो सकती वरन् परतन्त्र है और उसमें तादात्म्य भाव से भासन भी होता है। ऐसी विशेषताओं से युक्त ही प्रतिबिम्ब होता है ॥५६॥

इसी तथ्य को प्रकृत से योजित कर रहे हैं—

यह विश्व, बोध से उसी तरह तादात्म्य भाव से मिला हुआ है जैसे मुख दर्पण के साथ तादात्म्य भाव से मिश्रित है। जैसे दर्पण से मुखका भेद भरा भासन अशक्य है, उसी तरह बोध से विश्व को अलग कर नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त ही है कि प्रकाश बिना यहाँ कोई पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकता। कहा गया है कि,

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ।।
नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां प्राप्तमेतस्मादवसीयते ।।' इति । तथा
'युगपद्वेदनाज्ज्ञानज्ञेययोरेकरूपता ।' इति ।।५७।।

तदेवं प्रतिबिम्बलक्षणयोगेऽपि विश्वस्य यदि निर्निमित्तमेव बिम्बत्व-मुच्यते तदुच्यतां को दोषः, एष खलु नास्ति विवादः—न चात्र विदुषां भरः, ते हि वस्तुन्येवाभिनिविष्टाः, तच्च नान्यथाकर्तुं शक्यं-प्रतिबिम्बलक्षणयोगस्यै-वात्रोपपादितत्वात् बिम्बलक्षणस्य च योजयितुमशक्यत्वात् । तदाह

लक्षणस्य व्यवस्थैषाऽकस्माच्चेद्बिम्बमुच्यताम् ।
प्राज्ञा वस्तुनि युज्यन्ते न तु सामयिके ध्वनौ ।। ५८ ।।

अकस्मादिति निर्हेतुकमित्यर्थः ।। ५८ ।।

"ज्ञान ही उन उन रूपों में बाहर और भीतर सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। ज्ञान के अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता स्वीकार्य ही नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि यह जगत् भी ज्ञान रूप ही है। ज्ञान के बिना पदार्थ की अनुभूति किसी के द्वारा नहीं की जा सकती। इस लिये यह निश्चय है कि ज्ञान और पदार्थ तादात्म्य भाव से अवस्थित हैं।" तथा—

"ज्ञान और ज्ञेय का एक साथ संवेदन होने के कारण दोनों की एक रूपता है।" इत्यादि ।।५७।।

इस प्रकार विश्व भी प्रतिबिम्ब की परिभाषा से परिभाषित है, यह प्रमाणित हो जाने पर भी यदि बिना कारण की खोजबीन किये ही उसे बिम्ब कहें तो कहिये क्या दोष होता है ? वस्तुतः यह तो विवाद का विषय ही नहीं है। इस विषय में विद्वद्वर्गका कोई आग्रह भी नहीं है। वस्तु मात्र में ही उनका अभिनिवेश है। उसको किसी अवस्था में झुठलाया: नहीं जा सकता क्यों कि प्रतिबिम्ब के पूर्ण लक्षण इसमें घटित हैं और बिम्ब की परिभाषा इस पर चरितार्थ ही नहीं होती। यही कह रहे हैं—

अकस्मात् अर्थात् अकारण ही इसे बिम्ब कहते रहें, इसमें कोई औचित्य नहीं। बुद्धिमान पुरुष कौआ कान ले जा रहा है इस पर विश्वास नहीं करते। वे तथ्य का ध्यान रखते हैं और तथ्य तो लक्षण के अनुसार व्यवस्थित होता है ।।५८।।

ननु तल्लक्षणयोगाद्विश्वस्य प्रतिबिम्बत्वं यदुच्यते तदास्तां, नास्माकमत्र अभिनिवेशः, तस्य पुनर्बिम्बाख्यं कारणमन्तरेण सद्भाव एव कथं स्यात् ? इत्याशंक्याह

ननु न प्रतिबिम्बस्य विना बिम्बं भवेत्स्थितिः ।

एतदेव प्रतिविधत्ते

किं ततः प्रतिबिम्बे हि बिम्बं तादात्म्यवृत्ति न ॥५९॥

कि तत इति—बिम्बं चेन्नास्ति ततः किं, न किंचिदपीत्यर्थः, न हि प्रतिबिम्बे शिशिपात्व इव वृक्षत्वं बिम्बमैकात्म्येन वर्तते, येन बिम्बाभावे प्रतिबिम्बमपि न स्यात् ॥५९॥

तदाह

अतश्च लक्षणस्यास्य प्रोक्तस्य तदसंभवे ।
न हानिर्हेतुमात्रे तु प्रश्नोऽयं पर्यवस्यति ॥६०॥

अत इति—बिम्बप्रतिबिम्बयोस्तादात्म्यवृत्तित्वाभावात्, प्रोक्तस्येति अर्थाद्विश्वविषये, तदसंभव इति बिम्बाभावे। ननु न वयं प्रतिबिम्बलक्षणे विवदामहे, किं तु बिम्बं विना तत्कथं भवेदिति ब्रूमः, नहि निर्निमित्तमेव भावानां संभवो न्याय्य ? इत्याशंक्याह, हेतुमात्र इत्यादिना, हेतुश्च द्विविधः-

---

प्रश्न है कि उन लक्षणों के अनुसार विश्व की प्रतिबिम्बात्मकता सिद्ध है—यह मान लिया। इसमें कोई अभिनिवेश की बात नहीं। किन्तु यह बात तो अवश्य विचारणीय है कि विना बिम्ब नामक कारण के प्रतिबिम्ब का सद्भाव कैसे संभव है ? इसी का समाधान कर रहे हैं—

बिम्ब के विना तो प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती ? इस प्रश्न का ही प्रतिविधान कर रहे हैं कि, इससे क्या हुआ ? मत रहे बिम्ब। प्रतिबिम्ब में बिम्ब की तादात्म्येन स्थिति नहीं है। शिंशपा वृक्ष है। शिशपात्व में वृक्षत्व की तरह प्रतिबिम्ब में वृक्ष रूपी विम्ब की तादात्म्येन स्थिति कहाँ है ? जिससे यह कहा जाय कि बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब नहीं बन सकता ॥५९॥

वही कह रहे हैं—

इस लिये बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों में तादात्म्य वृत्ति के अभाव के कारण विश्व के सम्बन्ध में बिम्बत्व की अशक्यता ही सिद्ध होती है। इस मान्यता में कोई हानि नहीं है। प्रतिबिम्ब के लक्षण के सम्बन्ध में तो कोई

उपादानं निमित्तं च, उपादानं यथा घटादौ मृदादि, निमित्तं यथा तत्रैव दण्डादि, प्रतिबिम्बस्य च बिम्बं नोपादानकारणं, तद्धि घट इव मृत्स्वरूपविकारमासाद्य कार्यानुगामित्वेन वर्तते, नैवमत्र बिम्बं, प्रतिबिम्बोदयेऽपि तस्याविकृतस्यैव पृथगुपलम्भात्, तेनात्र दण्ड इव घटे निमित्तकारणं बिम्बम् ॥६०॥

ततश्च निमित्तकारणविषय एवायं प्रश्नो नान्यत्र, इत्याह

तत्रापि च निमित्ताख्ये नोपादाने कथंचन ।
निमित्तकारणानां च कदाचित्क्वापि संभवः ॥६१॥

न च निमित्तकारणानां सर्वात्मिकयैव संभवो भवेत्, इत्याह - निमित्त इत्यादि, इह खलु दण्डपरिहारेणापि स्वकराहत्यैव चक्रं भ्रामयन् कुम्भकारः कुम्भं कुर्यात्, मृत्परिहारेण पुनरतिनिपुणोऽपि कुम्भकारः कुम्भं कर्तुं न शक्नुयात् अतश्चोपादानकारणवत् नावश्यं निमित्तकारणोपयोगः, तेन बिम्बं विनापि प्रतिबिम्बं भवेत्—तदुत्पादनसमर्थस्य तत्प्रतिनिधिभूतस्य कारणान्तरस्यापि भावात् ॥६१॥

विवाद ही नहीं। कठिनाई तो यह है कि बिना बिम्ब हेतु के प्रतिबिम्ब होगा ही कैसे ? इसका समाधान हेतु मात्र के विमर्श में ही पर्यवसित हो जाता है। हेतु दो प्रकार के होते हैं। १—उपादान और २—निमित्त। मिट्टी से घड़ा बनता है। इसमें मिट्टी उपादान कारण है। दण्ड, चक्र और चीवर आदि से भी घड़ा बनता है। ये निमित्त कारण हैं। बिम्ब प्रतिबिम्ब का उपादान कारण नहीं है। प्रतिबिम्ब मिट्टी के आकार परिवर्तन से घड़े की तरह बिम्ब से नहीं बनता अपितु अविकृत रूप से स्वतन्त्र उल्लसित है। हाँ दण्ड से घट की तरह यह निमित्त कारण ही प्रतीत होता है ॥६०॥

अब निमित्त कारण के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं—

इसमें भी निमित्त कारण सर्वांशतया लागू नहीं होता। कुम्भकार अपने हाथ से भी चक्र चला सकता है। इस तरह केवल दण्ड ही निमित्त नहीं रह जाता। उपादान कारण तो सर्वांशतया अनिवार्य है। निमित्त ऐसा नहीं होता। निमित्त कारण में कारणान्तरों की सम्भावना बनी हुई है। अतः कह सकते हैं कि बिम्ब के विना भी प्रतिबिम्ब का उत्पादन संभव है ॥६१॥

तदाह

अत एव पुरोवर्तिन्यालोके स्मरणादिना ।
निमित्तेन घनेनास्तु संक्रान्तदयिताकृतिः ॥६२॥

अत इति—बिम्बाभावेऽपि निमित्तान्तरेण प्रतिबिम्बोत्पादस्य संभवात्, आलोक इति—तस्य रूपप्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वात्, घनेनेति-भावना-त्मतामापन्नेनेत्यर्थः, अन्यथा हि सर्वस्यैव स्मर्तुः सर्वदैव पुरःस्मर्यमाणं भायात् । अत्र तावद्बिम्बं नास्ति दयिताया देशादिविप्रकृष्टत्वेन असंनिहितत्वात्, अथ च तत्कार्यं प्रतिबिम्बं दृश्यते इत्यत्र स्मरणादिना निमित्तान्तरेणावश्यं भाव्यम् नहि निर्निमित्तमेव प्रतिसंक्रान्तायाः कान्ताया विच्छेदेन कादाचित्कः प्रतिभासो भवेत् ॥६२॥

तदाह

अन्यथा संविदारूढा कान्ता विच्छेदयोगिनो ।
कस्माद्भाति न वै संविद् विच्छेदं पुरतो गता ॥६३॥

अन्यथा—स्मरणादिना निमित्तान्तरेण यदि प्रतिसंक्रान्ता कान्ता न स्यादित्यर्थः, संविदारूढेति—नहि संविदमारूढस्य वस्तुनो विच्छेदेन भानं भवेदिति भावः, संविदो विच्छेदे हि जाड्यापत्तेर्न किंचिदपि स्फुरेत्, इति सर्व-मिदमन्धं स्यात् । संविदारूढं च वस्तु संवेद्यमानत्वादेव, न ततोऽधिकम्, इति न तदपि विच्छेदेन भायात्, अत आह 'न वै संविद्विच्छेदं पुरतो गता' इति ॥६३॥

वही कह रहे हैं—

इस लिये कभी-कभी स्मरणशील व्यक्ति को प्रकाश में भी अपनी प्रिया की आकृति सी संक्रान्त अनुभूत हो जाती है। स्मृति की घनता यहाँ कारण बन गयी। सब को सदा यह अनुभूति नहीं होती। स्मरण रूप निमित्तान्तर से भी कार्य रूप प्रिया की आकृति सदृश प्रतिबिम्ब हो जाता है ॥६२॥

वही कह रहे हैं—

बिम्ब के अभाव में दूसरे स्मरणदि निमित्त कारणों से यदि प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति नहीं मानेंगे तो मान्यता ही ध्वस्त होने लगेगी। संविद् में आरूढ आकृति संवेद्यमानता से ही प्रतिबिम्बित होती है। संविद् शाश्वत प्रकाशमान है। उसमें विच्छेद नहीं होता। यदि कान्ता संविद् में प्रतिबिम्बित है तो उसका भान भी प्रतिबिम्बवत् निमित्तान्तर से अनिवार्यतः मान्य है ॥६३॥

ननु यद्येवं तर्हि ग्राह्यग्राहकभाव एव न भवेत्, इति समग्रव्यवहार-विप्रलोपः स्यात्? सत्यं--नहि परां संविदमपेक्ष्य भेदगन्धमात्रमप्यस्तीति सर्वं संविदेव, इति--किं नाम ग्राह्यं ग्राहकं वापि स्यात्, सैव पुनः स्वस्वातन्त्र्यात्स्वं रूपं गोपयित्वा यदा संकुचितज्ञानात्मतामवभासयति तदायं सकलो ग्राह्यग्राहकात्मा भेदव्यवहारः, तदाह

अत एवान्तरं किंचिद्धीसंज्ञं भवतु स्फुटम् ।

यत्रास्य विच्छिदा भानं संकल्पस्वप्नदर्शने ॥६४॥

अत एव--परसंविदपेक्षया विच्छेदासंभवाद्धेतोः, किंचित्संकुचितप्रमात्रात्म सुस्फुटं निर्विकल्परूपं ज्ञानसंज्ञमान्तरं परसंवित्प्रमेययोर्मध्यवर्ति भवतु, यत्रास्य प्रतिबिम्बस्य, विच्छिदा भेदेन, संकल्पत्त्वस्वप्नादौ भानं भवेत्—विरहिणो हि संकल्पादावपि बिम्बाभावात्तीव्रतरस्मरणादिनिमित्तान्तरसंनिधापितमेव कान्ताप्रतिबिम्बं भायादिति भावः ॥ ६४ ॥

एवं बहिः स्मृत्यादौ यथा बिम्बाभावेऽपि निमित्तान्तरेण प्रतिबिम्बं भवेत्तथा इहापि, इत्याह

अतो निमित्तं देवस्य शक्तयः सन्तु तादृशे ।

यदि यह मानेंगे तो ग्राह्य ग्राहक भाव कैसे होगा? सारा व्यवहार ही लुप्त हो जायेगा। हो जाय, पर यह ध्रुव सत्य है कि परासंविद् में भेद की लेश मात्र कल्पना नहीं की जा सकती। सब कुछ संविद् ही है। ग्राह्य ग्राहक भाव तो उसके संकोच के कारण होता है। यही कह रहे हैं—

इस लिये यह मानना पडेगा कि संवित् और प्रमेय के मध्य में 'धी' नामक कोई संकुचित प्रमाता रूप तत्त्व है, जहाँ संकल्प और स्वप्न आदि में भेद का भान होता है। वियोग में भी प्रियकी आकृति के दर्शन हो जाते हैं ॥६४॥

बाह्य स्मृति आदि में जैसे बिम्बाभाव में भी दूसरे निमित्त से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति हो जाती है। उसी तरह यहाँ भी होता है। यही कह रहे हैं—

इस लिये शाश्वत द्योतमान चित्तत्त्व रूप देव की इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियां ही निमित्त हों (तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं) 'शक्तियों के सम्बन्ध में कहा गया है—

अतः—उक्तात् निमित्तकारणमात्रसव्यपेक्षत्वलक्षणाद्धेतोः, देवस्य द्योतनात्मनश्चित्तत्त्वस्य, तादृशे विश्वप्रतिबिम्बने, ज्ञानक्रियाद्याः शक्तयो निमित्तं भवन्तु, एवं न कश्चिद्दोषः सभाव्यते इत्यर्थः। शक्तयश्च

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या स्वातन्त्र्यशक्तिमात्रपरमार्था एव, इति निजैश्वर्यमात्रादेव अस्य स्वात्मनि विश्वाकारधारित्वम्—इति पिण्डार्थः, यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञाकृता

'तत्र त्वर्पकादुपाधेस्तदाकारत्वं,
चित्तत्त्वस्य तु निजैश्वर्यात्।'

इति। अनुप्रत्यभिज्ञाकृताप्यनेनैवाभिप्रायेण

'नाथ त्वया विना बिम्बं स्वच्छे स्वात्मनि दर्शितम्।
प्रसेना दर्पणेनैव प्रभावाद्भावमण्डलम्॥' इत्याद्युक्तम्।

तदेवं विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वमेवोपसंहरति

इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीयचिदम्बरे।
प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः॥ ६५॥

"बहुत शक्तिशालिता का अर्थ है—उन शक्तियों से समवाय सम्बन्ध से शाश्वत संयुक्त रहना।" इस युक्ति के अनुसार स्वातन्त्र्य-शक्ति-सम्पन्नता ही शक्तिमत्ता है। अपने ऐश्वर्य भाव से स्वभावतः स्वात्म फलक पर हो विश्व की आकृति प्रतिबिम्बित हो जाती है। श्री प्रत्यभिज्ञा कार कहते हैं—

"वहाँ तो अर्पक उपाधि के द्वारा उसमें आकारता आ जाती है। यह केवल चित्तत्त्व के एकात्म ऐश्वर्य भाव का प्रभाव ही है।" अनुप्रत्यभिज्ञा कार भी यही कहते हैं—

"हे नाथ! तुम्हारे विना ही बिम्ब स्वच्छ स्वात्म दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण से ही यह सिद्ध है कि स्वात्म-प्रभाव से भावजगत् उल्लसित है॥" इन सारी उक्तियों से द्योतमान देव की शाश्वत शक्तियों के प्रभाव का ही समर्थन हो रहा है॥

विश्व चित् का प्रतिबिम्ब है, इस तत्त्ववाद का अब उपसंहार कर रहे है—

उक्त प्रतिपादन के निष्कर्ष स्वरूप यह सिद्ध हुआ कि स्वातन्त्र्य स्वभाव विश्वनाथ भैरव के चित्तत्त्वात्मक चिदाकाश रूपी चैतन्य दर्पण में यह विश्व

अन्येति—अन्यमुखाप्रेक्षित्वे ह्यस्य स्वातन्त्र्यं खण्डयतेति भावः, स्वातन्त्र्यं हि विमर्श इत्युच्यते, स चास्य मुख्यः स्वभावः, नहि निर्विमर्शः प्रकाशः संभवत्युपपद्यते वा, अयमेव ह्यस्य विश्वाकारधारित्वे जडेभ्यो विशेषः—यत्सर्वमामृशतीति, यदुक्तमनेनैव अन्यत्र

'अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारवृत्या
विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु ॥' इति ॥ ६५ ॥

स चायमामर्शो न सांकेतिकः, अपि तु 'चित्स्वभावतामात्रानान्तरीयकः स्वरसोदितः परावाग्रूप' इति सर्वैरुद्घोष्यते, इत्याह

अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रति प्रभोः।
तां परां प्रतिभां देवीं संगिरन्ते ह्यनुत्तराम् ॥ ६६ ॥

अनुत्तरामिति—निरतिशयस्वातन्त्र्यैश्वर्यचमत्कारमयीमित्यर्थः, अत एव अनुत्तराद्यनन्तशक्तिव्रातोल्लेखशालिनीं प्रतिभामित्यर्थः अनेन। परामर्शोदयक्रमस्याप्यवकाशो दत्तः ॥ ६६ ॥

प्रतिबिम्ब रूप से उल्लसित है। इसमें किसी अन्य के प्रसाद की कोई अपेक्षा नहीं होता है। यह तथ्य है कि अन्य के प्रसाद-सहयोग से शिव का स्वातन्त्र्य ही खंडित हो जायेगा। स्वातन्त्र्य विमर्श ही है। यह शिव का 'स्व' भाव है। निर्विमर्श प्रकाश की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जड़ से चेतन की यही विशेषता है कि यह समग्र का परामर्शक है। इसी से अन्यत्र कहा गया है—

"विश्वात्मा के चैतन्य दर्पण के अन्तर अवकाश में समस्त अनन्त वैचित्र्य अवभासित है। बोध अपने विमर्श स्वभाव के बल पर विश्व को परामृष्ट कर लेता है। जड में [जडदर्पण में] यह परामर्श नहीं होता क्यों कि वह निर्विमर्श है ॥६५॥

और यह आमर्श सांकेतिक नहीं है। यह चिद्विमर्श के अतिरिक्त नहीं है। यह रस-स्वरूप आनन्द से उदित है तथा परावाक् स्वरूप है। यह सर्वसम्मत सर्वसमर्थित तथ्य है। यही कह रहे हैं—

अन्य की अपेक्षा जिसे नहीं रहती वही नान्तरीयक अर्थात् निरपेक्ष होता है। न अन्तरं नान्तरम्, तत्रभवम् नान्तरीयम् तदेव नान्तरीयकम् तस्य भावः

इह हि विश्वस्य वाच्यवाचकात्मना द्विधा अवभासः, तत्र 'प्रकाश एव प्राधान्येन वाच्यात्मविश्वरूपत्वेन परिस्फुरति' इति विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वोट्टङ्कनेनोक्तम्, विमर्शोऽपि तत्तदनुत्तरानन्दाद्यामर्शात्मनोदेति' इति परामर्शोदयक्रममप्याह

अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी ।
कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ॥ ६७ ॥

इह खलु पूर्णः शिवशक्त्यादिप्रतिनियतव्यपदेशासहिष्णुः अनाख्यः परपरामर्शात्मा अनुत्तरः, प्रकाश एव परम् तत्त्वं, स एव च स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वमवबिभासयिषुः प्रथमं शिवशक्तिरूपतां स्वात्मन्यवभासयति, यदाहुः—

'नौम्यनुत्तरनाथस्य रश्मिचक्रमहं सदा ।
शिवशक्तीति विख्यातं परापरफलप्रदम् ॥' इति ।

अनेनैव चाभिप्रायेण

'रुद्रश्च रुद्रशक्तिश्च अमनस्के लयं गतौ ।' इत्याद्यन्यत्रोक्तं ।

ततश्च

नान्तरीयकता। चिद्विमर्श इससे युक्त होता है। वही उसकी अनन्यापेक्षिता है। प्रभु को विश्वात्मता के प्रति यही व्याप्ति है। इस 'स्व' भावसत्ता को देवी रूप अनुत्तर परा प्रतिभा कहते हैं। अनुत्तरा शक्ति निरतिशय स्वातन्त्र्य के ऐश्वर्य पूर्ण चमत्कार से शाश्वत युक्त है। यह परा शक्ति है। अनन्त शक्तियों का उल्लास इसमें समाहित है। सारा परामर्श इसी से होता है ॥६६॥

विश्व का अवभास दो तरह से होता है। १-वाच्यात्मक और २- वाचकात्मक। प्रकाश ही प्रधानतया वाच्य विश्व रूप से परिस्फुरित है—यह तथ्य विश्व चित्प्रतिबिम्ब है, यह (श्लोक ६५) में कहा गया है। विमर्श भी अनुत्तर और आनन्द आदि रूप में उदित होता है—इसे परामर्शोदय कहते हैं। यही क्रमिक रूप से कह रहे हैं—

अकुल रूप इस द्योतमान अनाख्य और अनुत्तर देव की कुलात्मकता को प्रथित करने वाली शक्ति ही कौलिकी पराशक्ति है। प्रभु इससे निरन्तर अवियुक्त है। इस श्लोक में अकुल, कुल और कौलिकी शब्द विशेषतः विचारणीय हैं। कुल के विषय में कहा गया है—

"यह विस्मयरूप चित्रात्मक विश्व जहाँ से उदित होता है और जहाँ अस्त हो जाता है, वही शिव शक्ति रूप भेद का असहिष्णु देव ही 'कुल'

'यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च ।
तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम् ॥'

इत्यादिलक्षितात्पूर्णपरसंवित्तत्त्वलक्षणात् कुलात् यदन्यदवभासितं शिवलक्षणमकुलं तस्य प्रकाशैकरूपत्वेन द्योतमानस्य सा परा विश्वापूरणस्वभावा, अत एव

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं..................।'

इत्याद्युक्त्या कुलस्य शाक्तप्रसरात्मनो जगतो यत्प्रथनं तेन शालते तच्छीला, अत एव कुले भवम् अकुलात्म कौलं तद्यस्यामन्तस्तादात्म्येन अस्तीति **'कौलिकी शक्तिः'** यथा समनन्तरोक्तरूपः प्रभुरवियुक्तः–तदव्यभिचरितस्वभाव इत्यर्थः, एवं चाकारलक्षणं कुलं शरीरमस्य – इत्याद्यवर्णोऽप्यभिहितः, सोऽपि हि देवः

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवि प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

कहलाता है ।" यह पूर्णसंवित् तत्त्व रूप है, यही अनुत्तर और अनाख्य तत्त्व है । इससे अन्य केवल प्रकाश रूप से अवभासित शिव स्वरूप अकुल तत्त्व है । यही शाश्वत द्योतमान शिव को परा शक्ति विश्व में व्याप्त है। कहा गया है–

"सम्पूर्ण जगत् उसको शक्तियों का (प्रतीक है)·····।" अर्थात् अकुल रूप शिव का शाक्त प्रसार ही यह जगत् है । इसी का प्रथन करने के कारण यह कुल प्रथन शालिनी कही जातो है । यही 'कौलिकी शक्ति है' । इसका विग्रह वाक्य है—कुल में उद्भूत अकुलात्मक कौल शिव) । यह कौल जिसमें नान्तरीयकता से अर्थात् तादात्म्य भाव से है—वह 'कौलिको शक्ति' है । इसो से वह अकुल शिव सदा अवियुक्त है । 'अकुल' शब्द में परामर्शोदय क्रम का भो संकेत है । जैसे—अ+कुल शब्दच्छेद करने पर 'अ' कार रूप वर्ण परामर्शोदय का प्रथम प्रतीक ही जिसका 'कुल' अर्थात् शरीर है—वही शिव है । इसी लिये 'अकार' को शिव रूप अनुत्तरतत्त्व भी कहते हैं।

"इस का उच्चारण कोई नहीं कर सकता । स्थान और करण रूप अभिघात से रहित होने के कारण यह अनाहत है । यह प्राणियों के हृदय देश में अवस्थित स्वयम् उच्चरित है (अर्थात् परप्रकाशात्मक यह शाश्वतद्यो तमान देव है) ।"

इत्याद्युक्तस्वरूपादनाहतात् स्थानकरणाभिघातोत्थाच्च हतात् शब्दात् उत्तीर्णत्वेन परपरामर्शशालिसिततरप्रकाशात्मतया सर्वदैव द्योतमानः, तदुक्तम्

'अनाहतहतोत्तीर्णो महाविषमचिद्गतिः ।
वीरहृद्घट्टनोद्युक्तो रावो देव्या विजृम्भते ।।' इति ।

तस्य च परैव सा शक्तिः कुलस्य शरीरस्य यत् प्रथनं तेन श्लाघमाना, तच्छरीरारम्भिकेत्यर्थः, अत एव 'कौलिकी' इत्युक्तम्, तथाहि—परैव सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्तिः शिवेन सह परस्परसामरस्यरूपमथ्यमन्थकभावात्मकं संघट्टमासाद्य उत्थिता सती इच्छाज्ञानक्रियारूपतामाश्रित्य रौद्रीत्वमुन्मुद्रयन्ती शृङ्गाटकाकारतामम्बिकात्वमवलम्बमाना उकारात्मकशशाङ्कशकलाकारतां ज्येष्ठात्वमधितिष्ठन्ती च शशिबिन्दूदितकालाग्निरूपरेफात्मकविन्दुविश्रान्तस्पष्टरेखाकारतामाभासयति—इत्याद्यवर्णशरीमुल्लासयतीति, तदुक्तं श्रीतन्त्रसद्भावे

'या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा निराचारेति कीर्तिता ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'उत्थिता तु यदा तेन कला सूक्ष्मा तु कुण्डली ।
चतुष्कलमयो बिन्दुः शक्तेरुदरगः प्रभः ।।

इसी लिये अन्यत्र कहते हैं—

"यह अनाहत है अर्थात् हत वर्णों से उत्तीर्ण है । महाविषम चित्तत्त्व में अधिष्ठित है । वीर (शैव) के हृदय देश में उद्घाटित होता है । यह देवी का राव शाश्वत विजृम्भमाण है ।"

'अ' यह वर्ण कौलिकी शक्ति का रूप कैसे है—इसका विश्लेषण कर रहे हैं । परा सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्ति शिव के साथ सामरस्य रूप मथ्यमन्थक भाव से संघट्टित हो कर उल्लसित होती है । उस उल्लास में तीन १—इच्छा, २—ज्ञान और ३—क्रिया शक्तियाँ होती हैं । रौद्री शक्ति को उन्मुद्रित कर कुण्डलिनी ही शृङ्गाटक रूप अम्बिका शक्ति का आश्रय लेकर उकारात्मक चन्द्रकला का आकार धारण करती है । यह ज्येष्ठा शक्ति होती है । पुनः शशिविन्दुओं से कालाग्नि रेफ विन्दुओं की परम्परा से रेखा निकलती है इस स्फुरण से जो वर्णाकृति बनती है, वह 'अ' अक्षर होता है ।

'तन्त्र सद्भाव' ग्रन्थ में 'यह जो परा सूक्ष्मा शक्ति है, इसे निराचारा कहते हैं ।" यहाँ से प्रारम्भ कर—एकैवेत्थं पराशक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते ।" तक इसी तथ्य का वर्णन किया गया है । उसी का संक्षेप अर्थ ऊपर दिया गया है ।

मध्यमन्थनयोगेन ऋजुत्वं जायते प्रिये ।
ज्येष्ठा शक्तिः स्मृता सा तु बिन्दुद्वयसुमध्यगा ॥
बिन्दुना क्षोभमायाता रेखेवामृतकुण्डली ।
रेखिनी नाम सा ज्ञेया उभौ बिन्दू यदन्तगौ ॥
त्रिपथा सा समाख्याता रौद्री नाम्ना तु गीयते ।
रोधिनी सा समुद्दिष्टा मोक्षमार्गनिरोधनात् ॥
शशाङ्कशकलाकारा अम्बिका चार्धचन्द्रिका ।
एकैवेत्थं परा शक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते ॥' इति ।

श्रीवामकेश्वरीमतेऽपि

'त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या जातेह सा प्रिये ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'कवलीकृतनिःशेषबीजाङ्कुरतया स्थिता ।
वामा शिखा ततो ज्येष्ठा शृङ्गाटाकारतां गता ।
रौद्री तु परमेशानि जगद्ग्रसनरूपिणी ।
एवं सा परमा शक्तिरेकैव परमेश्वरी ॥
त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्ण्वीशरूपिणी ।
त्रैलोक्यं संसृजत्यस्मात्त्रिपुरा परिकीर्तिता ।' इति ।

अनेनैव चाभिप्रायेण अन्यत्रापि अस्य सृष्टिस्थितिसंहारात्मकं धामत्रयमयत्वं चोक्तम्, तदुक्तं

'ऊर्ध्वे तु संस्थिता सृष्टिः परमानन्ददायिनी ।
पीयूषवृष्टिं वर्षन्ती बैन्दवी परमा कला ॥
अधः संहारकृज्ज्ञेयो महानग्निः कृतान्तकः ।
घोरो ज्वलावलीयुक्तो दुर्धर्षो ज्योतिषां निधिः ॥
तयोर्मध्ये परं तेज उभयानन्दसुन्दरम् ।
अवतारः स विज्ञेय उभाभ्यां व्यापकः शिवः ॥
परस्परसमाविष्टौ चन्द्रेऽग्निष्टोटिभे शशी ।
चन्द्रं सृष्टिं विजानीयादग्निः संहार उच्यते ॥
अवतारो रविः प्रोक्तो मध्यस्थः परमेश्वरः ।' इति ।

श्रीवामकेश्वरी तन्त्र में भी "त्रिपुरा परमा शक्ति" से आरम्भ कर "त्रिपुरा परिकीर्त्तिता ।" तक यही तथ्य वर्णित है । इसी अभिप्राय से दूसरे स्थान पर भी इसका सृष्टि स्थिति संहारात्मक धाम त्रयत्व भी "ऊर्ध्वे तु' से लेकर 'मध्यस्थः परमेश्वरः' तक वर्णित है ।

तथा

'कालाग्निरुद्रात्प्रसृतं च तेजो
भूरि स्फुटं दीप्ततरं विचिन्त्यम् ।
ऊर्ध्वं स्थिता चन्द्रकला च शान्ता
पूर्णामृतानन्दरसेन देवि ॥
तदोभयोर्वह्निविषानुयोगा-
त्तेजःशशाङ्कौ द्रवितौ च यस्मात् ।
तेजःशशाङ्कस्फुटमिश्रितत्वा-
द्भवेत्तदार्कं त्ववतार रूपम् ॥
ततः सकाशात्प्रभवाप्ययौ स्तो
यस्मादयं विश्वसमग्रभेदः ।
एतच्च विद्वान्विदितार्थभावो
ध्यायेत युक्त्यात्मचिदर्करूपम् ॥' इति ।

तथा

'ततोऽस्वरोऽर्कसोमाग्निकलाबीजप्रसूतिभाक् ।
उदेत्येकः समालोकः प्रमाणार्थप्रमातृदः ॥' इति ।

तथा "कालाग्निरुद्रात्" से आरम्भ कर "ध्यायेत युक्त्यात्मचिदर्क रूपम् ।" तक के प्रकरण में भी इसी का समर्थन है। तथा यह प्रसंग भी "इसके अनन्तर सूर्य, सोम और अग्नि के कलाबीज की उत्पत्ति में समर्थ; प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता मय एक अभिनव आलोक उदित होता है।" इसी तथ्य का समर्थक है।

यहाँ परमेश्वर की तीन ही प्रधान शक्तियाँ उल्लसित हैं। उनका इस पद्य में वर्णन कर रहे हैं—

" 'अ' का शिर रौद्री शक्ति है। मुख वामा है। बाहु अम्बिका है। और आयुध ज्येष्ठा शक्ति है" इस पद्य में अभिप्राय की दृष्टि से चार रूप बतलाये गये हैं।

इह च तिस्र एव परमेश्वरस्य मुख्याः शक्तयः संभवन्ति इत्यस्य प्राधान्येन तद्रूपत्वमेवोक्तम्, अन्यत्र पुनः

'अकारस्य शिरो रौद्री वक्त्रं वामा प्रकीर्तिता ।
अम्बिका बाहुरित्युक्ता ज्येष्ठा चैवायुधं स्मृता ॥'

इत्याद्युक्त्या अभिप्रायान्तरेण अस्य चतूरूपत्वमप्युक्तम्, तदेवमेवंविधा परैव कुण्डलिनी शक्तिरस्य स्वरूपादनतिरिक्ता, इत्युक्तम् 'अवियुक्तो यया प्रभुः' इति, तदुक्तम्

'अकारश्च हकारश्च द्वावेतौ युगपत्स्थितौ ।
विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ॥' इति ।

एवमविभागेऽप्यनयोरेकैकप्राधान्येन स्वरूपमात्रविश्रान्तेरेकवीरत्वं चिच्छक्तिरूपत्वं च ॥ ६७ ॥

यदा पुनः

'न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता ।
यामलं प्रसरं सर्वं.................................. ॥'

इत्यादि—महागुरूदितनीत्या अनयोः परस्परौन्मुख्यात्मकं यामलं रूपं स्यात्, तदा विश्वसर्ग इत्याह

ऐसी परा कुण्डलिनी शक्ति इसके अतिरिक्त नहीं है। इसीलिये कहा गया है कि प्रभु इससे शाश्वत अवियुक्त हैं, और भी कहा गया है कि " 'अकार और 'ह' कार ये दोनों युगपत् स्थित हैं। इन दोनों में अन्तरवकाश उसी तरह नहीं है, जैसे वायु और आकाश में नहीं है। यद्यपि इनकी अविभाग मयी स्थिति है फिर भी एक एक की प्रधानता को ध्यान में रख कर स्वरूप मात्र विश्रान्ति के कारण इनका एक वीरत्व और चित् शक्ति रूपत्व भी व्यवहार सिद्ध है ॥६७॥

पुनः "शिव शक्ति से रहित नहीं होते और शक्ति शिववर्जित नहीं होती। यह सारा यामल प्रसार है.....।" इत्यादि परम सम्माननीय गुरुजनों के कथनानुसार जब इन दोनों का परस्पर औन्मुख्य होता है, तभी यामल प्रसार होता है। उसी के फलस्वरूप विश्वसर्ग का समुल्लास होता है। यही कहते हैं–

इनका जो यामल रूप है, उसे संघट्ट कहते हैं। यह आनन्द शक्ति है। इससे ही विश्व का विसर्ग होता है।

तयोर्यद्यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः ।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ।। ६८ ।।

तयोरिति—अकुलकौलिकीशब्दव्यपदेश्ययोः शिवशक्त्योः, संघट्ट इति-सम्यक् घट्टनं चलनं स्पन्दरूपता स्वात्मोच्छलत्ता इत्यर्थः, अतश्च प्रकाशविमर्शात्मनोरनुत्तरयोरेव संघट्टादानन्दशक्त्यात्मनो द्वितीयवर्णस्य उदयो, यतः—इच्छाद्यात्मनो विश्वस्य सर्गः। चर्याक्रमेऽपि स्त्रीपुंसयोः संघट्ट एवानन्दोदयाद्विसर्गः। इह शिवस्य शक्तेश्च विश्वोत्तीर्णत्वेन विश्वमयत्वेन च विच्छिन्नं रूपम्, इदं पुनः विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णम्, इति नियतावच्छेदाभावात् पूर्णं रूपम् ।। ६८ ।।

अत एव सर्वशास्त्रेषु परमोपेयत्वेनोद्घोष्यते; इत्याह

परापरात्परं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते ।
तत्सारं तच्च हृदयं स विसर्गः परः प्रभुः ।। ६९ ।।

यामलभाव अकुल और कौलिकी शक्ति रूप शिवशक्ति का होता है। संघट्ट का तात्पर्य परस्पर स्पन्दरूप औन्मुख्य है। इसे स्वात्म उच्छलत्ता भी कहते हैं। यह प्रकाश और विमर्श रूप अनुत्तर शक्तियों के मिलन की स्थिति है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार यह सवर्ण दीर्घ सन्धि है। इससे आनन्दशक्ति रूप 'आ' का उदय होता है। यह वर्णमाला का द्वितीय वर्ण होता है। इसी आनन्दशक्ति से इच्छादिरूप विश्व का सृजन होता है।

चर्याक्रम में भी यही होता है। प्रकाश रूप पुरुष और विमर्श रूप स्त्री का परस्पर मिलन रूप स्पन्दोदय होता है। शुक्रविसर्ग से भ्रूण आदि सृष्टि की परम्परा का प्रादुर्भाव होता है। इस सन्दर्भ में यह जानना आवश्यक है कि शिवशक्ति के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय यह दो विच्छिन्न रूप होते हैं। स्पन्द अवस्था में विश्वोत्तीर्ण और आनन्दोदय में विश्वमयत्व होता है। प्रथम अवस्था में अवच्छेद का नियत अभाव होता है ।।६८।।

सभी शास्त्रों में यही परमोपेय मानी जाती है। यही कह रहे हैं—विश्वोत्तीर्ण पर शैव रूप से और अपर विश्वमय शाक्त रूप से यह पर तत्त्व प्रतिभासित है। श्री सारभट्टारक के मत से यह 'सार' रूप है। हृदय-नय रहस्य के अनुसार यह 'हृदय' है। यह पर है। वही प्रभु है। श्री देवीयामल शास्त्र के महाडामर याग के एक प्रकरण के अनुसार यह शक्ति-काल संकर्षिणी कही जाती है।

देवीयामलशास्त्रे सा कथिता कालकर्षिणी ।

महाडामरके यागे श्रीपरा मस्तके तथा ॥ ७० ॥

श्रीपूर्वशास्त्रे सा मातृसद्भावत्वेन वर्णिता ।

परात्—विश्वोत्तीर्णात् शैवात् रूपात्, अपरात् –विश्वमयात् शाक्ताद्रूपात्, परं पूर्णं, सारमिति श्रीसारभट्टारकाद्युक्तम्, हृदयमिति श्रीहृदयनयरहस्यं, पर इति परापरस्य अपरस्य च विसर्गस्य वक्ष्यमाणत्वात्, महाडामरके यागे इति देवीयामलशास्त्रसामानाधिकरण्येन योज्यम्, तेन तत्प्रतिपादके प्राथमिके ग्रन्थैकदेश इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'तन्मध्ये तु परा देवी दक्षिणे च परापरा ।
अपरा वामशृङ्गे तु मध्यशृङ्गोर्ध्वतः शृणु ॥
या सा संकर्षिणी देवी परातीता व्यवस्थिता । इति ।

मातृसद्भावत्वेनेति यदुक्तं तत्र,

सद्भावः परमो ह्येष मातृणां परिपठ्यते ।' इति ॥६९-७०॥

एवं चिदानन्दशक्ती अभिधाय इच्छाशक्तिमाह

संघट्टेऽस्मिश्चिदात्मत्वाद्यत्तत्प्रत्यवमर्शनम् ॥७१॥

इच्छाशक्तिरघोराणां शक्तीनां सा परा प्रभुः ।

अस्मिन् समनन्तरोक्तरूपे संघट्टे

आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्........................।'

वहाँ कहा गया है—

'उसके बीच में परा देवी, दक्षिण भाग में परापरा, वामशृङ्ग में अपरा, मध्य शृङ्ग के ऊर्ध्व भाग में संकर्षिणी परातीत देवी मानी गयी हैं ।" श्री पूर्वशास्त्र में वह मातृ सद्भाव कही जाती है । वहाँ कहा गया है—"यह मातृशक्तियों का परम सद्भाव है ।" इस तरह सार, हृदय, विसर्ग, पर, कालकर्षिणी और मातृसद्भाव शब्दों से संज्ञापित यह आनन्द शक्ति है ॥६९-७०॥

इस प्रकार चित् और आनन्द शक्तियों की चर्चा के अनन्तर अब इच्छा शक्ति का वर्णन कर रहे हैं –

संघट्ट की चर्चा पहले की जा चुकी है । इस सम्बन्ध में उक्ति है—"आनन्द ब्रह्म का ही रूप है.........।" इसमें चित्प्राधान्य होता है । परप्रमाता में सृष्टि की इच्छा का प्रत्यवमर्श होता है । वही इच्छा शक्ति है । जो निश्चय ही—

इत्याद्युक्त्या चितः प्राधान्यात् योऽयं परस्य प्रमातुः सिसृक्षात्मा **परामर्श** उदेति सेयमिच्छाख्या शक्तिः, या खलु

'पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः ।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ॥'

इत्याद्युक्तानामघोराणां शुद्धस्वातन्त्र्यमात्ररूपत्वादविद्यमान-भेदाद्यात्मकघोर-रूपाणां शक्तीनां, प्रभुः प्रभवनिमित्तं---गर्भीकृतानन्तशक्तिव्राता, इति यावत्, अत एव परा सर्वोत्कर्षयोगिनी तदाख्या चेत्यर्थः। प्रकृतेऽपि अनेन तृतीयवर्णोदय उक्तः। सा च इच्छाशक्तिः

'यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया ।
विचित्ररचनानानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने ॥
भवत्युन्मुखिताचिन्ता सेच्छायाः प्रथमातुटिः ॥'

इत्याद्युक्ताद्यस्पन्दात्मिका बहिरौन्मुख्यमात्ररूपिणी स्रष्टव्यानारूषितेच्छामात्ररूपा वा स्यात् तत्तदीषणीयविषयारूषणया प्रक्षोभात्मप्रयत्नरूपतां श्रयन्ती बहीरूपतया ऐश्वर्यं भजमाना वा इत्यस्या द्वैधम्, तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्

'सा केवलमिच्छामात्ररूपा स्रष्टव्यस्य विप्रकृष्टा,
काचित्पुनः प्रयत्नतामापन्ना संनिकृष्टा ॥' इति ॥७१॥

"ये अघोर अर्थात् भेदवाद रहित शुद्ध स्वातन्त्र्यमयी शिवशक्तियाँ परा कही जाती हैं। यही प्राणियों को शैवी धाम प्रदान करती हैं।" ऐसी शक्तियों की प्रभु वही पराशक्ति है। प्रभु शब्द से सर्वोत्कर्ष का द्योतन होता है। इसमें अनन्त शक्तियाँ समाहित रहती' हैं। इसी से तीसरे ह्रस्व 'इ' वर्ण का उदय भी होता है। इसी इच्छा शक्ति द्वारा चिन्मयता के चरमोत्कर्ष के आनन्द का महोल्लास स्वाभाविक रूप से होता है। विचित्र रचना की चारुता से चमत्कृत कार्यों से कौतुक मयी सृष्टि के प्रवर्त्तन में उन्मुखता की चिन्ता उत्पन्न होती है। चिन्ता ही इच्छा की प्रथम तुटि है।" इस उक्ति के अनुसार इच्छाशक्ति स्पन्दात्मिका होती है। इसमें बाह्य औन्मुख्य भी होता है। यह दो प्रकार की होती है। १–सर्जन में अनारूषित इच्छा मात्र रूपा और २–प्रक्षुब्धता के कारण प्रयत्न प्रवृत्ता। श्री प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

स्रष्टव्य से विप्रकृष्ट वह केवल इच्छा रूप होती है। दूसरी प्रयत्न प्रवृत्त संन्निकृष्टा।" इससे भी इसका द्वैध सिद्ध हो जाता है ॥७१॥

तत्र प्राच्यायाः स्वरूपं निरूपितं द्वितीयस्या निरूपयितुमाह

सैव प्रक्षुब्धरूपा चेदीशित्री संप्रजायते ॥७२॥
तदा घोराः परा देव्यो जाताः शैवाध्वदैशिकाः ।

तदा—प्रक्षुब्धरूपत्वेनेच्छाशक्तेरैश्वर्ये सति परा अघोरा देव्यो जाताः-बहीरूपतया प्रस्फुरिता इत्यर्थः, एतदेव हि अस्या ऐश्वर्यं-यत्तत्तदनन्तशक्तिरूपतया बहिरवभासनमिति, ताश्च तथा भेदस्य स्फुटत्वाभावात् स्वस्वरूपावभासनव्यापारशालिन्य एव, इत्याह 'शैवाध्वदैशिका' इति, अत एव न घोरादिशक्तिवन्मुक्तिमार्गनिरोधिन्य इति भावः। प्रकृतेऽपि अनेन चतुर्थ वर्णोदय उक्तः ॥७२॥

एवमिच्छाशक्तिं द्विप्रकारामभिधाय ज्ञानशक्तिमप्याह

स्वात्मप्रत्यवमर्शो यः प्रागभूदेकवीरकः ॥७३॥
ज्ञातव्यविश्वोन्मेषात्मा ज्ञानशक्तितया स्थितः ।

इह खलु प्राक् प्रक्षुब्धत्वरूपत्वात्पूर्वं व्यतिरिक्तविमृश्याभावात् स्वात्ममात्रनिष्ठाः, अत एव, एकवीरको' यः परामर्शः आसीत्, स एव ज्ञानशक्तित्वेन अन्तर्विजिज्ञास्यतया इष्टस्य विश्वस्य योऽसौ उन्मेषः-आद्यः परिस्पन्दः, तद्रूपः सन् अवस्थितः, इति पंचम बीजनिर्णय इति ॥७३॥

पहली का रूप निरूपित कर द्वितीया के विषय में कह रहे हैं—

प्रक्षुब्ध स्थिति में इच्छा शक्ति का ऐश्वर्य दृष्टि गोचर होता है, तब वही बाह्य-रूपतया स्फुरित होती है। भेद के कारण ये घोर कहलाती हैं। बाह्य अवभासन ही इनका ऐश्वर्य है। ये भी शैवाध्वदेशिक होती हैं अर्थात् स्वरूप के प्रकाशन में सदा सर्वदा समर्थ होतीं हैं। इससे चतुर्थ स्वर की उत्पत्ति हो जाती है ॥७२॥

इच्छा शक्ति दो प्रकार की होती है, यह कहने के बाद अब ज्ञान-शक्ति का कथन कर रहे हैं—

पहले जिस समय प्रक्षुब्ध अवस्था नहीं थी, उस समय एक ऐसा परामर्श था जो स्वात्ममात्र निष्ठ था। उसे ही एकवीरक परामर्श कहते हैं। अभी वह अन्तर्विजिज्ञास्य विश्व के कारण रूप में था। उसी परामर्श से विश्व-उन्मेष रूप आद्यस्पन्द सम्भव हुआ। उस रूप में अवस्थित उस परामर्श को ज्ञानशक्ति कहते हैं। यह पंचम बीज की उत्पत्ति का उत्स है ॥७३॥

एतदेव स्वदर्शनभङ्ग्या योजयति

इयं परापरा देवी घोरां या मातृमण्डलीम् ॥७४॥
सृजत्यविरतं शुद्धाशुद्धमार्गैकदीपिकाम् ।

घोरामिति । यदुक्तम्

'मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापराः ॥'

इति । शुद्धाशुद्धेति—न पुनर्घोरतर्यादिवदधोधःपातिनीम् इति भावः ॥७४॥

इहेच्छाशक्तिवत् ज्ञानशक्तेरपि ज्ञेयाधिक्यानाधिक्याभ्यां द्वैधं, यज्ज्ञेयस्यानाधिक्ये स्वरूपं निर्णीतम्, आधिक्ये पुनः स्वरूपम् निरूपयति

ज्ञेयांशः प्रोन्मिषन्क्षोभं यदैति बलवत्त्वतः ॥७५॥
ऊनताभासनं संविन्मात्रत्वे जायते तदा ।

इस तथ्य को अपने दर्शन की सरणी के अनुसार व्यक्त कर रहे हैं—

यह उन्मेषमयी परापरा देवी घोरा कही जाती है। यह शुद्ध और अशुद्ध दोनों मार्गों की अधःपात करने वाली स्थितियों की ओर उन्मुख करने वाली मातृशक्तियों का भी सृजन करने में समर्थ है और निरन्तर उनका सृजन करने में प्रवृत्त भी है। कहा गया है—

"मिश्रित कर्मों के फलों की ओर आसक्त करती हैं और मुक्ति मार्ग की बाधिका भी हैं। यही परापरा शक्तियाँ घोरा हैं।" यह पंचम बीज वर्ण के आद्यस्पन्द की अक्षुब्ध अवस्था में होने वाली अनुभूति का चित्रण है। इसे वर्णमातृका में 'उ'कार कहते हैं ॥७४॥

जिस तरह इच्छा शक्ति में सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट दो भेद हैं, उसी तरह ज्ञान शक्ति में भी दो भेद हैं। १—ज्ञेयका अनाधिक्य और २—ज्ञेयाधिक्य। ज्ञेयाधिक्य अवस्था का निरूपण कर रहे है—

ज्ञेय अंश जिस समय विशेष रूप से उन्मेष के क्रमिक स्फुरण की अवस्था में होता है, उसमें तीव्रता आ जाती हैं और नील पीत सुख आदि की चित्रात्मकता भी आ जाती है, उस अवस्था को क्षुभितावस्था कहते हैं। उस दशा में संवित् तत्त्व तनुता प्राप्त करने लगता है। शास्त्र की भाषा में उसे ऊनता कहते हैं। यह अपूर्णता का अवभास होता है। यह—छठें 'ऊ' वर्ण के उदय की अवस्था होती है।

ज्ञानापेक्षया ज्ञेयरूपोंऽश उद्रिक्तत्वात् प्रस्फुटीभवन्, यदा क्षोभं—तत्तन्नीलसुखाद्यात्मना चित्राकारधारितामेति तदा ज्ञेयस्याधिक्यात् ज्ञानस्य ज्ञानमात्ररूपतायामूनत्वस्य—अपूर्णत्वस्य आभासन जायते—संकोचाधिगमो भवेत्, इति षष्ठवर्णोदयः ॥ ७५ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति

रूढं तज्ज्ञेयवर्गस्य स्थितिप्रारम्भ उच्यते ॥ ७६ ॥

रूढिरेषा विबोधाब्धेश्चित्राकारपरिग्रहः ।

इदं तद्बीजसंदर्भबीजं विन्वन्ति योगिनः ॥ ७७ ॥

तत्—संविन्मात्रोनताभासनं रूढं जातप्ररोहं सत्, तत्तन्नीलसुखाद्यात्मनो ज्ञेयवर्गस्य स्थितेः प्रारम्भ उच्यते, न पुनः साक्षात्स्थितिरेव—तस्याः क्रियाशक्तौ भावात्, को नाम अस्याः प्ररोहः ? इत्याह 'रूढिरेषेत्यादि' अनेन ज्ञानादतिरिक्तं न किंचिन्नाम ज्ञेयमस्ति अपि तु तदेव तत्तद्रूपात्मना स्फुरति' इति सूचितम् । तत्-तस्माद्बोधस्यैव चित्राकारधारित्वाद्धेतोरिदमेव व्याख्यातं संविन्मात्रोनत्वं षष्ठं च भेदसंदर्भस्य कारणत्वेन, योगिनो—न पुनरयोगिनः, तेषां क्रियाशक्त्या-

---

यहाँ तक के वर्ण बीजों का रहस्यार्थ इस तरह होता है । १–अ=अनुत्तर परम शिव । २–आ=आनन्द, निरतिशय स्वातन्त्र्य सुख । ३–'इ'=इच्छा शक्ति, सिसृक्षात्मक प्रत्यवमर्श, चित् के आनन्द की रचनात्मक स्फूर्त्ति । ४–ई=ईशित्रीशक्ति, बहिरौन्मुख्य रूप प्रयत्न से पूर्ण ऐश्वर्यमयी शक्ति । ५–उ= उन्मेष शक्ति , ज्ञान शक्ति की अक्षुब्ध अवस्था । ६–ऊ=ज्ञान के परिवेश की क्षीणता, संवित् मात्र की तनुता; ऊर्मि के लहराव की तरह संवित् की गहराई छोड़कर लहर की चित्रात्मकता सी सीमा बद्धता ॥ ७५ ॥

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

वह ऊनता का आभास जब रूढ होने लगता है, तब ज्ञेयरूप नील-पीत, सुख दुःख आदि के अस्तित्व की आद्य आरम्भात्मक स्थिति होती है । साक्षात् सत्तात्मक स्थिति नहीं होती क्योंकि यह क्रिया शक्ति के क्षेत्र में होता है । अतः यह सिद्ध होता है कि उस अवस्था में पार्थक्य प्रथा का प्रथन नहीं रहता, ज्ञेय वर्ग का बोध समुद्र में तरङ्गों की तरह चित्रवत् स्फुरण तो रहता है किन्तु वह कारणात्मक ही होता है । क्रिया शक्ति के स्फुरण का मानो यह बीज ही है । योगियों की अनुभूति का यह विषय है । यही स्थूल क्रिया शक्ति का जनक है ।

त्मस्थूलभेदचेतयितृत्वात् चिन्वन्ति जानन्तीत्यर्थः। इह खलु एतदेव परविमर्शात्ममुख्यं परामर्शषटकं यतः परस्परम् प्रमेयेण वा संवट्टे सति निखिलपरामर्शोदयः, यद्वक्ष्यति

'स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसंततौ।'

इति। तत्र अनुत्तरानन्दयोः शुद्धसंविन्मात्ररूपत्वात् तदपेक्षया भेदाभावात् प्रमेयवार्तापि नास्तीति॥ ७६-७७॥

इच्छाशक्तेरेव इष्यमाणारूषणया चातूरूप्यं दर्शयितुमुपक्रमते

इच्छाशक्तिर्द्विरूपोक्ता क्षुभिताक्षुभिता च या।
इष्यमाणं हि सा वस्तु द्वैरूप्येणात्मनि श्रयेत्॥ ७८॥

इष्यमाणस्य प्रकाशमात्रात्मकत्वात् विश्रान्त्यात्मकत्वाच्च, अत एव अत्र रलयोः श्रुतिः—तयोः प्रकाशस्तम्भस्वभावत्वात्॥ ७८॥

तदाह

अचिरद्युतिभासित्या शक्त्या ज्वलनरूपया।
इष्यमाणसमापत्तिः स्थैर्येणाथ धरात्मना॥ ७९॥

'शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं..........................।'

यही तथ्य आगे भी व्यक्त है—

स्वरों का यह 'अ आ इई उऊ' रूप छः अक्षरों का समुदाय समस्त वर्ण मातृका का उत्स है।'' इसमें अनुत्तर और आनन्द ये दोनों शुद्ध संविद्रूप हैं। इच्छा और उन्मेष में भेद का अभाव है, सावर्ण्य है। इससे इनमें प्रमेयता का लेश मात्र भी नहीं॥७६-७७॥

इच्छा शक्ति में व्यवहार वाद के सम्पर्क से उत्पन्न चार रूपों का वर्णन कर रहे हैं—

इच्छा शक्ति क्षुभिता और अक्षुभिता अवस्थाओं के कारण दो प्रकार की कही गयी है। वह स्वात्म में इष्यमाण वस्तु को दो प्रकार से धारण करती है। इष्यमाण प्रकाश रूप भी होता है और विश्रान्ति रूप भी होता है। स्वात्माधार में यह द्विरूपता प्रकाश और प्रकाशस्तम्भ सारूप्य के कारण होती है॥७८॥

इत्याद्युक्तेर्ज्वलनरूपा धरात्मा च येयं द्विप्रकारा शक्तिः, तदात्मकं यदिष्यमाणं तेन, अर्थात्—द्विप्रकाराया अपि इच्छाशक्तेर्या समापत्तिः—अपृथग्भावेनावभासनम्, अतोऽस्याश्चातूरूप्यमित्यर्थः, यद्यपि प्रागपीच्छाया इष्यमाणसमापत्तिरुक्ता येनास्याः क्षुब्धत्वं प्रतिपादितं तथापि तन्न तथा स्फुटेन रूपेण, यथेदानीम्, इत्युक्तं स्थैर्येण' इति, न चात्रैवमपि बाह्यवत् स्थैर्येणेष्यमाणं प्रतीयते, तथात्वे हि तत्कार्यं स्यात् नेष्यमाणम्; अत एवात्र अस्फुटत्वात् रलयोः श्रुतिमात्रं, न तु साक्षाद्वय‍ञ्जनवत्स्थितिः, तदाह 'अचिरद्युतिभासिन्येति' यथाहि विद्युत् क्षणिकत्वादचिरमेव कालमवभासते तथात्र इष्यमाणमपि छायामात्रेणेवेति, अत एव चात्र—वर्णश्रुतिमात्रं, न साक्षाद्वर्णः, नहि वर्णश्रुतिरेव वर्णः, अत एव नरसिंहवत् जात्यन्तरमिदमिति श्रीमहाभाष्यकारः, अत एव चैतद्वर्णचतुष्टयमुभयच्छायाधारित्वात्

'ऋ ॠ ऌ ॡ चतुष्कं च नपुंसकगणस्तथा'

इत्याद्युक्त्या सर्वत्रैव नपुंसकत्वेन व्यपदिश्यते, तेन अक्षुब्धा ज्वलनशक्त्याच्छुरिता 'ऋ' क्षुब्धा तु 'ॠ' एवं धराशक्त्याच्छुरिता 'ऌ ॡ' इति, ज्वलनाद्यात्मनश्चात्रेष्यमाणस्य स्वरूपमात्रोपादानादेव स्थिरात्मकत्वं लभ्यते—इति न तदर्थं विशेषणान्तरोपादानम् ।। ७९ ।।

ननु यदीच्छाशक्तेरिष्यमाणसमापत्त्या परामर्शान्तरोदय इष्यते, तज्ज्ञानशक्तेरपि किं न ज्ञेयसमापत्त्या ? इत्याशंक्याह

वही कह रहे हैं—

इच्छा शक्ति की क्षुभितावस्था में विद्युत् की प्रकाशमयता के कारण अग्नि की श्रुति मात्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रथम अवस्था की अपेक्षा यहाँ कुछ अधिक उल्लास होता है, पार्थक्य प्रथा नहीं। इसी प्रकार अक्षुभिता अवस्था में धरात्मक स्थिरता का संस्कार ले कर उसमें धरा बीज की श्रुति भी स्फुरित होती है। यह भी द्वितीय अवस्था की बीजावस्था है, साक्षात् वर्ण सत्ता नहीं। वर्ण की श्रुति वर्ण नहीं मानी जाती। वरन् यह एक प्रकार की जात्यन्तर प्रवृत्ति है। इसी लिये—"ऋ, ॠ, ऌ और ॡ ये चारों वर्ण नपुंसक माने जाते हैं।" अक्षुब्धा इच्छा ऋ और क्षुब्धा 'ॠ ये दोनों वर्ण धरा-संस्कार से रूषित अवस्था में ऌ और ॡ हो जाते हैं ।।७९।।

उन्मेषशक्तावस्त्येतज्ज्ञेयं यद्यपि भूयसा ।

तथापि विभवस्थानं सा न तु प्राच्यजन्मभूः ॥ ८० ॥

यद्यपि ज्ञानशक्तावेतज्ज्वलनाद्यात्म ज्ञेयं भूयसा विद्यते तथापि सा ज्ञानशक्तिः ज्ञेयस्य विभवस्थानं, न तु प्राच्येच्छाशक्तिलक्षणा जन्मभूः — इच्छाशक्तिवत् नेयमुत्पत्तिस्थानमित्यर्थः, इच्छाशक्तौ खलु इष्यमाणात्मतया उत्पन्नस्य सतो भावजातस्य ज्ञानशक्तावभिव्यक्तिः, यस्य क्रियाशक्तौ बहीरूपतया परिस्फुरणम्, अतो ज्ञानशक्तौ ज्ञेयस्य नापूर्वतया उत्पाद, इति न तत्र तत्समापत्त्या परामर्शान्तरोदयः, तेनेच्छाशक्ताविष्यमाणस्यापूर्वतयोत्पादादेवमभिधानम्, यद्यपि सर्वभावनिर्भरत्वात्परस्यामपि संविदि सर्वे भावाः संभवन्ति तथापि तत्र तेषां संविन्मात्रतयावस्थानम् ॥ ८० ॥

इह पुनः किंचिदुच्छूनतासमापत्त्या पृथगिवावभास इति इत्येतदुक्तम् अत आह

इच्छाशक्तेरतः प्राहुश्चातूरूप्यं परामृतम् ।

क्षोभान्तरस्यासद्भावान्नेदं बीजं च कस्यचित् ॥ ८१ ॥

इच्छा शक्ति में इष्यमाण भाव के स्फुरण से एक नया पृथक् परामर्श उदित होता है । प्रश्न है कि ज्ञान शक्ति में जब ज्ञेय की समापत्ति होती है, तो परामर्शान्तरोदय क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

उन्मेष शक्ति ही ज्ञान शक्ति है । इसमें भी अनन्त ज्ञेयों का शाश्वत स्पन्द होता है । इच्छा शक्ति में इष्यमाण समापत्ति जैसे अनन्त आन्तरिक उत्पाद को कारण है, उसी तरह ज्ञानशक्ति उत्पत्ति को कारण नहीं मानी जाती है—अपि तु विभव-स्थान मानी जाती है । इच्छा शक्ति में इष्यमाण रूप से उत्पन्न भाववर्ग का ज्ञान शक्ति में अभिव्यंजन होता है और उन्हीं का क्रिया शक्ति में बाह्य अवभास होता है । इच्छा शक्ति में इष्यमाण का अपूर्व उत्पाद होता है । ज्ञान शक्ति में ऐसा नहीं होता, वरन् उसका परामर्श होता है । दूसरा परामर्श नहीं होता । यद्यपि ये सभी भाव संवित् में भी होते हैं फिर भी उसमें उनका अवस्थान संविद्रूप ही रहता है ॥ ८० ॥

इच्छाशक्ति में इष्यमाण समापत्ति से चार वर्ण श्रुतियाँ होती हैं । इनकी पृथक् प्रतीतिमात्र होती है पर वे पृथक् नहीं होतीं । यही कह रहे हैं—

परामृतमिति--स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परचमत्कारात्मकमित्यर्थः यद्वक्ष्यति

'आत्मन्येव च विश्रान्त्या तत्प्रोक्तममृतात्मकम् ।' (३।९२)

इति । ननु

'.......................... बीजं स्वरा मताः ।'

इत्यादिना स्वरान्तः पातित्वादेषां बीजत्वमुक्तं, तच्च प्रक्षोभकत्वमुच्यते न च स्वात्ममात्रविश्रान्तिरूपत्वादत्र तत् संगच्छते, तद्धि क्षोभान्तरसद्भावे स्यात् ? इत्याशंक्याह 'नेदं बीजमिति' स्वात्ममात्रविश्रान्तेः क्षोभान्तरानुल्लासकतया स्वकार्याकरणात् दग्धप्रायत्वात्, न तु सर्वसर्विकया बीजरूपत्वाभावात्, नहि शिवशक्त्यात्मबीजयोन्यतिरेकिणः

'बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद्द्विधा बीजं स्वरा मताः ।
कादिभिश्च स्मृता योनिः............................ ॥'

इत्याद्यभिधानात् राश्यन्तरस्य सद्भावोऽस्ति, येनैवं स्यात्, यत्तु

'या तूक्ता ज्ञेयकालुष्यभाक्क्षिप्रस्थिरयोगतः ।
द्विरूपायास्ततो जातं ट-ताद्यं वर्गयुग्मकम् ॥' ३-१५२।

इत्यादि पुरस्ताद्वक्ष्यते, तत्तत्रैव समाधास्यत इति युक्तमुक्तं—नेदं बीजमिति ॥८१॥

इच्छा शक्ति की इस चतुर्धात्मकता को को परामृत कहते हैं। इनमे कोई नया क्षोभ नहीं होता। इसलिये ये किसी अन्य वर्ण के बीज नही माने जाते। परामृत कहने का यही कारण है क्योंकि स्वात्म मात्र मे ही विश्रान्त होते हैं। यह एक प्रकार का परात्मक चमत्कार ही है। प्रश्न है कि"...... .... स्वर ही बीज होते हैं।" इस नियम के अनुसार ये स्वरों के अन्तर्गत हैं। इस लिये इन्हें बीज मानना चाहिये ही क्यों कि यह भी एक प्रकार का प्रक्षोभात्मक उल्लास ही है। इस प्रश्न का ही उत्तर है-ये बीज नहीं हैं क्यों कि इनसे दूसरे क्षोभ का उल्लास नहीं होता। ये स्वयं दग्ध प्राय होते हैं। जैसा कि—

"बीज और योनि रूप दो भेद स्वर और व्यंजन रूप होते हैं। इनमें स्वर बीज हैं और कादि सान्त्य वर्ण योनि हैं.... ...।" इस उक्ति के अनुसार राश्यन्तर का सद्भाव जैसा स्वरों में है, वैसा सद्भाव इनमें नही होता। यही तथ्य श्लोक १५२ में भी कहा गया है ॥८१॥

ननु यद्येवमेषां बीजत्वं नास्ति तर्हि पारिशेष्याद्योनित्वं स्यात् ? इत्याशंक्य तत्परिहारार्थमेषां बीजयोनिवैलक्षण्यं प्रतिपादयितुं तत्स्वरूपं तावदाह

प्रक्षोभकत्वं बीजत्वं क्षोभाधारश्च योनिता ।

ननु कारणत्वाभिमतं बीजं जडं, तस्य कथं निरपेक्षस्य रूपान्तराविर्भावने सामर्थ्यम् ? इत्याशंक्याह

क्षोभकं संविदो रूपं क्षुभ्यति क्षोभयत्यपि ॥८२॥
क्षोभः स्याज्ज्ञेयधर्मत्वं क्षोभणा तद्बहिष्कृतिः ।

यतः संविद एव मुख्यतया क्षोभकं रूपम्, अतः क्षुभेः ण्यन्ताण्यन्तार्थगर्भीकारात्सा संवित् क्षुभ्यति, मयूराण्डरसन्यायेन अन्तरासूत्रितप्रायं बहिर्भावोन्मुखमिव ज्ञेयजातं धारयति, तच्च तथा क्षुभ्यत् क्षोभयति – बहीरूपतयावभासयतीत्यर्थः, तदाह 'क्षोभ' इत्यादि, क्षोभणा—क्षोभ्यस्य प्रेषणादिरूपा प्रेरणेत्यर्थ ॥८२॥

एतदेव रहस्यप्रक्रियागर्भीकारेणापि सूत्रयति

अन्तःस्थविश्वाभिन्नैकबीजांशविसिसृक्षुता ॥८३॥
क्षोभोऽस्तदिच्छे तत्त्वेच्छा भासनं क्षोभणां विदुः ।

जैसे इनकी बीज रूपता नहीं वैसे ही इन्हें योनि भी नही कहते। यहाँ बीज-योनि का स्वरूप निर्धारित कर रहे हैं—

बीज प्रक्षोभक होता है और योनि क्षोभ की आधार। बीज कारण रूप होता है। इसे जड नहीं कहना चाहिये। इसी का समर्थन कर रहे हैं—

मुख्य रूप से संविद् ही क्षोभक होती है। क्षुभ धातु के प्रयोग में ण्यन्त अर्थ अन्तर्भूत है। इस लिये तदनुसार यह स्वयं क्षुब्ध भी होती है और क्षुब्ध कराती है तथा करती भी है। जैसे मोर के अण्डे के रस में सारे चित्र हैं। वे अन्तर में उल्लसित रहते हुए बहिर्भावोन्मुख की तरह धारित हैं। उसी तरह ज्ञेय धर्मत्व का अन्तःस्थित बहिरौन्मुख्यावभास ही क्षोभ है। क्षोभ का प्रभाव क्षोम्य पर पड़ता है। क्षोभ्य के प्रेषण आदि व्यापार को क्षोभणा कहते हैं ॥८२॥

रहस्य प्रक्रिया के अनुसार इसी तथ्य को व्यक्त कर रहे हैं—

परप्रमाता के अन्तर में ऐकात्म्य भाव से स्थित अनन्त ईषणीय भावात्मक विश्व (शाश्वत उल्लसित है)। उनमें से एक-एक भाव बीजांश हैं।

अन्तःस्थं—प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानं यद्विश्वम् ईषणीयादिभावजातं, तत्राभिन्नमीषणादि संविद्रूपत्वेन अनुद्भिन्नविशेषम्, अत एवैकमद्वितीयं यत् संविदो रूपं, तदेव सर्वभावनिर्भरत्वात् विश्वाविर्भावकतया बीजांशः—कारणविशेषः, तस्य या परानपेक्षत्वेन विशिष्टा स्रष्टृत्वेच्छा—ग्राह्यग्राहकात्मनो विश्वस्य भिन्नकल्पतयावविभासयिषा, तया योऽसौ संबन्धः, स एव क्षोभः, तथा 'शरं गमयति' इत्यादिवत् अतदिच्छेऽपि औदासीन्यात् बहिर्भावानुन्मखे देहनीलादौ भावजाते यत्तत्त्वेच्छाभासनम्—औदासीन्यच्यावनेन बहिर्भावौन्मुख्येन अवभासनं, तां क्षोभणाम्, एतद्गुरुप्रभृतयो विदुः जानीयुरित्यर्थः। चर्याक्रमे हि बीजं सिसृक्षुः पुमान् स्वयं क्षुभ्यति प्रमदां तु क्षोभयति इति । इह चेतदतिरहस्यत्वाच्च न प्रपञ्चितं, यथोपयोगमूह्यत एव केवलम् ॥८३॥

एवं बीजस्वरूपमभिधाय योनिस्वरूपमाह

यदैक्यापत्तिमासाद्य तदिच्छा कृतिनी भवेत् ॥८४॥

क्षोभाधारमिमं प्राहुः श्रीसोमानन्दपुत्रकाः ।

येन—इदन्ताविमृश्येन देहनीलादिना भावजातेन, कादिना च ऐकात्म्यमासाद्य तस्य परस्य प्रमातुः संबन्धिनी इच्छा,—कृतिनी

'ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विनिर्गताः ।'

वे ही विश्व के आविर्भावक हैं। उसके सर्जन की इच्छा अर्थात् ग्राह्य ग्राहक रूप विश्व की अवविभासयिषा से भाव के सम्बन्ध को क्षोभ कहते हैं। पर-प्रमाता प्रेरक होता है। प्रेरणा की शक्ति वहाँ है। वह हमेशा तदर्थ प्रेरक भी नहीं रहता। प्रायः अतदिच्छ ही होता है। ऐसी दशा में भी कभी भाववर्ग की ओर यदि इच्छा की रश्मियाँ अपना चमत्कार कर देतीं हैं और अभिव्यक्ति के अवभासन का सूक्ष्म स्पन्दात्मक आकलन उल्लसित हो जाता है—वही क्षोभणा कहलाती है। यह अत्यन्त रहस्यात्मक स्थिति है। योगिवर्य साधक इसे जानते हैं। चर्या क्रम में भी दाम्पत्य में यह क्षोभ प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से होती है ॥८३॥

योनि स्वरूप का अभिधान कर रहे हैं—

जिससे ऐक्य भाव प्राप्त कर प्रमाता की इच्छा कृतार्थ होती है, उस संवित् स्वातन्त्र्य के आधार को ही सोमानन्द गुरुवर्य के शिष्य-पुत्रों की परम्परा के लोग योनि कहते हैं। कृतार्थता के विषय में ही—

इत्यादिन्यायेन स्वात्ममात्रविश्रान्त्या कृतार्था पूर्णा जायते। तमेतं क्षोभस्य संवित्स्वातन्त्र्यस्य आधारम् विषयं श्रीसोमानन्दस्यानुकम्प्याः पुत्राः–श्रीमदुत्पलदेवप्रभृतयः शिष्याः, प्राहुः–आचक्षत इत्यर्थः। चर्याक्रमेऽपि हि यत्सामरस्यमासाद्य पौंस्नोऽभिलाषः कार्तार्थ्यमेति स योनिलक्षणः क्षोभाधारः इति ॥८४॥

एतच्च बीजयोनिस्वरूपम् 'अन्तःस्थ' इत्यादिना सूत्रितम्, रहस्यप्रक्रियागर्भीकारेण परमोपादेयत्वादनुग्राह्याणां हृदयंगमीकर्तुं स्वयमेव व्याचष्टे

संविदामीषणादीनामनुद्भिन्नविशेषकम् ॥८५॥
यज्ज्ञेयमात्रं तद्बीजं यद्योगाद्बीजता स्वरे।

ईषणादीनां संविदामसंजातविभागम्, यज्ज्ञेयमवश्यं ज्ञातव्यम् पारमार्थिकं संविद्रूपमेवेच्छादिसंविद्विशेषरूपत्वानुपग्रहात्केवलमनवच्छिन्नं पारमेश्वरम् रूपं, तदेव

'चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥

"मुझ भैरव देव की ही यह विश्वात्मक तरङ्गें तरङ्गायित हैं" यह उक्ति है। यह विश्वात्मक तरङ्गें भाव-वर्ग और व्यञ्जन आदि वर्णों से तादात्म्य भाव से स्फुरित हैं। चर्याक्रम में भी जिस आनन्दात्मक सामरस्य को पाकर पुरुष का क्षोभात्मक अभिलाष तृप्त होता है, उसके आधार को भी योनि कहते हैं ॥८४॥

बीज की रहस्य गर्भिता का प्रतिपादन शिष्य हित को ध्यान में रख कर कर रहे हैं—

संविद् में ईषण आदि विभाग विशेष रूप से उद्भिन्न नहीं हुए हों, फिर भी उसमें पारमार्थिक ज्ञेय भाव यदि स्पन्दित हों तो संविद्रूप होते हुये भी उन्हें बीज कहते हैं। उनसे ही अनुप्राणित होने के कारण स्वर में भी बीजता आ जाती है। बीज रूप संविद्विशेष पारमेश्वर स्वातन्त्र्य का ही प्रतीक है। कहा गया है—

वही चिदात्मा पर प्रमाता परमेश्वर अन्तः स्थित अर्थ समूह को इच्छाशक्ति से उसी प्रकार बहिः प्रकाशमान कर देता है जैसे योगी निरुपादन सृष्टि कर लेता है।" इस उक्ति से अन्तःस्थ विश्व का स्वेच्छा से ही प्रकाशन होता है यह सिद्ध हो जाता है। स्वर भी अपने अनुरूप वर्णों के वैसे ही उत्पादक हैं। अत एव बीज हैं ॥८५॥

इत्याद्युक्त्या सर्वभावनिर्भरत्वात् अन्तःस्थस्य विश्वस्य स्वेच्छयैव बहिराविर्भावनाद्बीजं-मुख्यकारणमित्यर्थः । ननु यद्येवं तत्कथं स्वराणामपि बीजत्वमित्याशंक्योक्तं 'यद्योगाद्बीजता स्वरे' इति, यद्योगादिति-यदनुप्राणितत्वादित्यर्थः, अत एव स्वराणां तत्तद्वर्णाविर्भावकत्वादुचितं बीजत्वम्-इत्याशयः, नहि संवित्स्वातन्त्र्यमन्तरेण अन्यस्य कस्यचित् रूपान्तराविर्भावने सामर्थ्यम्, इति भावः ॥८५॥

एवं बीजशब्दार्थं व्याख्याय विसिसृक्षात्मकं ण्यन्ताण्यन्ततया द्विप्रकारं क्षोभमपि व्याचष्टे

तस्य बीजस्य सैवोक्ता विसिसृक्षा य उद्भवः ।
यतो ग्राह्यमिदं भास्यदभिन्नकल्पं चिदात्मनः ॥८६॥
एष क्षोभः क्षोभणा तु तूष्णींभूतान्यमातृगम् ।
हठाद्यदौदासीन्यांशच्यावनं संविदो बलात् ॥८७॥

उद्भव इत्युद्यन्तृतेत्यर्थः, यतो हेतोरिदं ग्राह्यं देहनीलादि भावजातं कादि च, चिदात्मनः सकाशादभिन्नकल्पम्-अनतिरिक्तमपि अतिरिक्तायमानं भास्यत्-उत्तरकालं भासिष्यमाणं स्यात् स एष उद्यन्तृतामात्ररूपः क्षोभः । चर्याक्रमेऽपि हि क्षोभानन्तरमेवानन्दादि भवेत्, क्षोभणा तु तूष्णींभूता-औदासीन्यात् बहिर्भावानुन्मुखा, ये अन्ये नीलाद्यपोहेन अवस्थिता देहादयो मातारः अर्थान्नीलादयः प्रमेयाश्च, तद्गतं बलात् स्वातन्त्र्यलक्षणं स्वं वीर्यमवलम्ब्य संवित्कर्तृकं हठात्- अतदिच्छेऽपि तत्स्वेच्छाभासनलक्षणात् बलात्कारात् यदौदासीन्याद्बहिर्भावोन्मुखतायामप्रवर्तनात् च्यावनं बहिर्भावौन्मुख्येनैवावभासनं नामेति ॥८६-८७॥

इस प्रकार बीज शब्द की व्याख्या कर ण्यन्त अर्थ के अनुसार क्षोभ की द्विप्रकारता का प्रतिपादन कर रहे हैं—

बीज के विसर्जन का अभिलाष संविद् का एक स्पन्द मात्र होता है। यही उद्भव है। चिदात्मा परप्रमाता से तादात्म्य सम्बन्ध से उल्लसित और भाषित होने के लिये स्पन्दित भाव वर्ग तथा कादि वर्णों के रूप में यह स्पन्द ही ग्राह्य की चरम सूक्ष्मता का प्रतीक बन कर लहरा रहा है। यही क्षोभ दशा है। क्षोभणा का वर्णन श्लोक ८४ में है। चर्या में भी तूष्णीं भाव से उदासीन देहादि प्रमाताओं का नीलादि प्रमेयों से हठात् स्वतन्त्रतापूर्वक अलगाव रहने

एवं बीजसूत्रं व्याख्याय योनिसूत्रमपि व्याचष्टे

जातापि विसिसृक्षासौ यद्विमर्शान्तरैक्यतः ।
कृतार्था जायते क्षोभाधारोऽत्रैतत्प्रकीर्तितम् ॥८८॥

यत्परस्य प्रमातुरुत्पन्नापि क्षोभलक्षणा स्रष्टुत्वेच्छा—चिन्मात्रनिष्ठात् प्रकृतादहन्ताविमर्शादन्य इदन्तात्मा विमर्शो—विमृश्यविमर्शयोरभेदोपचारात्, तत्परामृश्यं देहनीलादि भावजातं कादि च, तेनैकात्म्यमवलम्ब्य, कृतार्था—स्वात्ममात्रविश्रान्त्या पूर्णा जायते, तदेतदत्र 'यदैक्यापत्तिमासाद्य' (८४) इत्यादौ योनिसूत्रे क्षोभाधारः, प्रकीर्तितं—सम्यगुक्तमित्यर्थः ॥८८॥

एवमेतत्पदार्थद्वारेण व्याख्याय तात्पर्यमुखेनाप्यभिधत्ते

ततस्तदान्तरं ज्ञेयं भिन्नकल्पत्वमिच्छति ।
विश्वबीजादतः सर्वं बाह्यं बिम्बं विवर्त्स्यति ॥८९॥

ततः—समनन्तरोक्तात् सिसृक्षालक्षणात् क्षोभाद्धेतोः, आन्तरम्—प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानं सत् तत् आसूत्रितप्रायं ज्ञेयं भिन्नकल्पत्वम्—अतिरिक्तायमानत्वमेति, अतो-विश्वबीजादादिवर्णान्महामायातश्चारभ्य सर्वतानन्दादि तत्त्वभुवनादि च भावजातं, बाह्यं—विच्छेदेनावभासमानं, बिम्बं-ज्ञानीयाकार-

---

पर भी आकर्षण दीख पड़ता है। बहिरुन्मुखता में अप्रवृत्ति के विपरीत बाह्यौन्मुख्य का यह आकर्षणात्मक स्पन्दन ही क्षोभणा है। चर्या में इस प्रकार की स्थिति अतदिच्छ होते हुए भी तदिच्छा में आन्तरिक रूप से प्रवृति में होती है ॥ ८६-८७ ॥

बीजसूत्र की व्याख्या के अनन्तर योनिसूत्र की व्याख्या कर रहे हैं—

विसर्ग की इच्छा की क्षोभात्मक स्थिति में अहन्ता का विमर्श होता है। दूसरा विमर्श इदन्ता का होता है। जब दूसरा विमर्श प्रथम विमर्श से तादात्म्य स्थापित कर कृतार्थ हो जाता है उस आनन्दमयी इच्छा का आधार योनि ही बनती है। चर्या पक्ष में समस्त भाववर्ग और वर्ण विकृति में भी यही नियम लागू होता है ॥८८॥

तात्पर्यार्थ प्रकाशन के माध्यम से वही तथ्य स्पष्ट कर रहे हैं—

इसके बाद वह आन्तर ज्ञेय भिन्न कल्पत्व अर्थात् अतिरिक्त की तरह भासमान पदार्थ की तरह होना चाहता है। इसी लिये विश्व बीज रूप जो आदि

लक्षणप्रतिबिम्बात्मकं, विवर्त्स्यति-तत्तद्देहनीलाद्यात्मना पदवाक्यादितया च यथायथं स्फुटीभविष्यतीत्यर्थः। चर्याक्रमेऽपि हि बीजमेव भेदेन प्रसृतं सत् स्त्रीपुंनपुंसकादिरूपतामेष्यतीति ॥८९॥

न चैतत्स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

क्षोभ्यक्षोभकभावस्य सतत्त्वं दर्शितं मया ।
श्रीमन्महेश्वरेणोक्तं गुरुणा यत्प्रसादतः ॥९०॥

'तदपरमूर्तिर्भगवान् महेश्वर' इत्यादिना प्राङ्नमस्कृतेन गुरुणा यत्सतत्त्वमुक्तं, तन्मया दर्शितम्, इति संबन्धः ॥ ९० ॥

एवमेतत्प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवावतारयति

प्रकृतं ब्रूमहे नेदं बीजं वर्णचतुष्टयम् ।
नापि योनिर्यतो नैतत्क्षोभाधारत्वमृच्छति ॥९१॥

नहि कादिवदेतदैक्यमासाद्य कस्यचिदपीच्छा कार्तार्थ्यमियादित्यस्य क्षोभाधारत्वागमनम्। नेदं बीजमित्यत्र पुनः 'क्षोभान्तरस्यासंभवात्' इत्यादिना प्रागुपादानाद्धेतोरनिर्देशः, अत एव चास्य वर्णचतुष्टयस्य प्रक्षोभकत्वाभावात् स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परचमत्कारमयत्वम् ॥ ९१ ॥

वर्ण या बीजषट्क उससे सारा बाह्य उन्मेष प्रसरित होता है। बीज बिम्ब का बाह्य विश्वात्मक प्रतिबिम्ब बन जाता है और चर्याक्रम में बीजरूप शुक्र और रज के संयोग से स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्ग की सृष्टि होती है ॥८९॥

यह केवल अपनी ही सम्मति नहीं वरन् अन्य शास्त्रकार भी यही कहते हैं—

क्षोभ्य क्षोभक भाव का यह तात्त्विक प्रतिपादन महामाहेश्वर मेरे गुरुवर्य ने ही किया है। मैंने वही बात उन्हीं की कृपा से कही है ॥९०॥

प्रसङ्ग वश इस चर्चा के बाद प्रकृत की चर्चा कर रहे है—

निष्कर्षार्थ यह हुआ कि ऋ ॠ ऌ ॡ रूप ये चार वर्ण न तो बीज की तरह नये क्षोभान्तर के उत्पादक हैं और न विमर्शान्तर के तादात्म्य को धारण कर योनि की अर्थ-क्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये क्षोभाधार भी नहीं हैं। ये स्वात्म मात्र में विश्रान्त वर्ण हैं। इसीलिये इन्हें परामृत का चमत्कार मानते हैं ॥९१॥

तदाह

आत्मन्येव च विश्रान्त्या तत्प्रोक्तममृतात्मकम् ।

न केवलमेषां यथासंभवं प्रमेयेण संघट्टे परामर्शान्तरोदयो, यावत्पर स्परमपि, इत्याह

इत्थं प्रागुदितं यत्तत्पञ्चकं तत्परस्परम् ॥९२॥
उच्छलद्विविधाकारमन्योन्यव्यतिमिश्रणात् ।

पञ्चकमिति—अनुत्तरेच्छेशनोन्मेषोनतारूपं, आनन्दशक्तिर्हि

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्'...............

इत्याद्युक्त्या चिदव्यतिरिक्तेव, इति नास्याः पृथगभिधानम्, तदेतत्, परस्परम्—न पुनरेकैकम्, उच्छलद्विविधाकारं—प्रादुर्भवन्नानावर्णरूपं भवेत्, न चेतत्पारम्पर्येऽपि स्वात्ममात्रावस्थाने किं तु संघट्टे सति, इत्याह—व्यतिमिश्रणादिति, तद्यथा अकारस्याकारस्य वा इकारेणेकारेण वा व्यतिमिश्रणे 'ए' इति रूपं भवेत्, तयोरेव उकारेणोकारेण वा व्यतिमिश्रणे 'ओ' इति रूपं भवेत्, इकारस्यापि अकारेण 'य' इति, उकारस्यापि अकारेण 'व' इति, व्यतिमिश्रणं च न पञ्चकादतिरिक्तेन परामर्शान्तरेण केनचित्, इत्युक्तम्—अन्योन्येति ।

इसीलिये कहते हैं—

श्लोक ८१ के सन्दर्भ में यह अर्धाली दी गयी है। वहां परामृत शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां क्षोभान्तर का सद्भाव नहीं होता। स्वात्म मात्र में विश्रान्ति ही इसका स्वभाव है। इसके अतिरिक्त अन्य वर्ण, जो विशेषतः ५ हैं, जैसे चित् और आनन्द रूप 'अकार और आकार, इकार' और 'ई'कार तथा उकार और ऊकार हैं, इन के मध्य में चित् और आनन्द एक ही हैं। इस लिये इन्हें ५ पञ्चक कहते हैं। चित् और आनन्द में अन्तर नहीं होता। इसी लिये कहा गया है कि "आनन्द ब्रह्म का ही रूप है।' यही कह रहे हैं—

इन पांचों वर्णों का यथा संभव प्रमेयों से संघट्ट होने पर दूसरे परामर्शों का उदय होता ही है। परस्पर संघट्ट से भी दूसरे परामर्श उदित होते हैं। अनेक आकारों में इनका उच्छलन स्वभावतः होता है। परस्पर व्यतिमिश्रण से भी जैसे 'अ' या आ से 'इ'ई' के व्यतिमिश्रण से 'ए' वर्ण पाणिनि के आद्गुणः

यत्तु

'सैव शीघ्रस्थिरोपात्तज्ञेयकालुष्यरूषिता ।
विजातीयोन्मुखत्वेन रत्वं लत्वं च गच्छति ॥

इत्यादि वक्ष्यति, तत् परामर्शान्तरोदयविषयमिति नात्र मेलनीयं-संध्यक्षरोदयस्यैव इह प्रक्रान्तत्वात् ॥ ९२ ॥

एतदेव दर्शयति

योऽनुत्तरः परः स्पन्दो यश्चानन्दः समुच्छलन् ॥९३॥
ताविच्छोन्मेषसंघट्टाद् गच्छतोऽतिविचित्रताम् ।

तावनुत्तरानन्दशब्दव्यपदेश्यौ 'अकाराकारौ' इच्छोन्मेषाभ्याम् 'इकारोकाराभ्यां' यः संघट्टः—'आद्गुण' इत्येवंरूपः संधिः, तस्मादतिशयेन संधीयमानवर्णद्वयविलक्षणतया, विचित्रताम् 'एकारौकारलक्षणां' वैचित्रीं गच्छतः—प्राप्नुत इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

एवमेकारस्योदयमात्रमुक्त्वा गर्भीकारेण स्वरूपमप्यभिधत्ते

अनुत्तरानन्दचितो इच्छाशक्तौ नियोजिते ॥९४॥

सूत्रानुसार निष्पन्न होता है। 'अ' का 'उ' कार और 'ऊ' के संयोग से ओकार की सृष्टि हो जाती है। 'इ' 'ई' अकाराकार से निर्मित 'य' यण् के अन्तर्गत परिगणित है।

'उ' का अकाराकार से 'व' बन जाता है। इन पाँचों से अन्य कोई वर्ण व्यतिमिश्रण द्वारा दूसरा वर्ण उत्पन्न नहीं कर सकता। जो यह कहा गया है कि "वही ज्ञेय कालुष्य से रूषित होकर विजातीयता की ओर उन्मुखता के कारण र और ल के परिवर्त्तित रूप में भी व्यक्त होती है, वह यहाँ मेलनीय नहीं है ॥ ९२ ॥

यही स्पष्ट कर रहे हैं—

अनुत्तर अर्थात् 'अ' कार और 'आ' कार ये दोनों पर स्पन्द हैं। स्पन्द में उच्छलन स्वाभाविक है। इन दोनों का इच्छा और उन्मेष के स्पन्दनों से संघट्ट होने पर विस्मय जनक चित्र रूपायित हो उठते हैं। पाणिनि सूत्र आद्गुणः यहाँ चरितार्थ होता है और अ-आ+इ-ई = 'ए'कार और अ-आ + उ-ऊ से ओकार की सृष्टि हो जाती है ॥९३॥

इस तरह एकार का उदय होता है परन्तु यह रहस्य गर्भ अवस्था है। उसी का आकलन कर रहे हैं—

त्रिकोणमिति　　तत्प्राहुर्विसर्गामोदसुन्दरम् ।

यदनुत्तरानन्दौ अर्थाद्विकल्पेन, इच्छायां निहितसंधी तत्—संधीयमानावयवमेकारलक्षणमक्षरं त्रिकोणं

'त्रिकोणमेकादशमं वह्निगेहं च योनिकम् ।
शृगाटं चैव एकारं नामभिः परिकीर्तितम् ॥'

इत्याद्युक्तेः, इच्छाज्ञानक्रियाख्यकोणत्रयमयत्वाच्च, लिपिक्रमेऽपि तथा संनिवेशात् 'त्रिकोणम्' इति -त्रिकोणशब्दव्यपदेश्यमाचक्षते इति वाक्यार्थः, यच्च

'विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या, विसर्गः—परा शक्तिः, तस्या आमोदः—आनन्दोदयक्रमेण क्रियाशक्तिपर्यन्तमुल्लासः, तेन सुन्दरं—तत्र नित्योदितत्वाच्छक्तेः परानन्दमयमित्यर्थः । त्रिकोणमित्यनेन योगिनीवक्त्रापरपर्यायजन्माधाररूपत्वमप्यस्य सूचितम् । तत एव हि परा शक्तिरुदेतीति भावः, यदुक्तम्

'यदोल्लसति शृंगाटपीठात्कुटिलरूपिणी ।' इति ।

तथा

'त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम् ।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम् ॥' इति ।

अनुत्तर और आनन्द दोनों एक ही चिन्मयतत्त्व हैं। ये विकल्प से इच्छा शक्ति से जब सन्धि द्वारा नियोजित होते हैं, उस समय तृतीय त्रिकोण तत्त्व की उत्पत्ति होती है। वही 'ए' कार है। यह विसर्ग रूप शक्ति प्रसार आनन्द से लेकर क्रिया शक्ति पर्यन्त उल्लसित होता है। यह उसका आमोद है। इसीलिये इसे सुन्दर कहा गया है। नित्योदित परामर्श रूप त्रिकोण ही एकार है। त्रिकोण के सम्बन्ध में कहा गया है—"यह ११ वाँ अग्निकेन्द्र हैं। यह क्षोभाधार है। इसी लिये इसे योनि कहते हैं। यह शृङ्गाटक के आकार सदृश है। यही 'ए' कार है। तीनों कोण इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप हैं। लिपि में भी इस का यही तिकोना रूप प्रचलित है। यह "विसर्ग सर्वेश्वर की कुल प्रथन शालिनी कौलिकी शक्ति है।" इसे योगिनी वक्त्र भी कहते हैं। "इसे भग भी कहते हैं। शृङ्गाटक की कुटिल आकृति इसे प्राप्त होती है। यह गुप्तमण्डल है और वियत् में अवस्थित है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपी तीन कोणों के बीच में चिञ्चिनी क्रम है। इसी आशय से अन्य लोग भी कहते हैं कि,

अनेनैवाशयेन च इतो बाह्यैरपि

'एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये षट्कारभूषितम् ।
आलयः सर्वसौख्यानां बोधरत्नकरण्डकम् ॥'

इत्याद्युक्तम् । चर्याक्रमेऽपि हि विसर्गस्यानन्दफलस्य संबन्धिना स्फारेण परानन्दमयं प्रसरस्थानम्, इति ॥ ९४ ॥

न केवलमनुत्तरानन्दयोरिच्छायां योगे संध्यक्षरलक्षणपरामर्शान्तरोदयो, यावदत्रापि, इत्याह

अनुत्तरानन्दशक्तौ तत्र रूढिमुपागते ॥९५॥
त्रिकोणद्वित्वयोगेन व्रजतः षडरस्थितिम् ।

तत्र त्रिकोणेऽपि यदा अनुत्तरानन्दौ रूढिं—'वृद्धिरेचि' इति संधिक्रमेण प्ररोहं प्राप्तौ, तदा अनुत्तरस्य पूर्वोक्तनीत्या रौद्र्यादिशक्तित्रयमयत्वेन आनन्दस्यापि तत्स्फारमात्रसारत्वेन त्रिकोणरूपत्वात् अकारैकारलक्षणत्रिकोणद्वययोगेन, षडरां—षट्कोणां स्थितिं व्रजतः—ऐकाररूपतामवभासयत इत्यर्थः । लिपौ पुनरेवंरूपत्वमतिरहस्यत्वात् न प्रदर्श्यते—इत्येकारस्यैव द्विगुणीभावोन्मीलनायोपरि रेखाविन्यासः । चर्याक्रमेऽपि हि सिद्धयोगिनीत्रिकोणद्वयसंपुटीभावेन षडरमुद्रामयी स्थितिर्जायते, इति ॥ ९५ ॥

"एकार की आकृति वाला जो दिव्य आकार दीख पड़ता है, उसके बीच में छः अमृततत्त्वों से भूषित समस्त सौख्यों का आश्रय विद्यमान है। वह बोध रत्न का करण्डक (पिटारा) है" चर्या क्रम में भी शुक्रकणों के विसर्ग का परिणाम परानन्दमय डिम्भात्मक प्रसार में पुलकित होता है ॥ ९४ ॥

केवल अनुत्तर और आनन्द का ही इच्छा शक्ति के संयोग से सन्ध्यक्षर रूप अवान्तर परामर्शोदय नहीं होता अपितु अन्यत्र भी होता है। यही कह रहे हैं—

त्रिकोण की स्थिति में भी अनुत्तर और आनन्द रूढि प्राप्त करते हैं। पाणिनीय सूत्र 'वृद्धिरेचि' की वृद्धि सन्धि के माध्यम से इनका अतिरिक्त प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। अनुत्तर तो रौद्री, वामा और ज्येष्ठा शक्ति संवलित तत्व है ही, आनन्द में भी वह स्फार अवस्था में रहता है। एक आन्तर शक्ति-त्रिकोण वहाँ उल्लसित रहता है। जब एकार रूप त्रिकोण से (इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक त्रिकोण से) योग हो जाता है, तो यह छः अरों वाला नूतन

एवमनुत्तरानन्दयोरेकारेण संघट्टे यथा परामर्शान्तिरोदयः, तद्वदोकारेणापि इत्याह

त एवोन्मेषयोगेऽपि पुनस्तन्मयतां गते ॥९६॥
क्रियाशक्तेः स्फुटं रूपमभिव्यङ्क्तः परस्परम् ।

ते एव—अनुत्तरानन्दशक्ती, उन्मेषेण—उकारेण यो योगः—ओकारापत्तिलक्षणः संधिः, तस्मिन्सत्यपि पुनर्यदा तन्मयताम्—ओकारात्मतां संधिक्रमेण तदेकीभावं गच्छतः, तदा परस्परमनुत्तरानन्दौ औकारात्मना संभूय, क्रियाशक्तेरौकारलक्षणं स्फुटं रूपम्, अभितः-समन्तात् व्यङ्क्तः – प्रकाशयत इत्यर्थः अभितः स्फुटं रूपं व्यङ्क्त' इत्यनेन क्रियाशक्तेः संध्यक्षरेषु यथाक्रमम् अस्फुटं, स्फुटं, स्फुटतरं स्फुटतमं च, रूपमस्ति—इत्यावेदितम् ॥ ९६ ॥

नन्वनुत्तरानन्दयोरिच्छोन्मेषाभ्यां संघट्टे यथा परामर्शान्तिरोदय उक्तः, तथा तत्क्षोभरूपाभ्यामीशनोनताभ्यामपि किमिति न ? इत्याशङ्क्याह

तत्त्व उल्लसित होता है। पुराण इसे ही षडानन कहते हैं। लिपि में इस रहस्यात्मक आकृति का चित्रण नहीं है। वरन् इस द्वैगुण्य को व्यक्त करने के लिये ऊपर की रेखा ही माध्यम बनतो है। चर्याक्रम में त्रिकोण द्वय की मिथुन स्थिति में सिद्धयोगिनी रूपा'षडर' भाव का उल्लास आनन्द के चरम उत्कर्ष में होता है; जिसे वर्णन का विषय नहीं बनाया जा सकता ॥९५॥

इस प्रकार अनुत्तर और आनन्द का एकार के संघट्ट से जैसे अवान्तर परामर्शोदय होता है, उसी तरह उकार के संयोग से भी होता है—

अनुत्तर और आनन्द शक्तियों का जब उन्मेष से योग होता है, तो 'ओ'कार रूप सन्ध्यक्षर रूप अवान्तर परामर्श उदित होता है। पुनः यह 'ओ' कार भी जब अनुत्तर से संधि योग करता है तो पूर्ववत् नूतन सन्ध्यक्षर 'औ' कार का उदय होता है। यह क्रियाशक्त्यात्मक स्फार होता है। यहाँ अभि उपसर्ग से व्यज् धातु के संयोग के कारण क्रमशः अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर और स्फुटतम रूप व्यक्त होने की क्रमिकता ज्ञात होती है ॥९६॥

यहाँ अनुत्तर और आनन्द का इच्छा तथा उन्मेष के संयोग से नये परामर्श रूप सन्ध्यक्षरों के उदय का क्रम प्रस्तुत है। प्रश्न है कि इच्छा और उन्मेष के क्षोभ रूप ईशन और ऊनत्व के संयोग से भी परामर्शान्तर का उदय क्यों नहीं होता ? यही स्पष्ट कर रहे हैं—

इच्छोन्मेषगतः क्षोभो यः प्रोक्तस्तद्गतेरपि ॥९७॥

ते एव शक्ती ताद्रूप्यभागिन्यौ नान्यथास्थिते ।

यः–इच्छोन्मेषसतत्क ईषणोनतालक्षणः क्षोभः पूर्वमुक्तः, तं गते–तेन सह 'आद्गुण-' इत्यादिना संधिं प्राप्ते अपि, ते–अनुत्तरानन्दाख्ये शक्ती, ताद्रूप्यभागिन्यावेव–तदेव ऐकारौकारलक्षणं रूपमवश्यं भजेते, अत एव 'नान्यथास्थिते' परामर्शान्तरात्मकत्वेन न तिष्ठतः, इति न तत्संघट्टेन अनुत्तरानन्दयोः परामर्शान्तरोदय उक्तः ॥ ९७ ॥

ननु 'अनुत्तरः प्रकाश एवैकः प्रकाशते' इति ततोऽन्यन्न किंचिदपि संभवेत्—तस्यातिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात्, तत्कथमिदमुक्तं—यदियता क्रियाशक्तिपर्यन्तेन वैचित्र्येण स एव परिस्फुरेत्, इति तदाह

नन्वनुत्तरतानन्दौ स्वात्मना भेदवर्जितौ ॥९८॥

कथमेतावतीमेनां वैचित्रीं स्वात्मनि श्रितौ ।

तदेव प्रतिविधत्ते

शृणु तावदयं संविन्नाथोऽपरिमितात्मकः ॥९९॥

अनन्तशक्तिवैचित्र्यलयोदयकलेश्वरः ।

अनुत्तर और आनन्द, इच्छा और उन्मेष की सन्धि से जो रूप प्राप्त करते हैं, वही रूप ईशन और ऊनत्व में भी होता है। जब ये पुनः अनुत्तर आनन्द से मिलते हैं तो वही ईशन और ऊनत्व उस क्षोभ को व्यक्त करने के लिये 'ऐ' कार और 'औ' कार का रूप ग्रहण करने के लिये विवश होते हैं। वस्तुतः ये नये परामर्श के प्रतीक नहीं रहते। इसी लिये इन्हें अवान्तर परामर्श नहीं मानते हैं ॥९७॥

प्रश्न है कि वस्तुतः 'एक मात्र अनुत्तर प्रकाश ही प्रकाशित है' उसमें तो अतिरेक या अनतिरेक की स्थिति ही नहीं होती। इसे ही स्पष्ट कर रहे हैं और उसी का प्रतिविधान कर रहे हैं—

यद्यपि अनुत्तर और आनन्द स्वात्म भाव से भेद रहित हैं फिर भी अपने में इस वैचित्र्यमय उल्लास को स्वात्म में कैसे धारण करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर (पहले ही आ चुका है कि) यह संविद्वपुष् परमेश्वर अनन्त शक्ति सम्पन्न है। वही इस विचित्र आनन्त्य के लय और उदय की कलनाका आधार महेश्वर है। कहा गया है—

अयं खलु अनुत्तरानन्दात्मा संविन्नाथः

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।'

इत्याद्युक्तेरनन्तस्य शक्तिवैचित्र्यस्य, लयोदययोः–निमेषोन्मेषयोर्यत्कलनं–स्वात्मनो भेदेन क्षेपः. तत्र स्वतन्त्रत्वात् अपरिमितात्मको–नियतरूपानुपग्रहात् अनवच्छिन्नस्वभावः, इत्यर्थः ॥ ९९॥

नन्वयं संविन्नाथः किमिति नाम न नियतेन रूपेण परिस्फुरेत् ? इत्याशंक्याह

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ॥१००॥

महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद्घटादिवत् ।

यदि नाम महेश्वरः प्रतिनियतेन केनचिद्रूपेण अवतिष्ठेत, तदास्य घटादिन्यायेन माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च न स्यात्, एतदेव हि अस्य माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च–यत् तत्तदनियतवाच्यवाचकात्मना परिस्फुरेत् इति, तथाहि–'एकमेवेदं संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्यामः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्' इत्याद्युक्तयुक्त्या संवित् तावदनेकाकारतया परिस्फुरति, इति नास्त्यत्र विवादः, न चास्यास्तत्तदाकारतया परिस्फुरणे 'तस्यातिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात्' अविद्यादि निमित्तं, किं तु स्व एव स्वभावो यः 'स्वातन्त्र्यम्' इति 'माहेश्वर्यम्' इति च सर्वत्रोद्घोष्यते, तत्प्रतिनियतेऽस्य स्वरूपे प्रकाशमाने

"महेश्वर की शक्तियां ही यह सम्पूर्ण विश्व है—और शक्तिमान् तो वही संविन्नाथ परमेश्वर ही है।" इससे यह स्पष्ट है कि निमेष और उन्मेष दशाओं की कलना अर्थात् अभेद में भी भेदवाद के स्वातन्त्र्य का आश्रय वही महेश्वर है ॥९८-९९॥

यदि वह ईश्वर ही संविद् शक्ति वैचित्र्य का अधीश्वर है तो वह नियत रूप से क्यों नहीं स्फुरित होता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

यदि वह महेश्वर होते हुए भी एक प्रतिनियत रूप से अवस्थित होता तो वह अपने महेश्वरत्व एवं संवित्त्व दोनो का घट आदि जड पदार्थों की तरह परित्याग कर देता। ये दोनों महाभाव होते ही नहीं। वस्तुतः उसकी महेश्वरता इसी से सिद्ध होती है कि वह स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण अनन्त वाच्य वाचकों में अनियत भाव से ही परिस्फुरित होता है।

'माहेश्वर्यं संविद्रूपत्वं च' न स्यात्, इति-जाड्यमेवापतेत्, जड एव हि घटादिः 'इदमिदानीमत्र भाति' इत्येवमात्मनियतावभासो भवेत्, न परः प्रकाशः ॥१००॥

एतदेव-हि तस्य जडाद्वैलक्षण्यं—यत् स्वप्रकाशत्वात् अन्येन केनचिन्न परिच्छिद्यते, अन्यप्रमीयमाणत्वमेव हि परिच्छिन्नप्रकाशत्वं यन्नाम सर्वत्रैव जडस्य लक्षणमुच्यते, तदाह

परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ॥१०१॥
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते ।

यतश्चैवम्, अतस्तत एव इयान् विश्वप्रसरः, इत्याह

तेन बोधमहासिन्धोरुल्लासिन्यः स्वशक्तयः ॥१०२॥
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसंघट्टचित्रताम् ।

तेन—उक्तानेकाकारतया परिस्फुरणेन हेतुना, सिन्धोरिवोर्मयो बोधात् उल्लसनशीलाः, स्वाः आत्मभूता इच्छाद्याः शक्तयः स्वात्मसंघट्टेन परस्परलोलीभावेन, चित्रतामाश्रन्ति—तत्तद्ग्राह्यग्राहकात्मना तत्तत्परामर्शरूपतया च परिस्फुरन्ति, इत्यर्थः ॥ १०१-१०२ ॥

'हम एक ही हर्ष शोकादि रूपों में व्यक्त विवर्त्त को देखते हैं। इनके यथेच्छ नामकरणीय हैं।' इस उक्ति के अनुसार संवित् का अनन्त आकृतियों में परिस्फुरण स्वाभाविक है। इस स्वतन्त्र परिस्फुरण में अविद्यादि को कारण नहीं मानना चाहिये। इसमें उसका महेश्वरत्व ही कारण है। अन्यथा वह 'इदानीम् अत्र घटः भाति' की तरह परिच्छिन्न ही हो जायेगा ॥१००॥

जड और अजडका वैलक्षण्य लक्षित कर रहे हैं—

दूसरे द्वारा प्रमीयमाण होना तथा पराधीन प्रकाशन यह दो प्रकार का जड का स्वभाव होता है। महेश्वर की जड से यह विलक्षणता है कि वह परिच्छिन्न नहीं होता है। चूँकि वह ऐसा है, इसी लिये उस के द्वारा यह अनन्त विश्व प्रस्तार रूपायित हो पाता है। इसी लिये कहते हैं कि इस बोध रूपी महा समुद्र की शाश्वत उल्लसित ये शक्तियाँ लहरों की तरह स्वात्मभूत इच्छा, ज्ञान और क्रियादि शक्तियों के द्वारा परस्पर लोलीभाव से संघट्ट प्रवर्त्तित करती हैं और अनन्त ग्राह्य ग्राहकात्मक रूपों में अवान्तर परामर्शों का उदय होता रहता है ॥१०१-१०२॥

एतदेव च परं क्रियाशक्ते रूपम्, इत्याह

स्वात्मसंघट्टवैचित्र्यं शक्तीनां यत्परस्परम् ॥१०३॥

एतदेव परं प्राहुः क्रियाशक्तेः स्फुटं वपुः ।

परं स्फुटमिति—स्फुटतममित्यर्थः, अत एव भेदप्राधान्यात् अस्याः

'विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून् ।

रुद्राणून्याः समालिंग्य घोरतर्योऽपरास्तु ताः ॥'

इत्यादिलक्षितानाम्—अशुद्धाध्वाधिष्ठात्रीणां घोरतरीणामपि शक्तीनां निमित्तत्वम्, इत्यवगन्तव्यम्, अघोरादीनां हि शक्तीनामिच्छाशक्तेर्ज्ञानशक्तेश्च जन्म, इत्युक्तम् ॥ १०३ ॥

शक्तित्रयसंघट्टात्मकत्वादेव चास्य भगवतः त्रिशूलत्वमुक्तम् इत्याह

अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके ॥१०४॥

त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने ।

अत इति—क्रियाशक्तेः परं स्फुटत्वात्, 'स्फुटीभूतत्रिशक्तिके, इत्यत्र चायं हेतुः, स्फुटीभूतत्रिशक्तित्वं च त्रिशूलत्वोक्तौ हेतुः—यदिच्छाज्ञानक्रियात्मकमरात्रयम् अत्रास्तीति भावः, यदुक्तं तत्र

क्रिया शक्ति का यही पारमार्थिक रूप व्यक्त कर रहे हैं—

क्रिया शक्ति के स्फुटतम शक्तियों का परस्परिक स्वात्म—संघट्ट विचित्र रूप से व्यक्त होता है। इसमें भेद का प्राधान्य होता है। मा० वि० ३।३१ में कहा गया है—

"विषयों में डूबे पाश बद्ध पशुजनों को घोरतरी अपर शक्तियाँ अपने आवेश में लेकर और भी नीचे से नीचे गिरने के लिये बाध्य कर देती हैं।" ये शक्तियाँ अशुद्ध अध्वा की अधिष्ठात्री होती हैं। पतन की ये निमित्त बनती हैं। अन्य अघोर शक्तियाँ इच्छा और ज्ञान शक्तियों से उत्पन्न होती हैं ॥१०३॥

इन तीन शक्तियों के संघट्ट के कारण भगवान् महेश्वर का त्रिशूलत्व सिद्ध होता है—

यह चौदहवाँ परामर्शान्तर है। यह क्रिया शक्ति का स्फुटतम रूप है। इसलिये यहाँ इच्छा, ज्ञान और क्रिया संघट्ट रूप त्रिशूलता उत्पन्न हो जाती है। इसका वर्णन श्लोक ९६ में भी है। यहाँ भेद की प्रधानता होती है। इसी

'..... ....त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।'

इति ॥ १०४ ॥

न केवलमत्र शक्तित्रयसमावेशात्त्रिशूलत्वं भगवतोक्तं, यावन्निरञ्जनत्वमपि अधिगततत्तदागमार्थैर्गुरुभिः, इत्याह

निरञ्जनमिदं चोक्तं गुरुभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१०५॥
शक्तिमानज्यते यस्मान्न शक्तिर्जातु केनचित् ।

च भिन्नक्रमः, तेनेदम् 'औकारलक्षणं चतुर्दशं धाम निरञ्जनं चोक्तम्' इत्यन्वयः, यतः

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ॥'

इत्याद्युक्त्या शक्तिमान्—परः प्रकाशः शक्त्या अञ्ज्यते—परिमितान् प्रमातॄन्प्रति व्यक्तीक्रियते उपाधीयते इत्यर्थः, स्वप्रकाशस्य हि परस्य प्रकाशस्य परकर्तृका व्यक्तिरेवोपाधिः, शक्तिः पुनरभिव्यक्तैव तदञ्जने उपायः—इति न तस्या अपि केनचिदञ्जनं संभवेत्, नहि असंविदितं करणं कारणतामेव यायात्, इति भावः ॥ १०५ ॥

लिये इसमें इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियों का योग भी स्वाभाविक है। श्री पूर्व शास्त्र में कहा गया है कि "त्रिशूल से वह चतुर्थ है।" इसी आधार पर श्लोक ९२ में उसे पञ्चक रूप भी कहा गया है ॥१०४॥

तीन शक्तियों के समावेश के आधार पर न केवल उसका त्रिशूलत्व ही कहा गया है, अपितु उसे निरञ्जन भी कहा गया है। वही कह रहे हैं—

गुरुजनों द्वारा उक्त यही १४ वाँ निरञ्जन धाम है यह कहा गया है। "दीपक के प्रकाश से या सूर्य की किरणों से जैसे दिशाओं की स्थिति का स्पष्ट ज्ञान होता है, उसी तरह शक्तियों के द्वारा शिव भी ज्ञात होते हैं।" इसके अनुसार पर प्रकाश रूप शक्तिमान् शक्ति के द्वारा परिमित प्रमाताओं के लिये व्यक्त होते हैं। स्वयं प्रकाश की परकर्तृक अभिव्यक्ति उपाधि कहलाती है। वैसे ही स्वप्रकाश शिव शक्ति के द्वारा उपाधि रूप से अभिव्यक्त होते हैं। शक्ति पहले स्वयम् अभिव्यक्त होती है। उससे शिव अभिव्यक्त होते हैं। इसलिये शक्ति के अञ्जन में कोई दूसरा कारण नहीं बनता क्योंकि असंविदित करण, शक्ति के अभिव्यंजन में कारण नहीं हो सकता है ॥१०५॥

ननु इच्छादिशक्तिरिष्यमाणादिना स्वविषयेणाप्युपाधीयते एव, इति कथमुक्तं 'न शक्तिः केनचिदञ्ज्यते' ? इत्याशंक्याह

इच्छा ज्ञानं क्रिया चेति यत्पृथक्पृथगञ्ज्यते ॥१०६॥
तदेव शक्तिमत्स्वैः स्वैरिष्यमाणादिकैः स्फुटम् ।

यत् खलु इच्छाज्ञानक्रियालक्षणाः शक्तयः, स्वैः स्वैः—प्रातिस्विकैरिष्यमाणज्ञेयकार्यात्मभिः विषयैः, पृथक् पृथक् भेदेन उपरञ्ज्यते, तदेव स्फुटं—पूर्णस्वरूपं, शक्तिमत्—स एव गर्भीकृतानन्तशक्तिः परः प्रकाशः इत्यर्थः, शक्तिर्हि नाम शक्तिमत एव स्वं रूपं, किं तु फलभेदादारोपित भेदो येन इष्यमाणाद्युपरागात् 'इच्छा' इत्यादिव्यवहारः ॥ १०६ ॥

ननु यदि इच्छादीनामेकैकशः इष्यमाणादिना उपरञ्जने शक्तिमद्रूपत्वं, तत्समुदितानामासां किं रूपम् ? इत्याशंक्याह

एतत्त्रितयमैक्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा ॥१०७॥
न केनचिदुपाधेयं स्वस्वविप्रतिषेधतः ।

एतत्पुनः—इच्छाज्ञानक्रियालक्षणं त्रितयं, यदा क्रियाशक्त्यात्मना सामरस्येन प्रस्फुरेत्, तदा केनचिदपीष्यमाणादिना विषयेण इच्छादीनामीषणीयादीनां च स्वेन स्वेन विप्रतिषेधात् ईषणीयेन ज्ञानक्रिययोः नाञ्जनं 'ज्ञेयेनापि न

प्रश्न उपस्थित होता है कि इच्छा शक्ति इष्यमाण आदि अपने विषयों द्वारा तो उपाधि रूप से व्यक्त हो होती है फिर क्यों कहा गया है कि शक्ति किसी के द्वारा अंजित नहीं होती ? इसी तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं—

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ अपने अपने इष्यमाण, ज्ञेय और कार्य रूप विषयों के द्वारा पृथक् पृथक् उपाधीयमान होती हैं। यही शक्तिमान् का स्फुट रूप है। पर प्रकाशात्मक शिव अपने अन्दर इन शक्तियों को पुलकित करता है। शक्ति तो शक्तिमान् का ही अपना रूप होती है। फल के अनुसार भेद आरोपित होते हैं, जिससे इष्यमाण के अनुसार इच्छा में भी भेदात्मक व्यवहार होता है ॥ १०६ ॥

इच्छा आदि एक एक शक्तियों के इष्यमाण आदि द्वारा उपरंजन से शक्तिमान् की सह-समुदित दशा में क्या रूप होंगे ? यही कह रहे हैं—

ये इच्छा, ज्ञान, और क्रिया शक्तियाँ जब सामरस्यभाव से [ऐक्य रूप से] प्रस्फुरित होती हैं, तब अपने अपने विप्रतिषेध से वे किसी के द्वारा उपाधेय

इच्छाक्रिययोः, कार्येणापि न इच्छाज्ञानयोः' इत्येवंरूपात् परस्परव्याहतत्वात् नोपाधेयं—नाञ्जनीयमित्यर्थः, यद्वक्ष्यति

'..................**क्रिया देवी निरञ्जनम् ।**' ॥ इति ॥ १०७ ॥

अत एव च एतत्त्रिशूलशब्देनोक्तम्, इत्याह

लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।
यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरञ्जनः ॥१०८॥

अतः—अनुपहितत्वाद्धेतोर्लोलीभूतं—स्पर्धित्वेऽप्यविभागमाप्तम्, एतच्छक्तित्रितयं त्रिशूलशब्दस्य व्यपदेश्यम्, यस्मिन्ननुपाधौ रूपे न केवलं स्वयं निरञ्जनत्वं यावत्तत्सत्तासमावेशात् प्राप्ततदैकात्म्यो योग्यपि निरञ्जनो भवेत् ॥ १०८ ॥

अथैतदेव प्रमेयान्तरावापेन उपसंहरति

इत्थं परामृतपदादारभ्याष्टकमीदृशम् ।
ब्राह्म्यादिरूपसंभेदाद्यात्यष्टाष्टकतां स्फुटम् ॥१०९॥

यदेतत् परामृतपदात्—षष्ठवर्णचतुष्टयादारभ्य शूलबीजपर्यन्तमीदृशं—यथोक्तरूपमष्टकं, तद्ब्राह्म्यादेरष्टकस्य यत्सर्वसर्वात्मकं रूपं, तेन प्रतिवर्णं देव्यष्टकस्य वाच्यत्वेन मिश्रीभावात्, अष्टाष्टकतां स्फुटं याति—चतुःषष्टिरूपतया

नहीं होतीं। जैसे १–ईषणीय से ज्ञान और क्रिया की, २—ज्ञेय से इच्छा और क्रिया की तथा ३–कार्य से इच्छा और ज्ञान की व्याहृति होने के कारण ये किसी से उपाधेय नहीं होतीं। कहा भी है कि "क्रिया निरञ्जना देवी है।" ॥ १०७ ॥

इसीलिये यह शक्तित्रितय त्रिशूल शब्द से कथित है—

इसलिये यह तीनों शक्तियाँ लोलो भाव को प्राप्त कर लेती हैं और त्रिशूल शब्द से व्यपदिष्ट होती हैं। इसमें समावेश प्राप्त योगी स्वयं निरञ्जन हो जाता है ॥ १०८ ॥

इसी तथ्य का उपसंहार अन्य प्रमेय के आधार पर कर रहे हैं—

चारों षण्ठ वर्ण परामृत माने जाते हैं। 'ऋ' से लेकर शूलबीज तक एक अष्टक बनता है। जैसे १–ऋ, २–ॠ, ३–ऌ, ४–ॡ, ५–ए, ६–ऐ, ७–ओ तथा

प्रस्फुरतीत्यर्थः, तेन ब्राह्मी 'ऋकारः' एवं क्रमेण यावत् 'औकारो' योगीश्वरी, पुनर्माहेश्वरी 'ऋकारः' अत्र ब्राह्मी 'औकारः' यद्वा 'ऋकार' एवमन्यत्र ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥

तदेवं क्रियाशक्तिपर्यन्तेन वैचित्र्येण परिस्फुरन्त्या अपि परस्याः संविदः स्वरूपविप्रलोपो न जातः, इत्येव द्योतयितुं बिन्दुस्वरूपं दर्शयति

अत्रानुत्तरशक्तिः सा स्वं वपुः प्रकटस्थितम् ।
कुर्वन्त्यपि ज्ञेयकलाकालुष्याद्बिन्दुरूपिणी ॥११०॥

अत्र—एवं संस्थितेऽपि, सा—समनन्तरोक्तस्वरूपा अनुत्तरशक्तिः, स्वस्वातन्त्र्यात् ज्ञेयस्य—ग्राह्यग्राहकात्मनो भावजातस्य यत्कलनम्—इयत्तापरिच्छेदः, तेन यत्कालुष्यं—स्वरूपगोपनात्मा संकोचः, तदवलम्ब्य स्वं स्वप्रकाशं वपुः प्रकटस्थितं सर्वसंवेद्यतया अवतिष्ठमानं कुर्वाणापि, विन्दुरूपिणी—वेत्तीति विन्दुः विदिक्रियायां स्वतन्त्रः प्रमाता, तस्य रूपम्—अविभागः परः प्रकाशः, तदेव विद्यते यस्याः—तत्स्वभावैवेत्यर्थः, एवमपि स्वरूपान्न प्रच्युता, इति भावः ॥ ११० ॥

८-ओ। ब्राह्मी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, याम्या, चामुण्डा और योगेशी भेद से ६४ हो जाती है। यही वर्गाष्टक है। इसमें औकार योगेश्वरी शक्ति है। ऋकार ब्राह्मी है। प्रतिवर्ण देव्यष्टक के गुण से ये भेद होते हैं। इनका विश्लेषण वर्णोदय के सन्दर्भ में होता है ॥ १०९ ॥

इस भेद भिन्नता में भी संविद् शक्ति का स्वरूप प्रच्याव नहीं होता है—यही प्रतिपादित करने के लिये विन्दु की चर्चा कर रहे हैं—

इतनी भेद भिन्नता में वह ज्ञेय रूप ग्राह्य ग्राहकादि भेदवाद का आकलन करती है। यह एक प्रकार का कालुष्य अर्थात् संकोच ही है। इस अवस्था में अपने प्रकाशात्मक शरीर को सर्ववेद्यभाव से व्यक्त करती हुई विन्दु रूप में भी प्रकाशमान रहती है। सर्वं वेत्ति इति विन्दुः' इस विग्रह के अनुसार विद् धातु से स्वतन्त्र सर्वज्ञ पर प्रमाता अर्थ वाला यह विन्दु शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् यह अविभाग पर-प्रकाश-रूपा संवित् शाश्वत अच्युत विन्दु-भाव से अवस्थित रहती है ॥ ११० ॥

अत आह

उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि ।

अविभागः प्रकाशो यः स बिन्दुः परमो हि नः ॥१११॥

इह ह्लादतैक्ष्ण्याद्यवच्छिन्नत्वेन नियतात्मनां प्रमाणाद्यात्मनां सूर्यादीनामाश्रयभूतायां क्रियाशक्तावुदितायां--तत्तद्वैचित्र्यात्मना परिस्फुरन्त्यामपि, अविभागो—ह्लादतैक्ष्ण्याद्युपाध्यवच्छेदशून्यः पूर्णो यः प्रकाशः स परमः, एवमपि अप्रच्युतस्वरूपत्वादत्युत्कृष्टोऽस्मद्दर्शने 'बिन्दुः' विदिक्रियायां स्वतन्त्रः परप्रमात्रेकरूपः परमेश्वरः शिव इत्यर्थः, यद्वक्ष्यति

'अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थितं धामत्रये सति ।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ मतः ॥ इति ॥१११॥

न चैतत्स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

तत्त्वरक्षाविधाने च तदुक्तं परमेशिना ।

हृत्पद्ममण्डलान्तःस्थो नरशक्तिशिवात्मकः ॥११२॥

बोद्धव्यो लयभेदेन बिन्दुर्विमलतारकः ।

इसलिये कहते हैं--

सोम रूप आह्लाद, सूर्य रूप जीवनात्मक प्राण प्रकाश और अग्निरूप दाहक पाचक स्वरूपों में व्यक्त क्रिया शक्ति के उदित होने पर भी शाश्वत अविभक्त अर्थात् उक्त पार्थक्य की अतिरिक्तायमानता के रहने पर भी परप्रकाश रूप से प्रकाशमान परम शिव ही बिन्दु है। कहा गया है कि,

"तीनों प्रकाशमान सूर्य, सोम और अग्नि रूप प्रतिनिधियों के रहते प्रकाश मात्र जो परम सत्ता है, वह शास्त्र में बिन्दु रूप से कथित है। वही वस्तुतः शिव बिन्दु है।" बिन्दु का वास्तविक अर्थ विद्धातु से निष्पन्न वेत्ति क्रिया का कर्त्ता परम प्रमाता रूप परमपुरुष परमेश्वर शिव है ॥ १११ ॥

यह केवल ग्रन्थकार का स्वोपज्ञ कथन नहीं है। इसे अन्य आगम भी कहते हैं। यही कह रहे हैं--

तत्त्वरक्षा विधान में सन्दर्भानुसार भगवान् ने स्वयं कहा है कि ऊर्ध्व द्वादशान्त, भ्रूमध्य और हृदय इनमें विश्रान्ति की यौगिक प्रक्रिया के अनुसार नर शक्ति शिवात्मक विमल तारक बिन्दु को बोध का विषय बनाना चाहिए। इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपों में तथा विद्या, मन्त्रेश और सदाशिव रूपों में

तदेवाह--हृत्पद्मेत्यादि, बिन्दुः--वेदयिता परः प्रकाशः, स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वमवबिभासयिषुः

'त्रिषु स्थानगतो विन्दुमेकत्रैव विभावयेत् ।'

इत्याद्युक्त्या द्वादशान्तभ्रूमध्यहृदयलक्षणेषु स्थानेषु, लयस्य विश्रान्तेर्भेदात्, नरशक्तिशिवात्मको बोद्धव्यः—इच्छाद्यात्मकशिवविद्यात्मलक्षणतत्त्वत्रयरूपतया प्रस्फुरितः इत्यर्थः। एवमप्यसौ हृत्पद्ममण्डलान्तःस्थः संकुचितात्मतायाः प्राधान्यात् भेदभूमावेव प्राप्तप्ररोहः इत्यर्थः। एवमपि नासौ स्वस्वरूपात्प्रच्युतः इत्याह--विमलतारक इति, विमलः--तत्तद्वैचित्र्योल्लासेऽपि संविन्मात्ररूपत्वात् शुद्धः, अत एव संसाराब्धेस्तारकः ॥ ११२ ॥

न केवलं परामर्शनीयविश्ववैचित्र्यात्मना परिस्फुरतोऽस्य न स्वस्वरूपात् प्रच्यावो, यावत्तत्तत्परामर्शात्मनापि, इत्याह

योऽसौ नादात्मकः शब्दः सर्वप्राणिष्ववस्थितः ।।११३।।

अधऊर्ध्वविभागेन निष्क्रियेणावतिष्ठते ।

इह योऽसौ विन्दुः, स तत्तत्परामर्शात्मतामुल्लिलासयिषुः 'नादात्मकः शब्दः' तद्रूपतया स्फुरतीत्यर्थः, शब्दयति--स्वाभेदेन विश्वं परामृशतीति शब्दः, परावाग्रूपो विमर्शः, स च नादात्मकः--नदति सर्वेषामेव जीवकलात्वेन परिस्फुरतीति नादो 'हकारार्धार्धरूपिणी अमा कला' यैव मुख्यया वृत्त्या सर्वत्र अस्वरत्वेन व्यपदिश्यते, तस्यात्मा--तद्रूपतया अवभासते इति यावत्, स एव च

प्रमाता रूप से शिव ही प्रतिष्ठित हैं। इन रूपों में उल्लसित होने पर भी संविद्वपुष् होने के कारण वे विमल हैं, संसार समुद्र से पार करने वाले हैं और विमल तारकवत् प्रकाश के उत्स भी हैं। विन्दु परम प्रकाश को भी कहते हैं। अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से वही विश्व का उल्लास भी करता है। ऊर्ध्व द्वादशान्त भ्रूमध्य और हृदय इन तीनों स्थानों में एक वही भासित है ॥ ११२ ॥

परामृश्य विश्ववैचित्र्य स्थिति, या परामर्शान्तिर प्राप्ति इन दोनों अवस्थाओं में शिव का स्वरूप से प्रच्याव नहीं होता। यही कह रहे हैं--

श्लोक में प्रयुक्त 'नाद' और 'शब्द' ये दोनों 'विन्दु' के परामर्शान्तिरीय उल्लास हैं। 'नदति इति नादः' इस विग्रह के अनुसार सबकी जीव कला के रूप में स्फुरित होने वाला 'नाद' है। 'शब्दयति इति शब्दः' विग्रह के अनुसार स्वात्म से अभेदरूप से विश्व का परामर्श करने वाला परावाक् रूपी विमर्श ही

'अकारः सर्ववर्णानामन्तर्यामितया स्थितः।'

इत्याद्युक्त्या सर्वेषामेव वर्णानाम्, अधऊर्ध्वविभागेन—अनुत्तरात् शूलबीजपर्यन्तं हकारपर्यन्तं वा, प्राणनरूपत्वेनावस्थितः—सर्व एव परामर्शराशिस्तत्स्फारसार एवेत्यर्थः। अथ च स एव सर्वेषां प्राणिनामधऊर्ध्वविभागेन—सूर्यचन्द्रात्मप्राणापानप्रवाहरूपतयाप्यवस्थितः, सैव हि 'परा जीवकला' इति भावः। एवमप्यसौ निष्क्रियेण रूपेणावतिष्ठते—क्रियाशक्तिपर्यन्तं तत्तद्वैचित्र्यात्मना परिस्फुरणेऽपि नास्य स्वस्वरूपात् प्रच्याव इत्यर्थः॥ ११३॥

ननु उदितायां क्रियाशक्तौ ह्लादतैक्ष्ण्याद्यवच्छिन्नः सोमसूर्यादिः प्रतिनियतः प्रकाशः प्रकाशते, यः स्वमन्यच्च निखिलमेव प्रकाशयति, यः पुनरविभागः परः प्रकाश उक्तः स किं तदात्मकः उत तत्प्रकाश्योऽन्यो वा ? इत्याशंक्याह

ह्लादतैक्ष्ण्यादिवैचित्र्यं सितरक्तादिकं च यत्॥११४॥
स्वयं तन्निरपेक्षोऽसौ प्रकाशो गुरुराह च।

यत्खलु चन्द्रसूर्यादिगतं ह्लादतैक्ष्ण्याद्यात्मसितरक्ताद्यात्म च वैचित्र्यं, तदसौ परः प्रकाशः स्वात्मना नापेक्षते—नियतरूपत्वाभावात्तदेकात्मको न भवेत् नापि स्वप्रकाशत्वात्तत्प्रकाश्यः, तेन नासौ सूर्यादिरूपः तत्प्रकाश्यो वा, अपि तु सूर्यादिधामत्रयानुप्राणकः परप्रमात्रेकरूपः, आदिशब्दद्वयाच्च दाहकत्वं दाह्य-

---

शब्द है। विन्दु के रहस्यार्थ के अनुसार नादात्मक शब्द ही सभी प्राणियों के हृदय में अवस्थित है। नाद हकारार्धार्ध रूपी अमा कला है। वह सर्वत्र अस्वर भाव से अवस्थित है। वही—

"अ'कार सभी वर्णों में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित है।" इस नीति के अनुसार सभी वर्णों में [अनुत्तर से शूल बीज पर्यन्त] प्राणरूप से अवस्थित है। प्राणियों में सूर्य प्राण और सोम अपान बन कर जीवकला रूप से श्वास-निःश्वास में उल्लसित हैं। निष्क्रियता का अर्थ क्रिया शक्ति तक ज्यों का त्यों रहना है। अर्थात् विन्दु ही नाद, शब्द, श्वास प्रश्वास आदि सब में अच्युत भाव से उल्लसित हो रहा है॥११३॥

प्रकाश दो तरह के कहे गये है। १—क्रियाशक्ति में सोम सूर्यादि का प्रतिनियत प्रकाश और २—अविभाग प्रकाश। क्या यह दूसरा ही पर-प्रकाश है अथवा इससे प्रकाश्य ? इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

भेदोत्थं नानावर्णत्वं च ग्राह्यम्। एतच्च केवलं नास्माभिरेवोक्तं यावद्भगवता वासुदेवेनापि, इत्युक्तं 'गुरुराह च' इति, यद्गीतम्

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥' इति ॥११४॥

एतदेवार्थद्वारेण दर्शयति

यन्न सूर्यो न वा सोमो नाग्निर्भासयतेऽपि च ॥११५॥
न चार्कसोमवह्नीनां तत्प्रकाशाद्विना महः ।
किमप्यस्ति निजं किं तु संविदित्थं प्रकाशते ॥११६॥

यत्परमं धाम न प्रतिनियतसूर्याद्येकरूपमपि भासयते च—स्वाभासत्वात् सूर्याद्यवभास्यो न स्यात्, प्रत्युत सूर्यादीनां प्रकाश्यत्वात् तत्प्रकाशमन्तरेण प्रकाशमानतैव न स्यात्, इति—पर एव प्रकाशः तत्तत्सूर्याद्यात्मना प्रस्फुरेत्, अत एवोक्तं 'किं तु संविदित्थं प्रकाशते' इति ॥ ११५-११६॥

ननु यद्येवं तर्हि त्रयाणामपि तेजोरूपत्वाविशेषेऽपि तैक्ष्ण्याद्यात्म वैचित्र्यं कुतस्त्यम्—इत्याशङ्क्याह

यहाँ विचित्रता दो प्रकार से निर्दिष्ट की गयी है। १—ह्लाद और तैक्ष्ण्य आदि रूप से और २—सित रक्त आदि रूप से। इसमें प्रकाश ही उल्लसित है। पर-प्रकाश इनकी अपेक्षा नहीं करता। यह प्रतिनियत प्रकाश नहीं है और तदात्मक भी नहीं। यह स्वयं प्रकाशमान होने से उनसे प्रकाश्य भी नही है। वरन् स्वयं उनका अनुप्राणक है। यही बात भगवान् परम गुरु श्री कृष्ण भी कहते हैं—

"उस स्वप्रकाश पर प्रमाता प्रकाश को सूर्य नहीं भासित करता, चन्द्र और अग्नि भी प्रकाशित नहीं करते। जहाँ जाकर संसृति नहीं होती, वही मेरा परमधाम है।" अर्थात् परम अनुप्राणक वही है ॥११४॥

यही तथ्य स्वयं कह रहे हैं—

स्वप्रकाश होने के कारण सूर्य, सोम और अग्नि आदि से वह अवभास्य नहीं है। विना उस परमधाम के ये सूर्य, सोम और अग्नि प्रकाशित ही नहीं हो पाते। इनका प्रकाश उस परम प्रकाश का ही प्रकाश है। संविद् इन प्रकाश प्रतीकों में प्रतिनियत भाव से स्वयं प्रकाशित होती है ॥११५-११६॥

स्वस्वातन्त्र्यप्रभावोद्यद्विचित्रोपाधिसंगतः ।
प्रकाशो याति तैक्ष्ण्यादिमवान्तरविचित्रताम् ॥ ११७ ॥

स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् उद्यत्पार्थिवाप्यद्रव्यादिरूपो योऽसौ उपाधिः, तेन वैशिष्ट्यमापादितः अर्थात्तेजोरूपतामप्युपगतः प्रकाशः, तैक्ष्ण्याद्यात्म वैचित्र्यान्तरं याति—तद्रूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः । पर एव हि प्रकाशः पार्थिवादि-द्रव्याभाससंभिन्नो वह्न्यात्मना, आप्यद्रव्यावभासोपहितश्च चन्द्रात्मना, शुद्धतेजो-मात्रावभासोपरक्तश्च सूर्यात्मना प्रस्फुरन् दाहकत्वह्लादकत्वतीक्ष्णत्वादिरूपां विचित्रतामवभासयेत् ॥ ११७ ॥

ननु उपाधियोगमात्रादेव कथमेवं स्वरूपातिशायकमपि वैचित्र्यं भवेत् ? इत्याशंकां दृष्टान्तोपदर्शनेन उपशमयति

दुर्दर्शनोऽपि घर्मांशुः पतितः पाथसां पथि ।
नेत्रानन्दत्वमभ्येति पश्योपाधेः प्रभाविताम् ॥ ११८ ॥

दृष्टिघातकृदपि तीक्ष्णांशुः स्तैमित्यभाजि जलाशयादौ प्रतिबिम्बितो दुर्दर्शनत्वपरिहारेण सुखावलोकनीयतामेति, इति दृष्ट एव सर्वत्रायम् उपाधेः प्रभावो, यदुपाधेयस्य स्वरूपमतिशाययतीति ॥ ११८ ॥

पर प्रकाश से प्रकाश्य सूर्य आदि में ह्लाद तैक्ष्ण्यादि व सित रक्तादि वैचित्र्य का कारण क्या है ? यही कह रहे हैं—

अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से उदीयमान क्षित्यप्तेजोरूप जो विचित्र उपाधियाँ शाश्वत स्फुरित हैं, वही पर प्रकाशात्म शक्ति अवान्तर वैचित्र्य में रूपान्तरित होती हुई तीक्ष्ण आदि रूपों में स्फुरित होती हैं । पार्थिव परिवेश में आग, रसात्मक परिवेश में सोम और तैजस परिवेश में सूर्य रूप से व्यक्त है, और इनमें दाहकत्व, आह्लादकत्व और उष्णतीक्ष्णत्व आदि की अवान्तर विचित्रता भी उसी के प्रभाव से हो जाती है ॥११७॥

उपाधि वैचित्र्य से स्वरूपातिशायी विचित्रता कैसे हो जाती है ?-यही कह रहे हैं—

चकाचौंध उत्पन्न करने वाली तिग्मांशु सूर्य की प्रचण्ड आकृति लह-राते जलाशय में पड़ कर नेत्रोत्सव प्रदान करने लगती है । यह मात्र उपाधिका प्रभाव है । इससे उपाधेय में आतिशय्य उत्पन्न हो जाता है ॥११८॥

एवमुपहितस्वरूपत्वादेव सूर्यादिप्रकाशः स्वप्रकाशने संवित्प्रकाशमपेक्षते, इत्याह

सूर्यादिषु प्रकाशोऽसावुपाधिकलुषीकृतः ।
संवित्प्रकाशं माहेशमत एव ह्यपेक्षते ॥ ११९ ॥

संविच्छब्देनात्र जडात् सूर्यादिप्रकाशात् परस्य प्रकाशस्य वैलक्षण्यं दर्शितम् ॥ ११९ ॥

एवमप्येषां यथासंभवं स्वरूपं दर्शयति

प्रकाशमात्रं सुव्यक्तं सूर्य इत्युच्यते स्फुटम् ।
प्रकाश्यवस्तुसारांशवर्षि तत्सोम उच्यते ॥ १२० ॥

सुव्यक्तमिति—आप्यद्रव्याद्यनुपहितमित्यर्थः, सूर्यस्य शुद्ध प्रकाशमात्रमेव रूपमिति भावः। अत एव चास्य प्रमाणत्वं, तस्य हि ज्ञानमात्रमेव विवक्षितं रूपं, स्फुटं—सर्वजनसाक्षिकम्। प्रकाश्यानि मेयानि यानि वस्तूनि तेषां सुखदुःखमोहमयत्वात् अंशद्वयापेक्षया यः सारः—सुखकार्याह्लादादिरूप उत्कृष्टोंऽशः

'.........सोमो वर्षति चामृतम् ।'

ये उपहित प्रकाश संवित् प्रकाश की अपेक्षा से ही प्रकाशित हैं। यही स्पष्ट कर रहे हैं—

उपाधियों से प्रभावित सूर्यादि में रहने वाला जड प्रकाश अपने अस्तित्व के लिये माहेश्वर संवित्प्रकाश की अपेक्षा करता है। यही संवित्प्रकाश की महत्ता है ॥११९॥

इनके स्वरूप का ही परिदर्शन कर रहे हैं—

सूर्य का सुव्यक्त प्रकाश आप्य आदि उपाधियों से उपहत नहीं होता। वह शुद्ध प्रकाश वाला है। वह प्रमाण माना जाता है। जहाँ तक सोम का प्रश्न है, वह प्रकाश्य रूप मेय वस्तुओं के सारांश अर्थात् उत्कृष्ट आह्लाद आदि अंश की वर्षा करता है। कहा गया है—

"सोम अमृत की वर्षा करता है।" परिणामतः समग्र भाववर्ग का अभिसिञ्चन हो जाता है। तैक्ष्ण्य-प्राधान्य में सूर्य—

इत्याद्युक्त्या, तं वर्षति—तेन सर्वमिदं भावजातं सिञ्चति, आह्लादमयमेव करोति इत्येवंविधं सत् तत्प्रकाशमात्रं 'सोम' उच्यते—सोमशब्देन व्यपदिश्यत इत्यर्थः। अत एव च आह्लादात्ममेयांशप्राधान्यात् अस्य मेयत्वं, यदभिप्रायेण अनयोः

'ज्ञानशक्तिः परस्यैषा तपत्यादित्यविग्रहा।' इति।

तथा

'चन्द्ररूपेण तपति क्रियाशक्तिः शिवस्य तु।'

इत्याद्युक्त्या ज्ञानक्रियाशक्तिरूपत्वमुक्तम् ॥ १२० ॥

एवं च

सूर्यं प्रमाणमित्याहुः सोमं मेयं प्रचक्षते ॥

एवं सूर्यसोमयोः स्वरूपमभिधाय वह्नेरप्यभिधत्ते

अन्योन्यमवियुक्तौ तौ स्वतन्त्रावप्युभौ स्थितौ ॥ १२१ ॥

भोक्तृभोग्योभयात्मैतदन्योन्योन्मुखतां गतम्।

"ज्ञान शक्ति रूप आदित्य विग्रह बन कर प्रकाशित होता है।" और आह्लाद रूप मेयांश प्राधान्य में "क्रियाशक्ति चन्द्ररूप से प्रकाशित होती है।" इन उक्तियों के अनुसार ज्ञानशक्ति सूर्य और शिव की क्रिया शक्ति ही चन्द्र रूप से प्रकाशित होती हैं ॥१२०॥

इस तरह—

सूर्य को प्रमाण और सोम को मेय कहते हैं। सूर्य और सोम के बाद अग्नि का स्वरूप वर्णन कर रहे हैं—

सूर्य और सोम दोनों स्वतन्त्र रूप से अवस्थित रहते हुए भी एक दूसरे से अवियुक्त भी रहते हैं। प्रमाण और प्रमेय रूप से तो पार्थक्य दीख पड़ता है किन्तु अन्योन्याश्रय भाव से एकत्व भी है। ज्ञान और ज्ञेय दोनों एक दूसरे के विना अस्तित्व हीन ही होते हैं। कहा गया है कि,

"स्फटिक में उपाश्रय के अभाव में ज्ञान का निरूपण नहीं हो पाता (क्यों कि पारदर्शिता से अर्थ प्रतीति असम्भव हो जाती है।)" तथा "वेद्य वेदन के विना नहीं होता।" इस लिये ये सूर्य और चन्द्र दोनों ग्राह्य और ग्राहक अथवा भोग्य और भोक्ता रूप होने के कारण परस्पर उन्मुख रहते हैं।

ततो ज्वलनचिद्रूपं चित्रभानुः प्रकीर्तितः ॥ १२२ ॥
योऽयं वह्नेः परं तत्त्वं प्रमातुरिदमेव तत् ।

तौ उभौ सूर्याचन्द्रौ, स्वतन्त्रौ--परस्परनैरपेक्ष्येण प्रमाणप्रमेयात्मना पृथग्व्यवहार्यौ अपि, अन्योन्यमवियुक्तौ—सहोपलम्भनियमादभेदमापन्नावित्यर्थः न खलु ज्ञानं ज्ञेयानारूषितं क्वचिदपि उपलभ्यते ज्ञानं विना वा ज्ञेयमिति, यदाहुः

'स्फटिकस्येव ह्यपाश्रयशून्यस्य ज्ञानस्य
स्वरूपमनिरूप्यम् ।' इति ।

तथा

'नावेदनमतो वेद्यम्................ ।'

इति, अत एव एतत्सूर्याचन्द्रात्म द्वयं ग्राह्यग्राहकरूपत्वात्परस्परौन्मुख्यं प्राप्तं सत् भोक्ता--बुद्ध्याद्यात्मा संकुचितः प्रमाता तन्मयत्वात् प्रमाणमपि भोक्ता, भोग्यं च नीलसुखादि तयोर्यत् लोलीभावमापन्नं सत् उभयं, तदात्मा यस्य तत्—भोक्तृभोग्यसंघट्टस्वभावमित्यर्थः । यतश्चैवं ततो भोक्तृभोग्यसंघट्टलक्षणाद्धेतोश्चित्राः--नानाकारा मानमेयादिरूपा भानवो यस्यासौ अग्निरुक्तः, यदुक्तम्

'शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः संघट्टात्सोमसूर्ययोः ।'

इति, स च प्रमाणप्रमेयविभागात्मनो भेदस्य दाहकत्वात् ज्वलनप्रधाना चिद् रूपं यस्य सः--परिमितप्रमातृरूप इत्यर्थः, तस्य हि प्रमाणप्रमेययोः संमेलनमेव रूपमित्यर्थ वह्नेरप्येवम् इति तस्य प्रमातृत्वम्, अत आह--योयमित्यादि, परमित्यसाधारणम् ॥ १२१-१२२ ॥

एक दूसरे की उन्मुखता में परस्पर संघट्ट भी स्वाभाविक है । परिणाम स्वरूप चित्र विचित्र विभा-भास्वर रश्मियाँ फूटती रहतीं हैं । ये किरणें मान और मेय रूप होती हैं । यही अग्नि तत्त्व है । कहा भी है—

सोम और सूर्य के संघट्ट से शुचि नामक अग्नि उत्पन्न होता है ।" इसकी किरणें प्रमाण और प्रमेय रूप विभागमय भेद को जलाती हैं । अतः ज्वलन प्रधान चिद्रूप परिमित प्रमाता होती हैं । यही वह्नि का परम रहस्यात्मक स्वरूप है । स्वयं वह्नि भी परिमित प्रमाता है ॥१२१-१२२॥

ननु वह्नेः परापेक्षप्रकाशत्वात् समनन्तरमेव जाड्यमुक्तं, तत्कथमसौ चेतनैकवपुषः प्रमातुस्तत्त्वं स्यात् ? इत्याशंक्याह

संविदेव तु विज्ञेयतादात्म्यादनपेक्षिणी ।। १२३ ।।
स्वतन्त्रत्वात्प्रमातोक्ता विचित्रो ज्ञेयभेदतः ।

संविदेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् विज्ञेयेन भोक्तृभोग्यात्मना वह्निना ऐकात्म्यासादनात् 'प्रमाता' इति उच्यते, अत एवोक्तम्—अनपेक्षिणीति, वह्निरूपतामासाद्यापि संविदो न स्वरूपप्रच्याव इति भावः। ननु यदि संविद एव प्रमातृत्वं तत्तस्या आखण्ड्यात् तद्रूपस्यापि प्रमातुः कथं वैचित्र्यं संगच्छते ? इत्याशंक्याह 'विचित्रो ज्ञेयभेदत' इति, ज्ञेयस्य—कलाद्यात्मनः तत्त्वव्रातस्य भेदात्—वैचित्र्यादित्यर्थः, कलादीनां हि किंचित्कर्तृत्वाद्यविशेषेऽपि तत्तत्कर्माधिपत्यादस्त्येव सर्वसंवेद्यं तारतम्यं येनायमुपाधिमाहात्म्यापन्नः प्रमातृभेदः इति ॥ १२३ ॥

अत एवाग्निरपि तथा, इत्याह

सोमांशदाह्यवस्तूत्थवैचित्र्याभासबृंहितः ।। १२४ ।।
तत एवाग्निरुदितश्चित्रभानुर्महेशिना ।

ततः प्रमातुर्विचित्रत्वादेव, प्रभुणाग्निरपि—चित्रा भोक्तृभोग्यादिरूपा भानवो यस्य स तत्तन्मानमेयादिविचित्रस्फार उक्तः, यतो—मेयात्मनः सोमस्य

अग्निका प्रकाश भी सापेक्ष प्रकाश है। सापेक्षता ही जडता है। फिर चेतन पर-प्रमाता का यह तत्त्व है, यह मान्य है कैसे ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

संविद् ही स्वातन्त्र्य के कारण विज्ञेय, भोक्ता और भोग्य रूप अग्नि से ऐकात्म्य स्थापित कर उल्लसित होती है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं होती। वही प्रमाता कहलाती है। वह्नि रूप में व्यक्त रहने पर भी संविद् में स्वरूपप्रच्युति नहीं होती है। संविद् का प्रमाता होना ही वैचित्र्य से युक्त है। ज्ञेय रूप कला विद्या आदि का किंचित्कर्त्तृत्वादि भेदवाद विचित्रताओं से भरा हुआ है। अतः कह सकते हैं कि भगवती संविद् सोम सूर्य संघट्ट के कारण विचित्र रूप ग्रहण करती हुई भी अच्युत रूप से उल्लसित है ॥१२३॥

संविद् के स्वरूप के अनन्तर अग्नि का स्वरूप वर्णन कर रहे हैं—

कलादिरूपा अंशा एव दाह्यानि आत्मसात्कार्याणि वस्तूनि तेभ्यः तारतम्यादिना उत्थितेन वैचित्र्याभासेन बृंहितो वैशिष्ट्यमापादित इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

ननु प्रमातुः प्रमेयोपाधिवैचित्र्यमुक्तं, प्रमेयं च प्रमाणापेक्षया पृथगेव न प्रकाशते इति—वैचित्र्यचर्चा दूर एवास्तां, प्रमातृत्वमेव पुनरस्याः संविदः कथं घटते ? इत्याशंक्याह

ज्ञेयाद्युपाय-संघातनिरपेक्षैव संविदः ॥ १२५ ॥
स्थितिर्मातहमस्मीति ज्ञाता शास्त्रज्ञवद्यतः ।

ज्ञातृतोपायभूततत्तन्नीलसुखाद्यात्मज्ञेयनिरपेक्षैव संविदः 'अहमस्मि' इत्यामर्शमयी या स्थितिः, स 'माता'—पराहंपरामर्शस्वभावो ज्ञातेत्यर्थः। ज्ञेयनैरपेक्ष्येण च अहंपरामर्शस्य विकल्पात् वैलक्षण्यं दर्शितम्, 'कृशोऽहम्' इत्यादौ अहंप्रत्यवमर्शो हि विकल्प एव—प्रतियोगिभूतस्य अकृशत्वादेरपोह्यस्य संभवात्, तस्य हि तदतद्रूपधर्मिप्रतियोगिसापेक्षित्वमेव रूपम् । परप्रमात्रात्मनि प्रकाशे पुनरहंप्रत्यवमर्शः प्रवर्तमानोऽतिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात् प्रतियोगिनः कस्यापि असंभवात् न विकल्पः, यदाहुः

मेयात्मक सोम के कला रूप अंश को आत्मसात्करने वाली दाह्य आदि तात्त्विक वस्तु हैं। उनसे उदित विचित्र आभासों के कारण अग्नि वृद्धि को प्राप्त करता है। इसी से चित्रभानु कहलाता है। यह सब प्रभु महेश्वर का ही मेयात्मक स्फार है ॥१२४॥

संविद् के प्रमातृ भाव का प्रतिपादन कर रहे हैं—

संविद् शक्ति-ज्ञान और ज्ञेय आदि उपाय राशि के संघात से निरपेक्ष संविद् शक्ति-तत्त्व में 'अहम् अस्मि' (मैं हूँ) यह परामर्श होता है। यह परामर्शमयी स्थिति जिसमें होती है, वही वस्तुतः ज्ञाता और प्रमाता है क्योंकि परामर्श ही उसका 'स्व' भाव होता है।

"कृशोऽहम्' (मैं कृश हूँ) इस वाक्य में कृश का प्रतियोगी अकृश होता है। इसमें अहंप्रत्यवमर्श तो है, पर विकल्पात्मक है। परप्रमाता रूप संविद् बोध प्रकाश में होने वाले अहंप्रत्यवमर्श के विकल्पोपहत किसी प्रतियोगी परामर्श की सम्भावना नहीं होती। कहा गया है—"यह परावाक् रूपी परामर्शात्मक अहं प्रत्यवमर्श विकल्प नहीं होता। यह द्वयापेक्षी विनिश्चय होता है।"

'अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः ।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयापेक्षो विनिश्चयः ॥' इति।

ननु प्रमातुरहंविमर्श एव स्वभावोऽस्तु, तस्यापि वा विकल्पाद्वैलक्षण्यं, किमनेन नः प्रयोजनं, ज्ञेयं विना पुनरस्य ज्ञातृत्वं न स्यात्? इत्याशंक्य उक्तं 'शास्त्रज्ञवद्यतः' इति, यथा शास्त्रज्ञस्य व्याचिख्यासादिविरहेऽपि शास्त्राणां स्वात्माभेदेन वर्तमानत्वात् तत्र ज्ञातृत्वमुच्यते, तथा परस्यापि प्रमातुः सर्वभावनिर्भरत्वात् आत्मसंस्थ एव ज्ञेयजात इति ॥ १२५ ॥

ननु प्रमासंबन्धात् प्रमाता उच्यते, प्रमा च व्यतिरिक्तज्ञेयविषयात्प्रमाणाद्भवति—इति व्यतिरिक्तं ज्ञेयादि परिहृत्य कथमस्य ज्ञातृत्वं स्यात्? इत्याशंक्याह

अज्ञ एव यतो ज्ञातानुभवात्मा न रूपतः ॥१२६॥
न तु सा ज्ञातृता यस्यां शुद्धज्ञेयाद्यपेक्षते ।

यो हि प्रतिनियतज्ञानात्म प्रमाणादिकमपेक्ष्य 'ज्ञाता' इत्युच्यते सोऽज्ञ एव—न प्रमातैव भवति इत्यर्थः, प्रमातुः खलु अनन्योन्मुखत्वादन्यनिरपेक्षमेव रूपं यथोक्तं, न पुनरस्य सापेक्षं रूपं भवितुमर्हति—परस्य परनिष्ठत्वानुपपत्तेः, तदाह 'न तु' इत्यादि ॥१२६॥

प्रश्न होता है कि प्रमाता का तो अहं विमर्श स्वभाव ही है। उसमें विकल्प की अपेक्षा वैलक्षण्यी है। पर देखना तो यह है कि ज्ञेय के बिना इस की ज्ञातृता कैसे हागी? इसके उत्तर में शास्त्रज्ञ का दृष्टान्त दे रहे हैं—एक सर्वशास्त्र पारङ्गत विद्वान् है। उसमें शास्त्र की व्याचिख्यासा के न रहने पर भी शास्त्र उसमें अभेद भाव से वर्त्तमान है। इस तरह उसमें ज्ञातृता का बोध होता है। उसी प्रकार परप्रमाता के सर्वभाव निर्भर स्वभाव के कारण उसमें अभेद भाव से ज्ञेय वर्ग उल्लसित रहता है ॥१२५॥

प्रमा से प्रमाता युक्त है। ज्ञेय प्रमाणों से प्रमा होती है। व्यक्तिरिक्त ज्ञेय को छोड़ कर इसका ज्ञातृत्व कैसे? इसी आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

जो प्रतिनियत ज्ञानरूप प्रमाण की अपेक्षा से ज्ञाता कहलाता है, वह वस्तुतः अज्ञ ही है। प्रमाता तो अन्यनिरपेक्ष ही होता है। जो स्वयं 'पर' है, वह दूसरे द्वारा अपनी परता को सिद्ध कराने की अपेक्षा नहीं रखता। वह ज्ञातृता ही नहीं, जिसमें ज्ञेय आदि की अपेक्षा हो ॥१२६॥

ननु यद्येवं तर्हि कथमस्य सर्वत्रैव ज्ञातृत्वमुच्यमानमपह्नूयताम् ? इत्याशंक्याह

तस्यां दशायां ज्ञातृत्वमुच्यते योग्यतावशात् ॥१२७॥

मानतैव तु सा प्राच्यप्रमातृपरिकल्पिता ।

तस्यामिति—संकुचितप्रमातृरूपायामित्यर्थः, योग्यतावशादिति—ज्ञेय-परिच्छेदकारित्वलक्षणात्, सा पुनरियं दशा प्राच्येन आदिसिद्धेन परेण प्रमात्रा प्रमाणरूपत्वेन परिकल्पिता—संकुचितज्ञानात्मकत्वात्तथात्वेनावभासितेत्यर्थः । पर एव हि प्रमाता स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा संकुचितज्ञानात्मता-मवभास्य ज्ञेयमपि पृथगुल्लासयेत् ॥१२७॥

ननु परा संविदेव यदि मानादिरूपेणापि प्रस्फुरेत् तत्तस्या अस्तमय एव किं न स्यात् ? इत्याशंक्याह

उच्छलन्त्यपि संवित्तिः कालक्रमविवर्जनात् ॥१२८॥

उदितैव सतो पूर्णा मातृमेयादिरूपिणी ।

मातृमेयादिरूपत्वेन बहिरुल्लसन्त्यपि संवित्तिः 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इति न्यायेन अवभासनक्रियाविच्छेदाभावात्कालानवच्छेदादुदितैव—संविन्मात्ररूपत्वा-प्रच्यावात् नियमेन अनस्तमितरूपा इत्यर्थः, अत एव पूर्णा—स्वात्ममात्रविश्रान्ति-रूपत्वादनन्यापेक्षिणीत्यर्थः ॥१२८॥

उसके सर्वत्र व्यक्त ज्ञातृत्व के विषय में कह रहे हैं—

संकुचित प्रमातृता की अवस्था में ज्ञेय को परिच्छेदात्मकता प्राच्य सिद्ध प्रमाताओं के द्वारा प्रमाण रूप से ही परिकल्पित है। इसमें मुख्य कारण उसका संकोच है। वास्तविकता तो यह है कि परप्रमाता ही स्वातन्त्र्य शक्ति वशात् अपने रूप का गोपन कर संकोच ग्रहण करता है और ज्ञेय का पृथक् उल्लास करता है ॥१२७॥

यदि संविद् शक्ति ही मान आदि रूपों में भी प्रस्फुरित होती है तो उसका सूर्य की तरह अस्त क्यों नहीं होता ? इस का उत्तर दे रहे हैं—

माता-मान मेय रूपों में भी बाह्य जगत् में उल्लसित यह संवित्ति-देवता कालक्रम से रहित होने के कारण शाश्वत रूप से उदित रहती है। इसका स्वरूप प्रच्याव नहीं होता। इसी लिये यह सदा पूर्ण बनी रहती है। सकृत् प्रकाशित आत्मा की तरह संवित्ति काल से कलित नहीं होती ॥१२८॥

ननु संविन्नाम क्रिया, तस्याश्च क्रियान्तरवत् कालावच्छेदोऽवश्यसंभाव्यः इति कथमस्याः कालक्रमविवर्जितत्वमुक्तम् ? इत्याशंक्य लौकिक्या एव पाकादे क्रियायाः कालावच्छेदोऽस्ति, न तु अस्याः, इति दर्शयितुमाह

पाकादिस्तु क्रिया कालपरिच्छेदात्क्रमोचिता ॥१२९॥
मतान्त्यक्षणवन्ध्यापि न पाकत्वं प्रपद्यते ।

इह पाकादिः लौकिकी क्रिया कालावच्छेदात् क्रमव्याप्ताभिमता, यतः सा अन्त्यः क्षणो, यत्समनन्तरमेव द्वितीये क्षणे फलनिष्पत्तिस्तेनापि यदा शून्या भवेत् तदानेकक्षणप्रचयवत्त्वेऽपि स्वस्वरूपापरिपूर्तेस्तथा व्यवहारं न भजते यदि नाम हि साप्यवभासनक्रियावत्कालानवच्छिन्ना स्यात्, तत् प्रथम एव क्षणे पाकादिक्रियात्वेन व्यवहारमियात्, अतश्च पाकादेर्लौकिक्या एव क्रियायाः सक्रमत्वं, न पुनः शाश्वत्याः 'संविल्लक्षणाया' इति, यदाहुः

'संक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।
घटते न तु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात्प्रभोरिव ॥'

इति, अतश्च अकालकलितत्वात् प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपत्वेन अवतिष्ठमानमपि संवित्तत्त्वं संविन्मात्रलक्षणात् मुख्याद्रूपात् नापोह्यं स्यात् ॥१२९॥

यदि संविद् क्रिया है, तो दूसरी क्रियाओं की तरह काल कलित होना स्वाभाविक है । फिर उससे विवर्जित क्यों कहा गया है ? लौकिक पाक आदि क्रियाओं की तरह यह नहीं है । यही प्रदर्शित कर रहे हैं—

पाक आदि क्रियायें लौकिक होती हैं । साथ ही ये काल से प्रभावित भी होती हैं । इनमें क्रम अनिवार्य होता है । इनका अन्त भी होता है और उसके बाद क्रिया का परिणाम भी होता है । अन्तिम क्षण में जब कोई क्रिया पूर्ण होती है, एक शून्य क्षण भी आता है । इस तरह यह अवच्छिन्न होती है । बोध के अवभासन की शाश्वत परम क्रिया शक्ति ऐसी नहीं होती क्यों कि वहाँ क्रम नहीं होता है । इस लौकिकी क्रिया में क्रम की अवच्छेदकता रहती है । कहा गया है—

"लौकिकी क्रियाओं में क्रमिकता उसी शाश्वत क्रिया शक्ति के अनुग्रह का ही परिणाम है । किन्तु परम प्राभवी क्रिया शक्ति में इस प्रकार की कोई खांडिकता नहीं होती जैसे प्रभुमें भी नहीं होती ।"

तदाह

इत्थं प्रकाशतत्त्वस्य सोमसूर्याग्निता स्थिता ॥१३०॥

अपि मुख्यं तत्प्रकाशमात्रत्वं न व्यपोह्यते ।

ननु वाच्यात्मविश्वावभासदशायामेवमास्तां, वाचकात्मविश्वावभासे पुनः सोमसूर्याग्नीनां रूपमेव किं नामोक्तं--यदवभासनेनास्य प्रकाशतत्त्वस्य न स्वस्वरूपापोहः, इति चिन्तापि स्यात् ? इत्याशंक्याह

एषां यत्प्रथमं रूपं ह्रस्वं तत्सूर्य उच्यते ॥१३१॥

क्षोभानन्दवशाद्दीर्घविश्रान्त्या सोम उच्यते ।

यत्तत्परं प्लुतं नाम सोमानन्दात्परं स्थितम् ॥१३२॥

प्रकाशरूपं तत्प्राहुराग्नेयं शास्त्रकोविदाः ।

एषां—समनन्तरोक्तानां बीजानां यत्प्रथममासाद्यमक्षुब्धं रूपं, तत्सूक्ष्मत्वात् एकमात्रात्म 'ह्रस्वं' प्रकाशमात्रप्राधान्याच्च सूर्यः। तथा क्षोभानन्दयोः वशाद्बहीरूपतायां विश्रान्त्या क्षुब्धत्वेन स्थौल्यात् द्विमात्रं 'दीर्घम्' आह्लादकारित्वाच्च सोम उच्यते—सामान्येनोक्तेः सर्वैः शास्त्रकोविदैरेवं व्यपदिश्यत

इस लिये निष्कर्षतः यह निश्चित है कि संवित् तत्त्व अकाल कलित है। अकालकलित होने पर भी प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप से उल्लसित भी है। इस तरह उल्लसित होने पर भी अपने 'स्व' रूप से इसका प्रच्याव नहीं होता ॥१२९॥

वही कह रहे हैं—

इस तरह प्रकाशतत्त्व सोम, सूर्य और अग्नि इन तीन रूपों में प्रतिष्ठित है। फिर भी इसकी प्रकाश मात्रता का व्यपोहन नहीं होता ॥१३०॥

विश्व वाच्य और वाचक दो रूपों में भासित है। उपर्युक्त पद्य में वाचकात्मक अवभास में भी प्रकाश का व्यपोहन न होना कहा गया है। इसमें सोम, सूर्य और अग्नि सत्ता का वास्तविक रूप क्या है—यही कह रहे हैं—

ऊपर कहे गये बीज वर्णों का पहला अक्षुब्ध रूप ह्रस्व मात्रिक है, वही सूर्य है। यह सूक्ष्म और एकमात्रात्मक होता है। क्षोभ और आनन्द के कारण बाह्य विश्रान्तिका प्रारम्भ होने पर स्थूलता, द्विमात्रता अर्थात् दीर्घस्थिति आ जाती है। यही रूप सोम कहलाता है। ह्रस्व और दीर्घ के अतिरिक्त इनकी तीन अथवा

इत्यर्थः। तथा ताभ्यामेकमात्रद्विमात्राभ्यां ह्रस्वदीर्घाभ्यां परमन्यत् यत्त्रिमात्रं प्लुतं नाम तच्छास्त्रकोविदा आग्नेयं प्रामात्रं रूपं प्राहुः, यतः प्रकाशे मानात्मनि सूर्ये रूढं जातप्ररोहं सत् मेयात्मकं सोमानन्दमवलम्ब्य परमत्यर्थं स्थित—मातृरूपतया प्रस्फुरितमित्यर्थः मातुर्हि 'मानमेयसंघट्टात्मकमेव रूपम्' इत्युक्तं प्राक्, तदेषां ह्रस्वत्वं सूर्यत्वं, दीर्घत्वं सोमत्वं, प्लुतत्वमग्नित्वमिति धामत्रयमयत्वम् ॥१३१-१३२॥

एवमप्यत्र परस्य प्रकाशस्य न स्वस्वरूपात् प्रच्यावः, इति विन्दुरूपत्वमुक्तम्, इत्याह

अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थितं धामत्रये सति ॥१३३॥
उक्तं विन्दुतया शास्त्रे शिवविन्दुरसौ मतः।

न चायं विन्दुः परप्रमात्रेकरूपत्वान्मन्त्रप्रमेयान्तर्वर्ती इत्याह 'शिवविन्दुरसौ मत' इति—अविभागपरप्रकाशात्मकत्वेन विदिक्रियायां स्वतन्त्रः परः प्रमातेत्यर्थः, तदुक्तं प्राक्

'उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि।
अविभागः प्रकाशो यः स विन्दुः परमो हि नः॥' इति ॥१३३॥

अधिक मात्राओं के रूप को 'प्लुत' कहते हैं। यह आग्नेय रूप है। यह सब शास्त्र के पारङ्गत विद्वान् कहते हैं। प्रमाण रूप सूर्य में मेयात्मक सोमानन्दात्मकता का अवलम्बन कर प्रमाता रूप से यह अग्नित्व स्फुरित होता है। प्रमाता तो मान और मेय का संघट्ट ही होता है। इस प्रकार बोजों का ह्रस्वत्व सूर्यत्व, दोर्घत्व सोमत्व और प्रभुतत्व अग्नित्व है। यही त्रिधामता भी है।

इतना होने पर भी प्रकाश का 'स्व' रूप से प्रच्याव नहीं होता। इसीलिये उसे विन्दु कहते हैं—

तीनों धाम के प्रकाशमान रहते हुए भी प्रकाशमात्र तत्त्व को ही शास्त्र में विन्दु कहते है। यहा शिव विन्दु कहलाता है। यह शिव विन्दु पर प्रमाता है और मन्त्र रूप प्रमेय में निवास करता है। वह अविभाग पर प्रकाशात्मक होने के कारण विद् धातु से निष्पन्न वेत्ति' क्रिया का आधार-भूत कर्ता होता है। यही बात १११ वें श्लोक में भी कही गयी है ॥१३३॥

ननु न विन्दुर्नाम परामर्शान्तरं किंचिद्युज्यते—वक्ष्यमाणेन मकाराख्येन परामर्शविशेषेणैवास्य संग्रहात्, नहि अनयोः प्रतीतौ कश्चिद्विशेषः—प्रत्येय-भेदाद्धि प्रतीतिभेदः, तत्कथमयं तता भिन्नः स्यात् ? इत्याशंक्याह

मकारादन्य एवायं तच्छायामात्रधृद्यथा ॥१३४॥

रलहाः षण्ठवैसर्गवर्णरूपत्वसंस्थिताः ।

यथा षण्ठविमर्गर्णतामाश्रिता रेफलकारहकारास्तच्छ्रुतिमात्रधारित्वेऽपि वक्ष्यमाणेभ्यो रेफादिभ्योऽतिरिक्ताः, तथायं विन्दुरपि मकारात्—इति वाक्यार्थः। 'न च वर्णश्रुतिरेव वर्णं' इत्युपपादितं प्राक् ॥१३४॥

ननु इष्यमाणरूपाभ्यां रेफलकाराभ्यामिच्छाशक्तेरारूषितत्वम्, इति तच्छायामात्रधारित्वात् युक्तं परामर्शान्तरत्वं, मकारहकाराभ्यां पुनरारूषणैव कस्याधीयते, यस्यापि परामर्शान्तरत्वं स्यात् ? इत्याशंक्याह

इकार एव रेफांशच्छाययान्यो यथा स्वरः ॥१३५॥

तथैव महलेशादः सोऽन्यो द्वेधास्वरोऽपि सन् ।

इकार एव यथा रेफांशच्छायया षण्ठात्मस्वरान्तररूपो भवेत्, तथैवा-स्वरोऽपि सन् अनुत्तरप्रकाशात्मकोऽपि भवन्नसौ 'अः' चिच्छक्त्यात्मा आदिवर्णो

बिन्दु परामर्श के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसका संग्रह मात्र 'म' कार से होता है। 'म' कार और बिन्दु की अनुभूति में काई विशेष अन्तर नहीं। प्रत्येय के भेद से प्रतीति में भेद होते हैं। इस नियम के विपरीत इनमें भेद क्यों ? इसी शङ्का का उत्तर दे रहे है—

विन्दु 'म'कार के अतिरिक्त अस्तित्व रखता है। 'म' केवल उसकी छाया मात्र को धारण करता है। जंसे 'र' 'लकार और 'ह' कार ये तीनों 'ऋ', 'ऌ' और विसर्ग की छाया मात्र के धारक हैं। इसीलिये इन्हें षण्ठ वैसर्ग वर्ण कहते हैं। ये श्रुति साम्य वाले वर्ण हैं, मुख्य वर्ण नहीं हैं ॥१३४॥

रेफ और लकार दोनों इष्यमाण वर्ण हैं। ये इच्छा शक्ति से रूषित हैं। इन दोनों की परामर्श दशा स्वाभाविक है। जहाँ तक 'म' कार और' हकार का प्रश्न है, ये किसी से भी रूषित नहीं। फिर अवान्तर परामर्श कैसे ? इसी का प्रतिपादन कर रहे हैं—

इ'कार इच्छा शक्ति के प्राधान्य के कारण रेफांश की छाया को धारण करता है। फलतः छठाँ स्वर बन जाता है। उसी प्रकार अस्वर रहते हुए भी 'अ'

मकारहकारलेशमुपाधित्वेनावलम्ब्य तच्छ्रुतिमात्रधारित्वेन द्वैधा—विन्दुविसर्ग-रूपतयान्यः परामर्शान्तररूपभाक् भवतीत्यर्थः। अनुत्तर एव हि प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं स्वरूपं गोपायित्वा शक्तिदशामाभास्य संकुचितप्रमातृरूपतामवभासयेत्, अतश्चास्य

'अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ।'

इत्याद्युक्त्या

'हकाररूपया शक्त्या मकारो न हृदि स्थितः।'

इत्याद्युक्त्या संकुचितप्रमात्रात्मना च मकारेणारूषणा—इति न कश्चित् दोषः ॥१२५॥

ननु अनुत्तर एव कस्मादेवमारूषणया विसर्गाद्यात्मकतामियात् ? इत्याशंक्याह

अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा ॥१२६॥
सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम् ।

अस्य—अनुत्तरप्रकाशात्मन आदिवर्णस्य प्राक्

'कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः।'

इत्यादौ 'कौलिकीति, परेति' चोक्ता अन्तःप्रमात्रैकात्म्येन वर्तमाना विमर्शात्मा

विन्दु और विसर्ग दो रूपों में विभक्त हो कर उल्लसित होता है। 'अस्वर' का तात्पर्य अनुत्तर प्रकाशात्मक स्वर है। यह अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव के कारण अपने 'स्व' रूप का गोपन कर लेता है। अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है। कहा गया है—

'अ' कार और 'ह' कार ये दोनों एक आधार पर अवस्थित हैं" और यही कारण है कि "'ह' कार रूप शक्ति से 'मकार' रूप शक्तिमान् समन्वित हो जाता है। इसका अधिष्ठान हृदय होता है।" संकुचित प्रमाता के रूप में 'ह' 'म' कार से आरूषित हो जाता है ॥१२५॥

अनुत्तर ही आरूषित हो कर विसर्ग आदि रूपों में क्यों उल्लसित होता है ? यही कह रहे हैं—

श्लोक ६७ में वर्णित कौलिकी शक्ति परा कुंडलिनी शक्ति है। यह अनुत्तर प्रकाशात्मक 'अ' की विमर्श रूपिणी सर्जन की आकांक्षा ही है।

यासौ विसिसृक्षा, सैव निश्चितं बहिरौन्मुख्यलक्षणात् क्षोभवशात् विसर्गात्मकतामेत्य, आनन्दोदयक्रमेण क्रियाशक्तिपर्यन्तं प्रोच्छलन्तीं स्थितिमवभासयति, इत्यर्थः ॥१३६॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव, इत्याह

उक्तं च त्रिशिरःशास्त्रे कलाव्याप्त्यन्तचर्चने ॥१३७॥

कला सप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी।

परापरस्वस्वरूपबिन्दुगत्या विसर्पिता ॥१३८॥

प्रकाश्यं सर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा।

शक्तिकुण्डलिका चैव प्राणकुण्डलिका तथा ॥ १३९ ॥

विसर्गप्रान्तदेशे तु परा कुण्डलिनीति च।

शिवव्योमेति परमं ब्रह्मात्मस्थानमुच्यते ॥ १४० ॥

विसर्गमात्रं नाथस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाः।

कलाव्याप्त्यन्तचर्चने, इति— अमाख्यकलास्वरूपस्फारसिद्धान्तविचारावसरे इत्यर्थः, तत्र हि

वही क्षोभ के कारण बाहर की ओर उन्मुख होती है। उस अवस्था में वही विश्व विसर्ग का कारण बन जाती है। आनन्द के उदय से लेकर क्रिया शक्ति पर्यन्त यह प्रोच्छलन, सृष्टि को प्रतिष्ठित कर देता है ॥१३६॥

यह तथ्य ग्रन्थकार का स्वोपज्ञ कथन नहीं अपि तु शास्त्रान्तर भी यही मत व्यक्त कर रहे हैं—

त्रिशिरः शास्त्र में अमा कला के 'स्व' रूप का स्फार कैसे होता है, इस सिद्धान्त की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि—"यह सत्रहवीं कला है।" स्वयं पार्वती ने महेश्वर से कला व्याप्ति की चर्चा की थी। महेश्वर ने उक्त प्रसङ्ग में उक्त उत्तर दिया। कहीं शब्दतः और कहीं संकेतात्मक अर्थतः भी यह सब कहा गया है। वहाँ कहा गया है कि—

अन्तः करण प्रभृति १६ कलाओं का आप्यायन करने के कारण उसे अमृताकार रूपिणी कहा जाता है। वही 'कौलिकी' 'परा' या कुण्डलिनी कला है। यह हकारार्धार्ध रूपिणी सत्रहवीं अमा कला है। यह 'परापर विसर्ग रूपावस्था में दो विन्दुओं से व्यक्त होती है ॥१३८॥

'कलाव्याप्तिर्महादेव पदसंज्ञा महेश्वर ।
अतिसंक्षेपतो ब्रूहि .... ॥'

इति भगवत्या पृष्टे, तन्निर्णयार्थं

'कला सप्तदशी यासौ .... ॥'

इत्यादि भगवतोक्तम्, यदिह क्वचिच्छब्दद्वारेण क्वचिदर्थद्वारेण च संवादितम्, तत्र

'पुरुष षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ।'

इत्याद्युक्त्या अन्तःकरणप्रभृतीनां षोडशानामपि कलानामाप्यायकारित्वात् नित्योदितत्वेन च अनस्तमितरूपत्वात् अमृताकाररूपिणी येयं चिन्मात्रस्वभावा 'कौलिकीति, परेति' एवमादिशब्दव्यपदेश्या हकारार्धार्धरूपिणी अमाख्या सप्तदशी कला, परस्य आनन्दात्मनो विसर्गस्य उक्तत्वात् अपरस्य च हकारात्मनो वक्ष्यमाणत्वात् परापरो योऽसौ विसर्गः तस्य स्वरूपस्थौ यावात्मभूतौ विसर्जनीयशब्दवाच्यौ विन्दू, तयोर्गतिः—तद्रूपावभासनेन प्रसरणं, तया विसर्पिता—तत्तद्रूपावविभासयिषया प्रोच्छलन्तीत्यर्थः, अत एव च सर्वेषां प्रमातृप्रमाणप्रमेयात्मनां वस्तूनां अनतिरेकेऽपि अतिरिक्तत्वेनेव प्रकाश्य—तत्तन्नियतप्रकाशात्मिकेत्यर्थः, सैव पुनर्विसर्गेण—बहिर्भावौन्मुख्येन विरहिता सती, प्रसुप्तभुजगाकारत्वात् स्वात्ममात्रविश्रान्ता शक्तिकुण्डलिनी—परा संविन्मात्ररूपेति यावत्, अत एव विसर्गस्य बहिर्भावौन्मुख्यात्मकादिकोटिरूपे प्रान्तदेशे प्राणकुण्डलिका

'प्राक् संवित्प्राणे परिणता ।'

इति नीत्या प्रथममेव प्राणरूपतामवभासयन्तीत्यर्थः, तथा प्रत्यावृत्तिक्रमेण अन्तर्भावौन्मुख्यरूपान्तकोट्यात्मनि प्रान्ते स्वरूपे 'परा कुण्डलिनी' स्वात्म-

---

यही प्रकाश प्रमाता, प्रमाण, और प्रमेय आदि अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त भी तरह भासित नियत वस्तुओं का प्रकाशन करता है। यही बहिरौन्मुख्य के विपरीत जब स्वात्ममात्र में ही विश्रान्त होता है, तो सोये सांप की तरह आकार वाली शक्ति कुण्डलिनी बन जाता है। उस समय वह परापरा नहीं वरन् केवल 'परा' होती है और संविद्रूपा ही रहती है। "पहले संवित् प्राण रूप में परिणत होती है।" इस सिद्धान्त के अनुसार बहिरौन्मुख्य में प्राण कुण्डलिनी कहलाती है ॥१३९॥

प्रत्यावृत्तिक्रम से पुनः जब अन्तर्मुख हो जाती है और अन्तिम कोटि रूप अग्रिम स्वात्म मात्र में स्थित हो जाती है, उसे परा कुण्डलिनी कहते हैं।

विश्रान्तपरसंविन्मात्ररूपेत्यर्थः, एवं त्वियमेव संविन्मात्ररूपा सप्तदशी कलाशिव-व्योमेति, परम ब्रह्मेति, शुद्धात्मस्थानम् इति चोच्यते—तैस्तैः सामयिकैः शब्दैर्व्यपदिश्यते इत्यर्थः, तथा—हि श्रीत्रिशिरोभैरवे एव

'शिवव्योमेति या संज्ञा परं ब्रह्मेति यत्पदम् ।' इति ।

तथा

'आत्मस्थानं किमाख्यातं............ ।'

इति भगवत्या पृष्टे

'कुण्डल्याख्या तु सा ज्ञेया सर्वाध्वोपरिवर्तिनी ।'

इत्युपक्रम्य

'प्रमाणोत्थानरहितमुपमाभेदवर्जितम् ।
भूतव्योमपदातीतं चिद्व्योमान्तपद परम् ॥
भावप्रत्ययसंरम्भमभावं परमा गतिः ।
शिवव्योम तु तज्ज्ञेयं सर्वाधारत्वलक्षणम ॥
बृहत्त्वं बृंहकत्वं च सूक्ष्मं तच्चान्तर्वर्ति च ।
परं ब्रह्मेति तत्प्रोक्तं लक्ष्यभूतमलक्ष्यकम् ॥' इति ।

'स्वात्म मात्र में विश्राम यह संविद्रूप ही होती है । यह १७ वीं कला है । इसे ही शिवव्योम भी कहते हैं । इसे परम ब्रह्म भी कहते हैं । यही शुद्ध आत्मस्थान है । समकालीन विद्वान् इसे उक्त अनेक नामों से जानते और समझते हैं । त्रिशिरोभैरव ग्रन्थ में कहा गया है कि,

"शिवव्योम' नामक संज्ञा परं ब्रह्म पद को ही सूचित करती है ।' तथा आत्म स्थान किसे कहा गया है ? इस प्रकार भगवती परमाम्बा के पूछने पर—

उसे कुण्डलिनी कहते हैं, वह सभी सिद्धान्त रूप से स्वीकृत अध्वा समुदाय से ऊपर है । यहाँ से लेकर....

"जहाँ प्रमाण निरुपाय रहते हैं, उपमा और सादृश्य आदि भेद जहाँ नहीं रह जाते; भूत, और व्योमपद से अतीत चिद्व्योम रूप जो परम अन्तिम पद है, जहाँ भाव, प्रत्यय और इनके सम्बन्ध सभी निरस्त रहते हैं, जो परम गति है, वही शिवव्योम है । वही सबका आधार है, स्वयं वृंहित है, सब का उपवृंहक है, अत्यन्त सूक्ष्म और रहस्य मय है, उसे ही परम ब्रह्म कहते है । सबका लक्ष्य वही है फिर भी शाश्वत अलक्षित है ।

तथा

'पूर्वं पदविभागं तु कीर्तितं तदहेयकम् ।
तथापि भूमिकातीतमात्मस्थानं निगद्यते ॥'

इत्यादिना स्वरूपमेषां भगवतोक्तम् । तदेवं परैव पारमेश्वरी संवित् तत्तत्प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाविर्भावनिबन्धनम्, इत्युक्तं स्यात्, अत एव आह—विसर्गमात्रमित्यादि ॥ १३७-१४० ॥

ननु एकैव अखण्डा संवित् अस्ति, इति तदतिरिक्तं किंचिदपि न संभवेत्, तत्कस्य नाम सृष्टिः संहारो वा स्यात्, येनास्यास्तत्कारित्वमपि भवेत् ? इत्याशंक्याह

स्वात्मनः स्वात्मनि स्वात्मक्षेपो वैसर्गिकी स्थितिः ॥१४१॥

इयमेव नाम वैसर्गिकी—सृष्टिसंहारकारित्वलक्षणा स्थितिः, यत् स्वात्मन एव न पुनर्मायाप्रकृत्यादेरुपादानात्, स्वात्मन्येव न पुनस्ततो विच्छिन्ने कुत्रचिद्देशे काले वा, स्वात्मन एव न पुनरन्यस्य कस्यचित् प्रमातृप्रमेयादेः, क्षेपः—तत्तदाभासवैचित्र्येणान्तर्बहीरूपतया परिस्फुरणमिति, तेनानन्यापेक्षित्वेन पूर्णा परैव संवित् कादिहान्तरूपतया परिस्फुरिता, इति भावः ॥ १४१ ॥

तथा "वही आत्म स्थान है । समस्त भूमिकाओं से अतीत है, पहले जितना कुछ पद और पद विभाग के सम्बन्ध में कहा गया है वह सभी उपादेय ही है ।" इत्यादि उक्तियाँ उसी के स्वरूप को व्यक्त करती हैं । इस प्रकार यह कह सकते हैं कि वही परा संवित् प्रमाण, प्रमा, प्रमाता और प्रमेय आदि रूपों में विश्व के सर्जन, संहार, आदि विभ्रमों को उत्पन्न में सक्षम परम कारण है ॥ १४० ॥

संवित् एक अखण्ड शक्ति है । उसके अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है । फिर किसकी सृष्टि और किसका संहार ? ये विभ्रम ही क्यों ? इनके कर्त्तारूप में भी इसे क्यों स्वीकार करें—इन्हीं प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं—

स्वात्मतत्त्व का स्वात्मतत्त्व में ही स्वात्मक्षेप होता है । किसी दूसरे पदार्थ का उसके अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान में उल्लास नहीं होता अपि तु विभिन्न अनन्त विचित्र आभासों में वही स्वात्म तत्त्व उल्लसित होता है । माया और प्रकृति का उपादान तो स्वात्म तत्त्व ही है । सृष्टि और संहार माया के विभ्रम नहीं अपि तु वैसर्गिकी स्थिति के ही प्रतीक हैं ॥ १४१ ॥

अत एवाह

विसर्ग एवमुत्सृष्ट आश्यानत्वमुपागतः ।
हंसः प्राणो व्यञ्जनं च स्पर्शश्च परिभाष्यते ॥ १४२ ॥

इह विसर्ग एव तत्तद्वैचित्र्योपारोहक्रमेण हकारात्म स्थौल्यमुपागतः सन् 'हंस' इत्येवमाद्यैः शब्दैः परिभाष्यते—सर्वेष्वेव शास्त्रेष्वेवमुच्यत इत्यर्थः, तदुक्तं श्रीतन्त्रराजभट्टारके

'हंसं शून्यं तथा प्राणं हकारं नामभिः स्मृतम् ।' इति ।

निघण्टावपि

'त्रयस्त्रिंशो व्यञ्जनं च द्विकुब्जः स्पर्श एव च ॥' इति ।

एवं च विसर्गस्यैव स्थूलं रूपं 'हकारः' इत्युक्तं स्यात् ॥ १४२ ॥

ननु

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इत्याद्युक्त्या परस्य अनुत्तरस्य प्रकाशस्य 'स्वशक्तिमात्रस्फारो विश्वम्' इत्यविवादः, इह पुनः

"विसर्गमात्रं नाथस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाः ।'

इसीलिये कहते हैं—

विसर्ग ही उत्सर्जन की अवस्था में सूक्ष्मता को अतिक्रान्त कर स्थूलत्व-रूप आश्यानत्व (विस्तार) प्राप्त करता है। इस यात्रा में अनुत्तर का उसे आश्रय मिल जाता है। विसर्ग ही अनुत्तर स्वातन्त्र्य चमत्कार के कारण 'ह' स्थूल व्यंजन बन जाता है। इसे ही 'हंस', 'प्राण', व्यंजन और स्पर्श आदि शब्दों के माध्यम से परिभाषित करते हैं।

श्री तन्त्रराज में स्पष्ट ही कहा गया है—

"हंस, शून्य, प्राण ये संज्ञायें हकार की कहीं गयी हैं।" निघण्टु में भी—

३३ वाँ, दो स्थानों से टेढ़ा, स्पर्श व्यंजन 'ह'कार ही है।" इस उक्ति के अनुसार 'ह'कार को विसर्ग का ही स्थूल प्रतीक माना गया है ॥ १४२ ॥

"महेश्वर को शक्तिमान् और समग्र जगत् को शक्ति का स्वरूप कहा गया है।" इस उक्ति के अनुसार पर-अनुत्तर प्रकाश का शक्तिमय विस्फार ही यह विश्व है- यह तो निर्विवाद सत्य सिद्धान्त ही है। फिर भी यहाँ—

"महेश्वर का सृष्टि संहारात्मक विभ्रम विसर्ग मात्र ही है।" यह प्रतीप वचन भी कहा गया है। यह क्यों ? इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

इत्याद्यन्यथोक्तम्, इति किमेतत् ? इत्याशंक्याह

अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ।। १४३ ।।

एवम्

'अकुलस्यास्य देवस्य……… ।'

इत्याद्युपक्रान्तमेव इह निर्वाहितं, न तु अपूर्वं किंचिदुक्तम्, इति भावः ।।१४३।।

ननु विसर्गशब्दः, शक्तौ केन निमित्तेन प्रवृत्तः ? इत्याशंक्याह

विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोयक्रमात् ।
स्पष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः ।। १४४ ।।

सैव अस्याः— कौलिक्याः शक्तेः, विसर्गता—विसर्जनक्रियायां कर्तृत्वं— यदानन्देच्छाद्युदयक्रमेण भिन्नावभासरूपत्वात् स्पष्टीभूता—स्पष्टतामाप्ता येयं क्रियाशक्तिः, तत्पर्यन्ता प्रोच्छलन्ती स्थितिः—तत्तत्परामर्शान्तरवैचित्र्यरूप-तया परिस्फुरणम्, इति ।। १४४ ।।

ननु इयतो वैचित्र्यस्य विसर्गः कारणमस्तु, स एव पुनस्तत्, इति कथं युज्यते ? इत्याशंकां दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेण उपशमयति

विसर्ग एव तावान्यदाक्षिप्तैतावदात्मकः ।
इयद्रूपं सागरस्य यदनन्तोर्मिसंततिः ।। १४५ ।।

इस प्रकार श्लोक ६७ वें का यहाँ तक निर्वाह कर कौलिकी शक्ति को ही परिभाषित किया गया है ।। १४३ ।।

यहाँ शक्ति के अर्थ में विसर्ग शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बतला रहे हैं—

इस कौलिकी शक्ति की विसर्गता इसलिये स्वाभाविक है कि, सर्जन की क्रिया में यही शक्ति कर्त्ता है । कुल-प्रथन शालिनी इसी चिन्मय शक्ति से आनन्द का उदय होता है । उसके बाद इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का उच्छलन होता है । यहाँ तक का सारा अवभासन अवान्तर परामर्शों के वैचित्र्य का ही परिणाम है ।। १४४ ।।

यह माना जा सकता है कि विसर्ग ही इन विचित्र परामर्शान्तरों का कारण है । किन्तु यह कौलिकी शक्ति भी है । यह बात जंचती नहीं । इसी का स्पष्टीकरण दृष्टान्त के माध्यम से कर रहे हैं—

तावान्—तत्परिमाणो, विसर्ग एव न तु तावतः कारणं, भेदनिबन्धनो हि कार्यकारणभावः, भेद एव चात्र नास्ति, इति कथमेतद्भवेत् इति भावः, यस्मादाक्षिप्तो—गर्भीकृतः, एतावान्—क्रियाशक्तिपर्यन्तो येनैवंविध आत्मा यस्यासौ—तत्तद्वाच्यवाचकाद्यात्मना अनन्ताभासमय इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

एवमस्य विसर्जनक्रियाकर्तृत्वादेव व्यपदेशान्तरमप्यन्यत्रास्ति, इत्याह

अत एव विसर्गोऽयमव्यक्तहकलात्मकः ।
कामतत्त्वमितिश्रीमत्कुलगुह्वर उच्यते ॥ १४६ ॥

अतः—उक्ताद्धेतोः, अव्यक्ता—नादमात्ररूपत्वादनुद्भिन्नवर्णप्रविभागा, येयं हकला—हकारार्धार्धभागः, तदात्मकोऽयं विसर्गः, श्रीमत्कुलगुह्वराख्ये शास्त्रे 'कामतत्त्वं' कामः—इच्छा, तस्य तत्त्वं—सर्वत्रैव अप्रतिहतस्वभावं पूर्णं रूपम् इत्युच्यते, इति वाक्यार्थः ॥ १४६ ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

यत्तदक्षरमव्यक्तं कान्ताकण्ठे व्यवस्थितम् ।
ध्वनिरूपमनिच्छं तु ध्यानधारणवर्जितम् ॥ १४७ ॥

सागर की अनन्त ऊर्मि परम्परा सागर के अतिरिक्त नहीं है। इसमें भेद की कल्पना व्यर्थ है। कारण से कार्य के होने पर भेद होता है। यहाँ तो लहरें भी सागर ही हैं। उसी तरह विसर्ग ही क्रिया शक्ति पर्यन्त उच्छलित हो रहा है। इदन्ता का प्रतीक रूप यह सारा उल्लास उसके ही अन्तः समुद्र का तारङ्गिक विस्फार है। उसके अतिरिक्त नहीं ॥ १४५ ॥

इसी विसर्जन क्रिया के कारण इसे कई तरह से संज्ञापित करते हैं —

इसलिये विसर्ग अव्यक्त 'ह' कलात्मक माना जाता है। श्रीमत्कुल-गुह्वर शास्त्र में इसे कामतत्त्व भी कहते हैं। 'ह'कला हकार के आधे का भी आधा भाग होती है। उस समय यह अव्यक्त रहती है। उसमें स्वरवर्ण विभाग की पार्थक्य प्रथा का लेश मात्र भी नहीं होता है। केवल परनाद गर्भ अवस्था होती है। काम इच्छा शक्ति है। इच्छा जैसे सर्वत्र अप्रतिहत होती है। उसी तरह कामतत्त्व रूपी हकलात्मक विसर्ग भी सर्वत्र अप्रतिहत रूप से उल्लसित है ॥ १४६ ॥

तत्र चित्तं समाधाय वशयेद्युगपज्जगत् ।

तत्र च

'इदानीं कामतत्त्वं तु विषतत्त्वं परं तथा ।
कथ्यते तव सुश्रोणि भक्तिस्नेहाद्विशेषतः ॥'

इत्युपक्रम्य

'यत्तदक्षरम् .... ।'

इत्यादि चाभिधाय

'तत्र चित्तं नियुञ्जीत साधकेन महात्मना ।
देवकिन्नरगन्धर्व-सिद्धविद्याधराङ्गनाः ॥
यक्षकन्यास्तथा नाग्यः पिशाच्यः सुरयोषितः ।
वशमायान्ति सुभगे नरनारीषु का कथा ॥

इत्युक्तम् । यदिह 'तत्र चित्तं समाधाय वशयेद्युगपज्जगत् इत्यर्थद्वारेण पठितम्, यत्तत्—सर्वदैव स्फुरद्रूपत्वात्स्वानुभूत्येकसिद्धम्, अक्षरं—नित्योदितत्वादप्रच्युतप्राच्यस्वरूपम्, अत एव अनिच्छम्

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

इत्याद्युक्त्या स्वयमुच्चरद्रूपत्वात् अन्यसंबन्धिनीमुच्चिचारयिषां नापेक्षत इत्यर्थः, तदपेक्षित्वे हि तस्याः कादाचित्कत्वात् अस्य नित्योदितत्वं न स्यादिति भावः, अत एव 'सहजमिति, स्वयंभू' इति च अन्यत्रैतदुक्तम्, अत एवाव्यक्तम्, व्यक्तत्वं हि स्थानकरणाभिघातादिना भवेत्, तच्च इच्छाधीनम्, इति कथमस्यैतत्स्यात्, अत एव ध्वनिरूपम्

'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम् । इति ।
सुसूक्ष्मो व्यापकः शुद्धः प्राणतत्त्वस्य वाचकः ॥'

कुल गुह्वर का उद्धरण दे रहे हैं—

जो नित्योदित होने के कारण अपने 'स्व'रूप से कभी च्युत नहीं होता, वही अक्षर तत्त्व है । स्थान आदि आंगिक निमित्तों से जो व्यक्त नहीं होता, रतिक्रिया में आनन्द के आमोद से विह्वल सामरस्य समावेश की भावातीत दशा में कान्ता के कण्ठ से अः, अः आप रूप से अनुध्वनित होता है, अत एव उसे—

इत्याद्युक्त्या सततोदितनादमात्रस्वभावमित्यर्थः, अत एव-सुसूक्ष्मत्वव्यापकत्वादेः, तच्च तत्र स्थूलध्येयादिनिष्ठं यत् ध्यानादि तेन वर्जितं—नैयत्यनिबन्धन-ध्येयादिरूपत्वेन अक्षोभ्यमित्यर्थः, एवंरूपत्वेऽपि उपभोगावसरे रतिसौख्यसमावेश-वैवश्येन विगलितवेद्यान्तःकरणत्वात् निरस्तवैकल्यायाः कान्तायाः कण्ठान्तः स्वरसत एव उद्यत्अभिव्यज्यमानम्, अत एव सततोदितत्वेऽपि तत्कालमस्य विशेषेणावस्थानम्। एवं च विसर्गस्य अनाहतरूपत्वात सौक्ष्म्येऽपि कान्ता-कण्ठान्तः किंचिदुच्छूनतापत्त्या 'हा-हा' इति स्फुटमवस्थानम्, येनास्य एतदुपलभ्यमानं निदर्शनीकृतं, तेन न योगिमात्रगम्यमेवैतत् अपि तु सर्वैरपि उपलभ्यत इति भावः। अतश्च अनेनैव हकारस्यापि प्रसङ्गात्स्वरूपं निर्दिष्टं, किं तु तस्य स्थौल्यात्-स्फुटत्वेनावस्थानम्, अस्य तु सौक्ष्म्यात् न तथा, इति इयानेव विशेषः, अत एव समनन्तरमेव

'विसर्ग एव सुस्पष्टमाश्यानत्वमुपागतः।'

इत्याद्युक्तम्। यदभिप्रायेणैव अनयोः परापरत्वमपरत्वं चोक्तम्, अत एव अग्रे हकारस्य स्वरूपं न उक्तं चान्यत्र

यत्तदक्षरमक्षोभ्यं प्रियाकण्ठोदितं परम्।
सहजं नाद इत्युक्तं तत्त्वं नित्योदितो जपः॥' इति।

"नाद नामक पर बीज (कहते हैं) जो समस्त प्राणियों में अवस्थित है।" तथा "जो अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक और शुद्ध है तथा प्राण शक्ति का वाचक है।" तथा "इस का उच्चार करने वाला और प्रति हन्ता भी कोई नहीं होता। यह शाश्वत द्योतनशील प्राणियों के हृदय में रहते हुए स्वयम् उच्चरित होता है॥"

इस उक्ति के अनुसार इसे अनिच्छ भी कहते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इसे ध्यान और धारणा से अतीत तत्त्व कहते हैं। 'ह'कार में तो कुछ स्थौल्य भी है किन्तु इसमें आत्यन्तिक सूक्ष्मता है। इसीलिये यह ध्येय नहीं रह जाता। उस पर-नाद-गर्भ उच्छलन में चित्त को स्थिर करने वाला योगी विश्व को वशीभूत कर सकता है। यही तथ्य इन्होंने--

"इदानीं' से लेकर 'नरनारीषु का कथा' तक ? के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उसका अर्थ नितान्त स्पष्ट है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिये श्लोक १४२ में विसर्ग की आश्यान अवस्था का भी उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। इसी अभिप्राय से इन दोनों में परापरत्व और अपरत्व का आकलन करते हैं। 'ह'कार के 'स्व'रूप के सम्बन्ध में कहा गया है—

तथा

'नित्यानन्दरसास्वादाद्धाहेति गलकोदरे।
स्वयंभूः सुखदोच्चारः कामतत्त्वस्य वेदकः ॥' इति।

तत्र अनाहतात्मनि एवंविधे विसर्गे साधकश्चित्तं सम्यक्

'अतिसौख्यसमावेश - विवशीकृतचेतसः ।
अविच्छिन्नं जपन्त्येनमङ्गनासंगमोत्सवे ॥
अत्रासक्तधियो यान्ति योगं योगीश्वराः परम्।
स शिरोरहितः कामः कामिनीहृदयालयः ॥
नेत्रारूढेन तेनाथ शक्तिवृष्टिं समाहरेत्।
क्षोभयेन्नात्र संदेहो दृप्तामपि वरस्त्रियम् ॥'

इत्याद्युक्तनीत्या कामशब्दाभिधेयम् अनच्ककलात्मकं विसर्गं स्वनेत्राभ्यां निर्गतं साध्यनेत्रयोरनुप्रविष्टं ध्यायेत्, साध्यनेत्राभ्यां च निर्गतं स्वनेत्रयोरनुप्रविष्टं ध्यायेत्, इत्येवं क्रमेण आ—समन्तात् दोलायन्त्रक्रमेण गमागमयोः पौनःपुन्येन

"यह वह अक्षर है, जिसमें कभी क्षोभ नहीं होता। प्रियतमा के कण्ठ से आनन्दामोदकी आनन्द स्थिति में इसका स्फुरण सहृदय हृदय संवेद्य भो होता है। यह सहज नाद तत्त्व है। यह नित्योदित है और इसका अनवरत अजपा जप होता रहता है।" और भी कहा गया है—

"नित्य आनन्द अमृत रस के आस्वाद की उपभोगावस्था में गले के अन्तराल में स्वयं प्रादुर्भूत होने वाला सुखद नादोदय है। यह काम तत्त्व का वेदक है।"

इस अनाहत अवस्था की विसर्गात्मक भूमि में साधक अच्छी तरह अपने चित्त का समायोजन करता है--

"और आत्यन्तिक आनन्द-समावेश के प्रभाव से साधक एक प्रकार से विवश सा हो जाता है। उसका मन उसी में रम जाता है। रति क्रिया के महोत्सव प्रसङ्ग में उसका जप स्वयं होने लगता है। इसमें आसक्त योगो योग के ऐश्वर्य भाव का अनुभव करते हैं। वह तर्कातीत काम तत्त्व है। कामिनो का हृदय उसका आश्रय स्थल है। रसिक योगी उसकी आँखों में आँख डालकर प्रिया के शाक्त भाव का आहरण करता है और प्रौढा प्रिया को भी वश में कर लेता है।"

धृत्वा—अनन्यापेक्षेण अवहितं कृत्वा, जगत्—जायमानं जन्तुचक्रं, युगपत् न तु क्रमेण, वशयेत्—स्वात्ममयतयैव सर्वमाभासयेत्, स्वात्मायत्तं वा कुर्यादित्यर्थः ॥१४७॥

इदानीं यथोक्तविसर्गस्वरूपमेव दृष्टान्तीकृत्य कादीनामुदयं वक्तुमुपक्रमते

अत एव विसर्गस्य हंसे यद्वत्स्फुटा स्थितिः ॥१४८॥
तद्वत्सानुत्तरादीनां कादिसान्ततया स्थितिः ।

अतः—समनन्तरोक्ताद्धेतोः, विसर्गस्यैव यथा हकारात्मतया स्थूलेन रूपेणावस्थानं, तथैव अनुत्तरादीनामपि कादिसान्तत्वेन अनुत्तरादय एव तथा अवभासन्ते इत्यर्थः ॥१४८॥

तदेवाह

अनुत्तरात्कवर्गस्य सूतिः पञ्चात्मनः स्फुटम् ॥१४९॥
पञ्चशक्त्यात्मतावेश एकैकत्र यथा स्फुटः ।

इन उक्तियों से यह सिद्ध है कि यही कामाक्षर तत्त्व है। यही स्वर-कला रहित विसर्ग दशा है। अपनी पुतलियों से साध्य की पुतलियों में अनुप्रवेश प्रक्रिया का ध्यान करना चाहिए। इस ध्यान को यह विशेषता होनी चाहिये कि जैसे झूला आगे और पीछे चलता है,—उसी तरह साध्य में साधक और साधक में साध्य का अनुप्रवेश-अनुभव करे अर्थात् गमागम रूप वारम्वार समागम संचारण कर इदमात्मक जगत् रूपी जन्तुचक्र को स्वात्ममय अनुभव करे। इस प्रक्रिया में सार्वात्म्य संवलित तादात्म्य का अनुभव हो जाता है। इस प्रक्रिया से विश्व वशीभूत हो जाता है ॥ १४७ ॥

विसर्ग भाव को सोदाहरण व्याख्या के उपरान्त अब कादि व्यजनों की वर्णोदय-प्रक्रिया के वर्णन करने का उपक्रम कर रहे हैं—

इसलिये जैसे विसर्ग को, 'हंस' में 'ह्'कार रूप स्थूल सतात्मक अक्षर की स्फुटता व्यक्त है, उसी प्रकार अनुत्तरादि स्वर वर्णों क 'क्' से 'स्' तक की अवस्थिति भी विसर्ग में विद्यमान है ॥ १४८ ॥

पञ्चात्मत्वे हेतुः—पञ्चशक्त्यात्मतावेश इति, एकैकत्रेति—अनुत्तरेच्छादौ, अनुत्तरस्य हि चिच्छक्तिप्राधान्येऽपि 'सर्वत्र सर्वमस्ति' इति न्यायेन पञ्चशक्तिमयत्वम्, इति तत्सूतेः कवर्गस्यापि पञ्चात्मत्वम्, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥१४९॥

इच्छाशक्तेः स्वस्वरूपसंस्थाया एकरूपतः ॥१५०॥
चवर्गः पञ्चशक्त्यात्मा क्रमप्रस्फुटतात्मकः ।
या तूक्ता ज्ञेयकालुष्य-भाक्क्षिप्रस्थिरयोगतः ॥१५१॥
द्विरूपायास्ततो जातं ट-ताद्यं वर्गयुग्मकम् ।
उन्मेषात्पादिवर्गस्तु यतो विश्वं समाप्यते ॥१५२॥

स्वस्वरूपसंस्थाया इति—इष्यमाणानारूषितायाः, एकरूपत इति—अक्षुब्धाया एव इच्छाशक्तेः, न पुनः क्षुब्धाया अपीत्यर्थः, चिदादीनामपि शक्तीनां यथायथं बाह्योन्मुखतया स्फुटत्वमस्ति, इत्यौचित्यात्तत्स्फाररूपाणां कवर्गादीनामपि तथात्वमित्युक्तं 'क्रमप्रस्फुटतात्मक' इति, येति—इच्छाशक्तिः, ज्ञेयम् अर्थादिष्यमाणं, द्विरूपाया—ऋकारॠकाररूपायाः, एवमने-

---

वही कह रहे हैं—

यह सारी सृष्टि ही पाँच शक्तियों के आवेश से आवेशित है। अनुत्तर तत्त्व में जैसे चित् शक्ति का प्राधान्य है, किन्तु 'सर्वत्र सर्वम् अस्ति' के नियमानुसार उस में चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का भी समावेश है, उसी तरह अनुत्तर से कवर्ग की भी पंचात्मक सृष्टि होती है। यही नियम वर्णोदय में सर्वत्र है ॥१४९॥

अपने स्वात्म रूप में संस्थित इष्यमाण से अप्रभावित अक्षुब्ध एक रूपा इच्छा शक्ति की प्रतीक 'इ'कार से 'च' वर्ग का ५ अक्षरों का शक्ति-सम्पन्न रूप उदित होता है। इसमें क्रम भी स्पष्टतया व्यक्त है। यह क्रमात्मकता बाह्य औन्मुख्य ही है। बाहर की ओर उन्मुखता कवर्ग से पवर्गतक स्फुट है। इकार ही जब ज्ञेय अर्थात् इष्यमाण से आरूषित हो जाता है तो ऋ और ऌ बन जाता है। क्षिप्रत्व और स्थिरत्व के प्रभाव का योग हो जाने पर इच्छा दो रूपों वाली हो जाती है। क्षिप्र योगिनी इच्छा रूप ऋ कार से ट वर्ग और स्थिर-योगिनी ऌ से तवर्ग का उदय हो जाता है। उन्मेष के प्रतीक 'उ'कार से प

नानुत्तरादिभ्य एव पञ्चभ्यः कवर्गादीनां पञ्चानां वर्गानामुदय इत्यभिहितम्, अत एवैषां 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, इत्यादिना सस्थानत्वमुक्तम्, उक्तं चान्यत्र

'अकुलात्पञ्चशक्त्यात्मा द्वितीयो वर्ग उत्थितः ।
अनारूषितरूपाया इच्छायाश्च ततः परः ॥
वह्निक्ष्माजुषस्तस्याष्ट-ताद्यं च द्वयं ततः ।
पादिरुन्मेषतो जात इति स्पर्शाः प्रकीर्तिताः ॥' इति ॥१५०-१५२॥

ननु

'पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात्कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥

इत्याद्युक्त्या कादयो मावसानाः पञ्चविंशतिर्वर्णाः पृथ्वीतत्त्वादारभ्य पुरुष-तत्त्वान्तं यावत्स्थिताः, तत् तत्त्वान्तराणामपि संभवाद्विश्वमवशिष्यत इति कथमेतावतैवोक्तं 'यतो विश्वं समाप्यत' इति ? इत्याशङ्क्याह—

ज्ञेयरूपमिदं पञ्चविंशत्यन्तं यतः स्फुटम् ।
ज्ञेयत्वास्फुटतः प्रोक्तमेतावत्स्पर्शरूपकम् ॥१५३॥

यत इदं—विश्वं पृथ्वीतत्त्वादि, पञ्चविंशत्यन्तं **'पुरुषः पञ्चविंशकः'**

वर्ग की उत्पत्ति होती है। भगवान् पाणिनि ने इसी आधार पर अकुह विसर्ग का कण्ठ स्थल के क्रम से इ चु य श, ऋ टु र ष, ऋ तु ल स और उ पु उपध्मानीय वर्णों का स्थान निर्दिष्ट किया है। अन्यत्र भी—

"अकुल रूप से पंचशक्त्यात्मक द्वितीय वर्ग, वह्नि (क्षिप्र) योग से ट वर्ग, पृथ्वी (स्थिर) योग से तवर्ग, उन्मेष से पवर्ग इस प्रकार स्पर्श वर्ण उदित हैं।" यह कहा गया है ॥१५०-१५२॥

उक्ति है कि पृथ्वी से पुरुषतत्त्व तक पाँच-पाँच तत्त्वों के क्रमानुसार कादि वर्गों में भी ५-५ वर्ण होते हैं।" इसके अनुसार 'क' वर्ग से 'म' तक २५ वर्ण २५ तत्त्वों के बाधक रूप से स्थित हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि दूसरे तत्त्वों की उत्पत्ति भी सम्भव है तथा उनसे सृष्टि होना अवशिष्ट है। यहाँ विश्व समाप्त होता है, यह क्यों लिखा गया ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

इत्याद्युक्त्या पुरुषतत्त्वान्तं विश्वं स्फुटत्वाज्ज्ञेयरूपम्, अत उक्तं 'यतो विश्वं समाप्यते' इति । नियत्यादि हि

'मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् ।'

इत्याद्युक्त्या ज्ञातुरत्यन्तं कण्ठसंलग्नत्वेन अभिन्नमेव, इति न व्यतिरिक्त-स्थूलज्ञेयात्मविश्वरूपतयोक्तमिति भावः, अत एव चैतावत्तत्त्वपञ्चविंशकान्तं विश्वं स्फुटाज्ज्ञेयत्वादेव हेतोः, इन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति 'स्पर्शाः' तद्रूपं, प्रकर्षेण 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः, इति वाचकाभिप्रायेण

'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥'[1]

इति च वाच्याभिप्रायेण उक्तम्, अत्र च पुंसः प्रमातृत्वेऽपि करणानां च करणत्वादेव प्रमाणत्वेऽपि यज्ज्ञेयत्वमुक्तं तच्छून्यादिप्रमात्रन्तराभिप्रायेण, इति न कश्चिद्दोषः ॥१५३॥

विश्व पृथ्वी तत्त्व से पुरुष तक २५ तत्त्वात्मक है। कहा गया है—"पुरुष पंचविंश तत्त्व है।" यहाँ तक का सम्पूर्ण विश्व ज्ञेय है। स्फुट है। यहाँ तक स्फुटता समाप्त हो जाती है। इसी लिये वहाँ विश्व समाप्ति का उल्लेख है। शेष 'नियति' आदि तत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

"माया सहित कञ्चुकों का यह छः तत्त्व-समुदाय अणु का अन्तरङ्ग है।" एक प्रकार से ये ज्ञाता से अभिन्न ही हैं। पृथक् ज्ञेय विश्व के रूप में इनका उल्लेख नहीं हो सकता। इसी लिये उक्त २५ तत्त्वात्मक वर्ण इन्द्रियों से सन्निकर्ष के कारण स्पर्श कहलाते हैं। कादि मावसान स्पर्श वर्णों की स्थिति उभयात्मक है। १—वाच्य रूप और २—वाचक रूप। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि—

"हे कौन्तेय अर्जुन ! प्रमाता द्वारा स्पर्श रूप से भी सन्निकृष्ट सुख आदि अनेक द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं। ये आगमापायी हैं। हे अर्जुन ! इन्हें तितिक्षा से जीत।" इस श्लोक में वाच्य स्पर्श अभिप्रेत है। प्रमाता पुरुष है। इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। यह ज्ञेय भाव शून्य प्रमाताओं की दृष्टि से कहा गया है। इस लिये स्पर्श की दृष्टि से विश्व समाप्ति की उक्ति में कोई दोष नहीं ॥१५३॥

१—श्री मद्भगवद्गीता अ० २।१४

एवं स्पर्शानामुदयमभिधाय अन्तःस्थानामप्यभिधत्ते

इच्छाशक्तिश्च या द्वेधा क्षुभिताक्षुभितत्वतः ।
सा विजातीयशक्त्यंशप्रोन्मुखी याति यात्मताम् ॥१५४॥
सैव शीघ्रतरोपात्तज्ञेयकालुष्यरूषिता ।
विजातीयोन्मुखत्वेन रत्वं लत्वं च गच्छति ॥१५५॥

यद्वदुन्मेषशक्तिर्द्विरूपा वैजात्यशक्तिगा ।
वकारत्वं प्रपद्येत सृष्टिसारप्रवर्षकम् ॥१५६॥

क्षुभिताक्षुभितरूपत्वेन द्विविधा येयमिच्छाशक्तिः सा, विजातीयश्चिद्रूपो योऽयं शक्त्यंशोऽनुत्तरस्तत्र प्रोन्मुखी –तेन समं 'इको यणचि' इति प्राप्तसंधिः सती यात्मतां याति—यकारात्मना प्रस्फुरतीत्यर्थः, सैव द्विरूपापीच्छाशक्तिः 'अचिरद्युतिभासिन्या' इत्याद्युक्तगत्या शीघ्रं स्थिरं च कृत्वा, उपात्तं यत् ज्ञेयम्—अर्थादिष्यमाणं, तत्कालुष्येणारूषिता सती अनुत्तरात्मनि विजातीये यदुन्मुखत्वं—तेन समं 'इको यणचि' इति संधिः, तेन रत्वं लत्वं च गच्छति—तदात्मना भासत इत्यर्थः, एवमुन्मेषशक्तिरपि द्विप्रकारा 'वैजात्यशक्तिगा'—अनुत्तरेण सह प्राग्वदेव कृतसन्धिर्वकारत्वमवभासयेत्, तदुक्तम्

'विभिन्नशक्तिसंयोगादिच्छा य-र-लतां गता ।
उन्मेषशक्तिरायाति वत्वमेव वरानने ॥' इति ।

स्पर्श वर्णों के बाद अन्तःस्थ वर्णों का कथन कर रहे हैं—

इच्छा क्षुभित और अक्षुभित दो प्रकार की कही गयी है। वही चिद्रूप विजातीय अनुत्तर शक्त्यंश की ओर उन्मुख हो कर पाणिनि के 'इको यणचि' ६।१।७७ सूत्रानुसार सन्धि प्राप्त कर यकार रूप ग्रहण कर लेती है। वही शीघ्र और स्थिर भाव से ऋ लृ रूपों में ज्ञेय भाव से आरूषित होने पर जब चिद्रूप अनुत्तर शक्त्यंश की ओर अभिमुख होती है, तो र' और 'ल' बन जाती है। इसी प्रकार जब उन्मेष शक्ति भी क्षोभ और अक्षोभ की दोनों अवस्थाओं में विजातीय अनुत्तर चिद्रूप शक्त्यंश की ओर अभिमुख होती है तो उक्त सूत्रानुसार ही 'व' कार रूप ग्रहण कर लेती है। कहा गया है—

'सृष्टिसारप्रवर्षकम्' इत्यनेन अस्य वरूणबीजत्वादाप्यायकारित्वं दर्शितम्, एवं य-र-लानामपिशोषकारित्वं दाहकत्वं स्तम्भकत्वं च क्रमेणावगन्तव्यम् ॥१५६॥

ननु इष्यमाणारुषणायामपि वक्ष्यमाणनीत्या इच्छाशक्तिरेव परामर्शान्तरजननसमर्था, इत्यनुत्तरसंघट्टभाजः तस्याः परामर्शान्तरलक्षणं कार्यमुत्पद्यतां नाम, तस्य पुनर्यकारादिरूपत्वेन भेदः कथं स्यात् कारणभेदाद्धि कार्यभेदः' कारणं चात्रेच्छानुत्तरसंघट्टात्मकमेकमेव इति किमेतत् ? इत्याशंक्याह

इच्छैवानुत्तरानन्दयाता शीघ्रत्वयोगतः ।
वायुरित्युच्यते वह्निर्भासनात्स्थैर्यतो धरा ॥१५७॥

इह इच्छैव, न पुनरिष्यमाणमपि, अनुत्तरानन्दाभ्यां, अर्थाद्विकल्पेन,याता-मिलिता सती, शीघ्रत्वयोगतः संस्कारलक्षणं वेगमुपाधित्वेन स्वीकृत्य, वायुरित्युच्यते—वायुबीजयकाररूपां प्राप्तेत्यर्थः एवं भासनाद्भास्वत्तालक्षणं धर्मं, तथा स्थैर्यतो धृतिहेतु स्थिरत्वाख्यं धर्मम् उपरञ्जकत्वेन अवलम्ब्य, क्रमेण वह्निः—वह्निबीजरेफात्मतां, धरा—धराबीजलकाररूपतां चाभास-

---

"विभिन्न शक्तियों के संयोग से इच्छा ही य, र और ल भाव को प्राप्त हो जाती है और हे सुमुखि ! उन्मेष शक्ति ही 'व'कार का रूप ग्रहण करती है।" 'व' वरुण बीज है। वरुण आपतत्त्व का आप्यायनकारी देव है। इस लिये यह सृष्टि के सार-तत्त्व का प्रवर्षक माना जाता है। इस दृष्टि से 'य' कार शोषक, र'कार दाहक और 'ल' कार स्तम्भक तत्त्व माने जाते हैं ॥१५४-१५६॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि इष्यमाण से आरूषित होने पर भी इच्छा शक्ति ही परामर्शान्तर को उत्पन्न कर सकती है। अनुत्तर चिद्रूप सम्पर्क से परामर्शान्तर के सर्जक कार्य हों, क्योंकि कारण भेद से कार्य भेद होते हैं। यह नियम है। पर यह 'य' कार आदि भेद कैसे ? जबकि कारण एक ही है—इच्छा और अनुत्तर का संयोग ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

इच्छा ही अनुत्तर और आनन्द से मिल कर शीघ्रता के साथ संयोग करती है। उसमें वेग की उपाधि रहती है। यह वेग ही वायु है। 'य'कार वायु का ही बीज है। भासन की भास्वरता ही वह्नि बीज रूप 'र बन जाता है और इच्छा का स्थैर्य ही धरा बीज का रूप ग्रहण कर लेता है।

यतीत्यर्थः, आनन्देति चोन्मेषादिविजातीयशक्त्यन्तराभिव्यञ्जनपरतयोक्तम् तेनानुत्तरादिसंघट्टभाज इच्छाया एवमुपाधियोगेन भेदात्कार्यस्यापि भेद इति यथोक्तमेव युक्तम् ॥१५७॥

अत्र चान्तःस्थशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तं दर्शयति

इदं चतुष्कमन्तःस्थमत एव निगद्यते।

इच्छाद्यन्तर्गतत्वेन स्वसमाप्तौ च संस्थितेः ॥१५८॥

अत एव—प्रागुक्ताद्धेतोः, 'इच्छादि' इति आदि शब्देन उन्मेषस्य ग्रहणादिच्छोन्मेषयोरन्तर्—अभेदेनावस्थानात्, तथा स्वस्य--प्रमात्रेकरूपस्य आत्मनः, सम्यगाप्तिः--ऐकात्म्येनावभासः, तत्र संस्थितेः—प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानत्वादिदं यादि-वान्तं चतुष्कमन्तःस्थं निगद्यते--सर्वशास्त्रेषु एवमुच्यते इत्यर्थः, यदुक्तम्

'इच्छाद्यन्तः प्रवेशेन तेऽन्तस्था इति कीर्तिताः' इति ॥१५८॥

नन्विच्छाद्याः शक्तयो विजातीयशक्तिसंभिन्ना यथा परामर्शान्तराणि आविर्भावयन्ति, तथैव सजातीयशक्तिसंबन्धेऽपि किं, न वा? इत्याशंक्याह

इस प्रकार अनुत्तर-संघट्ट ही उपाधिवशात् अवान्तर रूपों में व्यक्त होता है। यह कार्य कारण जन्य भेद भी स्वाभाविक ही है। इसमें प्रश्न की क्या आश्यकता? ॥१५७॥

अन्तःस्थ शब्दकी प्रवृत्ति का निमित्त प्रदर्शित कर रहे हैं—

इच्छा और उन्मेष इन दोनों के अन्तस्तादावम्य के कारण स्वात्म की सम्यग् रूप से आप्ति स्वाभाविक है। इसे एकात्मक अबभास की शाश्वत स्थिति कह सकते हैं। 'य' 'र', ल' और 'व' इन चार वर्णों की इसी अन्तरिक स्थिति और प्रमाता के ऐकत्म्य को देख कर इन्हें अन्तःस्थ कहते हैं। कहा गया है—

"इच्छा आदि के अन्तः प्रवेश के कारण इन्हें अन्तःस्थ कहते हैं।" इस तरह अन्तःस्थ संज्ञा अन्वर्थ को ही व्यक्त करती है ॥१५८॥

इच्छा अदि शक्तियाँ विजातीय शक्ति से मिल कर जैसे अन्य परामर्शों को उत्पन्न करतीं हैं, उसी तरह सजातीय संपर्क में क्या परामर्शान्तर नहीं उत्पन्न करती हैं? यही कह रहे हैं—

सजातीयकशक्तीनामिच्छाद्यानां च योजनम् ।
क्षोभात्मकमिदं प्राहुः क्षोभाक्षोभात्मनामपि ।।१५९।।

क्षोभात्मनां--दीर्घाणाम्, अक्षोभात्मनां--ह्रस्वानाम् इच्छादीनां शक्तीनामेवंरूपाणां सजातीयानामपि शक्तीनां यदा योजनं—'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सन्ध्यात्मा योगो भवेत्, तदा 'क्षोभात्मकम्' इति प्राहुः—सजातीय-दीर्घरूपपरामर्शस्वभावत्वं, न पुर्नविजातीयपरामर्शान्तररूपत्वं शास्त्रकोविदाः कथयन्तीत्यर्थः, तेन इ इ=ई, ई इ=ई, ई ई = ई इत्येवंप्राये योगे क्षोभात्म—दीर्घरूपमीकारत्वमेव भवेदिति तात्पर्यम् ॥१५९॥

अनुत्तरे पुनरेवंरूपत्वेऽपि विशेषोऽस्तीत्याह

अनुत्तरस्य साजात्ये भवेत्तु द्वितयी गतिः ।
अनुत्तरं यत्तत्रैकं तच्चेदानन्दसूतये ।।१६०।।
प्रभविष्यति तद्योगे योगः क्षोभात्मकः स्फुटः ।
अत्राप्यनुत्तरं धाम द्वितीयमपि सूतये ।।१६१।।
न पर्याप्तं तदा क्षोभं विनैवानुत्तरात्मता ।

अनुत्तरस्य पुनः सजातीययोगे द्विप्रकारा गतिर्भवेत्, यत्—यस्मात्तत्र तदेकमनुत्तरं चेत्, आनन्दसूतये प्रभविष्णुतामेष्यति, तदा तेनापरेणानुत्तरेणैव

क्षोभात्मक दीर्घ स्वर हों या अक्षोभात्मक ह्रस्व स्वर हों, इनसे सजातीय इच्छा आदि शक्तियाँ भी परस्पर संघट्ट प्राप्त करती हैं, उनका योजन होता है। परिणाम क्षोभात्मक ही होता है। इसमें बिजातीय परामर्शान्तर नहीं अपितु सजातीय क्षोभरूपता अर्थात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' के अनुसार दीर्घ ही होता है। जैसे-इ + इ = ई, ई + इ = ई, ई + ई = ई और इ + ई = ई चारों दशाओं में दीर्घ ईकार ही होता है ॥१५९॥

अनुत्तर के सजातीय समायोजन में विशेषता का उल्लेख कर रहे हैं—

अनुत्तर के सजातीय संयोग की दो स्थितियाँ होती हैं। १-पहला अनुत्तर आनन्दोत्पत्ति में समर्थ है। उसका दूसरे अनुत्तर से संघट्ट होने पर क्षोभात्मक दीर्घ (अ + अ = आ) की निर्बाध सन्धि होती है। जैसे दण्ड + अग्रम् = दण्डाग्रम् प्रयोग निष्पन्न होता है।

योगे—संबन्धे, क्षोभात्मक आनन्दरूप एव स्फुट योगः—प्राग्वदेव निर्बाधः सन्धिः, यथा 'दण्डाग्रम्' इत्यादावेकः प्रकारः, अथापि—अर्थादेकस्यानुत्तरस्य' द्वितीयमप्यनुत्तरं संघट्टमानम् आनन्दजन्मने न पर्याप्तं स्यात्, तदा क्षोभात्मकानन्दप्रादुर्भाव मन्तरेण अतो गुणे' इति पररूपे कृते सति, अनुत्तरात्मतैव भवेत्, यथा 'सीमन्तम्' इत्यादाविति द्वितीयः ॥१६१॥

एवमेतत् प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेव ऊष्मणामुदयभिधत्ते

इच्छा या कर्मणा हीना या चैष्टव्येन रूषिता ॥१६२॥

शीघ्रस्थैर्यप्रभिन्नेन त्रिधा भावमुपागता ।

अनुन्मिषितमुन्मीलत्प्रोन्मीलितमिति स्थितम् ॥१६३॥

इष्यमाणं त्रिधैतस्यां ताद्रूप्यस्यापरिच्युतेः ।

तदेव स्वोष्मणा स्वात्मस्वातन्त्र्यप्रेरणात्मना ॥१६४॥

बहिर्भाव्य स्फुटं क्षिप्तं श-ष-सत्रितयं स्थितम् ।

२–पहले अनुत्तर के साथ दूसरा अनुत्तर यदि आनन्द के प्रादुर्भाव में समर्थ न हुआ तो वहाँ क्षोभ ही उत्पन्न नहीं होगा। वहाँ अकः सवर्णे दीर्घः[1] अपना कार्य नहीं करेगा। वरन् अतो गुणे[2] से पर—रूप हो जाता है। जैसे सीमान्तम्। इमौ। इदम्+औ, इद+औ, इद+औ, इम+औ=इमौ॥ दूसरी अवस्था के क्षोभ राहित्य में अनुत्तरात्मता ही रह जाती है॥१६०-१६१॥

शुद्ध इच्छा पहले अकर्मक होती है। वह जब एष्टव्य से प्रभावित होती है, तो उसमें शीघ्रता और स्थिरता के दो अन्य भाव भी उल्लसित होते हैं। परिणामतः वह तीन प्रकार को हो जाती है। १–अनुन्मिषित, २–उन्मीलत् और ३–प्रोन्मीलित। अनुन्मिषित अर्थात् 'इ'कार की शुद्ध अवस्था, जिसमें उन्मेष का उल्लास नहीं होता। कहा गया है–"स्रष्टव्य से अलग इच्छा मात्र रूप वह होती है।" जिस समय उसमें शीघ्रता का उन्मीलन होता है, वह 'इ' से 'ऋ' बन जाती है। यह उसके उल्लास के अंकुरण की अवस्था होती है। यह शीघ्रता से एष्टव्य है। जब स्थिरता की चाह उल्लसित होती है, तो वही ऌ'कार का रूप ग्रहण कर लेती है।

१—अष्टाध्यायी–६।१।१०१ २—वही ६।१।९७

एवमत्रेष्टव्यस्यापि विभज्यावस्थानं दर्शयति—अनुन्मिषितमित्यादिना, एतस्यां त्रिधाभावमुपागतायामिष्यमाणमपि त्रिधैवावस्थितं, यतः

'तत्सा केवलमिच्छामात्ररूपा स्रष्टव्यस्य विप्रकृष्टा'

इत्यादिनीत्या शुद्धायामिकाररूपायाम् 'अनुन्मिषितम्' अनुल्लसितं शीघ्ररूपेण एष्टव्येनारूषितायामृकाररूपायाम् 'उन्मीलत्' उल्लसद्रूपं, स्थैर्यात्मना चेष्टव्येनारूषितायां लृकाररूपायां 'प्रोन्मीलितम्' उल्लसितमिति। ननु इष्यमाणस्य शीघ्रत्वादिभेदेन वैशिष्ट्यात्मस्वरूपप्रच्यावः प्राप्तः, इति त्रयोऽत्र विषया इति वाच्यं, न पुनरेक एव त्रिधा ? इत्याशङ्क्योक्तं 'ताद्रूप्यस्यापरिच्युतेरिति' नहि शीघ्रत्वादिभेदेऽपीष्यमाणतालक्षणाद्रूपादस्य प्रच्याव इति भावः, तदेवं त्रिविधमपीष्यमाणं स्वातन्त्र्यलक्षणेन स्वोष्मणा बहीरूपतया समुल्लासितं सत् उष्मसंज्ञश-ष-सत्रितयात्मना प्रस्फुरेत्, अत आह 'तदेवेत्यादि' एवमेषणीयस्य तदतिरेकासंभवात्त्रिप्रकारापीच्छैव स्वोष्मवशात् एवं परामर्शत्रयात्मना प्रस्फुरिता इति तात्पर्यार्थः, यदुक्तं

'इच्छैव स्वोष्मणाक्रान्ता कलात्रयसमाश्रिता।'

इति, अत एवैषामिच्छायाश्च 'इचुयशानां तालु' ऋटुरषाणां मूर्धा' 'लृतुलसानां दन्ताः' इत्यादिना सस्थानत्वमुक्तम्, इयदन्तमेव विस्फार इत्यप्यनेन प्रकाशितम् ॥१६४॥

यह ध्यान देने की बात है कि इस त्रिधात्व में भी उसका स्वरूप प्रच्याव नहीं होता। इष्यमाण की स्थिति में स्वात्म ऊष्मा भी उल्लसित होती है। इस स्वातन्त्र्य का ही महा प्रभाव है कि बाह्य उल्लास का उन्मीलन यहां हो जाता है। कहा गया है–

"इच्छा ही स्वात्म ऊष्मा से आरूषित होकर तीन कलाओं में व्यक्त हो जाती है।" इसीलिये 'इ चु य शानां तालु', 'ऋ टु र षाणां मूर्धा' और 'लृ तु ल सानां दन्ताः' की उक्तियों में इनका सह स्थान उल्लिखित है। यहाँ तक विश्व का विस्फार समाप्त हो जाता है। प्रोन्मीलित इष्यमाण की ऊष्मा 'स' रूप में स्फुट होती है। स् वर्णमाला का अन्तिम वर्ण है। क् से स् तक के वर्ण चक्र 'क्ष' रूप में व्यक्त होते हैं। अत एव 'क्ष' को चक्रेश्वर भी कहते हैं। ॥१६२-१६४॥

अत आह

तत एव सकारेऽस्मिन्स्फुटं विश्वं प्रकाशते ॥१६५॥

अमृतं च परं धाम योगिनस्तत्प्रचक्षते ।

तत् इति-प्रोन्मीलितस्यापीष्यमाणस्य बहीरूपतया समुल्लासितत्वात्, अनेनैव चाभिप्रायेण

'सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं'

इत्याद्युक्तम् अत एव चेयद्विश्वाप्यायकारित्वात्

'सोमं चामृतनाथं च सुधासारं सुधानिधिम् ।
सकारं षड्रसाधारं नामभिः परिकीर्तितम् ॥'

इत्यादिदृशा अमृतबीजतयोक्तेश्च गुरवस्तत्परामृतं धाम प्रचक्षते-सर्वशास्त्रेषु कथयन्तीत्यर्थः ॥१६५॥

ननु चास्य किमेवंरूपत्वं क्वचिद्विभाव्यते, न वा ? इत्याशंक्याह

क्षोभाद्यन्तविरामेषु तदेव च परामृतम् ॥१६६॥

सीत्कारसुखसद्भावसमावेशसमाधिषु ।

इसीलिये कहते हैं--

प्रोन्मीलित इष्यमाण के बाह्य व्यक्त उल्लास के प्रतीक 'स'कार में सारा विश्व ही प्रकाशमान है। कहा गया है–

"स' वर्ण से निखिल अण्ड कटाह व्याप्त है।" इसीलिये " 'स'कार ही सोम तत्त्व है। यह अमृतेश्वर है। सुधा का सार है। सुधालय पीयूष-कोष है। यही छः रसों का आधार है। इन समस्त नामों में अमृत बीजताका अभिप्राय भरा हुआ है। गुरुवर्यों की परम्परा इसे अमृत का परम धाम ही मानती है ॥' यह सर्वशास्त्र सम्मत सिद्धान्त है ॥१६५॥

सकार का यह रूप कहीं प्रकाशित है या नहीं ? यही कह रहे हैं–

क्षोभ को आगमिक परम्परा आदि-याग कहती है। इसमें आदि और अन्त के विराम अनुभूति के विषय हैं। इन विरामों में सीत्कार, सुख, सद्भाव, समावेश और समाधि रूप 'स' कार की अनाकलित कलायें उल्लसित होती हैं। वस्तुतः इन परम चरम अवस्थाओं में वही परामृत रूप 'स'कार ही अभिव्यक्त होता है। इस परामृतमयता के उद्रेक के कारण—

क्षोभस्य-आदियागरूपस्य ये आद्यन्तविरामाः, तेषु ये सीत्कारादयः, तेषु तदेवामृतं परं धाम अर्थादभिव्यज्यत इति संबन्धः, एवमस्य परानन्दमयतोद्रेचनेन

'करणमरीचिचक्रमुदयं कुरुते रभसात्-
स्थितिमुपयाति तत्र परसौख्यरसान्ततया ।
विलयमुपैति चात्र परबोधभरक्षपणात्-
परमकलात्र केवलतया विलसत्यमला ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या प्रथमं करणचक्रस्य क्षोभौन्मुख्यात् उदितसीत्कारादौ, अनन्तरं तत्रैव विश्रान्त्या परसामरस्यात्मसौख्यसमावेशे, तदनु च तत्रैव दार्ढ्येन निरूढया

'सदिति ब्रह्म परमम्'

इत्याद्युक्त्या सतः परस्य ब्रह्मणो भावः सत्ता, तत्र यः समावेशो-देहादिप्रमातृतानिमज्जनेन चित्प्रमातृताया उन्मज्जनं, स एव समाधिः-परसंवित्कलारूपत्वेन परिस्फुरणं, तत्रेति एवमादिष्वानन्दस्थानेष्वभिव्यक्तिरित्यर्थः ॥१६६॥

"वह बलपूर्वक करण-रश्मि-चक्र को उदित करता है। पुनः स्थित होता है। उस अवस्था में परम सौख्य की चरम रसमयी स्थिति होती है। पुनः परात्मकबोध सिन्धु का उल्लास कम होने लगता है और परामृत में ही रश्मिचक्र विलीन हो जाता है। उस समय केवल अपने कैवल्य रूप में अमला परम कला ही विलसित रहती है।'

इस उक्ति के अनुसार पहले करण चक्र क्षोभ के प्रति अभिमुख होता है। उसी समय सीत्कार ध्वनि का उदय होता है। वहीं सुख सद्भाव आदि उल्लसित होते हैं। वहीं इनकी विश्रान्ति भी होती है। उस समय परम सामरस्य दशा का आनन्दात्मक समावेश हो जाता है। उसी में दृढ़ अवस्थान को–

"सत् ही परम ब्रह्म है ।" उक्ति के अनुसार ब्रह्म की सत्ता का माप कहते हैं। वही सद्भाव है। ब्रह्म भाव में समावेश होने पर देह आदि में प्रमातृभाव समाप्त होकर चित्प्रमातृता स्फुरित होती है। वही समाधि है। उसमें परा संवित्कला का स्फुरण होता है। यह परम धाम की ही अभिव्यक्ति का सकारात्मक अमृत उल्लास है ॥१६६॥

एवं चास्य परब्रह्मरूपत्वमेवेत्युक्तं स्यादत आह

तदेव ब्रह्म परममविभक्तं प्रचक्षते ॥१६७॥

ब्रह्मेति

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

इत्याद्युक्त्या व्यपकं रूपमित्यर्थः, अत एव 'अविभक्तमित्युक्तं'—नियत-रूपस्य हि विभागो भवेदिति भावः, प्रचक्षत इति—श्रीपरात्रिंशकादौ, तथाहि तत्र, पराबीजोद्धारे

'तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि' इत्युक्तं,

तृतीयं ब्रह्म सकारः, यद्गीतं

'ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।' इति ॥१६७॥

यत एव चास्य व्यापकमामृतं च रूपम्, अत एव अन्यत्र 'विषतत्त्व-मिति' व्यपदेशान्तरमप्यस्ति, इत्याह

उवाच भगवानेव तच्छ्रीमत्कुलगह्वरे ।
शक्तिशक्तिमदैकात्म्यलब्धान्वर्थाभिधानके ॥१६८॥

यही इसकी पर ब्रह्म रूपता है—

श्रुति कहतो है–"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। इसके अनुसार यही ब्रह्म का व्यापक स्वरूप है। वह सर्वत्र अविभक्त रूप से उल्लसित है। जो नियत या अव्यापक होता है, उसी में विभाजन सम्भव है। ब्रह्म में कदापि नहीं। परात्रिंशिका में पराबीज के उद्धार प्रसंग में कहा गया है–"हे सुश्रोणि! वही तृतीय ब्रह्म है।" यह तृतीय ब्रह्म 'सकार' ही है। श्रीमद्भगवद्गीता भी "ॐ" तत् सत् यह ब्रह्म का तीन प्रकार का निर्देश करती है।' इस उक्ति में 'सत्' रूप से सकार की सत्ता स्वीकृत है ॥१६७॥

क्योंकि इसका व्यापक और अमृतमय रूप है। इसलिये इसे दूसरे स्थान पर विषतत्त्व भी कहा गया है। यही कह रहे हैं—

१—श्रीमद्भगवद्गीता अ० १७।२३-२७

काकचञ्चुपुटाकारं ध्यानधारणवर्जितम् ।
विषतत्त्वमनच्काख्यं तव स्नेहात्प्रकाशितम् ॥१६९॥

अन्वर्थाभिधानके इति, यदुक्तं तत्रैव

'कुलं शक्तिः समाख्याता गह्वरं शक्तिमानपि ।
उभयोर्वेदनैकत्वं कथ्यते कुलगुह्वरम् ॥ इति ।

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति 'काकचञ्चु' इत्यादि । संबोधनसारत्वाद्युष्मदर्थस्य—'हे देवि तव स्नेहात्'--शासनोयत्वेनानुकम्प्यत्वात्, विषस्य-व्यापकस्य रूपस्य, यत्तत्त्वं--सर्वत्राप्रतिहतत्वं, तत्प्रकाशितम्--अन्योन्यसंघट्टात्मसामरस्यावसरेऽनुभवगोचरतामापादितमित्यर्थः, तच्चानाहतरूपत्वादनच्कशब्दाभिधेयम्, अत एव सततोदितत्वेन ध्यानादिनिरपेक्षं, तद्धि नियतध्येयादिनिष्ठमिति भावः, एवमपि काकचञ्चुपुटवदाकारो यस्तत्तथाविधम्--अनच्कस्य द्विकुब्जतया तथासंनिवेशात् ॥१६८-१६९॥

नन्विह अमृतबीजमुपक्रान्तं वर्तते, न च तस्यैवं रूपं संभवति--तस्य कामाक्षरविषयत्वेनोक्तत्वात्, तत्किमर्थमत्रैतत्संवादितं, भगवतोऽपि

'यदेतत्कामतत्त्वं तु विषतत्वं तदेव हि ।
तदिदानीं समासेन शृणु त्वं मृगलोचने ।।'

श्रीमत्कुल गुह्वर शास्त्र में—"कुल शक्ति है । गह्वर शक्तिमान् है । दोनों का तादात्म्य-बोधैक्य ही 'कुल गुह्वर' है । उस शास्त्र में स्वयं भगवान् ही अन्वर्थाभिधान की दृष्टि से शक्ति को संबोधित कर कह रहे हैं कि, हे देवि ! तुम्हारे स्नेह के कारण ही मैंने इस अनच्क विष अर्थात् व्यापक तत्त्व का प्रकाशन किया है । यह काकचञ्चु पुट के समान आकृति वाला है । यह ध्यान और धारणा आदि से अतीत है क्योंकि शाश्वत उदित है । व्यापक तत्त्व जैसे अप्रतिहत होता है । उसी तरह यह भी अप्रतिहत है । स्वात्म संघट्ट के सामरस्य की दशा में यह व्यक्त होता है । यह द्विकुब्ज होता है और नियत ध्येयादिनिष्ठ है ॥१६८-१६९॥

प्रश्न है कि इसे अमृत बीज रूप कहा गया है पर ऐसा संभव नहीं है क्योंकि इसे कामाक्षर भी कहा गया है । यह विसंवाद क्यों ? और भी—

"जो यह कामतत्त्व है, वही विषतत्त्व है । हे मृग के सदृश नेत्रों वाली देवि ! उसे संक्षेप से सुनो ।" भगवान् के इस कामविषपर्याय के कथन का आशय भी क्या है ? यही कह रहे हैं—

इत्यादिना कामतत्त्वस्यैव पुनर्विषतत्त्वत्वेनाभिधाने क आशयः ? इत्याशङ्क्याह

कामस्य पूर्णता तत्त्वं संघट्टे प्रविभाव्यते ।
विषस्य चामृतं तत्त्वं छाद्यत्वेऽणोश्च्युते सति ॥१७०॥

ननु भगवता श्रीकुलगुह्वरे कामतत्त्वविषतत्त्वयोः प्राणनामात्ररूपां प्राणादिवायुपञ्चकसामान्यभूतां षष्ठीं प्राणकलामधिकृत्य स्वरूपं निरूपितं, न पुनः प्राणमात्रं--तस्यैवंरूपासंभवात्, तस्य हि रेचकादिदशासु परेच्छाधीनवृत्तित्वादुच्चार्यमाणत्वप्रतिहन्यमानत्वाद्यपि संभवेत्, विशिष्टत्वं पुनः कामतत्त्वस्य प्राणरूपत्वं, विषतत्त्वस्य च अपानरूपत्वम्, अत एवानयोर्हकारसकारात्मत्वम्, तदुक्तम्

'स-हौ क्षपादिनामानावधरोत्तरचारिणौ ।
परस्परद्वेषरतौ मतौ नगहुडूपमौ ॥
कस्तौ रोधयितुं शक्तो वीर्यं मुक्त्वा स्वयं महत् ।' इति ।

पारमार्थिक रूप को तत्त्व कहते है। काम का पारमार्थिक भाव पूर्णता है। पूर्णता तभी होती है, जब प्राणन व्यापार सुचारु संचालित हो। प्राणन व्यापार प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान रूप पाँच वायुओं के माध्यम से होता है। पाँचों वायु के पृथक् व्यापार है। एक प्राणकला होती है। जो पाँचों की अधिष्ठात्री छठीं प्राणवत्ता है। वह जब होती है, तभी पूर्णता होती है। कोमा में प्राण रहता है पर प्राणकला नहीं होती। काम कला की अनुभूति दम्पति संघट्ट में सभी अनुभव करते हैं। प्राण कला की सत्ता ही कामतत्त्व है। यह 'स' कार रूप होता है। कामकला का वैशिष्ट्य प्राणकला की ही पूर्णता है।

जहाँ तक विषतत्त्व का प्रश्न है—यह अपान कला से परिपूर्ण होता है। अपान में रेचक दशा में भी प्राणकला का प्राणना रूप व्यापार रहता है। कला में यद्यपि वह चिति केन्द्र में अनुप्रविष्ट होकर प्राण बन कर अधः से ऊर्ध्व की ओर गतिशील होता है किन्तु रेचक के प्रारम्भ से अमाकला में प्रवेश तक अपान को प्राणकला अमृत रूप से विद्यमान रहती है। तभी विकास की संभावना भी रहती है। यही विषतत्त्व का अमृतत्व रूप वैशिष्ट्य है। यही 'ह' तत्त्व है। कहा गया है कि,

" 'स' और 'ह' का अधर और उत्तर चार स्वाभाविक है। 'स' कार क्षपा है। 'ह' कार आदिशक्ति भू विसर्ग की अभिव्यक्ति है। इनमें परस्पर द्वेष

तथा

'ऊर्ध्वे बिन्दू रविः प्राणो दिनं भागार्धमेव च ।

सिद्धैरधिष्ठितो भागः खेचर्याराधनात्मकः ॥

अधो नादस्तथापानो मत्तगन्धः क्षपा शशी ।

खेचर्यधिष्ठितो भागः सिद्धसेव्यो लयात्मकः ॥' इति ।

एवं वैशिष्टयेऽपि अनयोः सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् प्राणनमात्ररूपत्वम् उभयत्रापि संभवतीति ऐकरूप्येण निर्देशः, यदभिप्रायेण कामतत्त्वस्यैव विषतत्त्वत्वेन भगवतोऽभिधानम्, इह चैतत्संवादनम्, अत एव कामस्य कामतत्त्वस्यापि पूर्णता—स्वात्ममात्रविश्रान्तेरनन्याकाङ्क्षता नाम, तत्त्वं—पारमार्थिकं रूपं, संघट्टे प्रविभाव्यते—परस्परसामरस्यात्मसंक्षोभावसरे सर्वैरेव साक्षात्क्रियते इत्यर्थः, विषतत्त्वस्याप्यणोः परिमितस्य देहादिमातुः स्वाभाविकपूर्णदृक्क्रियावारके पारिमित्यात्मनि छाद्यत्वे, च्युते—वेद्यवेदकविभागविगलनात्पूर्णे रूपे समुदिते सति, आमृतं—विकासदशामयं तत्त्वं संघट्टे प्रविभाव्यते इति पूर्वेणैव संबन्धः ॥ १७० ॥

होता है । ये नग और हुडुके सदृश हैं । नग की ध्वनि सीत्कार मयी और हुडुकी 'ह' कारमयी होती है । इन दोनों की अप्रतिहत गति को कोई रोक नहीं सकता । जैसे मुक्त वीर्य अप्रहित होता है, वैसे ही ये भी हैं ।" तथा

"ऊर्ध्व स्थान में विन्दु है । प्राण सूर्य है । श्वास चार का अर्ध भाग दिन है । यह योग सिद्ध पुरुषों से अधिष्ठित होता है । खेचरी की आराधना का यह केन्द्र है । अर्ध श्वास-चार अपान है । यह रात्रि है । ऐरावत के मत्त गन्ध से भरा होता है । अपान चन्द्र इसका प्रकाशक है । खेचरी शक्ति का यह अधिष्ठान होता है । यह लयात्मक अमाकला वाला भाग सिद्ध द्वारा सेव्यों है ।"

यह इन दोनों का वैशिष्ट्य है । इसमें प्राणन व्यापार विशेषनिष्ठ सामान्य है । समानता के कारण इनका ऐक्य भी है । इसी अभिप्राय में काम तत्त्व को विषतत्त्व भी कहा गया है । कामतत्त्व की पूर्णता का तात्पर्य है कि वह स्वात्मविश्रान्त और अनन्य निरपेक्ष तत्त्व है । विषतत्त्व में भी परिमित प्रमाता के स्वाभाविक पूर्ण दृक् और क्रिया के आच्छादन की अवस्था समाप्त हो जाने पर पूर्ण स्वाभाविक रूप समुदित हो जाता है । वही अमृतमयी विकास दशा है । यह संघट्ट में ही प्रविभावित होता है ॥१७०॥

ननु चास्य स्वाभाविकपूर्णदृक्क्रियावरणेऽपि किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

व्याप्त्रीशक्तिर्विषं यस्मादव्याप्तुश्छादयेन्महः ।

शक्तिरिति—पारमेश्वरी स्वरूपगोपनारूपा मायाख्या, मह इति—स्वाभाविकपूर्णदृक्क्रियारूपं, विषमपि हि बहिर्व्यापकत्वादव्याप्तुरण्वात्मनो दृक्क्रियावरणमेव कुर्यादित्यत्र तदारोपः ॥

एवं न केवलमस्य कामतत्त्वत्वमस्ति, विषतत्त्वत्वं वा, यावन्निरञ्जनत्वमपि, इत्याह

निरञ्जनं परं धाम तत्त्वं तस्य तु साञ्जनम् ॥१७१॥

क्रियाशक्त्यात्मकं विश्वमयं तस्मात्स्फुरेद्यतः ।

प्रोन्मीलितस्यापि इष्यमाणस्य बहीरूपतया समुल्लासितत्वात्क्रियाशक्त्यात्मकम्, अत एव विश्वमयं यत्परम्—आपूरकं, धाम—सकारात्म चान्द्रं तेजः, तन्निरञ्जनं

'एतत्त्रितयमैक्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा ।
न केनचिदुपाधेयं स्वस्वविप्रतिषेधतः ॥

इत्यादिपूर्वोक्तयुक्त्या न केनचिदप्युपाधेयमित्यर्थः, तस्य पुनः क्रियाशक्त्यात्मनः चान्द्रस्य धाम्नो यत्तत्त्वं—परमप्रकाशात्म शक्तिमल्लक्षणं विश्रान्तिस्थानं, तत्साञ्जनं

इस विलक्षण आवरण का क्या निमित्त है ? जिसमें स्वाभाविक दृक और क्रियायें नष्ट हो जातीं हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

जैसे विष अणु के दृक् और क्रिया का आवारक होता है, उसी तरह यह स्वरूप गोपन करने वाली पारमेश्वरी माया शक्ति उसके 'मह' अर्थात् स्वाभाविक दृक और क्रिया का आवरण बन जाती है। इसीलिये 'विष' आरोपित संज्ञा है ॥

मात्र इसमें कामतत्त्वता और विषतत्त्वता ही नहीं, अपितु निरजनतत्त्वता भी होती है—

प्रोन्मीलित तीसरी अवस्था ही साञ्जन अवस्था है। बाह्य उल्लास में दन्त्य 'स' क्रिया शक्ति वाला होता है। इसी लिये इसे विश्वमय भी कहते हैं। परात्मक चान्द्र तेज को निरञ्जन परम धाम भी कहते हैं—

'शक्तिमानञ्ज्यते यस्मान्न शक्तिर्जातु केनचित् ।'

इत्यादिप्रागुपपादितयुक्त्या शक्तिकर्तृकेन व्यक्तीकरणेन युक्तमित्यर्थः, अत आह 'तस्मात्स्फुरेद्यतः' इति, तस्माद्धेतोः, यतः—शक्तेः सकाशात्, स्फुरेत्—

'..................शैवो मुखमिहोच्यते ।'

इत्याद्युक्त्या स्वशक्त्यैवाभिव्यज्यत इत्यर्थः ॥ १७१ ॥

ननु कामादेस्तत्त्वत्रयस्य इच्छादिशक्तित्रयरूपत्वमस्ति, तत्कथमेकस्यैव अमृतबीजस्य एतद्रूपत्वमुक्तम् ? इत्याशङ्क्य विभागावेदनपूर्वमेषामविभागमेव द्रढयति

इच्छा कामो विषं ज्ञानं क्रिया देवी निरञ्जनम् ॥१७२॥
एतत्त्रयसमावेशः शिवो भैरव उच्यते ।

भैरव इति—विश्वमयत्वेन पूर्णत्वात्, अत एव 'तदेव ब्रह्म परमम्' इत्याद्युक्तम् ॥ १७२ ॥

"यह तीनों जब एकीभाव से स्फुरित होते हैं तो परस्पर विप्रतिषेध के कारण उपाधेय नहीं होते। क्रियाशक्त्यात्मक होने पर चान्द्रधामका प्रकाशात्मक तत्त्व विश्रान्ति का आधार होता है और साञ्जन होता है।" किन्तु निरञ्जन ही परम धाम है। क्रियाशक्त्यात्मक होने पर यह साञ्जन हो जाता है।

साञ्जन के सम्बन्ध में कहा गया है—

"शक्तिमान् तो व्यक्त हो जाता है किन्तु शक्ति कभी किसी अवस्था में व्यक्त नहीं होती। वह तो निरञ्जन ही रहती है।" इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति द्वारा ही शिव अभिव्यक्ति का आलिङ्गन करता है। यह निश्चय है कि शक्ति से ही उसका स्फुरण होता है। कहा गया है—"इसे ही शैवोमुख कहते हैं।" अर्थात् शक्ति द्वारा ही इसका अभिव्यञ्जन होता है ॥१७१॥

काम आदि ये जो तीन तत्त्व हैं, ये इच्छा शक्ति के ही तीन रूप हैं। यहाँ एक ही अमृत बीज के सम्दन्ध में ही क्यों तीन का उल्लेख किया गया है ? इस के उत्तर में पार्थक्य की पूर्व अविभक्त अवस्था का प्रतिपादन कर रहे है—

इच्छा (काम), ज्ञान (विष) और क्रिया (देवी) यह निरञ्जन शक्ति का ही स्वात्म रूप है। इन तीनों में समाविष्ट ही शिव है। यही भैरव भाव है। श्लोक १६७ में इसे परम ब्रह्म भी कहा गया है। कामतत्त्व इच्छा रूप और विषतत्त्व ज्ञान रूप होते हैं ॥१७२॥

एवमेतत्प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवाह

अत्र रूढिं सदा कुर्यादिति नो गुरवो जगुः ॥१७३॥

विषतत्त्वे संप्रविश्य न भूतं न विषं न च।

ग्रहः केवल एवाहमिति भावनया स्फुरेत् ॥१७४॥

अत्रेति--विषतत्त्वात्मनि व्यापके रूपे, रूढिमिति--अनुप्रवेशं, किं चात्र रूढ्या भवेत् ? इत्याशंक्याह 'विषतत्त्वे' इत्यादि, भूतमिति--यक्षादि, ग्रह इति--अनात्मनि आत्माभिमानः, तद्धि परिमितस्य प्रमातुर्भवेदित्यभिप्रायः, परे प्रमात्रात्मनि व्यापके रूपे समावेशभाजः पुनर्भावनाभ्यासात् 'अहम्' इत्येव परमाद्वयमयतोल्लसेत्, येनास्य तदतिरिक्तमुपद्रवनिमित्तं न किंचिदपि भायादिति भावः। यदुक्तं श्रीकुलगुह्वरे

यदा शून्यं निरालम्बं ध्यानधारणवर्जितम्।
सर्ववर्णधरं शान्तं सर्ववर्णविवर्जितम्॥
चिन्मात्रं केवलं शुद्धं विषनिर्वाहकारकम्।
न विषं न ग्रहः पापं न यक्षो न च राक्षसः॥
न पिशाचादिकं किं चिन्नायं नाहं विभावयेत्।
केवलं भावमात्रेण..................................॥' इत्यादि ॥१७३-१७४॥

प्रसंगवश यह सब कह कर प्रकृत का वर्णन कर रहे हैं—

इस विष तत्त्वात्मक व्यापक रूप में शाश्वत अनुप्रवेश होना चाहिये। यह साधनानिष्ठ गुरुजनों का कथन है। ऐसा कर लेने पर भूत बाधा नहीं होती। विष विष नहीं रह जाता। अनात्म के प्रति आग्रह नहीं रह जाता। वह सब परिमित प्रमाताओं के स्तर का क्रियायें हैं जो इस व्यापक परप्रमातात्मक रूप में समावेश हो जाने पर नहीं होतीं। भावना का इतना विकास हो जाता है कि 'यह सब केवल मैं ही यह परमाद्वयतत्त्व हूँ' यह गाढ अनुभूति हो जाती है। कुल गुह्वर में कहा गया है—

"जब शून्य, आलम्बन रहित (अनाश्रित), ध्यान और धारण से वर्जित, समस्त वर्णों को धारण करते हुए भी उन से परे नितान्त शान्त, शुद्ध, केवल, जागतिक विषमय व्यवहारों का निर्वाहक महाभाव उल्लसित हो जाता है। उस समय इदमात्मकता और अहमात्मकता की द्वैत बुद्धि का निरास हो जाता है।" इत्यादि ॥१७३-१७४॥

ननु इष्यमाणरूषिताया इच्छायाः पूर्वं क्षोभान्तरस्यासंभवात्

'............नेदं बीजं च कस्यचित्'

इत्याद्युक्त्या षण्ठत्वं प्रतिज्ञातम्, अनन्तरं चात्र

'या तूक्ता ज्ञेयकालुष्य........' इत्यादि,

तथा

'सैव शीघ्रतरोपात्त............' इत्यादि,

तथा

'..............सा चैष्टव्येन रूषिता'

इत्यादिवाक्यैः षण्ठवर्णेभ्यः क्षोभान्तरस्यापि सद्भाव उक्तः, इत्येषां पूर्वप्रतिज्ञातं षण्ठत्वं कथं निर्वहेत् ? इत्याशङ्क्य प्रतिविधत्ते

नन्वत्र षण्ठवर्णेभ्यो जन्मोक्तं तेन षण्ठता ।
कथं स्यादिति चेद्ब्रूमो नात्र षण्ठस्य सोतृता ॥ १७५ ॥
तथाहि तत्रगा यासाविच्छाशक्तिरुदीरिता ।
सैव सूते स्वकर्तव्यमन्तःस्थं स्वेष्टरूपकम् ॥ १७६ ॥
यत्त्वत्र रूषणाहेतुरेषितव्यं स्थितं ततः ।
भागान्न प्रसवस्तज्जं कालुष्यं तद्वपुश्च तत् ॥ १७७ ॥

इष्यमाण से रूषित इच्छा के पहले किसी अन्य क्षोभात्मक परामर्श की सम्भावना नहीं क्यों कि कहा गया है –'यह किसी का बीज नहीं।" इसके अनुसार ही उसे षण्ठ कहा गया है। उसके बाद 'श्लोक १५१, १५५ और १६२ श्लोकों के अनुसार षण्ठ वर्णों से क्षोभान्तर की उत्पत्ति की बात भी गयी है। इस तरह पहले कहे हुए षण्ठत्व के निर्वाह की चर्चा कर रहे हैं—

वस्तुतः षण्ठ वर्णों से किसी क्षोभान्तर या परामर्शान्तर की सृष्टि नहीं होती। षण्ठ वर्ण कभी प्रसविता नहीं होते। यह रहस्य है कि वहाँ इच्छा शक्ति ही शाश्वत उल्लसित है। वही अपने से अभिन्न रहते हुए भी भिन्न की तरह अन्तःस्थ वर्ण कार्य रूप से उत्पन्न करती है। इष्यमाण से रूषित इच्छा का यह अनोखा रूप है।

जन्मोक्तमिति—टवर्गादीनां, ब्रूम इति 'नात्र षण्ठस्य सोतृता' इत्युत्तरम्, एतदेवोपपादयति 'तथाहीत्यादिना' यतः षण्ठगता येयमिच्छाशक्तिरुक्ता सैव अन्तःस्थं स्वाभेदेन वर्तमानमपि यथास्वं नियतं रूपमात्मीयं कार्यं 'टवर्गादि' बहिरुल्लासयेत्, न पुनस्तद्गतं रूषणानिमित्तं चिरक्षिप्रस्वभावमेषितव्यं तद्धि कालुष्यमेव जनयेत् एतावतैव च एतच्चरितार्थम्, इति न कार्यान्तराविर्भावनायापि प्रभवतीति भावः, तच्च कालुष्यं तन्निमित्तमेषितव्यं वा अस्या इच्छायाः एव वपुः—तदेकात्मकमित्यर्थः, नहि प्रकाशैकस्वभावाया इच्छाया अन्यदतिरिक्तं नाम किंचित्संभवेदिति भावः, तेन वस्तुत इच्छाया एव प्राधान्यात् तत्तत्स्वकार्याविर्भावकत्वम् इति युक्तमुक्तं 'सैव सूत' इति ॥ १७५-१७७ ॥

नन्वेवमपि षण्ठानां सर्वसर्विकया न बीजत्वमपास्तं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

ज्ञेयारूषणया युक्तं समुदायात्मकं विदुः ।
षण्ठं क्षोभकताक्षोभधामत्वाभावयोगतः ॥ १७८ ॥

इष्यमाणस्य इच्छायाश्च मेलनारूपं हि षण्ठं विदुः, यतोऽत्र न क्षोभकत्वं क्षोभाधारत्वं चेति, तेन केवलाया इच्छाया एव क्षोभान्तराविर्भावकत्वेऽपि नैषां बीजत्वमपास्तं भवेत्—समुदायात्मकत्वात्षण्ठत्वस्य, इति युक्तमुक्तं 'नात्र षण्ठस्य सोतृतेति' ॥ १७८ ॥

इस सन्दर्भ में यह देखना आवश्यक है कि यहाँ स्थिरता और क्षिप्रता आदि से रूषित एषितव्य है, वह किसी प्रकार के परामर्श का प्रवर्त्तन नहीं करता। उससे कालुष्य ही उत्पन्न होता है। यह कालुष्य परामर्शान्तर नहीं होता। यह कालुष्य या उसका निमित्त एषितव्य यह सभी उसी इच्छाशक्ति के ही स्वात्मशरीर रूप हैं। इच्छा का स्वभाव ही प्रकाश है। वही अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के प्राधान्य के कारण विभिन्न रूपों में उल्लसित होती है ॥१७५-१७७॥

इन षण्ठ वर्णों की बीज रूपता क्या सर्वथा नष्ट नहीं होती है? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

इष्यमाण और इच्छा इन दोनों के यामल मिलन से ही षण्ठ वर्ण बनते हैं क्यों कि यहाँ न तो क्षोभक होता है और न क्षोभ का आधार ही होता है। केवल इच्छा की विद्यमानता वहाँ होती है। इस लिये क्षोभान्तर के आविर्भाव की शक्ति भी उसमें रहती है। अतः बीजत्व भी रहता है। वस्तुतः समुदायात्मकता षण्ठ का गुण है ॥१७८॥

एवमेतत्प्रसंगादभिधाय प्रकृतमेवाह

एतद्वर्णचतुष्कस्य स्वोष्मणाभासनावशात् ।
ऊष्मेति कथितं नाम भैरवेणामलात्मना ॥ १७९ ॥

चतुष्कस्येति हकारेण सह, तस्य ह्यनुत्तराज्जन्म, इति भङ्ग्या प्रागेवोक्तम्, अनुत्तरस्य हि शक्तिविसर्गः, तस्यैव चास्थानं रूपम् अयम् इति, अत एवानुत्तरेणास्य सस्थानत्वम्, स्वोष्मणेति-स्वातन्त्र्यलक्षणेन स्वात्मतेजसेत्यर्थः, नहि इच्छाया अनुत्तरस्य वा परामर्शान्तरवदन्यापेक्षया एतदाभासमानम्, अपि तु स्वमाहात्म्यादेवेति भावः। यद्यपि कवर्गादीनामनुत्तरादेरेकैकस्मादेव जन्मोक्तं तथापि तच्छक्त्यन्तरप्रयोजकोकारेण, इति युक्तमुक्तं 'स्वोष्मणाभासनावशादिति' ॥ १७९ ॥

न केवलं कादि-हान्तस्य वर्णजातस्य स्पर्शादितया पृथक् पृथगभिधानं, यावदपृथक्त्वेनापि, इत्याह

कादि-हान्तमिदं प्राहुः क्षोभाधारतया बुधाः ।

क्षोभाधारतया इति–योनितयेत्यर्थः, यदुक्तं

'कादिभिश्च स्मृता योनिः………' इति ॥

न केवल उक्तनीत्या बीजानामेव बीजान्तरयोगे क्षोभान्तराविर्भावो भवेत्, यावद्योनेरपि योन्यन्तरयोगेन, इत्याह

श, ष, स और ह ये चारों नित्य स्वात्म स्वातन्त्र्य की ऊष्मा के आभासन के कारण ऊष्मा कहलाते हैं। अनुत्तर की शक्ति ही विसर्ग है और विसर्ग के विकसित रूप ही उष्मा वर्ण हैं।

ऊष्मा वर्णों की विशेषता यह है कि ये स्वात्मस्वातन्त्र्य के कारण निरपेक्ष भाव से आभासित होते हैं। इच्छा या अनुत्तर के अन्य परामर्शों की तरह सापेक्षतया आभासित नहीं होते। अनुत्तर से कवर्ग एवं इच्छा से चवर्ग आदि की तरह इसमें शक्त्यन्तर के जन्म का प्रयोजन भी नहीं होता ॥ १७९ ॥

'क' से लेकर 'ह' तक के वर्णों की स्पर्शादि रूपों में पृथक् पृथक् संज्ञायें होती हैं किन्तु सबकी एक संज्ञा भी है। यही कह रहे हैं—

कादि हान्त समग्र वर्ण समुदाय को क्षोभाधार कहते हैं। क्षोभ की आधार योनि होती है। कहा गया है—

योनिरूपेण तस्यापि योगे क्षोभान्तरं व्रजेत् ॥ १८० ॥
तन्निदर्शनयोगेन पञ्चाशत्तमवर्णता ।

तस्येति-योनिरूपस्य कादेः, तथा च तस्य क्षोभान्तरस्य निदर्शनयुक्त्या तदेव क्षोभान्तरमुदाहर्तुं मातृकायां पञ्चाशता पूरणेन वर्णेन 'क्षकाराख्येन कूटबीजेन' संबन्धः स हि आद्यन्तभूतयोरनुत्तरविसर्गानुप्राणितयोः ककारसकारयोः प्रत्याहारतयोपात्तो, येन निखिलमेव यौगपद्येन मातृकायाः सतत्त्वं प्रदर्शितं भवतीति, तदुक्तं श्रीक्षेमराजपादैः

'तदियत्पर्यन्तं यन्मातृकायास्तत्त्वं, तदेव ककारसकारप्रत्याहारेणानुत्तरविसर्गसंघट्ट-ट्टसारेण कूटबीजेन प्रदर्शितमन्ते' इति ॥१८०॥

ननु

'ज्ञेयरूपमिदं पंचविंशत्यन्तं यतः स्फुटम् ।'

इत्याद्युक्त्या कादयो मावसानाः पञ्चविंशतिर्वर्णा ज्ञेयरूपतया भेदैकस्वभावा निर्दिष्टाः, तदनन्तरभावि पुनश्चतुष्कद्वयं कीदृग्रूपम् ? इत्याशंक्याह

'क' से 'ह' तक के सारे व्यंजन योनि रूप से स्मृत हैं ।" वस्तुतः बोज से ही बीजान्तर परामर्श नहीं होते अपितु योनि से भी योन्यन्तर परामर्श होते हैं । वही कह रहे हैं—

क्षोभाधार और क्षोभाधार के संयोग की स्थिति में भी क्षोभान्तर होता है । इसी का निदर्शन क्+स् के योग में होता है और इसोलिये ३३ व्यञ्जन ३४ हो जाते हैं । क से लेकर स तक एक प्रत्याहार बनता है । इसे 'क्ष' कहते हैं । यह कूटबीज होता है । इसे व्यञ्जनों का चक्रेश्वर भी कहते हैं । आचार्य क्षेमराज ने कहा है—

"यहाँ तक जो मातृका तत्त्व है, वही ककार और सकार के प्रत्याहार में संघट्टित होता है । वस्तुतः इन दोनों का मिलन अनुत्तर परमशिव और शक्तिरूप विसर्ग का ही संघट्ट है । इसे ही कूटबीज कहते हैं ।" इसको लेकर ही स्वर १६+स्पर्श २५+अन्तःस्थ ४+ऊष्मा ४+कूट १=५० वर्णों को मातृका कहते हैं ॥ १८० ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि 'यह २५ वर्ण समुदाय ज्ञेय है ।' इस उक्ति के अनुसार क से म तक २५ वर्ण (स्पर्श) ज्ञेय माने जाते हैं । ये स्वभावतः भेद भिन्न होते हैं । ये अन्तःस्थ और ऊष्मा के भेद कैसे ? यही कह रहे हैं—

पञ्चविंशकसंज्ञेयप्राग्वद्भूमिसुसंस्थितम् ॥ १८१ ॥
चतुष्कं च चतुष्कं च भेदाभेदगतं क्रमात् ।

एतदेव प्रपञ्चयति

आद्यं चतुष्कं संवित्तेर्भेदसंधानकोविदम् ॥ १८२ ॥
भेदस्याभेदरूढ्येकहेतुरन्यच्चतुष्टयम् ।

भेदेति—संविदः सकाशाद्विच्छिन्नमित्यर्थः, अत एवास्य स्थूलवाय्वादिभूतरूपत्वमुक्तम्, अभेदेति-इच्छाशक्तिसमुत्थत्वेन शाक्ततेजोमात्ररूपत्वात् ॥१८२॥

इदानीमेवमुपपादितं कादिहान्तं वर्णजातं स्वरानुप्राणितमेव भवति, इति दर्शयितुमाह

इत्थं यद्वर्णजातं तत्सर्वं स्वरमयं पुरा ॥ १८३ ॥
व्यक्तियोगाद्व्यञ्जनं तत्स्वरप्राणं यतः किल ।

इत्थं—समनन्तरोक्तनीत्या, वर्णजातं यदुक्तं तत्सर्वमुदयात्पूर्वं 'स्वरमयं' स्वराणामेवान्तः शक्त्यात्मना रूपेणावस्थितमित्यर्थः, अन्यथा ह्येषां तत्तत्संयोजनवियोजनेनैवंरूपतयाभिव्यक्तिरेव न भवेदिति भावः, अत एव तद्वर्णजातं बहिरभिव्यक्तं सत् व्यज्यत इति 'व्यञ्जनं' न पुनरपूर्वतयैव

---

२५ वर्णात्मक सम्यक् ज्ञेय रूप स्पर्शाक्षर समुदाय की पूर्व भेद भूमिका पर ही आधारित ये दोनों अन्तःस्थ और ऊष्मा के चतुष्क हैं। ये क्रमशः भेद और अभेद गत स्थितियों के द्योतक हैं। इसको और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

पहला अन्तःस्थ का चतुष्क संवित्ति में भेद का प्रवर्तक है और दूसरा ऊष्मा का चतुष्क भेद में अभेद की रूढिका प्रमाण है। यही कारण है कि य से वायु र से अग्नि, ल से धरा और व से अप् तत्त्व की स्थूलता व्यक्त होती है। पर ऊष्मा वर्ण इच्छा शक्ति से उल्लसित हैं और मात्र शाक्त तेज की अभेदानुभूति से भूषित हैं ॥ १८१-१८२ ॥

यहाँ तक प्रतिपादित कादि हान्त वर्ण, स्वरों से अनुप्राणित होकर ही व्यवहृत होते हैं। यही प्रदर्शित कर रहे हैं—

इस प्रकार अब तक के प्रतिपादन के अनुसार जितने वर्ण हैं वे सभी स्वरों की अन्तःशक्ति से ही व्यक्त हो सकते हैं। विना स्वरों के व्यञ्जनों का

उत्पाद्यं—पूर्वमपि स्वरात्मनास्यावस्थानात्, व्यङ्ग्यस्य च व्यञ्जकसंनिधावेव तत्त्वं भवेत् नान्यथा ? इत्याशङ्क्याह 'स्वरप्राणं यत' इति, अभिव्यक्तमेव एतद्वर्णजातं स्वरानुप्राणितमेव भवेत्, अन्यथा हि अनच्कतया अस्य उच्चार एव न भवेत् ॥ १८३ ॥

एवं च 'स्वरा एव सर्ववर्णानां मूलकारणम्' इत्युक्तं भवेत्, तदाह

स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसंततौ ॥ १८४ ॥

षडदेवतास्तु ता एव ये मुख्याः सूर्यरश्मयः ।

षट्कमित्यकारादूकारान्तम्, एवकारेण स्वरान्तराणां व्यवच्छेदः, तेषामप्येतत्स्फारमात्रमेव हि रूपमित्याशयः। एवमेषां षण्णामेव वर्णान्तराभिव्यञ्जने प्रकाशरूपत्वमित्युक्तं स्यात्, अतश्च प्रकाशरूपत्वादेव एषामन्यत्र 'षड्देवतात्मकं सूर्यरश्मित्वम्' अप्युक्तमित्याह 'षड्देवता' इत्यादि, यदुक्तं

'दहनी पचनी धूम्रा कर्षिणी वर्षिणी रसा।'

इति, मुख्या इति—दाहकत्वादीनां शक्तीनां प्रकाशैकनिष्ठत्वात्, यदुक्तं

'षडेवेह स्वरा मुख्याः कथिता मूलकारणम् ।
ते च प्रकाशरूपत्वाद्विज्ञेयाः सूर्यरश्मयः ॥' इति ॥१८४॥

उच्चारण असंभव है। इसी आधार पर इन्हें व्यञ्जन कहते हैं। इस शब्द का विग्रह वाक्य है—'अभिव्यक्तं सत् व्यज्यते' इति व्यञ्जनम्। ये पहले नही हैं—यहीं उत्पन्न हैं' यह बात नहीं हैं। ये पहले भी हैं और स्वरसद्भाव में व्यक्त होते हैं। यही इनकी स्वरप्राणता है॥ १८३॥

इस तरह यह सिद्ध है कि स्वर ही सभी वर्णों के मूल कारण हैं। यही कह रहे हैं—

वर्ण परम्परा क मूल उद्गम आदि ६ स्वर ही हैं। दूसरे सभी स्वर इन्हीं छः मूल सूर्यसोम स्वरों के ही उल्लास हैं। यही छः सभी अन्य स्वर वर्ण समुदाय के प्रकाशक हैं। सूर्य रश्मियों में यही छः दिव्यशक्तियों के रूप में अधिष्ठित हैं। कहा जाता है कि सूर्यरश्मियाँ षड्देवतामय हैं—

"१-दहनी, २-पचनी, ३-धूम्रा, ४-कर्षिणी, ५-वर्षिणी और ६-रसा।" ये सभी शक्तियाँ एकमात्र प्रकाशनिष्ठ ही हैं। वर्ण भी प्रकाश रूप ही हैं। कहा गया है कि,

न केवलमेषां सौरमेव रूपं संभवेद्यावच्चान्द्रमपि, इत्याह

सौराणामेव रश्मीनामन्तश्चान्द्रकला यतः ॥ १८५ ॥

अतोऽत्र दीर्घत्रितयं स्फुटं चान्द्रमसं वपुः ।

एतच्च पूर्वमेवोपपादितम्, इति नेह पुनरायस्तम् ॥ १८५ ॥

ननु परस्परव्यावृत्तत्वात्सर्वभावानां कथं सौराणां रश्मीनामन्तश्चान्द्रयः कलाः संभवन्ति ? इत्याशङ्क्याह

चन्द्रश्च नाम नैवान्यो भोग्यं भोक्तुश्च नापरम् ॥ १८६ ॥

भोक्तैव भोग्यभावेन द्वैविध्यात्संव्यवस्थितः ।

घटस्य न हि भोग्यत्वं स्वं वपुर्मातृगं हि तत् ॥१८७॥

अतो मातरि या रूढिः सास्य भोग्यत्वमुच्यते ।

चन्द्रो हि नाम न सूर्यादन्यो यतस्तद्भोग्यं, भोग्यं हि नाम प्रमेयमुच्यते, न च प्रमेयं तदुपसर्जनवृत्तित्वात्प्रमाणादतिरिच्यते इत्याशयः, तच्चैवंविधं भोग्यं भोक्तुरप्यतिरिक्तं न भवेत्—वस्तुतः सर्ववस्तूनां प्रमातर्येव विश्रान्तेः, अतश्च भोक्तैव तदुभयात्मना रूपेण प्रस्फुरतीति भावः, अत आह 'भोक्तैव

"मातृका के ६ स्वर ही मुख्य हैं। यही अन्य वर्णों के मूल कारण हैं। ये प्रकाशरूप हैं। अतः इन्हें सूर्यरश्मि भी मानते हैं" ॥ १८४ ॥

सौररूप के साथ इनमें चान्द्ररूप भी होता है—

इसका प्रतिपादन पहले हो चुका है। इसके अनुसार अ, इ और उ ये तीनों सूर्यस्वर तथा आ, ई और ऊ सोम स्वर माने जाते हैं ॥ १८५ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि समस्त भावराशि परस्पर व्यतिरिक्त होती है। फिर यह सूर्यरश्मियों में चान्द्रकला का उल्लास कैसे ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

चन्द्र सूर्य के अतिरिक्त अन्य नहीं। वह उसका भोग्य है। प्रमेय को ही भोग्य कहते हैं। प्रमाण से प्रमेय अतिरिक्त नहीं होता। भोग्य भी भोक्ता से अतिरिक्त नहीं। 'प्रमाता में सबकी विश्रान्ति होती है' यह नियम है। इस तरह भोक्ता ही दो भावों में उल्लसित होता है। जहाँ तक भोक्ता और भोग्य के एक ही लक्ष्य में युगपत्प्राप्ति रूप विप्रतिषेध के नियम का प्रश्न है, वह यहाँ लागू नहीं हो सकता।

भोग्यभावेन' इत्यादि, ननु विप्रतिषेधात्कथं भोग्यभोक्त्रोरेकत्वमित्याशङ्कयाह 'घटस्येति' नहि ज्ञेयत्वं नाम घटादेर्ज्ञेयता तस्यात्मीयो धर्मः, तथात्वे हि—तस्य सर्वान्प्रत्यविशेषात्सर्वे सर्वज्ञाः स्युः, तेन ज्ञातुरेव स धर्मः—तस्यैव तत्त्वज्ञानोदयेनातिशयदर्शनात्, अतोऽस्य घटादेर्या ज्ञातरि विश्रान्तिस्तदेव ज्ञेयत्वं नाम उच्यते इति, यदुक्तम् 'भोक्तुर्भोग्यं नापरमिति' ॥१८६-१८७॥

एतदेव प्रकृते योजयति

अनुत्तरं परामृश्यपरामर्शकभावतः ॥१८८॥
संघट्टरूपतां प्राप्तं भोग्यमिच्छादिकं तथा ।

अनुत्तरम्—आदिवर्णलक्षणं परं रूपं स्वात्मनि भोक्तृभोग्यभावमाभास्य परस्परोन्मुख्येन सघट्टरूपतां प्राप्तं सत् 'भोग्यम्' इत्युच्यते, अन्यथा न भोक्तृत्वं भोग्यत्वं च भवेत्—अन्योन्यापेक्षत्वात्तयोः, तेनाकारद्वयस्य संघट्टादाकारलक्षणं भोग्यं जातमिति तात्पर्यम्, भोग्यं चात्र वक्तुमुपक्रान्तमिति प्राधान्येन तदेवोपात्तम्, एवमिच्छोन्मेषावपि स्वात्मनि भोक्तृभोग्यभावेन संघट्टमासाद्येषणोनतात्मभोग्यरूपतामाप्ताविति युक्तमुक्तम् 'अतोऽत्र दीर्घत्रितयं स्फुटं चान्द्रमसं वपुः'इति ॥१८८॥

इसे दृष्टान्त से व्याख्यायित कर रहे हैं। जैसे घड़ा ज्ञेय है किन्तु इसकी ज्ञेयता इसका धर्म नहीं। ऐसा होने पर ज्ञेयता सर्व-सामान्य हो जायगी। और सभी सर्वज्ञ हो जायेंगे। इस लिये निश्चित नियम है कि ज्ञेयता ज्ञाता का धर्म होतो है। ज्ञाता में तत्त्वज्ञान के उदित होने पर यह अतिशय दर्शन होता है। इस लिये इन घटादिकों की ज्ञाता में जो विश्रान्ति होती है—वही ज्ञेयत्व है। इसी आधार पर कहा गया है कि भोक्ता से भोग्य अतिरिक्त नहीं है ॥१८६-१८७॥

इसी सिद्धान्त का प्रकृत में विनियोजन कर रहे हैं—

अनुत्तर ही परामृश्य और परामर्शक भाव से संघट्टित होता है। उस समय वही भोग्य बन जाता है। यह स्थिति 'अ' और अ' की परस्पर उन्मुखता में होती है। उस समय ये दोनो दीर्घ सन्धि के फलस्वरूप 'आ' बन जाते हैं। 'आ' भोग्य है। 'अ'कार भोक्ता है। इन दोनों में कोई भेद नहीं होता। इसी प्रकार इच्छा और उन्मेष दशा में भी परस्पर संघट्ट से एषण और ऊनता रूप भोग्य भाव उत्पन्न होता है। श्लोक १८६ में जिस चान्द्रमस वपुष् की चर्चा है, वह भोग्य स्थितिका ही द्योतन करता है ॥१८८॥

नन्वेवं भोग्यं तावदास्तां न कश्चिद्दोषो, भोक्तुः पुनरनेकरूपतायाम-द्वयहानिः—इति स्वसिद्धान्तभङ्गो भवेत् ? इत्याशङ्क्य इच्छादेर्भोग्यत्वमेवास्ति, न पुनर्भोक्तृत्वम्, इति दर्शयति

अनुत्तरानन्दभुवामिच्छाद्ये भोग्यतां गते ॥१८९॥
संध्यक्षराणामुदयो भोक्तृरूपं च कथ्यते ।

यद्यपीच्छादीनां स्वापेक्षया भोक्तृत्वमस्ति, तथापि अनुत्तरापेक्षया एषां भोग्यता विश्रान्तिमेति, तदा संध्यक्षराणामुदयः—सृष्टिर्भवेत्, 'अनुत्तरानन्द-भुवाम्' इति बहुवचननिर्देशो व्यक्त्यपेक्षो ज्ञेयः, स चोदयो भोक्तृप्राधान्ये भवेदित्युक्तं 'भोक्तृरूपं च कथ्यत' इति, अत एवात्र इच्छाद्यं गुणभूतम्, अत एवानुत्तरेच्छादिसंघट्टमयत्वाविशेषेऽपि अन्तः स्थानां संध्यक्षरेभ्योऽयमेव विशेषः, यत्संध्यक्षराणि गुणीभूतेच्छाकानि अनुत्तरप्रधानानि, अन्तःस्थास्तु गुणीभूतानुत्तरा इच्छादिप्रधाना इति, एवमनुत्तर एव एकः पारमार्थिको भोक्तेति सिद्धम्, स हि स्वप्रकाशत्वात्स्वात्मनि प्रमेयत्ववार्तामपि न सहते—इति तस्य कथं भोग्यत्वं भवेत्, इच्छादिकं पुनर्भोग्यमेवेत्यस्य भोग्यत्वम् ॥१८९॥

अत आह

अनुत्तरानन्दमयो देवो भोक्तैव कथ्यते ॥१९०॥
इच्छादिकं भोग्यमेव तत एवास्य शक्तिता ।

भोग्य भाव की यह स्थिति यदि किसी तरह मान भी ली जाय तो भोक्ता की अनेक रूपता में तो उसके अद्वय भाव की ही हानि होने लगेगी और अपना ही सिद्धान्त खण्डित होने लगेगा ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

अनुत्तर और आनन्द का इच्छा और उन्मेष के योग से भोग्यता की स्थिति में सन्धि अक्षरों की उत्पत्ति होती है। यह भोक्ता की प्रधानता का ही परिणाम है। भोग्य इच्छादि इसमें गौण होते हैं। इसीलिये अन्तःस्थ गुणीभूत अनुत्तर और इच्छादि प्रधान माने जाते हैं और सन्ध्यक्षर अनुत्तर (भोक्ता) प्रधान माने जाते हैं। जैसे इ+अ से 'य' बने अन्तःस्थ में 'इ'कार की ही प्रधानता होती है और 'ए' में अनुत्तर की। भोक्ता रूप अनुत्तर तत्त्व कभी भोग्य या प्रमेय भाव नहीं ग्रहण कर सकता। यही सन्ध्यक्षरों की विशेषता है ॥ १८९ ॥

आनन्दस्य भोग्यत्वेऽपि अनुत्तराव्यतिरेकाद्भोक्तृत्वमप्यस्ति, इत्यवद्योतयितुमिहानन्दग्रहणं, 'भोग्यमेव' इत्येवकारेण भोक्तृत्वच्छेदः, यत्पुनरेषणाद्यपेक्षया भोक्तृत्वमुक्तं तन्न पारमार्थिकं—भोग्यस्यैव सतः तथात्वेन कल्पनात्, 'तत' इति— भोग्यत्वात्, भोग्यत्वमेव हि शक्तित्वं, यदभिप्रायेणैव

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः । इत्युक्तम् ॥१९०॥

नन्वेवं पुनरपि भोक्ता भोग्यं चेति द्वयमेवापतितम् ? इत्याशङ्क्याह

भोग्यं भोक्तरि लीनं चेद् भोक्ता तद्वस्तुतः स्फुटः ॥१९१॥
अतः षण्णां त्रिकं सारं चिदिष्युन्मेषणात्मकम् ।

इह भोग्यं तावद्भोक्तारमन्तरेण स्वात्मनि सत्तामेव लब्धुं नोत्सहते, इति भोग्यत्वमपि तस्य कथं स्यात्, भोक्तरि चेद्विश्रान्तं तद्भोक्तैवावशिष्यते, न तदतिरिक्तं भोग्यं नाम किंचित्, इति भोक्तैव साक्षाद्विजृम्भते, न काचिदद्वयवादहानिः, एवं भोग्यात्मदीर्घत्रयं भोक्त्रात्मनि ह्रस्वत्रये प्रत्येकं विश्रान्तम्—इति ह्रस्वत्रयमेव प्रधानभूतमिति तात्पर्यम्, तदाह 'अत' इत्यादि, चिदनुत्तरम्' इषिरिच्छा ॥१९१॥

इसीलिये कहते हैं—

श्लोक १८८ में आनन्द को भोग्य कहा गया है किन्तु यह कथन सर्वांशतया ग्राह्य नहीं है। अनुत्तर से व्यतिरिक्त न होने के कारण इसमें भोक्तृ भाव ही प्रधान है। इसलिये इन दोनों को दिव्य देव और भोक्ता कहते हैं। जहाँ तक इच्छा आदि का प्रश्न है, इन्हें भोग्य ही मानते हैं। श्लोक में 'एव' शब्द अवधारणार्थक है अर्थात् इनमें भोक्तृभाव नहीं होता। श्लोक १८९ में इनमें भोक्तृ भाव की उक्ति सापेक्ष है। भोग्यत्व ही भोक्तृत्व रूप में वहाँ कल्पित है। भोग्यत्व के कारण ही इच्छादि में शक्तिता आती है। 'भोग्यत्व ही शक्तित्व है' इसी अभिप्राय से—

"इसकी शक्तियाँ ही विश्व रूप में व्यक्त हैं। शक्तिमान् तो मात्र महेश्वर ही है।" यह कहा गया है ॥ १९० ॥

इस प्रतिपादन से भी एकत्र भोक्तृ भोग्य दोनों भाव आ जाते हैं ? इसे ही स्पष्ट कर रहे हैं—

नन्वेवमपि भोक्तुरानैक्यादद्वयवादहानिरिति तदवस्थ एव स दोषः ? इत्याशङ्क्याह

तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः ॥१९२॥
तत्त्रिकं परमेशस्य पूर्णा शक्तिः प्रगीयते ।

तदेव--समनन्तरोक्तमनुत्तरेच्छोन्मेषात्मकं, 'त्रितयं', भैरवस्य—अनन्यापेक्षत्वात्पूर्णस्य तत्त्वस्य, परं--विश्वापूरकं शाक्तं तेजः प्राहुः, यतः

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या तदेव त्रिकं पूर्णं संघट्टितं सत् परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यलक्षणा शक्तिः सर्वत्रैवेष्यते, यतोऽयं वाच्यवाचकात्मनो विश्वस्य प्रसरः, एतदेव हि त्रिकं सर्वाक्षेपेण वर्तते इत्यभिप्रायः ॥१९२॥

तदाह

तेनाक्षिप्तं यतो विश्वमतोऽस्मिन्समुपासिते ॥१९३॥
विश्वशक्तावच्छेदवन्ध्ये जातमुपासनम् ।

भोग्य के भोक्ता में लीन हो जाने पर भोक्ता ही स्फुटतया शेष रहता है। इसी लिये कहते हैं कि भोक्ता के अतिरिक्त भोग्य कुछ नहीं होता। इसलिये ह्रस्व में दीर्घ की विश्रान्ति होने पर अ इ उ ही चित्, इच्छा और उन्मेष प्रधान भोक्ता सिद्ध हैं ॥१९१॥

इस स्थिति में भी भोक्ता की अनेकता के कारण अद्वयवाद के सिद्धान्त का खण्डन हो रहा है। दोष तो हटा नहीं ? इसी का उत्तर दे रहे हैं--

अनुत्तर, इच्छा और उन्मेषात्मक यह त्रितय परम पूर्ण, निरपेक्ष 'भैरव शिव तत्त्व का परात्मक तेज है। कहा गया है—'उसकी अनन्त शक्ति समन्विति अपनी शक्तियों से अवियुक्त रहना ही है।' इस उक्ति के अनुसार वही तीन शक्तियों का समुदाय परस्पर पूरो तरह मिलता है। यही उस परम भैरव की स्वतन्त्रता है। यही स्वातन्त्र्य शक्ति है। इसकी सर्वत्र चाह होती है। इसी से वाच्यवाचक रूप जगत् का प्रसार होता है। यही यह त्रिक है जिसकी सारा जगत् अपेक्षा करता है ॥१९२॥

यतस्तेन त्रिकेण सर्वमिदमाक्षिप्तम् अतोऽस्मिन्नेव स्वातन्त्र्यशक्तिमात्रपरमार्थे त्रिके समावेशशालिनः

'..................**शैवी मुखमिहोच्यते ।'**

इत्याद्युक्त्या तद्द्वारेणैव अनवच्छिन्नस्वभावत्वात्पूर्णे शक्तिमद्रूपेऽपि अयत्नेनैव समावेशो जायते इति वाक्यार्थः ॥१९३॥

सर्वं चैतदाक्षेप्यमेतत्स्फारसारमपरिच्छेद्यं चेत्याह

इत्येष महिमैतावानिति तावन्न शक्यते ॥१९४॥
अपरिच्छिन्नशक्तेः कः कुर्याच्छक्तिपरिच्छिदाम् ।

न शक्यते इति--अर्थात्परिच्छेत्तुम् ॥१९४॥

अत एव च स एव भगवाननुत्तरः स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वरूपतामाप्तः, इत्याह

वही कह रहे हैं—

इस त्रिक में ही सारा प्रसार आक्षिप्त है। इसलिये इस त्रिक की उपासना करना अनिवार्य है। इस अर्धाली में आक्षिप्त और उपासना दोनों शब्द विचारणीय हैं। क्षिप् दिवादि, तुदादि और चुरादि गणों में गृहीत धातु है। प्रेरणार्थक धातु में आ उपसर्ग और क्तप्रत्यय यह स्पष्ट करते हैं कि विश्व का समग्र उल्लास इसी त्रिक की प्रेरणा से हो सका है। फेंकने अर्थ में प्रयुक्त सृष्टि की सर्जन प्रक्रिया इसी त्रिक के वश में है। यह विश्व ऊर्मियाँ उसी समुद्र में लहरा रही हैं। त्रिक का उन्मेष निहित है।

उपासना तब तक पूरी नहीं होती जब तक उसमें समावेश नहीं होता। इसलिये त्रिक में समाविष्ट होने की विधि अपनानी चाहिये। इन्हीं के माध्यम से अनवच्छिन्न पूर्ण स्वभाव परमेश्वर में भी साधक समाविष्ट हो सकता है। वस्तुतः यह त्रिक शैवी मुख है। कहा गया है। 'इसे शैवी मुख कहते हैं ॥१९३॥

यह सारा विश्वविस्तार आक्षेप्य, स्फार रूप और अपरिच्छेद्य है—यही कह रहे हैं—

यही उस महतो महीयान् का माहात्म्य है। वह इतना है, उतना है, इस प्रकार की कोई सीमा नहीं। यह अपरिच्छिन्न महेश्वर परिच्छिन्न नहीं हो सकता। कोई परिच्छेद कर भी नहीं सकता ॥ १९४ ॥

तस्मादनुत्तरो देवः स्वाच्छन्द्यानुत्तरत्वतः ॥१९५॥

विसर्गशक्तियुक्तत्वात्सपन्नो विश्वरूपकः ।

विसर्गशक्तियोगे स्वाच्छन्द्यमनुत्तरत्वं च हेतुः, स्वतन्त्रस्यैव हि पञ्चविधकृत्यकारित्वाद्विसर्गे सामर्थ्यम्, अनुत्तरस्यैव च शक्तिः विसर्गशब्दव्यपदेश्येति, यदुक्तं प्राक्

'अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।

विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥ इति ॥१९५॥

नन्वेवं विश्वरूपतायामस्यानेक्यं स्यात्, इत्यद्वयहानिः ? इत्याशङ्क्याह

एवं पञ्चाशदामर्शपूर्णशक्तिर्महेश्वरः ॥१९६॥

विमर्शात्मैक एवान्याः शक्तयोऽत्रैव निष्ठिताः ।

पञ्चाशदामर्शा—आदि--क्षान्ताः, एक इति शक्तिशक्तिमतोरभेदात्, ननु समनन्तरमेव शक्तीनामपरिच्छिन्नत्वमुक्तं तत्कथं तासां पञ्चाशदिति नियतावच्छेदः संगच्छते ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'अन्याः शक्तयोऽत्रैव निष्ठिता' इति, अन्या इति—तत्संयोगवियोगसमुत्थाः 'घटः पट' इत्येवमादयः, अत्रैव निष्ठिताः—पञ्चाशतोऽतिरिक्तस्य परामर्शस्यानुपपत्तेः ॥१९६॥

इस प्रकार वही अनुत्तर भगवान् परम शिव अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण विश्व रूप में उल्लसित है—यही कह रहे हैं—

इस लिये वह अकुल महेश्वर अपने स्वातन्त्र्य और अनुत्तरत्व की शक्ति द्वारा विसर्ग शक्ति से सम्पन्न होता है। यदि स्वातन्त्र्य न होता तो सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह करने में वह कैसे समर्थ होता ? अतः यह निश्चित मत है कि अनुत्तर की शक्ति ही विसर्ग शक्ति है। श्लोक १९३ में पहले ही यह तथ्य कहा जा चुका है ॥ १९५ ॥

उसकी विश्व रूपता के कारण अनेकता स्वाभाविक है फिर भी विश्व रूपता से अद्वयवाद का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता। यही कह रहे हैं—

'अ' से 'क्ष' तक के ५० अक्षरात्मक आमर्शों से परिपूर्ण महेश्वर की अद्वयता में अन्तर नहीं आ सकता। अन्य सारी शक्तियाँ तो इसमें विमर्श रूप से निष्ठित हैं। इस लिये उसके अतिरिक्त परामर्श की या वर्णों की नियतावच्छेकता से भी उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥ १९६ ॥

अत एव चार्धमात्रागणनाक्रमेण एकाशीतिपदापि देवी वर्णपञ्चाशत्ये-वान्तर्भावयिष्यते, इत्याह

एकाशीतिपदा देवी ह्यत्रान्तर्भावयिष्यते ॥१९७॥

अत्रान्तर्भावयिष्यते इति—एतन्निष्ठतयैव पर्यवसाययिष्यते, यद्वक्ष्यति

'कालोऽर्धमात्राः कादीनां त्रयस्त्रिंशत उच्यते ।
मात्रा ह्रस्वाः पञ्च दीर्घाष्टकं द्विस्त्रिः प्लुतं तु लृ ॥
एकाशीतिमिमामर्धमात्राणामाह नो गुरुः ।
यद्वशाद्भगवानेकाशीतिकं मन्त्रमभ्यधात् ॥
एकाशीतिपदा देवी शक्तिः प्रोक्ता शिवात्मिका ।' इति ॥१९७॥

नन्वेव परामर्शान्तराणामत्रैव निष्ठितत्वात्पञ्चाशदेव परामर्शा मुख्या, इति पुनरपि नियतावच्छेद एवापतेत् ? इत्याशङ्क्य अवच्छेदाधानासामर्थ्यं द्योतयितुमवास्तवत्वप्रकटीकाराय आमर्शविशेषाणां तत्तदुपाधियोगोत्थापितत्वं दर्शयति

एकामर्शस्वभावत्वे शब्दराशिः स भैरवः ।
आमृश्यच्छायया योगात्सैव शक्तिश्च मातृका ॥ १९८ ॥

इसी तरह ८१ पदों वाली शक्ति भी ५० के अन्तर्गत ही अन्तर्भूत मानी जाती है—

उक्त आदिक्षान्त वर्णसमुदाय में ही ८१ पदों का भी पर्यवसान मानते हैं—

'कादि स्पर्श वर्णों का अर्धमात्रिक काल ३३ होता है। ह्रस्व स्वरों को १०, दीर्घ स्वरों को ३२ प्लुत की ६ अर्ध मात्राओं के योग से यह ८१ पदों वाली मातृका शक्ति है। यह ज्ञान गुरुदेव के अनुग्रह का प्रतीक है। यही कारण है कि भगवान् शिव ने भी ८१ शिव सूत्रों की रचना की। इस प्रकार यह ८१ पदों वाली देवी शिवात्मिका मानी जाती है।' यह महेश्वर का ही विमर्श प्रसार है ॥ १९७ ॥

५० और ८१ भेद मानने पर भी नियतावच्छेदकता का दोष नहीं होता और उपाधि वश अन्य परामर्शों की स्थिति का भी विवेचन कर रहे हैं—

एक का तात्पर्य है कि वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। प्रभु है। निरपेक्ष है। साथ ही उसका सहायक कोई नहीं। आमर्श ही उसका 'स्व' भाव है। वह शाश्वत

सा शब्दराशिसंघट्टाद्भिन्नयोनिस्तु मालिनी ।
प्राग्वन्नवतयामर्शात् पृथग्वर्गस्वरूपिणी ॥ १९९ ॥
एकैकामर्शरूढो तु सैव पञ्चाशदात्मिका ।

एकः—आमृश्यशून्यत्वान्निःसहायः, आमर्शनमामर्शः परामर्शक प्रमाता, तत्स्वभावत्वे पञ्चाशतोऽपि वर्णानां संकलनया 'शब्दराशिरिति, भैरव' इति व्यपदेशः, आमृश्येनापि योगात् 'शक्तिरिति मातृकेति' च, सैव मातृका शब्दराशिसंघट्टाच्छक्तिशक्तिमदैक्यात्म्यलक्षणात् लवणारनालवत्परस्परमेलनात्, भिन्ना बीजैर्भेदिता योनयो व्यञ्जनानि यस्याः सा तथाविधा सती, 'म' इति—वाच्यस्य प्रतियोग्यभावस्यालिनी विमर्शिका, मलते—विश्वं स्वरूपे धत्ते, मालयति—अन्तःकरोति कृत्स्नामिति च मालिनीति व्यपदिश्यते, भिन्नयोनित्वादेव च अस्या बीजयोनीनां विसंस्थुलत्वात् नादि-फान्तत्वम्, प्राग्वदिति—षोडशकपञ्चपञ्चकचतुष्कद्वयैकरूपतया यथापूर्वम्, उक्तमित्यर्थः, तदुक्तम्

परामर्शक है। प्रमाता है। इस स्थिति में उसके ५०, ८१, १३२ या १६८ जितने भी अनन्त अनन्त परामर्श आकलित किये जा सकते हैं, ऐसे परामृष्ट स्पन्दनों से युक्त परनाद गर्भ परमेश्वर को 'शब्दराशि' कहना भी उचित है। वही भैरव है।

उसमें आमृश्य की छाया पड़ती है। इससे उसकी शक्ति और मातृका संज्ञा हो जाती है। शब्दराशि के संघट्ट से भेदभिन्न होने पर वही मालिनी कहलाती है। मालिनी का बीज 'म' है। ए, ऐ, : , घ, म और ह्रीं इन अक्षरों को भी आगम शास्त्र में मालिनी कहते हैं। 'म' बीज की प्रतियोग्यभावशालिनी शक्ति को मालिनी कहते हैं। मलते इति मालिनी विग्रह के अनुसार विश्व को अपने 'स्व' रूप में धारण करने वाली नमकमाड़ सामरस्यवत् सम्मिलित शक्ति मालिनी है। अथवा मालयति इस विग्रह के अनुसार समग्र विश्वविस्तार को अन्तर्हित करती है। मालिनी के भिन्नयोनित्व के कारण इसमें बीज और योनि का क्रम मातृकावत् नहीं है। मातृका आदि क्षान्त होती है। मालिनी नादिफान्त होता है। इसका क्रम न, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, थ, च, ध, ई, ण, उ, ऊ, ब, क, ख, ग, घ, ङ, इ, अ, व, भ, य, ड, ढ, ठ, झ, ञ, ज, र, ट, प, छ, ल, आ, स, अः, ह, ष, क्ष, म, श, अं, त, ए, ऐ, ओ, औ, द और फ इस प्रकार है। यह क्रम न्यास के लिये प्रयुक्त होता है। मालिनी न्यास शक्ति-न्यास है। शक्तिमान् मातृका होतो है। उसके न्यास का क्रम तन्त्रसार खण्ड (२) पृ० १२८–१२९ में द्रष्टव्य है।

'....................नवधा वर्गभेदतः।
पृथग्वर्गविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला ॥' इति ॥ १९९ ॥

तदेवमत्र वर्णपञ्चाशतः प्रत्येकं भेदेन स्वरूपमभिधाय अभेदेनापि अभिदधदेव तदनुषक्तमनुजोद्देशोद्दिष्टं मन्त्राद्यभिन्नरूपत्वमपि आसूत्रयति

इत्थं नादानुवेधेन परामर्शस्वभावकः ॥ २०० ॥
शिवो मातापितृत्वेन कर्ता विश्वत्र संस्थितः।

इत्थम्—उक्तेन वक्ष्यमाणेन च प्रकारेण, नादेन हकारात्मना शक्त्या, योऽसावनुवेधः—तादात्म्यापत्तिः, तेन अनुत्तरः परमेश्वरः शिव एव

'अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ।
विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ॥'

इत्याद्युक्त्या परमन्त्रवीर्यस्वभाव-अकारहकारात्मपरामर्शरूपो भवेत्, यतः स एव कर्ता परप्रमात्रेकरूपो वर्णपञ्चाशदात्मनि विश्वत्र, मातापितृत्वेन संस्थितः—अनुत्तरविसर्गरूपतया प्रस्फुरित इत्यर्थः ॥ २०० ॥

पहले मातृका पश्चात् मालिनी न्यास होता है क्योंकि यह देवी का शाक्त रूप है। भिन्न योनि कहने का यही तात्पर्य है कि यह शाक्त भूमि है। यह बीजरूप मातृका न्यास प्रयुक्त वर्णों से क्षुब्ध होती है। अथवा मातृका के वर्णों से इसके व्यञ्जन भिन्न क्रम वाले हैं। इसीलिये नादिफान्त इसका क्रम है। हाँ, इसमें भी ५० वर्ण होते हैं। उनकी संख्या मातृका वर्णों की ही संख्या है—"वर्ग भेद से यह नव प्रकार की तथा पृथक् वर्ग भेद से यह शतार्ध किरणों से उज्वल अर्थात् ५० वर्णात्मिका है।" यह मातृका और मालिनी का अन्तर है ॥ १९९ ॥

भेद और अभेद दोनों तरह से मातृका वर्णों का स्वरूप उपस्थित करने के बाद इसी सन्दर्भ में मन्त्रों आदि की अभिन्नता का आसूत्रण कर रहे हैं—

इस तरह नाद रूप हकारात्मक शक्ति से अनुत्तर का तादात्म्य हो जाता है। यह तादात्म्य ही नाद का अनुवेध है। परिणामतः अकाहकार का प्रत्याहार रूप परमन्त्रात्मक परामर्श होता है। कहा गया है—

"अकार और हकार एकत्र अवस्थित हैं। इनमें विभाजन नहीं होता। जैसे वायु और आकाश।" यह शिव रूप परप्रमाता पचास वर्णों में भी व्याप्त है। यह अनुत्तर कर्त्ता है और पिता-माता की तरह विलक्षण रूप से प्रस्फुरित है ॥ २०० ॥

नन्वेवमपि भेदेनैव वर्णपञ्चाशतो रूपमुक्तं स्यात् नाभेदेन ? इत्याशङ्क्याह

विसर्ग एव शाक्तोऽयं शिवबिन्दुतया पुनः ॥ २०१ ॥
गर्भीकृतानन्तविश्वः श्रयतेऽनुत्तरात्मताम् ।

इह खलु अनुत्तरस्य परमेश्वरस्य शाक्त एवायं विसर्गो—हकारपर्यन्तेन स्थूलेन रूपेण परिस्फुरणं, पुनः प्रत्यावृत्त्य शिवबिन्दुतया निर्विभागात्मपरप्रकाशात्मप्रमात्रेकरूपतया क्रोडीकृतनिखिलवाच्यवाचककलापः सन्, अनुत्तरात्मतां श्रयते—निर्विभागपरप्रकाशस्वभावबिन्दुरूपतामाश्रयते, येन 'अहम्' इति परामर्शो भवेत्—यदनुत्तर एव हकारात्मशक्तिरूपतामाभास्य स्वात्मन्येव अविभागप्रकाशरूपे विश्राम्यतीति भावः । यद्वक्ष्यति

'संवित्तौ भाति यद्विश्वं तत्रापि खलु संविदा ।
तदेतत्त्रितयं द्वन्द्वयोगात्संघाततां गतम् ॥
एकमेव परं रूपं भैरवस्याहमात्मकम् ।' (३।२०७) इति ॥२०१॥

ननु अविभागपरप्रकाशविश्रान्तावपि अहंपरामर्शस्य भेदमयत्वमेवास्ति ? इत्याह

अपरिच्छिन्नविश्वान्तःसारे स्वात्मनि यः प्रभोः ॥ २०२ ॥
परामर्शः स एवोक्तो द्वयसंपत्तिलक्षणः ।

प्रश्न है कि इस प्रकार भी ५० वर्णों का अभेदत्व सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तर दे रहे हैं—

यह अनुत्तर परमेश्वर का ही शाक्त विसर्ग है, जो हकार पर्यन्त स्थूल रूप से प्रस्फुरित है। वहाँ से इसके प्रत्यावर्त्तन की स्थिति में शिव, विन्दु रूप से, विभाग रहित पर प्रकाश रूप से प्रस्फुरित है। पर प्रकाश रूप पर-प्रमाता में तादात्म्य भाव से अवस्थित है। समस्त वाच्यवाचक रूप विश्व को अपने रहस्यान्तराल में रखते हुए उल्लसित रहता है। इसी लिये इसे निर्विभाग परम प्रकाश स्वभाव शिव विन्दु मानते हैं। उस समय इसका पूर्ण रूप 'अहं' हो जाता है। स्वात्मविश्रान्ति का यह एक मात्र स्थान है। इसी भाव को श्लोक ३।२०७ में भी प्रतिपादित किया गया है ॥२०१॥

निर्विभाग पर प्रकाश विश्रान्ति की अवस्था में भी अहं परामर्श की भेदात्मकता रहती है क्या ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

प्रभोः—अनुत्तरस्य परमेश्वरस्य, अनन्तजगन्मध्यसातिशये स्वात्मनि यः 'अहम्' इति परामर्शः, स एव प्रतियोगिभूतस्यापोह्यस्य इदन्तापरामर्शस्यापि संभवात् 'द्वयसंपत्तिलक्षण उक्तो' भेदनिबन्धनत्वेन प्रतिभासते इत्यर्थः ॥ २०२॥

ननु इह शरीरादावहंप्रत्यवमर्शः सप्रतियोगित्वाद्भवतु नाम भेदनिबन्धनं, परप्रमात्रात्मनि प्रकाशे प्रवर्तमानः अतिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वात् प्रतियोगिनो [अप्रतियोगी] न तथा ? इत्याह

अनुत्तरविसर्गात्मशिवशक्त्यद्वयात्मनि ॥ २०३ ॥
परामर्शो निर्भरत्वादहमित्युच्यते विभोः ।

अनुत्तरविसर्गात्मिके ये शिवशक्ती, तयारद्वयं सामरस्यं, यत्र 'शिव इति, शक्तिरित्यपि' पृथक् परामर्शो नास्ति, तथात्वे हि प्रतियोगिनः संभावनामात्रमपि न भवेदिति भावः । एवंविधे परप्रकाशस्वभावे विभोः अनुत्तरस्यात्मनि निर्भरत्वात्परस्य कस्यचिदपेक्षणीयस्याविद्यमानत्वेन पूर्णत्वात्

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।' (अ. प्र. २२ श्लो.)

इत्यादिदृशा अहमिति स्वात्ममात्रस्फुरत्तारूपः परामर्श उच्यते—सर्वशास्त्रेषु अविगानेन अभिधीयते इत्यर्थः ॥ २०३ ॥

प्रभु अनुत्तर परमेश्वर के अनन्त अपरिच्छिन्न अन्तः सार रूप स्वात्म में जो अहमात्मक परामर्श होता है, वही प्रतियोगी रूप अपोह्य इदन्तापरामर्श का उद्गम स्थान है । आगम शास्त्रविद् द्वैत सम्पत्ति रूप भेदनिबन्धन भाव से प्रतिभासित अहं परामर्श के आनन्द समावेश का अनुभव करते हैं । यहाँ भेदमयता की आशङ्का के लिये कोई स्थान नहीं है ॥२०२॥

शरीर आदि में अहं प्रत्यवमर्श की प्रतियोगिनी भेदनिबन्धकता सामान्य है । क्या पर-प्रकाश रूप पर-प्रमाता में प्रवर्त्तमान अहं प्रत्यवमर्श भी विकल्प से उपहत है, क्योंकि उसमें द्वैताद्वैत की स्फूर्त्ति होती ही रहती है ? इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

अनुत्तर और विसर्ग रूप शिव एवं शक्ति के अद्वय सामरस्य को चरम अवस्था में 'यह शिव है'–'यह शक्ति है' इस प्रकार का कोई पृथक् परामर्श नहीं होता । प्रतियोगी की संभावना भी यहाँ नहीं होती अपितु पर-प्रकाश रूप विभु, शाश्वत भाव से अनुत्तर भाव में ही उल्लसित रहता है । किसी सापेक्ष

ननु भवतु नाम स्वात्ममात्रस्फुरत्तारूपोऽहंपरामर्शः किमनेन नः प्रयोजनं, वर्णपञ्चाशतः पुनरभेदेन स्वरूपमनेनोक्तं न भवेत् ? इत्याशङ्कयाह

अनुत्तराद्या प्रसृतिर्हान्ता शक्तिस्वरूपिणी ॥ २०४ ॥
प्रत्याहृताशेषविश्वानुत्तरे सा निलीयते ।

अनुत्तरात् आदिवर्णादानन्दादिपरामर्शान्तराविर्भावकारित्वाच्छक्तिस्वरूपिणी, या हान्ता प्रसृतिर्हकारपर्यन्तेन स्थूलेन रूपेण स्फुरत्ता, सैव पुनः 'आदिरन्त्येन सहेता' (पा० २।२।७१) इति नीत्या अकारहकारात्मना रूपेण, प्रत्याहृतं गर्भीकृतमशेषमानन्दाद्यमृतबीजपर्यन्तं विश्वं यया तथाभूता सती, अनुत्तरे निर्विभाग-प्रकाशात्मनि परस्मिन्न् रूपे, निलीयते विश्राम्यति, येनाहंपरामर्शो जायते, येन अभेदेनैव प्रत्याहारनीत्या सर्वेषामपि वर्णानां परामर्शः स्यात् ।। २०४ ॥

ननु यदि पाणिनीयप्रक्रियया प्रत्याहारक्रमेणैव युगपत्सर्वेषां वर्णानां परामर्शो विवक्षितः, तदकारहकारात्मनैव परामर्शविशेषेण भवेत्; यत्तु पुनरपि 'अनुत्तरे एव विश्रान्तिः, इत्युक्तं तत्किमर्थम् ? इत्याशङ्कयाह

सत्ता का वहाँ अस्तित्व नहीं होता। "वही प्रकाश की स्वात्मविश्रान्ति है। वही अहंभाव है।" (अ०प्र० २२) इस दृष्टि से केवल स्वात्म स्फुरत्ता ही अहं परामर्श है। इसलिये यहाँ विकल्प का उपघात असंभव है ॥२०३॥

उक्त स्थिति में भी ५० वर्णात्मकता में भेदवाद की गन्ध है, इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

आदि हान्त रूप शक्त्यात्मक प्रसार 'आदिरन्त्येनसहेता' पाणिनि सूत्र २।२।७२ के अनुसार प्रत्याहृत होकर अनुत्तर में ही मिल जाता है। इस दृष्टि से यह सारा प्रसार ही अभेदात्मक है, यह सिद्ध हो जाता है ॥२०४॥

पाणिनीय प्रक्रिया और अनुत्तर विश्रान्ति इन दोनों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

प्रत्याहार सिद्धान्त के अनुसार आदि अन्त वर्णों के साथ अन्तःस्थित वर्णों की तरह समग्र विश्व का बोध सवाभाविक है। विश्वरूपिणी शक्ति भी 'ह' कलात्मक है। अनुत्तरकर्तृक 'ह' कला का सम्पुट, अन्तःस्थ विश्व का अभेद्य कवच है। यह आन्तरिकता ही सार है। महास्फुरत्ता की सत्ता है और हृदय है। सामरस्य का चरम परम आनन्दात्मक उल्लास है। इसी तथ्य को—

तदिदं विश्वमन्तःस्थं शक्तौ सानुत्तरे परे ॥ २०५ ॥
तत्तस्यामिति यत्सत्यं विभुना संपुटीकृतिः ।

यद्यपि अकारहकारात्मनैव रूपेण प्रत्याहारनीत्या समस्तवर्णपरामर्शः सिद्धयेत्, तथापि हकलात्मनो विश्वरूपायाः शक्तेरनुत्तरकर्तृकं संपुटीकारं प्रदर्शयितुमेवमुक्तम् । तथाहि

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं............ ।

इत्यादिनीत्या विश्वं तावच्छक्त्येकात्मकं, शक्तिरपि 'शक्तिमतः खलु शक्तिरनन्या' इत्यादिनीत्या अनुत्तर एव विश्रान्ता, अत एव च परस्परावियोगात् शक्ति-शक्तिमतोः, तत् शक्तिमद्रूपमप्यनुत्तरं, तस्यां शक्तावेवान्तःस्थम्--इत्यनुत्तरादेव शक्तेरुदयस्तत्रैव च विश्रान्तिः,-इत्यनुत्तरेणैव विभुना नूनं शक्तेराद्यन्तयोगात् संपुटीकृतिः ॥ २०५ ॥

अत एव चागमोऽप्येवमित्याह

तेन श्रीत्रीशिकाशास्त्रे शक्तेः संपुटिताकृतिः॥ २०६ ॥

त्रयाणां परादिशक्तिप्रतिपादकानां शास्त्राणामीशेति त्रिशिका श्रीपरात्रिंशका । यदुक्तं तत्र

'सारा जगत् इसकी शक्तियों का प्रतीक है ।" इस उक्ति द्वारा समर्थित किया गया है । निकर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि विश्व की और शक्ति की एकात्मकता ही सत्य है । शक्ति भी शक्तिमान् से ऐकात्म्य भाव से शाश्वत स्फुरित है । अनुत्तर में इस तादात्म्य विश्रान्ति की महानुभूति उच्चस्तरीय साधकों की प्राकाम्यातीत सिद्धि है । शक्ति अनुत्तर में है । अनुत्तर शक्ति में है । अनुत्तर से शक्तिका उदय है—उल्लास है और उसी में विश्रान्ति भी है । इन्हें अलग कर देखा ही नहीं जा सकता । परमेश्वर ने आदिक्षान्त सम्पुट में सारा कोष सुरक्षित कर उसे कीलित कर दिया है ॥२०५॥

अन्य आगम भी यही कहते हैं—

इसी लिये श्री त्रीशिका शास्त्र में भी—

"वहां पहले वीर भाव प्राप्त शैव साधक बाह्ययाग करे । फिर अन्तर्याग की सिद्धि के लिये आसन सिद्ध करे । तत्पश्चात् सृष्टि सत्ता को अहमात्मक

'तत्र सृष्टिं यजेद्वीरः पुनरेवासनं ततः ।

संपुटीकृत्य सृष्टिं तु पश्चाद्यजनमारभेत् ॥' (पराත्री० २९ श्लो.)

इति ॥ २०६ ॥

तदेवोपसंहरति

संवित्तौ भाति यद्विश्वं तत्रापि खलु संविदा ।

तदेतत्त्रितयं द्वन्द्वयोगात्संघाततां गतम् ॥ २०७ ॥

एकमेव परं रूपं भैरवस्याहमात्मकम् ।

यदिदं हकलात्म शक्तिरूपं विश्वं संवित्तावनुत्तरात्मनि परस्मिन्रूपे भाति तत एवोदितमित्यर्थः । तत्रापि एवंरूपतयामपि, संविदैव खलु भाति तत्रानुत्तरात्मन्येव रूपे तद्विश्रान्तमित्यर्थः । यदुक्तम्

'यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च ।' इति ।

तदेतत् संवित्तिर्विश्वं संविदेति त्रितयं, द्वन्द्वयोगात्परस्परसंघट्टात्संघाततां गतं मेलनां प्राप्तं सत्, अहमिति प्रतियोगिभूतपरामर्शान्तराभावादेकमेव प्रमातृप्रमेयादिप्रकाशविश्रान्तिधामतया, परम् उत्कृष्टं, भैरवस्य सर्वभावनिर्भरत्वादनन्यापेक्षिणः पूर्णवृत्तेः प्रकाशैकवपुषः स्वात्मनो रूपं परविमर्शात्मा स्वभाव इत्यर्थः ॥ २०७ ॥

सम्पुट में डाल कर मोती बना दे । तत्पश्चात संविदग्नि में वसुधा से शिवान्त के यजनका प्रारम्भ करे ।" यह कहा गया है । त्रीशिका शब्द से परा, अपरा और परापरा शक्तियों की स्वामिनी का अर्थ गृहीत होता है ॥२०६॥

इसी विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

संवित्ति अनुत्तर परमेश्वर का ही परम रूप है । उसमें ही विश्व विभा उल्लसित है । उसी से उदित भी है । उसमें विभा का आह्लादमय अवभास भी संविद् शक्ति के द्वारा ही संभव है । यह भी अनुत्तर में ही विश्रान्त है । कहा गया है कि, "जिस फलक पर यह विस्मय जनक विश्वचित्र उल्लसित है उसी में अस्तंगत भी हो जाता है ।" इस तरह पहले संवित्ति', फिर 'विश्व' और फिर 'संविदा' यह त्रिक द्वन्द्वयोग से परस्पर संघट्टित होता है । उनका संघात होता है । फिर परस्पर मिश्रण हो जाता है । इससे तप कर जो ताप्तदिव्य काञ्चन रूप खरा सोना निकलता है, वही 'अहम्' है । इसका कोई

ननु 'परस्याकुलस्य धाम्नः कौलिकी शक्तिर्विसर्ग' इति प्रागुक्तं, सा च न शक्तिमतोऽतिरिक्तेति तस्यास्तदतिरेकेण परिस्फुरणमेव न युज्यते,– इति का वार्ता पुनरपि तत्र विश्रान्तौ ? इत्याशङ्क्याह

विसर्गशक्तिर्या शंभोः सेत्थं सर्वत्र वर्तते ॥२०८॥

तत एव समस्तोऽयमानन्दरसविभ्रमः ।

या खलु निःश्रेयसात्मपरश्रेयः कारणस्य अकुलस्य धाम्नो विसर्गशक्तिरुक्ता, सैवेत्थं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण, सर्वत्र वर्तते भेदभेदाभेदात्मना प्रस्फुरतीत्यर्थः। यद्वशादेव वाच्यवाचकात्मा बाह्योऽयमानन्दमयः समुज्जृम्भते स्फारः ॥ २०८ ॥

ननु बाह्यस्य सुखदुःखादिरूपत्वादानन्दमयत्वमेव कथमुक्तम् ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य तदेवोपपादयति

तथाहि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके ॥२०९॥

माध्यस्थ्यविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता ।

आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः ॥२१०॥

प्रतियोगी नहीं। यह प्रमेय प्रमातृ भाव की विश्रान्ति का परम धाम है। यह एक परमोष्कृष्ट, सर्वभाव निर्भर, निरपेक्ष, प्रकाशैक शरीर, परविमर्शस्वभाव भैरव ही है ॥२०७॥

पहले कहा गया है कि 'पर अकुल धाम परमेश्वर की कौलिकी शक्ति को विसर्ग कहते हैं।' वह शक्तिमान् से अतिरिक्त नहीं है। उसका शक्तिमान् के अतिरिक्त स्फुरण युक्ति सङ्गत नहीं है। प्रश्न है कि शक्तिमान् में विश्रान्ति का तब क्या अर्थ होगा ? इस पर कह रहे हैं—

विसर्ग शक्ति के सम्बन्ध में अकुलधाम में विश्रान्ति की उक्त बात अक्षरशः सत्य है। अकुलधाम ही तो परम श्रेय का कारण है। विसर्ग शक्ति वहीं से भेद, अभेद और भेदाभेद रूप से प्रस्फुरित होती है। उसी के परिणाम स्वरूप वाच्य-वाचकात्म यह बाह्य विस्फुरण सम्भव है। यह बड़ा ही आकर्षक, मोदमय और आनन्दरस से ओत प्रोत है ॥ २०८ ॥

बाह्य तो द्वन्द्वात्मक है। यहाँ सुख है तो दुःख भी है। फिर आप आनन्दमयता की बात कैसे कह रहे हैं ? इसको दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट कर रहे हैं—

इह खलु यस्य कस्यचन प्रमातुः, गीतादौ विषये यदा माध्यस्थ्यविगमः ताटस्थ्यपरिहारेण तदेकतानता, तदा येयं हृदये विश्वप्रतिष्ठास्थाने बोधे, स्पन्दमानता तन्मयतया परिस्फुरद्रूपता, सैवेयमानन्दशक्तिरुक्ता सर्वशास्त्रेषु अभिहितेत्यर्थः। यदुक्तम्

'गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥' वि. भै., ७३ इति।

भोगस्य सुखदुःखाद्याभाससाधारण्यमनश्नुवाना

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥' ई. प्र. १।५।१८

इत्यादिनिरूपितस्वरूपा परिस्फुरद्रूपतैव 'स्वातन्त्र्यमिति विमर्श इति आनन्द इति च' सर्वत्रैव उद्घोष्यते, यन्माहात्म्यादेव च जडोऽपि निखिलोऽयं जनः सचेतन इत्युच्यते, अत एव लोकेऽप्यानन्दातिशयकार्येव जनः 'सहृदय' इति प्रसिद्धिः। यद्यपि सर्व एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्तिस्फारः तथापि स्फुटोपलम्भादत्र तस्या एवमुक्तम् ॥ २१० ॥

कहीं भी मधुर रागिनी झंकृत हो रही हो और श्रोता सहृदय हो, तो ऐसी एकतानता आती है, जहाँ व्यक्ति खो जाता है। उसे ही माध्यस्थ्य विगम कहते हैं। हृदय में एक आनन्द शक्ति स्फुरित है। चन्दन आदि के सुखद स्पर्श में भी ऐकात्म्य बोध होता है, जिसमें बीच की सारी दूरी समाप्त हो जाती है। तटस्थता हटती है और तन्मयता परिस्फुरित होती है। कहा गया है—

"गीत आदि विषयों के आस्वाद में जो सामरस्य सुख की महानुभूति होती है, उसी तादात्म्य बोध की तरह योगियों की मनोरूढि हो जाने पर परभैरव तादात्म्य स्थापित हो जाता है।"

भोग क्या है? सुख दुःख आदि आभास की सामान्य स्थिति है। इसे देह नहीं अपितु वह महास्फुरत्ता की शक्ति ही अनुभव करती है। वही कह रहे हैं—

"देश और काल में सामान्यतया शाश्वत विद्यमान महासत्ता रूप होने के कारण स्फुरत्ता ही परमेष्ठी का 'हृदय' कहलाती है।"

यह परिस्फुरद्रूपता ही शिवका स्वातन्त्र्य है। यही विमर्श है। यही आनन्द है। यह सभी कहते हैं। उसी की प्रतिष्ठा के कारण जड पुरुष भी

तदेवं विसर्गशक्तेरेवायं महिमा—यदियान्भेदभेदाभेदाभेदात्मा विश्व-स्फारः. यदुपाधिवशादेव विसर्गशक्तेरपि त्रैविध्यं, तदाह

पूर्वं विसृज्यसकलं कर्तव्यं शून्यतानले ।
चित्तविश्रान्तिसंज्ञोऽयमाणवस्तदनन्तरम् ॥२११॥
दृष्टश्रुतादितद्वस्तुप्रोन्मुखत्वं स्वसंविदि ।
चित्तसंबोधनामोक्तः शाक्तोल्लासभरात्मकः ॥२१२॥
तत्रोन्मुखत्वतद्वस्तुसंघट्टाद्वस्तुनो हृदि ।
रूढेः पूणतयावेशान्मितचित्तलयाच्छिवे ॥२१३॥
प्राग्वद्भूविष्यदौन्मुख्यसंभाव्यमिततालयात् ।
चित्तप्रलयनामासौ विसर्गः शाम्भवः परः ॥२१४॥

शून्यता भावप्रक्षयात्मकं निष्कलं रूपं, तस्या अनले तद्विलापकत्वात्त-द्विरुद्धे निखिले भावमये सकले रूपे, पूर्वम् अनिदंप्रथमतया प्रवृत्तं, विसृज्यं न तु स्थाप्यं संहार्यं वा, सकलं प्रमातृप्रमेयात्म विश्वं यत्र, एवंविधं यत्कर्तव्यं तेन तेन रूपेण परिस्फुरणं, तदेव नाम चित्तं

चेतन कहलाते हैं। लोक में ऐसे ही विमर्श रसिक पुरुष सहृदय कहलाते हैं। यद्यपि यह विश्व आनन्द शक्ति का स्फार है फिर भी वह इन्हीं सहृदयों में अभिव्यक्त होता है और अपना स्वरूप ज्ञापित करता है ॥ २०९-२१० ॥

इस प्रकार यह सिद्ध है कि यह सारा माहात्म्य विसर्ग शक्तिका है। उसी से भेद, भेदाभेद और अभेदात्मक विश्व का स्फार होता है। उपाधिवश विसर्ग शक्ति में भी त्रैविध्य हो जाता है। वही कह रहे हैं—

विसर्ग की तीन अवस्थाओं को समझने के लिए पहले चित्त विश्रान्ति, चित्तसंबोध और चित्त प्रलय शब्दों को समझना है। भेद की उन्मुखता की चरम सीमा में चित्त को ठहरा देना ही चित्त की विश्रान्ति कही जाती है। यह दशा तब होती है, जब शून्यता में आग लग जाय। भाव के प्रक्षय की उच्च अवस्था ही शून्यता है। इसे निष्कल दशा भी कहते हैं। इसके विरुद्ध प्रमातृ-प्रमेयात्मक विश्व भाव मय 'सकल' दशा होती है। सर्वप्रथम उसी में विसर्जन करने योग्य विश्वात्म प्रस्फुरित सभी भाव निहित हो जाते हैं। चित्त वहीं रम जाता है। संकोच प्रधान हो जाता है। प्रत्यभिज्ञा हृदय का ५ वाँ सूत्र है—

'चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनो चित्तम्'
(प्र० हृ० ५ सू०)

इत्यादिनीत्या चितिचेत्ययोः संघट्टरूपं संकुचितं ज्ञानं, तस्य विश्रान्तिः भेदौन्मुख्ये परा काष्ठा, तदभिधानोऽयं भेदप्राधान्यादाणवो नरसम्बन्धी हकारात्मा स्थूलो विसर्गः । एतदन्तरमपि दृष्टश्रुते आदौ यत्र, आदिग्रहणात् स्पृष्टघ्रातादपि, एवविधं यत्तच्चराचरात्मना प्रसिद्धं जगल्लक्षणं वस्तु, तस्य यदात्मसंविदि प्रकर्षणोन्मुखत्वं ग्राह्यग्राहकभेदात्म सकलरूपापहस्तनेन निष्कलरूपतोद्रेचनेन स्वात्मसंविदेकोभावेनावभासनं, तदेव नाम चित्तस्य संकुचितात्मनो ज्ञानस्य, स्वात्मसंविद्विश्रान्तेः संबोधः सम्यग्बोधः, तन्नामायं सूक्ष्मो विसर्जनीयात्मा भेदाभेदप्रधानः शाक्तो विसर्ग उक्तः । तथा तत्र आत्मसंविदि, उन्मुखत्वेन तस्य जगल्लक्षणस्य वस्तुनोऽर्थात्तयैव संघट्टात्परस्परौन्मुख्यात्तस्यैव च वस्तुनो हृदि तत्रैव संविल्लक्षणे पारमार्थिके रूपे, प्ररोहात्, शिवे चिदात्मनि बोधे, पूर्णतया कर्तृत्वाद्युत्तेजनेन, मितस्य शून्यादेः संकुचितस्य परिमितस्य प्रमातुर्गुणीभावात्, य आवेशस्ततः प्राग्वदाणव-

---

"चिति ही चेतन पद से स्खलित होकर चेत्य के संघट्ट से चित्त बन जाती है।" बाह्य और आन्तर प्रमेयों के प्रभाव से संकुचित हो जाती है। इस प्रकार चित्त संकोच-प्राधान्य के कारण अर्थ में विश्रान्त हो जाता है। यह ऊपर कहा गया भेद प्रधान, नरसम्बन्धी, हकारात्मक स्थूल आणव विसर्ग है।

शाक्त विसर्ग चित्त संबोधात्मक होता है। इसमें इन्द्रिय सन्निकर्ष-ग्राह्य चराचरात्मक जगत् रूपी वस्तु स्वात्म संविद् प्रकाश की ओर उन्मुख हो जाता है। ग्राहक रूप भेदात्मकता का अपहस्तन हो जाता है। निष्कलता का उद्रेक होने लगता है। स्वात्मसंविदैक्यानुभूति जागृत हो जाती है। चित्त का संकुचित ज्ञान समाप्त हो जाता है। स्वात्म संविद् में वह विश्राम करने लगता है। शाक्तोल्लास रूप एक विलक्षण बोध उद्बुद्ध हो जाता है। इसे ही चित्त सम्बोध करते हैं। वह शाक्त विसर्ग है।

शाम्भव विसर्ग चित्त प्रलयात्मक होता है। इस स्थिति में सात क्रियायें होती हैं। १—स्वात्मसंविद् में औन्मुख्य, २—जागतिक वस्तुओं का संविद्-संघट्ट, ३—समस्त वस्तु सत्तात्मक जगत् का संविद् रूपी पारमार्थिक सत्ता में प्ररोह, ४—चिन्मय बोध का उल्लास, ५— पूर्ण आवेश के कारण चित्त के संकोच का क्षय और शिव में विलय, ६—आणव विसर्ग में जा बहिर्मुखता

वद्भविष्यदपि यदौन्मुख्यं बहीरूपतया परिस्फुरणं, तेन संभाव्यमाना येयं मितता संकुचितज्ञानरूपता तस्या लयः संभाव्यमानस्यापि संकोचस्याभावः, ततश्चित्तस्य प्रकर्षेण लयः संकुचिततापासनेन पूर्णतावलम्बनेन च स्वात्मसंविन्मात्रतया परिस्फुरणं, तन्नामायमभेदप्रधान आनन्दात्मा परः शैवो विसर्गः। तदेवं पारमेश्वरी विसर्गशक्तिरेव तथा तथा परिस्फुरति,-इति नरशक्तिशिवात्मना अस्यास्त्रैविध्यमुक्तं, तेन युक्तमुक्तं-यद्विसर्गशक्तिः सर्वत्र वर्तत इति ॥२११-२१४॥

अत एव भगवताप्येवमुक्तमित्याह

तत्त्वरक्षाविधानेऽतो　　　　विसर्गत्रैधमुच्यते ।

अत इति यथोक्तन्यायात् । तदेव शब्दद्वारेण अर्थद्वारेण च पठति

हृत्पद्मकोशमध्यस्थस्तयोः संघट्ट इष्यते ॥२१५॥
विसर्गोऽन्तः स च प्रोक्तश्चित्तविश्रान्तिलक्षणः ।
द्वितीयः स विसर्गस्तु चित्तसंबोधलक्षणः ॥२१६॥
एकीभूतं विभात्यत्र जगदेतच्चराचरम् ।

होती है उसके विपरीत स्वात्मसंविदौन्मुख्य के कारण चित्त का चिति रूप में परिवर्तन और ७—चित्त का सर्वथा प्रलय। यह चित्त प्रलय नाम शाम्भव विसर्ग है। यह सब पारमेश्वरी विसर्ग शक्ति का प्रस्फार नर-शक्ति-शिवात्मक ही होता है। यही इसका त्रैविध्य है॥ २११-२१४॥

अतः भगवदुक्ति का उल्लेख कर रहे हैं—

उपर्युक्त प्रतिपादन से यह सिद्ध है कि तत्त्वरक्षा के इस सन्दर्भ में विसर्ग की त्रिविधता सभी स्वीकार करते हैं। वही शब्द और अर्थ के माध्यम से यहाँ व्यक्त कर रहे हैं—

बोध की भूमि हृदय है। वही भेदप्रधान, आणव विसर्ग रूप बाह्य उल्लास में विकस्वर होने के कारण कमल है। उसका कोष रागात्मक मकरन्द रसामृतका आगार है। वहीं चिति और चेत्यका संघट्ट होता है। इसमें ज्ञान का संकोच स्वाभाविक हो जाता है और चित्त बाह्य उल्लसित मकरन्द रस को पीने के लिये भ्रमर बन जाता है। उसी में चित्तविश्रान्ति हो जाती है।

ग्राह्यग्राहकभेदो वै किंचिदत्रेष्यते यदा ॥२१७॥

तदासौ सकलः प्रोक्तो निष्कलः शिवयोगतः ।
ग्राह्यग्राहकविच्छित्तिसंपूर्णग्रहणात्मकः ॥२१८॥

तृतीयः स विसर्गस्तु चित्तप्रलयलक्षणः ।
एकीभावात्मकः सूक्ष्मो विज्ञानात्मात्मनिर्वृतः ॥२१९॥

हृत् बोधभूः, तदेव बहिर्विकस्वरत्वात्पद्मं, तस्य कोशमध्यं परा काष्ठा, तत्रस्थो योऽयं चितिचेत्ययोः संकुचितज्ञानात्मा संघट्टः, स एव चित्तविश्रान्तिनामा विसर्गयोः शैवशाक्तयोरन्तः तृतीयः प्रथमो वा आणवो विसर्गः, प्रकर्षेण भेदप्रधानतयोक्तः। द्वितीयः शाक्तः पुनः स विसर्गश्चित्तसंबोधनामा, यतोऽत्र चराचरं ग्राह्यग्राहकरूपमेतद्विचित्रावभासं जगदेकीभूतं विभाति स्वात्मसंविन्मात्ररूपतया परिस्फुरति, यतोऽसौ शाक्तो विसर्गो ग्राह्यग्राहकभेदावभासे सकलो विश्वमयः प्रोक्तः, परनिःश्रेयसात्मश्रेयस्करस्वात्मसंविदेकीभावे पुनर्निष्कलो विश्वोत्तीर्णो, येनायं भेदाभेदप्रधानः। तृतीयः शैवः पुनः स विसर्गः चित्तप्रलयनामा, यतोऽयंग्राहकयोः संविन्मात्ररूढ्या येयं विच्छित्तिः त्रोटः, तया सम्यक् शून्यादिनियतावच्छेदाभावात्पूर्णं यद्ग्रहणं, तदात्मकः परप्रकाशरूप इत्यर्थः, अत एवैकीभावात्मकः स्वात्मसंविन्मात्रावेशरूपः, अत एव सूक्ष्मः–प्रमात्रेकरूपत्वात्परासंवेद्यः, अत एव संभाव्यमानस्यापि संकुचितज्ञानरूपस्याभावाद्विज्ञानात्मा पूर्णज्ञानस्वभावः, अत एव परस्य कस्यचिदपि आकाङ्क्षणीयस्याभावादात्मनिर्वृतः स्वात्ममात्रविश्रान्तः, अत एव चायमभेदप्रधानः । तदेवं पारमेश्वरी कौलिक्यादिशब्दव्यपदेश्या विसर्गशक्तिरेव तत्तदामर्शात्मना स्फुरतीति तात्पर्यार्थः ॥२१५-२१९॥

दूसरा शाक्त विसर्ग है। इसे 'चित्त संबोध' कहते हैं। इसमें ग्राह्य ग्राहकात्मक भेदभिन्न, चराचर में व्यक्त, विचित्र अवभास होता है और जगत् स्वात्म संवित् में स्फुरित प्रतीत होता है। यह विश्वमय सकल विसर्ग है। 'चित्त संबोध' रूप परम श्रेयस्कर, निश्रेयस्-साधक, विश्वोत्तीर्ण निष्कल भेदाभेद प्रधान विसर्ग ही शाक्त विसर्ग है।

तृतीय विसर्ग शैव विसर्ग है। इसे 'चित्त प्रलय' विसर्ग कहते हैं। क्योंकि इसमें ग्राह्य ग्राहकता की स्वात्मसंविद् में रूढि हो जाती है। समस्त यन्त्रणा

न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

निरूपितोऽयमर्थः श्रीसिद्धयोगीश्वरीमते ।

तदेवार्थद्वारेण पठति

सात्र कुण्डलिनी बीजं जीवभूता चिदात्मिका ॥२२०॥

तज्जं ध्रुवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः ।

सा पारमेश्वरी संविन्मात्ररूपा विसर्गशक्तिरेव गर्भीकृतनिखिलविश्वत्वात् कुण्डलिनीशब्दव्यपदेश्या अनच्ककलारूपा वाच्यवाचकात्मन्यत्र विश्वत्र अविद्यादेस्तत्कारणत्वे दूरापास्तत्वात् बीजभूता, तत्त्वेऽपि संविन्निष्ठस्वात्सर्वव्यवस्थितीनां जीवभूता, नहि संविदमन्तरेण किंचिदपि स्फुरेदिति भावः। तदुक्तं तत्र

'या सा कुण्डलिनी सात्र जगद्योनिः प्रकीर्तिता ।
तुटिरूपा तु सा ज्ञेया जीवभूता जगत्यपि ॥
बीजरूपा समाख्याता चिद्रूपापि प्रकीर्तिता ।'

तन्त्र का त्रोटन हो जाता है। परप्रकाश में सार्वात्मय और ऐकात्म्य का उदय हो जाता है। स्वात्मसंविदावेशात्मक पूर्णज्ञानस्वभाव अभेद प्रधान यह शाम्भव विसर्ग होता है। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि कौलिकी आदि नामों से व्यपदिष्ट विसर्ग शक्ति हो विभिन्न परामर्शों में प्रकाशमान है ॥२१५-२१९॥

यह मेरा स्वोपज्ञ, सिद्धान्त नहीं अपितु आगम समर्थित है। यही कह रहे हैं और श्री सिद्ध योगेश्वरो की उक्तियों को ही अर्थतः अपने शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं—

वह कौलिकी शब्द व्यपदिष्ट पारमेश्वरी विसर्ग शक्ति ही गर्भीकृत निखिल विश्वात्मिका कुण्डलिनी है। अनच्ककला रूपा है। यह अविद्या और अविद्या के कारणों के क्षय हो जाने के कारण बीजात्मिका होती है। संविन्निष्ठ होने के नाते समग्र सर्जन की जीवभूता है, प्राण है।

वह तत्त्व जिसे कुण्डलिनी कहते हैं, जगत् की योनि है। तुटि रूपा और सर्वप्राणप्रेरिका है। जीवभूता है, बीजमयी है और चिद्रूपिणी भी है"

इति । मात्रेत्यपपाठः—नह्यनेन कश्चिदप्यागमिकोऽर्थः संग्राह्यो वर्तते यदर्थोऽयमेतत्प्रयोगः, प्रत्युतासंगतार्थत्वमसाधुशब्दत्वं च प्रसज्यते,–इत्यलं बहुना । तदेवंभूतायाश्च तस्याः सकाशादनुत्तरेच्छाज्ञानाख्यं परामर्शत्रयं जातं, ततश्च परामर्शत्रयादुक्तवक्ष्यमाणनीत्या निखिलपरामर्शान्तरोदयः । तदुक्तं तत्र

'शक्तित्रयसमुद्भूतिस्ततो वर्णसमुद्भवः ।' इति ॥२२०॥

एतदेव विभजति

आ इत्यवर्णादित्यादियावद्वैसर्गिकी कला ॥२२१॥
ककारादिसकारान्ता विसर्गात्पञ्चधा स च ।
बहिश्चान्तश्च हृदये नादेऽथ परमे पदे ॥२२२॥
बिन्दुरात्मनि मूर्धान्त हृदयाद्व्यापको हि सः ।

एक 'इतिशब्दः' स्वरूपपरामर्शकः, अपरः प्रकारे, तेनानुत्तरादानन्दो यथा जातः एवमिच्छातः ईशित्री उन्मेषादूनता यावत्ककारादिः सकारोऽन्ते यस्या एवंविधा हकारात्मा वैसर्गिकी कला जाता, निखिलमेव वर्णजातमुदितमित्यर्थः । तदुक्तं तत्र

इसी श्लोक में सात्र—मात्र के पाठ भेद की चर्चा करते हुए अन्त में यह उद्घोष करते हैं कि उपर्युक्त गुणमयी शक्ति से अनुत्तर, इच्छा और ज्ञान रूप तीन परामर्शों की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् अन्य समस्त परामर्शान्तरों का उदय भी होता है। कहा गया है—"शक्तित्रय के उदय होने पर ही समस्त वर्णों की भी उत्पत्ति हो जाती है।" यही अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष रूप 'अ' 'इ' और 'उ' वर्ण हैं ॥२२०॥

इसी का विभाग कर रहे हैं—

अनुत्तर 'अ' कार से जैसे 'आ' उत्पन्न होता है, उसी प्रकार 'इ' इच्छा से ईशित्री शक्ति तथा उन्मेष (उ) से ऊनता शक्ति का उदय होता है। इसी प्रकार 'क' से ले कर 'स' वर्ण तक वर्णों का उल्लास होता है। यह वैसर्गिकी कलाका चमत्कार है। हकारात्मिका इस कला से ही सारे वर्ण समुदाय का आविर्भाव होता है। कहा गया हैं—

'अकाराज्जात आकार इकारादी इति स्मृतः ।
ऊकारश्च उकारात्स्यादृकाराच्च नपुंसकम् ॥
एकार ऐस्वरश्चैव ओकार औकार एव च ।
अंकारश्च अनुस्वारः अः विसर्ग इति स्मृतः ॥' इति ।

तथा

'ककारादिसकारान्ता द्वात्रिंशत्ताः कलाः स्मृताः ।' इति ।

मकारान्तेति वक्तव्ये ककारादीत्यत प्रभृति व्यञ्जनरूपत्वं कवर्गस्य च अकाराज्जन्म द्योतयितुमुक्तम् 'अकुहविसजनीयानां कण्ठः' इत्यादिनीत्या कवर्गहकारविसर्जनीयानामकारादवोत्पत्तिः । वैसर्गिकी कला इति सामान्येनोक्तेः परापरो हि विसर्जनीयात्मा विसर्गः कटाक्षितः । एतच्च सर्व विमर्गादुत्पन्नं विसर्ग एव तत्तदामर्शात्मना प्रस्फुरित इत्यर्थः । स एव हि परप्रमात्रेकरूपोऽशेषविश्वक्रोडोकारेण अनुत्तरहकारात्मना प्रस्फुरन्नन्तर्बहीरूपतया नरशक्तिशिवात्मतामाभासयेत् । तदुक्तं तत्र

'तदेवं बिन्दुरुद्दिष्टो व्याप्नुवन्स जगत्स्थितः ।
अष्टात्रिंशत्कलाभेदाद्बिन्दुमाला व्यवस्थिता ॥
विन्दुना क्रमिताः सर्वे आदिमान्त्ययुताः स्मृताः ।' इति ।

'अकार से 'आ'कार 'इ'कार से 'ई'कार, 'उ'कार से 'ऊ' ऋ से ॠ,ए से ए-ऐ तथा 'अ' से ओ से औ, अं तथा अः स्वर वर्णों की उत्पत्ति होती है। इसी तरह यह भी कहा गया है कि—

'क'कार से 'स'कार तक ३२ बत्तीस कलायें व्यञ्जन वर्ण हैं। श्लोक में 'क' से 'म' पर्यन्त कहने पर स्पर्श वर्ण ही गृहीत होते हैं। कवर्ग की उत्पत्ति 'अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार 'अ'कार से ही होती है तथा 'ह'कार और विसर्ग भी अ से ही उत्पन्न होते हैं।

वैसर्गिकी कला परापर रूपा होती है। यह सारा वर्णविस्फार विसर्ग से ही उत्पन्न है अर्थात् उन उन परामर्श रूपों में विसर्ग ही प्रस्फुरित होता है। यही पर प्रमाता रूप से समस्त विश्व को आत्म परिवेश में धारित और उल्लसित करता है। अनुत्तर ही हकार रूप से प्रस्फुरित होकर नर शक्तिशिवात्मकता का आभासन करता है।

अत एवाह 'पञ्चधा स च' इति। चो हेतौ यतः स विसर्ग एक बिन्दुः विदिक्रियायां स्वतन्त्रः प्रमाता, बहीरूपतया हृदये नरतया—बहीरूपत्वेऽपि अन्तारूपतायामेव विश्रान्तेः; नादे शक्तितया, अन्तारूपतया परमे पदे, द्वादशान्ते शिवतया प्रस्फुरन्पञ्चप्रकारः। अत एव शरीरेऽपि हृदयान्मूर्धान्तं हृत्कण्ठललाटशक्त्यन्तद्वादशान्तेषु अर्थादवस्थितः। एवं पञ्चधात्वेऽपि अस्य वस्तुतस्त्रैरूप्य एव पर्यवसानम्,—इति न पूर्वापरव्याहतत्वं किंचिदाशङ्कनीयम्। नन्वेक एवासौ कथं हृदादौ वर्तते इत्याह 'व्यापको हि स' इति। यदुक्तं तत्र

'बाह्यात्मा तु भवेदेको ह्यन्तरात्मा द्वितीयकः।
तृतीयो हृदयात्मा तु नादात्मा तु चतुर्थकः।
एवमेते महावीरे पञ्चमः परमात्मकः।
बिन्दुः पञ्चविधो देवि हृत्कण्ठे तु ललाटके॥
नासान्ते च तथा चान्ते बिन्दुस्तेनैव व्यापकः।' इति।

वहीं कहा गया है—

'इस प्रकार विन्दु ही समस्त जगत् में व्याप्त है, यह सिद्ध होता है। अड़तीस कलात्मक यह 'विन्दुमाला' व्यवस्थित है। आदिमान्त सभी वर्ण इससे आक्रान्त होते हैं। इसी आधार पर मूल श्लोक में पञ्चधा स्थिति का उल्लेख है—(१) यह विसर्ग ही 'विन्दु' भी है। विन्दु का अर्थ सर्वज्ञ प्रमाता होता है। यही बाह्योन्मुख्य में (२) 'नर' रूप से हृदय में प्रतिष्ठित होता है। बाह्य उल्लास में भी अन्तः अवस्थित 'पर' रहता है। (३) नाद में 'शक्ति' रूप से विराजमान है। (४) परम पद में पर रूप से उल्लसित है ? (५) द्वादशान्त में शिव रूप से यही स्फुरित है। इसका नरशक्तिशिवात्मक त्रैविध्य ही २११-२१४ श्लोकों में वर्णित है।

इसी तरह शरीर में भी यह हृदय से ऊर्ध्वद्वादशान्त पर्यन्त अर्थात् १—हृदय, २—कण्ठ, ३—ललाट, ४—शक्त्यन्त और ५—द्वादशान्त तक सर्वत्र उल्लसित है। इसमें भी पञ्चधात्व प्रकल्पित है। ५ प्रकार का होने पर भी आणव, शाक्त और शाम्भव रूप त्रैविध्य ही मुख्य प्रकार हैं। एक हो कर भी सर्वत्र होने को दृष्टि में रख कर ही उसे व्यापक कहा गया है। कहा गया है कि 'बाह्यात्मकता में वह एक ही रहता है। अन्तः अवस्थित उसका दूसरा रूप है। तीसरा हृदय में, चौथा नाद रूप में, और पाँचवाँ परमात्म रूप से वही सर्वत्र अवस्थित है। इस प्रकार विन्दु पाँच प्रकार का ही वर्णित है। हृदय,

तदेवमनुत्तरैव इयं पारमेश्वरी विसर्गशक्तिर्हकारपर्यन्तं स्थूलं रूपमाभास्य पुनरपि स्वस्वरूपाप्रच्यावादनुत्तरे स्वात्मन्येव विश्राम्यति, यदवद्योतनाय प्रत्याहृताशेषविश्वः प्रमात्रेकरूपः परमन्त्रवीर्यात्मा अयमहंपरामर्शः

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।' अजड प्र०सि० २२

इत्यादिसर्वशास्त्रेषु उद्घोष्यते, तदेव च परं तत्त्वं मातृकायाः, यदभिप्रायेणैव

'..........न विद्या मातृकापरा।' (स्व. ११ प. १९७ श्लो.)

इत्याद्याम्नातम्। एवं परिज्ञानवतामेव च इयं योगिनां भुक्तिमुक्तिलक्षणां सिद्धिं यच्छेत्, अन्यथा पुनः तत्तद्वाचकानुवेधद्वारेण हर्षशोकादिरूपतामादधाना बन्धकारिण्येव पशूनाम्,–इति भुक्तिमुक्तिलक्षणफलायोगात् निष्फलैव भवेदिति पिण्डार्थः। तदुक्तम्

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका॥'

(स्पन्द. ४। १८) इति ॥२२२॥

कण्ठ, ललाट, नासाग्र और द्वादशान्त में एकसाथ रहने के कारण वह व्यापक तत्त्व भी है।'

इस तरह यह पारमेश्वरी विसर्ग शक्ति भी अनुत्तर रूपा ही सिद्ध होती है। यह 'ह'कार पर्यन्त स्थूलता का आभासन करती है और अपने 'स्व' रूप से च्युत भी नहीं होती। पुनः अनुत्तर में ही विश्रान्त होती है। इसी रहस्य का अवद्योतन प्रत्याहार विधान से भो होता है। समस्त प्रपञ्च को प्रत्याहृत कर परमप्रमाता और मन्त्रवीर्यात्मा अहं परामर्श सर्वत्र उल्लसित है। कहा गया है—

"प्रकाश की आत्मविश्रान्ति ही 'अहं' भाव है।"

इत्यादि रूपों में सभी शास्त्रों में वर्णित यह मान्य सिद्धान्त है। वही मातृका का परमतत्त्व है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि—

'..........मातृका से उत्कृष्ट कोई विद्या नहीं है।' स्व०११।१९७

इस प्रकार के परिनिष्ठित ज्ञानवान् योगिवर्यों को यह भुक्ति और मुक्ति दोनो प्रकार की सिद्धि प्रदान करती है। इसके विपरीत हर्ष शोकादि व्यञ्जक शब्दों के चक्कर में पडे पशुजनों को बन्धन में भी डालने में संकोच नहीं करती। उन्हें न भुक्ति मिल पाती है और न मुक्ति। 'शिव की यह

न केवलमेवमस्या एव संभवेत्, यावन्मननत्राणधर्माणां मन्त्राणामपीत्याह

आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् ॥२२३॥

तु शब्दश्चार्थे, आदिमोऽनुत्तरः, अन्त्यो हकारः, तेन मन्त्रा अपि अहंपरामर्शरूपाभ्यामादिमान्त्याभ्यां विहीनाः तद्रूपत्वेनापरिज्ञायमानाः, शरदभ्रवत् स्युः, अकिंचित्करा एवेत्यर्थः। तदुक्तं तत्र

आदिमान्त्यविहीनास्तु मूलयोनिमजानतः।
न ते सिद्धिकरा मन्त्रा निष्फलाः शरदभ्रवत् ॥
खपुष्पं निष्फलं यद्वच्छशकस्य विषाणकम्।
वन्ध्यायाः प्रसवो देवि क्लीबस्य द्रवमेव च ॥
अग्निमुक्ता यदा विप्रास्तदा एते तु निष्फलाः।
आदिमान्त्यविहीनानि मन्त्राणि च तथैव च ॥
निष्फलानि भवन्त्येवं पिबतो मृगतृष्णिकाम्।' इति।

अन्यथा पुनरहंपरामर्शात्मकपरमन्त्रवीर्यात्मत्वेन परिज्ञायमानाः तत्तत्स्वकार्यकारिण एव भवेयुरिति तात्पर्यार्थः, यद्वक्ष्यति

एतद्रूपपरामर्शमकृत्रिममनाविलम् ।
अहमित्याहुरेषैव प्रकाशस्य प्रकाशता ॥

क्रियात्मिका शक्ति पशुओं के बन्धन का भी कारण बनती है। अपने रहस्यात्मक रूप में ज्ञात होने पर वही साधकों की सिद्धि की उत्पदायित्री भो होती है।" स्पन्दकारिका के ४।१८ श्लोक में भी यही तथ्य प्रतिपादित है ॥२२१-२२२॥

केवल यही ऐसी नहीं होती। मन्त्र भी ऐसे ही हो जाते हैं—

आदिम अनुत्तर वर्ण को कहते हैं। अन्त्य वर्ण 'ह' कार है। ये दोनो अहंपरामर्शात्मक हैं। इन दोनों से रहित और इनकी रहस्यात्मकता के न होने पर कोई भी मन्त्र साधक के लिये व्यर्थ हो जाता है। जैसे शरद्का बादल। हे तो पर बरसने में असमर्थ। वहीं कहा गया है—

"ऐसे मन्त्र जो अहं परामर्श रहित हैं या मूलकारणज्ञान शून्य हैं, साधक के लिये सिद्धि प्रद नहीं होते। वे शरद् कालीन बादल की तरह देखने मात्र के लिये होते हैं। जैसे आकाश कुसुम, शशश्रृङ्ग, बन्ध्या पुत्र, नपुंसक शुक्रपात और याग विहीन ब्राह्मण निष्फल होते है, उसी तरह आदिमान्त्य विहीन मन्त्र भी

एतद्वीर्यं हि सर्वेषां मन्त्राणां हृदयात्मकम् ।
विनानेन जडास्ते स्युर्जीवा इव विना हृदा ॥
अकृत्रिमैतद्धृदयारूढो यत्किंचिदाचरेत् ।
प्राण्याद्वा विमृशेद्वापि स सर्वोऽस्य जपो मतः ॥'
(४।१९२-१९४) इति ॥२२३॥

अत एव च एतत्परिज्ञानमेव गुरोर्मुख्यं लक्षणम्, इत्याह

गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत् ।
पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवो देवतात्मकः ॥२२४॥

अत एव ज्ञानित्वादियोगात् द्योतनस्वभावो, विश्वनिर्भरोऽहमिव सर्वेषां पूज्य इति भगवदुक्तिः । यदुक्तं तत्र

'आदिं चैव तथा चान्त्यमाचार्यो यस्तु विन्दति ।
स भवेद्योगिसंघस्य पूज्यः पूज्यतरो भवे ॥
अच्छिद्रं तस्य कुर्वन्ति कुर्वन्ति च अनुग्रहम् ।
वरं तस्य प्रयच्छन्ति पुत्रवत्पालयन्ति च ॥

निष्फल होते हैं । इनके जप मृगतृष्णाके जल को तरह व्यर्थ होते हैं ।" इत्यादि । अर्थात् इसके विपरीत अहंपरामर्शक मन्त्र सभी लक्ष्यों की पूर्ति करने में समर्थ हैं । इसी तथ्य का प्रतिपादन आह्निक ४ के १९२-१९४ श्लोकों में किया गया है ॥२२३॥

इसीलिये इस अहं परामर्श-रहस्य-विज्ञान का वेत्ता ही गुरु होता है । 'अहंपरामर्शरहस्यविज्ञः गुरुः' इसी लक्षण को स्पष्ट कर रहे हैं—

गुरुका इतना ही पर्याप्त लक्षण है कि, जो अनुत्तर से लेकर क्षान्त वर्णों का रहस्य उद्घाटित करने में सर्वथा सक्षम हो । वह उसी तरह पूज्य है, जैसा पूज्य सर्वभावनिर्भर भगवान् महेश्वर । वही अहन्ता का प्रतीक है । वह स्वयं द्योतन स्वभाव परभैरव है । सिद्ध योगीश्वरी मत में मान्य हैं कि—

"आदि और अन्त को जो आचार्य जानता है, वह योगिवर्यों में श्रेष्ठ और पूज्य है, संसार के लिये पूज्यतर है। ऐसा आचार्य अपने शिष्यों का कल्याण करता है और उनके ऊपर 'अनुग्रह' करता है । उसे मङ्गलमय वरदान देता है । पुत्रवत् उन्हें वात्सल्य प्रदान करता है । भगवान् शंकर कहते हैं कि हे देवि ! वह

पूज्यः सर्वत्र जायेत अहं देवि यथा तव ।
स ज्ञानी वै वरारोहे स भवेत्साधकोत्तमः ॥
सर्वेषामुत्तमः प्रोक्तो दैवज्ञः सर्वसिद्धिदः ।
स यतिः पण्डितश्चैव भैरवेशः प्रकीर्तितः' इति ॥२२४॥

अत एव च एवंविधो गुरुर्न केवलं स्वभावत एव परिस्फुरत्परशक्तिवीर्यात्मनो मन्त्रानेव वेत्ति यावत् यत्किंचन लौकिकमपि श्लोकादि, इत्याह

श्लोकगाथादि यत्किंचिदादिमान्त्ययुतं ततः ।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति ॥ २२५ ॥

स खलु गुरुः, तस्मात् निरतिशयज्ञानयोगात्, सर्वं यत्किंचन बाह्यं श्लोकादि, तथा अहंपरामर्शरूपत्वेन परामृशन्मन्त्रत्वेनैव

'मननं सर्ववेत्तृत्वं त्राणं संसार्यनुग्रहः ।'

इत्येवं–कार्यकारितया साक्षात्करोति, यतस्तदपि आदिमान्त्ययुतमहंपरामर्शरूपमेवेत्यर्थः । नहि प्रकाशात्मपरप्रमातृरूपतामन्तरेण किंचिदपि स्फुरेदिति भावः । तदुक्तं तत्र

मेरे समान पूज्य हो जाता है । वही ज्ञानवान् है । वही साधकों में श्रेष्ठ है । वह सबसे उत्कृष्ट है । वह देव रूप प्रारब्ध का ज्ञाता अर्थात् त्रिकालज्ञ हो जाता है । इष्ट सिद्धि देने में समर्थ होता है । वही यति है, वही पण्डित और भैरव समान अधिकार सम्पन्न हो जाता है ।" इस तरह यह सिद्ध है कि अहंपरामर्श रहस्य विज्ञानवेत्ता ही परमगुरु है ॥ २२४ ॥

ऐसे गुरु न केवल मन्त्रवीर्यात्म बोध सम्पन्न होते हैं । अपितु लौकिक ऐश्वर्य भरी गाथाओं का रहस्य भेदन कर कालान्तराल में पैठ कर इसी अहमात्मक परामर्श के द्वारा सब कुछ जान लेते हैं । यही कह रहे हैं—

ऐसे गुरु आदिमान्त्य निरतिशय ज्ञान के द्वारा समस्त बाह्य उल्लास में घटित घटनाओं को भी परामृष्ट कर लेते हैं और मन्त्रद्रष्टा हो जाते हैं । कहा जाता है कि––

"मनन ही सर्वज्ञता है । जागतिकता से यह रक्षण भी करता है और अनुग्रह रूप है ।" इसके अनुसार वह भूत और भविष्यत् का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है । क्योंकि यह जगत् भी आदिमान्त्य वर्णों के अतिरिक्त कुछ नहीं है । परप्रमाता रूप प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी यहाँ स्फुरित नहीं होता । वही कहा गया है—

'श्लोकगाथा तथा वृत्तं गीतकं वचनं तथा।
स्तुतिर्वै दण्डकं चैव आदिमान्त्ययुता यदा॥
तेऽपि मन्त्रा भवन्त्येव किं पुनस्तत्त्वग्रहस्य तु।' इति ॥२२५॥

विसर्गशक्तिरेव च इयान्विश्वस्फारः,–इति न केवलमस्मन्नयसहोदरेषु शास्त्रेषु भगवता उक्तं यावदितो बाह्येष्वपि, इत्याह

विसर्गशक्तिर्विश्वस्य कारणं च निरूपिता।
ऐतरेयाख्यवेदान्ते परमेशेन विस्तरात् ॥ २२६ ॥

परमेशेनेति गृहीतैतरीयकमुनिभूमिकेन, विस्तरादिति निखिलस्यास्य हि ग्रन्थस्य एतदेव प्राधान्यादभिधेयमिति भावः ॥ २२६ ॥

तदेव अर्थद्वारेण संवादयति

यल्लोहित तदग्निर्यद्वीर्यं सूर्येन्दुविग्रहम्।
अ इति ब्रह्म परमं तत्संघट्टोदयात्मकम् ॥ २२७ ॥

लोहितं प्रकाशैकात्मकत्वात् दीप्तं यदनुत्तरं धाम तदेव प्रमात्रेकरूपत्वादग्निः, यच्चास्य वीर्यं ज्ञानक्रियात्मा शाक्तः स्फारः तदेव प्रमाणप्रमेयादिरूपतया

"ऐश्वर्यमयी गाथायें, सारी घटनायें, सारे गाये हुए राग और औपदेशिक वचन और स्तुतियां तथा स्मृतियाँ आदि उसे प्रत्यक्ष हो जाती हैं। क्योंकि यह सब आदिमान्त्य रहस्य परिवेश में ही होती हैं। वे भी मनन से मन्त्रवत् परिदृश्य हो जाती हैं और ग्राह्य हो जाती हैं। मनन के बल पर गुरु विश्व द्रष्टा हो जाता है ॥ २२५ ॥

समस्त विश्व का इतना प्रसार विसर्ग शक्ति का भी चमत्कार है। यह यह तथ्य केवल आगमिक मिली जुली विचारधारा के शास्त्र ही नहीं कहते हैं, अपितु अन्यत्र भी यह मत व्यक्त है। यही कह रहे हैं—

विसर्ग शक्ति ही विश्व की कारण रूप से निरूपित है। ऐतरेय नामक आरण्यक में ऐतरेय मुनिरूप धारण करने वाले परमेश्वर ने विस्तारपूर्वक उक्त रहस्य का उद्घाटन किया है ॥ २२६ ॥

उसी सन्दर्भ का भावार्थ कह रहे हैं—

जो लोहित रंग से प्रकाशमान है तथा दीप्त अनुत्तर धाम है, वह अग्नि है। वह प्रमाता रूप है। उसका ज्ञान क्रियात्मक शाक्त स्फार है, वह

सूर्येन्दुविग्रहम्, इत्येवंरूपयोस्तयोः—लोहितवीर्ययोः, यः संघट्टः ऐकात्म्यं, तस्य उदयः सततमेवानस्तमितत्वेन प्रस्फुरद्रूपत्वं, तत्स्वभावमिदम् अकारहकारात्मक-शिवशक्तिसामरस्यरूपं परं ब्रह्मोच्यते, यतोऽयम् 'अहम्' इति परप्रमात्रेकरूपः परः परामर्श उदियात्, यन्माहात्म्यान्निखिलोऽयं वाच्यवाचकात्मा सृष्ट्यवभासः स्यात्। यद्गीतम्

'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ गी. अ. ८ श्लो. ३

इति। एतदेव स्वरूपं प्राग्वितत्योक्तं, न पुनरिहायस्तम्। चर्याक्रमे च यल्लोहितं पक्वान्नरसरूपमार्तवं तदग्निस्तत्परिपाकोऽन्नं, यद्वा सर्वस्य आर्तवस्य यच्च वीर्यम् आनन्दफलं षष्ठग्रहपर्यायं

'तद्यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः
संभूयात्मन्येवात्मानं बिभर्ति' ऐ० उ० अ० २ खण्ड १।१

इत्यादितत्रत्योक्त्या तेजोमयत्वादाप्यायकत्वाच्च सूर्याचन्द्ररूपम्, अत एव धामत्रयात्मकत्वादेतदुभयमपि कुण्डगोलकादिशब्दव्यपदेश्यं परं पावनं, येनास्य

प्रमाण प्रमेयात्मक सूर्य और सोम है। वही वीर्य है। इन दोनों अर्थात् लोहित और वीर्य शक्तियों के संघट्ट की दशा में जिस शाश्वत उदित तत्त्व का प्रस्फुरण होता है, वही 'अ'कार और 'ह्'कारात्मक शिवशक्ति सामरस्य वाला परब्रह्म है। अहं रूप परप्रमाता के परामर्श का ही यह उदय है। उसी की महत्ता से वाच्य वाचक रूप सृष्टि का अवभास होता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

"अक्षर ही परम ब्रह्म हैं। उसका 'स्व'भाव ही अध्यात्म है। भूत भाव का उद्भव करने वाला विसर्ग कर्मसंज्ञक है। गी०८।३।"

लोक व्यवहार में भी आर्त्तवरूप लोहितवर्ण रज ही अग्नि माना जाता है। वीर्य सूर्य सोमात्मक माना जाता है। इन दोनों के अग्नि के साथ संघट्ट होने पर डिम्भ और गर्भभ्रूण तथा शिशु का जन्म होता है।

योग चर्या में पक्वान्नरसरूप आर्त्तव अग्नि और अन्न के मिश्रण से आनन्द का परिणाम भूत शुक्र सम्भूत होता है। शुक्र सर्वदा—

"जो यह वीर्य है—यह सभी अङ्गों में तेज बनकर विद्यमान रहता है। यह स्वयं में सम्यक् स्थित रहते हुए स्वात्म का ही भरण पोषण करता है।" इस ऐतरेय उपनिषद् अ० २ खण्ड १।१ की उक्ति के अनुसार तेज प्रदान करता है और अवयवों का आप्यायन कर उन्हें पुष्ट बनाता है। इसी लिये इसे

'.....................तत्रार्थः शक्तिसंगमात् ।'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या परमोपादेयत्वमुक्तम्, तत्संघट्टादेव च नित्योदितं परं ब्रह्मापि नियते देहादौ गृहीताहंभावं भवेत्, येनायं स्त्रीपुंनपुंसकरूपादिः सर्गः, यदुक्तं तत्र

यदेतत्स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपं तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत, अथ यदेतत्पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपं तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत ॥' (ऐ० उ०) इति ।

तथा

'अः इति ब्रह्म, तत्रागतमहमिति ।' (ऐ० उ०) इति ॥ २२७ ॥

अतश्च अस्यैव विश्वं वैभवमित्याह

तस्यापि च परं वीर्यं पञ्चभूतकलात्मकम् ।
भोग्यत्वेनान्नरूपं च शब्दस्पर्शरसात्मकम् ॥ २२८ ॥

यदेतत्पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामंशांशरूपं शब्दादिविषयपञ्चकं, तत् तथोक्तरूपस्य परब्रह्मणः परं वीर्यम्

सूर्य सोमात्मक मानते हैं। इस तरह तीन तेजों का चमत्कार प्रतिफलित होता है। योनि और बीज रूप होने से यह परम पवित्र माना जाता है। आह्निक २९।के २५ वें श्लोक में भी इस तथ्य की चर्चा की गयी है और इसे परम उपादेय माना गया है। इन्हीं के परस्पर संघट्ट से नित्योदित परब्रह्म भी नियतदेह में ही अहंभाव धारण करने में प्रवृत्त होता है। इसी से स्त्री पुरुष क्लीब आदि सृष्टि की रचना होती है। कहा गया है—

"स्त्री में जो आर्त्तव है, वही अग्नि है। उसमें घृणा नहीं होनी चाहिये। पुरुष में जो शुक्र है—वह आदित्य है। उसमें भी घृणा का कोई कारण नहीं।" तथा " 'अः' ही ब्रह्म है। तत्रागतम् इस विग्रह के अनुसार 'अहम्' रूप निष्पन्न होता है। ऐ० उ०।" इत्यादि में भी अहं परामर्श की महत्ता का पर विमर्श किया गया है ॥ २२७ ॥

यह विश्व वैभव इसका ही है—यही कह रहे हैं—

उसी का यह एक अनोखा वीर्यरूप प्रकाश पाँच महाभूतों में व्यक्त है। उनसे भी पाँच तन्मात्राओं का यह शाक्त प्रसार भोग्य रूप से व्यक्त है। यह भोक्ता नहीं। यह अन्न है--अन्नाद नहीं। यह समस्त विश्व का ऐश्वर्य उसी

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं..............।'

इत्याद्युक्त्या विश्ववैभवात्मना परां कोटिं प्राप्तः शाक्तः स्फार इत्यर्थः। ननु शब्दादि यद्येत्स्फार एव तदस्य भोक्त्रेकरूपत्वात् तदपि तथैव किं न स्यात्? इत्याशङ्क्योक्तं 'भोग्यत्वेन' इति, न तु भोक्तृत्वेन, अन्नरूपमिति न पुनरन्नाद-रूपम्। चर्याक्रमे च—लोहितवीर्यसंघट्टादस्यैव पाञ्चभौतिकशरीरादिपरिग्रहः इति। एतच्च तत्रैव

'यो ह वात्मानं पञ्चविधमुक्तं वेद यस्मा-
दिदं सर्वमुत्तिष्ठति स संप्रतिवित्पृथिवी
वायुराकाश आपो ज्योतींषि।' (ऐ० उ०)

इत्याद्युक्रम्य

'तस्माद्योऽन्नं च अन्नादं च वेद अहमस्मिन्नन्नादो जायते (?)
भवत्यस्य अन्नमापश्च पृथिवी चान्नम्।' (ऐ० उ०)

इत्यादि बहूक्तम्॥ २२८॥

ननु 'शब्दादयोऽस्यैव स्फारः' इत्यत्र किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह

शब्दोऽपि मधुरो यस्माद्वीर्योपचयकारकः।
तद्धि वीर्यं परं शुद्धं विसिसृक्षात्मकं मतम्॥ २२९॥

परब्रह्म का परवीर्य है। क्योंकि कहा जाता है कि "सारा संसार उसकी शक्तियों का ही स्फार है।" लोहित रज और वीर्य के मिश्रण से सृष्टि शरीर का परिग्रह चर्याक्रम में स्वतः सिद्ध है।

ऐतरेय उपनिषद में कहा गया है कि, "जो पाँच प्रकारक आत्मा को जानता है, जहाँ से यह सब उठता है, यह पृथ्वी, वायु, आकाश आप और अग्नि" तथा यहाँ से लेकर "जो अन्न है, जो अन्नाद हैं इनको जो आचार्य जानता है, वही उत्तम है। वह अन्नाद रूप बोधब्रह्म पुनः अन्नाद से अन्न बनता हैं। इस तरह यह पृथ्वी भी अन्न होती है।" यह सब उसी अहमात्मक परब्रह्म का व्यक्त प्रकाश मात्र है॥ २२८॥

शब्द आदि भी इसके ही स्फार हैं--इसमें क्या प्रमाण है? इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं--

शब्द इति शब्दादयः पञ्चापि हृद्याः सन्तो, यस्मात्परब्रह्मात्मनो वीर्यस्य उपचयहेतवः, तदवहितचेतसां झगित्येव परसंविदुल्लासः स्यात् इत्यर्थः। यदुक्तम्

'गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥' वि. भै. ७३ श्लो. इति।

अनेनैवाभिप्रायेण श्रीप्रशस्तिभूतिपादैरपि

'ये ये भावा ह्लादिन इह दृश्याः सुभगसुन्दराकृतयः।
तेषामनुभवकाले स्वस्थितिपरिपोषणं सतामर्चा ॥'

इत्याद्युक्तम्। एवं यदि एषां परब्रह्मरूपत्वं न स्यात् तत्तदवहितचेतसा कथं नाम तद्विकासो भवेदिति भावः। नन्वेवंविधं तत्परं ब्रह्म किं शान्तं किं वा चित्रम्? इत्याशङ्क्याह–तद्धीत्यादि। हिशब्द आशङ्कानिवृत्त्यर्थः, विसिसृक्षात्मकमिति निर्मित्सात्मकत्वेन सदैव तत्तद्विश्ववैचित्र्योल्लासस्वभावमेवेत्यर्थः। मतमिति सर्वेषां, न पुनरत्र कश्चिदपि विमतिं कर्तुशक्नुयादित्याशयः ॥२२९॥

ये शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श भी हृद्य और आकर्षक होते है। इस प्रकार ये ब्रह्मात्मक वीर्य की वृद्धि ही करते हैं। इनमें सजग रममाण साधक को अविलम्ब परसंविद् उल्लास की अनुभूति होती है। कहा गया है—

गीतादि विषयों में सामरस्यानुभूति संवलित सहृदय साधकों की तन्मयता और मनोरूढि से तादात्म्य भाव जागृत हो जाता है।" [वि० भै० ७३] श्री प्रशस्ति भूतिपाद ने भी इसी आशय से कहा है कि "जो जो आह्लाद जनक, मनोहर आकृतियाँ यहाँ परिदृश्यमान होती हैं, उनके अनुभव के समय स्वात्मस्थिति का परिपोषण पूजा की तरह ही तृप्ति-वर्धक होता है।" इससे यह सिद्ध है कि मनोहरता के मूल में परब्रह्म की मनोज्ञता मूलतः प्रोन्मिषित है।

यह ध्यान देने को बात है कि यह परब्रह्ममयता का आकर्षण एक प्रकार का उसका वीर्य है, तेज है। ब्रह्म परम शुद्ध है। सृष्टि के सर्जन की आकांक्षा का प्रतीक है। वह सबके द्वारा मान्य है। इसमें कोई या किसी को विप्रतिपत्ति भी क्या हो सकती है? ॥ २२९ ॥

एवमप्यस्य किं विश्वोत्तीर्णं रूपमुत विश्वमयम् ? इत्याशङ्क्याह

तद्बलं च तदोजश्च ते प्राणाः सा च कान्तता ।

तदेव तत्तद्रूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'स एषोऽसुः स एव प्राणः स एष भूतिश्च, । (ऐ० उ०) इति,

तथा

'स एष मृत्युश्चैवामृतं च' । (ऐ० उ०) इति,

तथा

'एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिः' । (ऐ० उ०) इति ।

गीतं च

तद्वीर्यं सर्ववीर्याणां तद्बलं बलवतां बलम् ।
तदोजश्चौजसां सर्वं शाश्वतं ह्यचलं ध्रुवम् ॥' इति ।

विश्वरूपतया चास्य स्फुरणे प्रक्रियाबन्धं दर्शयति

तस्माद्वीर्यात्प्रजास्ताश्च वीर्यं कर्मसु कथ्यते ॥ २३० ॥

प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में इसका विश्वोत्तीर्ण रूप मान्य है या विश्वमय रूप ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

वह परब्रह्म बल, ओज, प्राण और कान्ति सभी रूपों में प्रस्फुरित हो रहा है। ऐ० उ० में कहा गया हैं—

"वही यह प्राण है। वही असु रूप बल है। वही यह सारा उल्लसित ऐश्वर्य भी है।" तथा "वही मृत्यु भी है और अमृत भी हैं।' गीता में कहा गया है—

वही सभी पराक्रमों का पराक्रम है। समस्त बलवानों का बल है। सभी ओजों का वह ओज है। वही सब कुछ है। वही अचल है और वही ध्रुव है। विश्व रूप में प्रस्फुरित प्रक्रिया के सम्बन्ध में आगे कहते है—

उसीके अग्नि, सूर्य और सोमात्मक संघट्ट से प्रजायें उत्पन्न होती हैं। ये प्रजायें उसी के कारण यज्ञादि यजन करती हैं। वह—यज्ञादिक कर्म प्रवाह वृष्टि में कारण बनता है। वही अपनी वीर्यसत्ता से ओषधियों में उल्लसित होता है। इस विसर्ग के कारण चाहे वह वीर्य-विसर्ग हो या प्रजा-विसर्ग हो, इस रूप में उसकी विश्वात्मकता स्वयं सिद्ध है। ऐ० उ० में कहा गया है—

यज्ञादिकेषु तद्वृष्टौ सौषधीष्वथ ताः पुनः ।
वीर्ये तच्च प्रजास्वेवं विसर्गे विश्वरूपता ॥ २३१ ॥

प्रजा इति स्त्रीपुमादिरूपाः, ताश्च प्रजा यज्ञादिकेषु कर्मसु, वीर्यं कारणं कथ्यते इति संबन्धः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । तदिति यज्ञादिकं कर्म, ओषधीष्वन्नादिरूपासु, वीर्यं इति शुक्रशोणितात्मनि । एवं परब्रह्मण एवाजवञ्जवीभावेन तत्तद्रूपतया विश्वकारणत्वम्, इति तस्यैव एतद्विश्वं रूपमित्युक्तम् । एवं विसर्गेऽपि विश्वरूपतेति' । यदुक्तं तत्र

'अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापतेरेव रेतो देवा, देवानां
रेतो वर्षं' वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतो
अन्नमन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः' । (ऐ० उ०) इति ।

तथान्यत्रापि

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (म. स्मृ. ३।७७)

इति । गीतं च

'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥' (गी. ३ अ. १४ श्लो.

इति ॥ २३१ ॥

"अथ इस रेतस् से ही सृष्टि का उपक्रम हुआ । प्रजापति के वीर्य ही ये देव हैं । देवों का रेतस् वर्षा में व्यक्त है । वर्षा का रेतस् ओषधियाँ हैं । ओषधियों का अन्न है और अन्न का रेतस् तो वीर्य ही है । इस वीर्य का रेतस् रूप यह प्रजासृष्टि का शाश्वत प्रवाह बह रहा है ।" मनु स्मृति ३।७६ में कहा गया हैं—

"अग्नि में दी हुई आहुतियाँ आदित्य को प्राप्त होती हैं । आदित्य से वृष्टि होती हैं । वृष्टि से अन्न और उससे प्रजा की सृष्टि होती है ।" गीता (३।१४) कहती है कि--

"अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं । पर्जन्य से अन्न होते हैं । यज्ञ से पर्जन्य (बादल) उत्पन्न होते हैं और यज्ञ कर्म से समुद्भूत होते हैं ।" इन उदाहरणों से परब्रह्म की वीर्यसत्ता से ही विश्व की उत्पत्ति सिद्ध की गयी है, साथ ही यह भी कहा गया है कि ब्रह्म विश्वमय है ॥ २३०–२३१ ॥

तदेवं विसर्गशक्तिरेव तत्तदामर्शात्मना स्वात्मनि विश्वरूपतामाभासयन्ती आगमेषु तत्तच्छब्दव्यपदेश्या भवतीत्याह

शब्दराशिः स एवोक्तो मातृका सा च कीर्तिता ।
क्षोभ्यक्षोभकतावेशान्मालिनीं तां प्रचक्षते ॥ २३२ ॥

पदवाक्याद्यात्मना विभक्तानां स्थूलानां शब्दानामविभागस्वभावः कारणात्मा राशिः, मातृकेति पशुभिः,

'सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि ।
इयं योनिः समाख्याता सर्वमन्त्रेषु सर्वदा ॥'

इत्यादिनिरूपितेन स्वेन रूपेण अज्ञाता माता इत्यर्थः । तदेवं स्वात्ममात्रावस्थानादक्षुब्धाया विसर्गशक्तेरागमिको द्विधा व्यपदेशो दर्शितः, क्षुब्धायाः पुनर्व्यपदेशान्तरमस्ति इत्याह क्षोभ्येत्यादि । क्षोभ्या योनयः, क्षोभकाणि बीजानि तेषां भावः क्षुभिक्रियायां कर्तृकर्मरूपः संबन्धस्तत्र य आवेशः परस्परसंघट्टात्मा लोलीभावः, ततो भिन्ना बीजैर्भेदिता, योनयो व्यञ्जनानि यस्याः सा तथाविधा सती, मालिनी–मलते विश्वं स्वरूपं धत्ते इति विश्वस्वरूपिणी इत्यर्थः ॥ २३२ ॥

यह स्पष्ट है कि विसर्ग शक्ति ही विभिन्न आमर्शों के द्वारा स्वात्म में ही विश्वरूपता का आभासन करती है। और वही आगमशास्त्रों में विभिन्न संज्ञाओं से संज्ञापित की जाती है। यही कह रहे हैं—

पद-वाक्य आदि में विभक्त स्थूल शब्दों की राशि राशि विसर्ग शक्ति का ही परिणाम है। सामान्य पाशबद्ध पुरुष उसे मातृका कहते हैं। कहा गया है कि 'हे! यशस्विनी प्रिये यह सभी मन्त्रों में श्रेष्ठ है क्यों कि सभी मन्त्रो और समस्त विद्याओं की यह योनि है'।

इस निरूपण से यह स्पष्ट है कि यह मातृका शक्ति पाशबद्ध पुरुषों द्वारा अज्ञात ही है। जब वह स्वात्ममात्र में विश्रान्त होती है, उस समय अक्षुब्ध रहती है। यह अक्षुब्ध विसर्ग शक्ति शब्द राशि और मातृका रूप से दो प्रकार की है। क्षुब्धा विसर्ग शक्ति की 'मालिनी' की अलग संज्ञा है। क्षोभ्या योनि होती है और क्षोभक बीज। क्षुभ् क्रिया है। इसमें क्षोभ होता है। क्षोभ कर्म है और क्षोभक स्वर। इनका कर्त्ता और कर्म रूप सम्बन्ध है। यहाँ एक प्रकार का स्वभाविक आवेश होता है। यह परस्पर संघट्ट से उत्पन्न लोली-

ननु कथमेतावतैवास्या विश्वरूपत्वम् ? इत्याह

बीजयोनिसमापत्तिविसर्गोदयसुन्दरा ।

मालिनी हि परा शक्तिर्निर्णीता विश्वरूपिणी ॥ २३३ ।

अनुत्तरप्रकाशात्मपरशक्तिरूपा हि मालिनी तद्रश्मिभूतशिवशक्तिरूपयोर्बीजयोन्योर्या समापत्तिः परस्परसंघट्टात्म सामरस्यं तया योऽयं विसर्गोदयः तेन तेन रूपेण परिस्फुरणं, तेन सुन्दरा निरतिशया, येन श्रीपूर्वशास्त्रादौ विश्वरूपत्वमस्या निर्णीतम् ॥ २३३ ॥

ननु एकैवानुत्तरा परा संविदस्ति तदतिरिक्तस्य अन्यस्य कस्यचित्संवेद्यमानतायोगात्, तत् तदतिरेकेण शिवशक्तिरूपत्वमपि न युज्यते, का पुनर्वार्ता विश्वरूपतायाः ? इत्याशङ्क्याह

एषा वस्तुत एकैव परा कालस्य कर्षिणी ।

शक्तिमद्भेदयोगेन यामलत्वं प्रपद्यते ॥ २३४ ॥

एषा इत्यनुत्तरा संवित्, कलयति शिवादिक्षित्यन्तं जगत्सृजति इति कालः भैरवः, तस्य कर्षिणी स्वात्मायत्ततयावभासयन्तीत्यर्थः । नहि तदिच्छामन्तरेण किंचिदपि प्रस्फुरेदिति भावः । यदुक्तम्

भाव है। इससे इसके बीजों द्वारा व्यञ्जन रूप योनि में भेद उत्पन्न हो जाता है। इसमें व्यंजनों का क्रम मातृका से भिन्न हो जाता है। इसका नाम 'विश्वं मलते आत्मनि स्वरूपं धत्ते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मालिनी हो जाता है ॥२३२॥

इतने से इसकी विश्व रूपता कैसे ? यही कह रहे हैं—

मालिनी अनुत्तर परात्मक शक्ति के प्रकाश की प्रतीक है। इसी की रश्मियाँ शिव और शक्ति हैं। शक्ति योनि और शिव बीज सदृश हैं। इन शक्तियों के परस्पर संघट्ट से एक स्निग्ध सामरस्य भाव उदित होता है। उसे ही विसर्गोदय कहते हैं। यह निरतिशय उत्तम अवस्था है। यह चित्रमय विश्व उसकी चारुताका आकर्षक निदर्शन है ॥२३३॥

शङ्का है कि अनुतरा परा संविद् एक है। उसके अतिरिक्त किसी अन्य के संवेद्यमान होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसके अतिरिक्त शिव शक्ति रूपता भी युक्ति संगत नहीं प्रतीत होती ? विश्वरूपता की बात तो और भी विचित्र है। इसी आशङ्का का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादिकीटान्तम् ।
इच्छावशेन यस्याः सा त्वं भुवनाम्बिके जयसि ॥'

इति, किं तु प्रकाशविमर्शलक्षणमौपाधिकं भेदमवभास्य यामलतामेति, येन शक्तिरिति शक्तिमानिति च व्यपदिश्यते, वस्तुतो हि न प्रकाशाद्विमर्शः स वा तस्मादतिरिच्यते,–इति बहुश उक्तम् ॥ २३४ ॥

ननु यद्येवं तर्हि एतदेवास्तु, विश्वरूपतायाः पुनः कोऽवकाशः ? इत्याशङ्क्याह

तस्य प्रत्यवमर्शो यः परिपूर्णोऽहमात्मकः ।
स स्वात्मनि स्वतन्त्रत्वाद्विभागमवभासयेत् ॥ २३५ ॥

तस्येति यामलस्य, अहमात्मक इति असांकेतिकपरपरामर्शरूप इत्यर्थः । परिपूर्ण इति पारिमित्ये ह्यस्य विकल्परूपत्वं स्यादिति भावः । विभागमिति विश्वरूपतामित्यर्थः ॥ २३५ ॥

वास्तविकता यह है कि वह परा संविद् एक ही है । शिव से पृथ्वी पर्यन्त सृष्टि की कलना करने वाले काल रूपी भैरव का भी वह कर्षण करती है अर्थात् स्वात्मरूप से ही अवभासित करती है । इसकी इच्छा के विपरीत किसी वस्तु सत्ता का प्रादुर्भाव असंभव है । कहा गया है—

जिसकी इच्छा से भैरवरूपी काल ही आदि जगत्कारण शिव से लेकर कीटादितक की सृष्टि करता है । हे देवि ! इस प्रकार तुम्हीं विश्वप्रसू मां हो । तुम्हारी जय हो ।"

वही सृष्टि संविधात्री आदि शक्ति शक्तिमान् से अर्थात् स्वयं विमर्शमयी प्रकाशरूपशिव से औपाधिक यामल भाव प्राप्त करती है । इसी आधार पर शक्ति और शक्तिमान् का व्यपदेश व्यवहृत होता है । वस्तुतः न तो प्रकाश से विमर्श व्यतिरिक्त है और न विमर्श से प्रकाश ही पृथक् है ॥२३४॥

यदि ऐसी बात है, तो फिर प्रकाशविमर्श मात्र ही मान्य हो, इस विश्वरूपता का फिर कहाँ स्थान है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

उसी यामल भाव का अहमात्मक पूर्ण प्रत्यमवर्श होता है । उसमें किसी सांकेतिकता के लिये कोई स्थान नहीं होता । स्वातन्त्र्य के प्रभाव से वही विभाग का अवभासन कर शाश्वत क्रीडा रत रहता है, जिससे विश्वरूपता का चमत्कार भी भासित हो जाता है ॥२३५॥

तथात्वे चास्य पश्यन्त्यादिशब्दाभिधेयं त्रैविध्यं भवेदित्याह

विभागाभासने चास्य त्रिधा वपुरुदाहृतम् ।
पश्यन्ती मध्यमा स्थूला वैखरीत्यभिशब्दितम् ॥ २३६ ॥

अस्येति परावाग्रूपस्य अहमात्मनः परामर्शस्य, स्थूलेति अपरयोः परत्वं सूक्ष्मत्वं चार्थाक्षिप्तं, परस्या वाचः पुनरन्यानपेक्षं परत्वम्, इत्यस्याः परतरं रूपं, सैव हि परमेश्वरी स्वस्वातन्त्र्याद्बहीरूपतामुल्लिलासयिषुर्वाच्यवाचकक्रमानुदया-द्विभागस्यास्फुटत्वाच्चिज्ज्योतिष एव प्राधान्याद्द्रष्टृरूपतया पश्यन्तीशब्द-व्यपदेश्या, तदनु वाच्यवाचकक्रमस्य आसूत्रितविभागत्वेऽपि स्फुटास्फुटरूपत्वेन बुद्धिमात्रनिष्ठतया दर्शनप्राधान्याद्द्रष्टृदृश्ययोरन्तरालवर्तित्वेन मध्यमापदवाच्या, ततोऽपि स्थानकरणप्रयत्नबलात्तत्तद्वर्णक्रमोपग्रहाद्विभागस्य स्फुटत्वात् दृश्यस्यैव प्राधान्यात् विखरे शरीरे भवत्वाद्वैखरीशब्दाभिधेया,—इत्यस्या विश्वरूपताव-भासने त्रैविध्यम् ॥ २३६ ॥

इस अवस्था में परावाक् तीन प्रकार की हो जाती है। यही कह रहे हैं—

यह अहमात्मक परामर्श परावाक् रूप होता है। विभाग के अवभासन के समय इसका तीन भेद हो जाता है। इसमें बैखरी स्थूल, मध्यमा अन्यनिरपेक्ष और पश्यन्ती सूक्ष्म होतीं है। अपने स्वातन्त्र्य से वह परमेश्वरी परावाक् जब बाह्य उल्लास की आकांक्षा से चित्प्राधान्य की अवस्था में अभी द्रष्टा मात्र रहती है। उसमें वाच्यवाचक रूप वर्णोदय की स्थिति नहीं होती,। वह 'पश्यन्ती' कहलाती है।

इसी क्रम में वाच्यवाचक भाव उल्लसित होता है। अभी उसमें स्फुटता और अस्फुटता की मिश्रित स्थिति होती है। दर्शन की प्रधानता में भी द्रष्टा और दृश्य के अन्तराल में ही उल्लसित रहती है। इसी आधार पर उसे 'मध्यमा' कहते हैं।

जब स्थान, करण और प्रयत्न के प्रभाव से वर्ण क्रम का प्रादुर्भाव हो जाता है, उस समय वह द्रष्टृ-प्राधान्य नहीं रहता, अपितु दृश्य प्राधान्य हो जाता है। बिखर अर्थात् शरीर में उत्पन्न होने के कारण इसे बैखरी कहते हैं। यही इसकी विश्वरूपता का आधार है ॥२३६॥

एवं न केवलमासामेकैकस्य स्थूलत्वादिना त्रैरूप्यं यावत्प्रत्येकमपि,—इत्याह

तासामपि त्रिधा रूपं स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः ।

एतदेव वक्त्रयस्यापि स्थूलोपक्रमं विभजति

तत्र या स्वरसन्दर्भसुभगा नादरूपिणी ॥ २३७ ॥
सा स्थूला खलु पश्यन्ती वर्णाद्यप्रविभागतः ।

तत्र स्वराणां षड्जादीनां यः परस्परं लोलीभावात्मा सन्दर्भः, अत अत एव षड्जाद्येकतमत्वे नियतोऽनुद्भिन्नवर्णादिविभाग आलापः, तेन सुभगा माधुर्यातिशयादाह्लादरूपा, अत एव प्राथमिकनादमात्रस्वभावा या वाक् सा खलु स्थूला पश्यन्ती भवतीति शेषः। ननु एवमात्मन आलापस्य स्थानवात्वादिसंघर्षोत्थत्वमपि संभवेदिति वैखर्येव किं न स्यात् ? इत्याशङ्कयाह 'वर्णाद्यप्रविभागतः' इति। वर्णाद्यप्रविभागहेतुकमेवास्या माधुर्यं, यद्वशादेवात्र सर्वेषामासक्तिः—मधुर एव हि लोको रज्यतीत्यविवादः। अन्यत्र पुनर्वर्णादिविभागात्पारुष्यं, पुरुषे च न कस्यचिदप्यासक्तिरतदियाननयोः स्वानुभवसिद्धो भेद इति भावः ॥ २३७ ॥

इनके भेद का कथन कर रहे हैं और तीनों वाक्विभागों स्थूल का उपक्रम प्रदर्शित कर रहे हैं—

जहाँ राग रागिनियों और स्वरों का सरगम रूप लोली भावात्मक सन्दर्भ होता है, उसमें नादात्मक मनोरम स्वरारोह और अवरोह की लहरी लहराने लगती है। आकर्षक आलाप होते हैं। उसमें वर्णों का प्रादुर्भाव नहीं रहता है। स्वर में माधुर्य का आनन्दवर्द्धक आह्लाद उल्लसित होता है। इसलिये वह मात्र वाद रूपिणी अवस्था होती है। वह स्थूला पश्यन्ती कहलाती है। बैखरी और इसमें अन्तर है। बैखरी में वर्ण विभाग हो जाता है। यहाँ नहीं। यहाँ स्वरमाधुर्य में ही आकर्षण होता है। स्वर सरणो में सौकुमार्य का आधान होता है। व्यक्ति उसी में रमता है। क्यों कि मानव हृदय माधुर्य की अमृतमयी माधुरी पीने को आकुल रहता है ॥२३७॥

तदाह

अविभागैकरूपत्वं माधुर्यं शक्तिरुच्यते ।। २३८ ।।

स्थानवाय्वादिघर्षोत्था स्फुटतैव च पारुषी ।

तदेवमत्र आसक्तिभाजां योगिनां सहसैव संविन्मयीभावो भवतीत्याह

तदस्यां नादरूपायां संवित्सविधवृत्तितः ।। २३९ ।।

साजात्यान्तर्म [त्तन्म] योभूतिर्झगित्येवोपलभ्यते ।

संवित्सविधवृत्तित इति मध्यमादिवद्बहीरूपतया दूरदूरमनुल्लासात् अत एव

'गीतादिविषयास्वादा'............... । (वि० भै० ७३ श्लो०)

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् ॥ २३९ ॥

ननु केषांचिद्गदीतादाववहितचेतसामपि न तन्मयीभावो भवेदिति कथमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

येषां न तन्मयोभूतिस्ते देहादिनिमज्जनम् ।। २४० ।।

अविदन्तो मग्नसंविन्मानास्त्वहृदया इति ।

वही कह रहे हैं—

अविभाग अवस्था का ऐकात्म्य ही माधुर्यशक्ति है। इसके आनन्दवादी आकर्षण से इसमें आकृष्ट होना स्वाभाविक है। स्थान और वायु आदि के प्रयत्नादि घर्षों से यह स्फुट हो जाती है। यह परुष दशा होती है ॥२३८॥

इसकी तादात्म्यानुभूति से संविन्मयता उत्पन्न होती है। वही कह रहे हैं।

इस नादरूपिणी परावाक् शक्ति में संविद्विषयावृत्ति के सान्निध्यसे एक प्रकार का साजात्य उत्पन्न हो जाता है। परिणामतः उसमें तन्मयता अथवा तादात्म्य की झटिति उपलब्धि हो जाती है। इसी लक्ष्य को—

"गीत आदिविषयों के आस्वाद से (यह युक्त है)..........।" वि. भै. ७३ इस श्लोक में कहा गया है ॥२३९॥

बहुत ऐसे भी लोग होते हैं जिन्हें गीत आदि से तन्मयीभाव नहीं होता। यह क्यों ? इसका उत्तर दे रहे हैं —

लोके हि सातिशये,गीतादौ विषये तन्मयीभावेन सचमत्काराणां 'सहृदया' इति, अन्यथा 'परहृदयगा' [अहृदयाः] इति प्रसिद्धिः ॥ २४० ॥

एवं पश्यन्त्याः स्थूलं रूपं विचार्य मध्यमाया अप्यभिधत्ते

यत्तुचर्माऽवनद्धादि किंचित्तत्रैव यो ध्वनिः ॥ २४१ ॥
स स्फुटास्फुटरूपत्वान्मध्यमा स्थूलरूपिणी ।

तत्र चर्मावनद्धे मृदङ्गादावेष यो ध्वनिः कराघाताद्युत्थः षड्जाद्येकतम-रूपत्वेन अभिव्यक्तेः पूर्वापेक्षया स्फुटो वर्णादिविभागानुल्लासाच्चास्फुटः अत एव मध्यमाशब्दव्यपदेश्यः ॥ २४१ ॥

तदेवमत्राविभागांशस्य सद्भावान्माधुर्यमपि संभवेदिति लोक-स्याप्यत्रासक्तिः, इत्याह

मध्यायाश्चाविभागांशसद्भाव इति रक्तता ॥ २४२ ॥
अविभागस्वरमयी यत्र स्यात्तत्सुरञ्जकम् ।

ननु किमियमपि पश्यन्तीवदासक्तिं जनयेत् ? इत्याशङ्कयाह 'अविभागे-त्यादि' यत्र क्वचिदविभागस्वरमयी अर्थाद्वाक् स्यात् तत्सुष्ठु रञ्जकमासक्ति-जननयोग्यमित्यर्थः । तेनात्राप्यासक्त्या तन्मयीभावो भवेदिति भावः । अनेनास्या अपि वैखरीतो भेदः सूचितः ॥ २४२ ॥

जिन पुरुषों को आह्लाद के कारण रूप राग-रागिनियों के माधुर्य की स्थिति में भी तन्मयीभाव का उदय नहीं होता, ऐसे लोग उस दिव्यता के अनुभव से वंचित रह जाते हैं, जिस अवस्था में देह आदि की सुधि नहीं रह जाती। एक तरह से वहाँ संविद् का अमृत महोदधि लहराता है। दुर्भाग्य है कि हृदय होते हुए भी ऐसे लोग हृदय हीन ही कहे जा सकते हैं ॥२४०॥

पश्यन्ती के उपरान्त मध्यमा का अभिधान कर रहे हैं—

चमड़े से मढ़े मृदङ्ग आदि में कराघात से उत्पन्न होने वाली ध्वनि में यद्यपि वर्णोदय नहीं है फिर भी उसके द्वारा वर्णानुरूप ध्वनियाँ उत्पन्न कर दी जाती हैं। कुछ स्फुटता और अधिक अस्फुटता दोनों का उसमें सामञ्जस्य परिलक्षित होता है। यह मध्यमा ध्वनि है ॥ २४१ ॥

मध्यमा वाक् स्वर के माधुर्य और उसमें आसक्ति की चर्चा कर रहे हैं—

नन्वविभाग एवासक्तौ निमित्तमित्यत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

अविभागो हि निर्वृत्यै दृश्यतां तालपाठतः ॥ २४३ ॥

किलाव्यक्तध्वनौ तस्मिन्वादने परितुष्यति ।

अविभाग एव हि निर्वृतिनिमित्तं दृश्यतां साक्षात्क्रियतामित्यर्थः । नहि, दृष्टमदृष्टं भवतीति भावः, किलेति हेतौ, यतस्तालानां चञ्चुपुटादीनां पाठं गानमाश्रित्य अव्यक्तध्वन्यात्मनि तस्मिन्नविभागरूपे वादने अर्थात्सर्वोऽप्ययं लोकः परितुष्यति निर्वृतिं भजत इत्यर्थः । तेनात्र स्वानुभव एव प्रमाणमिति तात्पर्यम् ॥ २४३ ॥

एवं मध्यमायाः स्थूलं रूपमुक्त्वा बैखर्या अप्यभिधत्ते

या तु स्फुटानां वर्णानामुत्पत्तौ कारणं भवेत् ॥ २४४ ॥

सा स्थूला बैखरी यस्याः कार्यं वाक्यादि भूयसा ।

स्फुटानामिति परस्परवैलक्षण्यावस्थानेन श्रोत्राकर्ण्यमानानाम्, अत एव पारुष्यादत्र लोकस्यना सक्तिः ॥ २४४ ॥

मध्यमा भूमि भी अविभागस्वरमयी होती है। अविभागांश का सद्भाव इसमें होता है। परिणामतः इसमें रञ्जकता और आसक्ति के दोनों गुण विद्यमान रहते हैं। इसी लिये इसमें तन्मयता स्वभावतः उत्पन्न होती है। बैखरी से इसका यही भेद है ॥ २४२ ॥

अविभागांश में आसक्ति के निमित्त की चर्चा कर रहे है—

परमानन्दानुभूति रूप निर्वृति के लिये अविभागांश का सद्भाव परमावश्यक है। ताल और लय पूर्ण रागिनियों और मूर्च्छनाओं में यह स्वतः देखने की बात है, स्वात्म अनुभूति का विषय है। सामान्य सहृदय भी उन अव्यक्त ध्वनियों को सुन कर विस्मय विमुग्ध हो जाता है और भावविभोर होकर झूम उठता है ॥ २४३ ॥

मध्यमा के बाद अब बैखरी की चर्चा कर रहे हैं—

जो वाक् तत्त्व स्फुट रूप से पृथक् पृथक् वर्णों की उत्पत्ति में कारण है तथा जिसके कर्ण गोचरीकृत होने पर परस्पर विचार विनिमय सम्भव है। वह बैखरी वाक् है। यह स्थूल होती है। इससे वर्ण, पद और वाक्यों के माध्यम से विश्व का वाङ्मय लिखा और पढ़ा जाता है ॥ २४४ ॥

एवं स्थूलं भेदत्रयमभिधाय सूक्ष्ममप्याह

अस्मिन्स्थूलत्रये यत्तदनुसन्धानमादिवत् ॥ २४५ ॥
पृथक्पृथक्तत्त्रितयं सूक्ष्ममित्यभिशब्द्यते ।

अस्मिन्समनन्तरोक्ते स्थूले भेदत्रये यदाद्यं जिगासाद्यात्मेच्छारूपमनुसन्धानं, तदेव पृथक् पृथक् पश्यन्तीमध्यमावैखरीगतं सूक्ष्मं भेदत्रयमुच्यते ॥ २४५ ॥

एतदेव क्रमेणोदाहरति

षड्जं करोमि मधुरं वादयामि ब्रुवे वचः ॥ २४६ ॥

तेन जिगासाविवादयिषाविवक्षात्मकानुसन्धानत्रयरूपमेतत्सूक्ष्मं भेदत्रयमिति तात्पर्यार्थः ॥ २४६ ॥

किं चात्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

पृथगेवानुसन्धानत्रयं संवेद्यते किल ।

संवेद्यते इति स्वानुभवसिद्धमेतदित्यर्थः ॥

एवं सूक्ष्मं भेदत्रयमुक्त्वा परमप्याह

एतस्यापि त्रयस्याद्यं यद्रूपमनुपाधिमत् ॥ २४७ ॥
तत्परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः ।

इस तरह स्थूल तीन भेदों के बाद सूक्ष्म की चर्चा कर रहे हैं—

उक्त पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी भेदों में पूर्ववत् स्वात्माभिलाष और गायन की इच्छा का अनुसन्धान एवं विमर्श स्वाभाविक है। यह तीनों का अनुसन्धानात्मक तीन भेद है॥ २४५ ॥

क्रमशः उदाहरण दे रहे हैं—

षड्ज आदि रूप में जिज्ञासा, मधुर वाचन और बोलने का अभिलाष रूप विवक्षा का अनुसन्धान ये तीन सूक्ष्म भेद होते हैं ॥ २४६ ॥

इसका प्रमाण दे रहे हैं—

इसमें प्रमाण स्वयं साक्षात् अनुभूत संवेदना है। उसी के माध्यम से ये तीनों पृथक् पृथक् अनभूत होते हैं।

परानुभूति का कथन कर रहे हैं—

एतस्य जिगासाद्यात्मनोऽनुसन्धानत्रयस्यापि यदनुपाधिमत् जिगासाद्युपरञ्जकरहितमाद्यं रूपमिच्छाया अपि पूर्वकोटिभूतं संवित्तत्त्वं, तदेतत्परं भेदत्रयम्। नन्वनुपाधिमति अत्र संवित्तत्वे भेदस्यावकाशमात्रमपि न संभवेत् तत्कथमत्र त्रिरूपत्वमुक्तम्? इत्याशङ्कयाह 'शिवः परचिदात्मकः' इति। परचिन्मात्ररूपशिवैकात्म्येनात्र पश्यन्त्यादित्रयमवभासत इत्यर्थः, यदुक्तम्

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम्।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते॥' ई. प्र. १।५।२०

इति॥ २४७॥

ननु परस्य निरंशस्य प्रकाशस्य विभागेन प्रकाशनमेव नोपपद्यते, तत्रापि त्रैरूप्ये किं निमित्तम्? इत्याशङ्कयाह

विभागाभासनायां च मुख्यास्तिस्रोऽत्र शक्तयः॥ २४८॥

कास्ताः? इत्याह

अनुत्तरा परेच्छा च परापरतया स्थिता॥ २४९॥
उन्मेषशक्तिर्ज्ञानाख्या त्वपरेति निगद्यते।

उपर्युक्त तीन स्थूल और सूक्ष्म अनुसन्धानों का एक ऐसा रूप भी होता है, जो उपाधि रहित मात्र इच्छा आदि विन्दु रूप, पराकोटि में प्रकाशमान, संवित् शक्तिमय या स्वयं चिन्मय तत्त्व है। इसी तत्त्व फलक पर चिदात्मकता की एकता के कारण अभेद में भी पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी का अवभासन हो जाता है। कहा गया है—

"शिव में अभेद भाव से अवस्थित भावराशि का प्रकाशन उन्हीं के स्वातन्त्र्य से सम्पन्न होता है। विना उनके इच्छात्मक आमर्श प्रवर्त्तित नहीं होते।" ई० प्र० १।५।१० ॥ २४७॥

निरंश प्रकाश का विभाजित प्रकाशन ही असंभव है। फिर यह त्रैरूप्य तो असंगत ही है? इसका उत्तर दे रहे हैं—

विभाग के आभासान में मुख्य तीन शक्तियाँ ही मुख्य हैं। वे तीनों कौन कौन हैं, इसका उत्तर दे रहे हैं—

ह्रस्वत्रयमेव च भैरवात्मनः परस्य तत्त्वस्य शक्तिरूपतया पूर्वं निर्णीतम्, तदुक्तम्

'अतः षण्णां त्रिकं सारं चिदिष्युन्मेषणात्मकम् ।
तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः ॥', (३।१९२)

इति ॥ २४९ ॥

इदानीं विभागाभासनमेव प्रपञ्चयति

क्षोभरूपात्पुनस्तासामुक्ताः षट् संविदोऽमलाः ।

तासामिति तिसृणां शक्तीनां क्षुब्धं रूपमाश्रित्य, पुनः षट् ऊनतान्ताः संविदः पूर्वमुक्ताः, ताश्च क्षुब्धत्वेऽपि स्वस्वरूपाप्रच्यावादमलाः, अत एव च परस्परसंघट्टेन संविदन्तरावभासनेऽपि योग्याः । तदुक्तम्

'स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसन्ततौ ।
षड्देवतास्तु ता एव ये मुख्याः सूर्यरश्मयः ॥' (३।१८४) इति ॥

अत आह

आसामेव समावेशात्क्रियाशक्तितयोदितात् ॥ २५० ॥
संविदो द्वादश प्रोक्ता यासु सर्वं समाप्यते ।

अ, इ, उ, रूप ह्रस्वत्रय ही भैरव रूप परतत्त्व की शक्तियों के प्रतीक रूप में पहले कहे गये है । इसी तथ्य को यहाँ भी कह रहे हैं कि अनुत्तरा परा शक्ति है । इच्छा परापरा है और उन्मेष नामक ज्ञान शक्ति अपरा है । इसी तथ्य को अन्यत्र भी कहते हैं—

"अतः छः मूल स्वरों के सार रहस्य ह्रस्व स्वर के तीन वर्ण ही हैं । वे चित्, इच्छा और ज्ञानोन्मेष रूप हैं । यही त्रिक भैरव का परम चरम तेज है ।" इस तरह अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है ॥ २४९ ॥

अब विभागावभासका वर्णन कर रहे हैं—

क्षोभ उत्पन्न होने पर संविद् उल्लास के कारण वही तीन छः प्रकार के हो जाते हैं । कहा गया है—

"वर्णमाला के उदयक्रम में स्वर वर्ग के आदिम छः वर्ण ही मूल हैं । ये छहों देवता रूप ६ सूर्य की मुख्य रश्मियाँ ही हैं ।"

तासामेव षण्णां संविदां क्रियाशक्तितयोदितेन परस्परसंघट्टेन द्वादश संविदः प्रोक्ताः—षण्ठवर्जं सन्ध्यक्षरादिरूपोपग्रहात्स्वरद्वादशकात्मनावभासिता इत्यर्थः। एतास्वेव च संवित्सु वक्ष्यमाणनीत्या प्रमेयादिक्रमेण परमात्रन्तमवस्थितत्वात् अतोऽतिरिक्तस्य चाभावात् सर्वस्य परिपूर्तिः 'यासु सर्वं समाप्यते' इति। इयदेव च मुख्यं शक्तिचक्रम्—अत्रैवोक्तवक्ष्यमाणनीत्या शक्त्यन्तराणामन्तर्भावात् ॥ २५० ॥

तदाह

एतावद्देवदेवस्य मुख्यं तच्छक्तिचक्रकम् ॥ २५१ ॥
एतावता देवदेवः पूर्णशक्तिः स भैरवः ।

एता एव द्वादशापि संविदः क्रमदर्शनादौ अन्वर्थेनापि अभिधानेन दर्शिताः,–इति दर्शयितुमाह

परामर्शात्मकत्वेन विसर्गाक्षेपयोगतः ॥ २५२ ॥
इयत्ताकलनाज्ज्ञानात्ताः प्रोक्ताः कालिकाःक्वचित् ।

'कल शब्दे' कल किल बिल क्षेपे' 'कल संख्याने' 'कल गतौ' इति धात्वर्थानुगमात्क्रमेण कलयन्ति परामृशन्ति, क्षिपन्ति, विसृजन्ति संहरन्ति च गणयन्ति जानते चेति काल्यः, ता एव कालिकाः ॥ २५२ ॥

इन्हीं छः संविद् रश्मि रूप शक्तियों का क्रिया शक्ति रूप से उदय होने पर संविद् के १२ भेद हो जाते हैं। इनके इस दिव्य मौलिक उल्लास की सीमा में सारा प्रमेय प्रवाह अवस्थित रहता है। इसी लिये इसे मुख्य शक्तिचक्र कहते हैं। इसमें सब कुछ सम्यक् रूप से आप्त हो जाता है ॥ २५० ॥

वही कह रहे हैं—

द्योतमानों के भी उद्योतक परमेश्वर प्रभु की मुख्य उद्योतिका शक्ति का यह चमत्कार पूर्ण चक्र है। शक्ति से शाश्वत सम्पन्न देव-देव भैरव पूर्ण शक्तिमान् हैं ॥ २५१ ॥

यही १२ शक्तियाँ क्रम दर्शन आदि अन्वर्थ नय के अनुसार संज्ञापित की गयी हैं। यही कह रहे हैं—

परामर्श, विसर्ग, क्षेप, इयत्ताका आकलन, संहार, गणना और ज्ञान इन अर्थों में कल धातु का प्रयोग होता है। कल धातु के कल (भ्वादि) शब्दे, संख्याने, कल (चु.) गतौ संज्ञाने, कल क्षेपे (चु) और कल गतौ (चु.)

न केवलमेताः क्रमदर्शनादावेवोक्ता यावदस्मन्नयसहोदरेषु शास्त्रेष्वपीत्याह

श्रीसारशास्त्रे चाप्युक्तं मध्य एकाक्षरां पराम् ॥ २५३ ॥
पूजयेद्भैरवात्माख्यां योगिनीद्वादशावृताम् ।

सारशास्त्रे इति श्रीत्रिकसारे, यदुक्तं तत्र

'परां त्वेकाक्षरां मध्ये शंखकुन्देन्दुसुन्दराम् ।
चतुर्भुजां चतुर्वक्त्रां योगिनीद्वादशावृताम् ॥' इति ।

भैरवात्माख्यामिति विश्वस्यान्तर्बहीरूपतया, पालनपूरणात्मकात् 'परा' इत्यन्वर्थानुसरणात्पूर्णेनात्मना समन्तात्ख्याति अवभासते इत्यर्थः । कालिकानां च योगिनीत्यनेन नाममात्र एवायं भेदो न वस्तुनि इति, सूचितम् । तत्तदनुत्तराद्यामर्शरूपत्वमप्यासां संविदां श्रीत्रिकसार एव भङ्ग्याभिहितम् । तत्र हि

कथादौ आदि के अनुसार उक्त विभिन्न अर्थ होते हैं । इस प्रकार सर्वपरामर्श करने वाली, सृष्टि निर्मात्री, सर्ग का निक्षेप करने वाली, सब का आकलन करने वाली, सृष्टि का संहार करने वाली, विश्व की गणना करने वाली और सर्वज्ञ शक्ति का नाम कालिका कहा गया है ॥ २५२ ॥

केवल क्रम दर्शन ही नहीं प्रत्यभिज्ञा नय के सहोदर शास्त्र भी यही स्वीकार करते हैं—

श्री सार शास्त्र का तात्पर्य श्री त्रिकसार शास्त्र है । इसके अनुसार भी यह सिद्धान्त मान्य है । वहाँ कहा गया है—

"परा तो एकाक्षरा देवी है । शंख, कुन्द और इन्दु के अनिन्द्य सौन्दर्य से समन्वित है । विश्व के केन्द्र में अधिष्ठित है । चार बाहों और चार मुखों से युक्त है । १२ योगिनियों से आवृत है ।"

विश्व के अन्तः और बाह्य सभी रूपों में वही व्यक्त होती है । वही पालन करती है । वही सभी अभावों भी पूर्त्ति करने वाली है । इसी लिये उसे भैरवी और पराशक्ति कहते हैं । कालिका और योगिनी शब्दों में मात्र शाब्दिक भेद है इनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है । श्री त्रिकसारमें यह भी कहा गया है कि इन संविद् शक्तियों से ही अनुत्तर आदि शक्तियों का उल्लास होता है । इस प्रकार वाक्तत्त्व का प्राधान्य निर्दिष्ट कर समर्थक दो वाक्य उद्धृत कर रहे हैं—

'अथातः संप्रवक्ष्यामि वाग्विधानमनुत्तमम् ।'

इति वाच एव प्राधान्यमुपक्रम्य

'तद्बीजं तु विभिन्नं वै स्वरैर्द्वादशभिः क्रमात् ।
ताश्चैव तु तथा देव्यः………… ॥'

इत्याद्युक्त। एतच्च शाक्तोपायाह्निक एव वितत्य विचारयिष्यते,-इति नेहायस्तम् ॥ २५३ ॥

आसां च यत्प्रोक्तं मुख्यत्वं तदेव प्रपञ्चयति

ताभ्य एव चतुःषष्टिपर्यन्तं शक्तिचक्रकम् ॥ २५४ ॥
एकारतः समारभ्य सहस्रारं प्रवर्तते ।
तासां च कृत्यभेदेन नामानि बहुधागमे ॥ २५५ ॥
उपासाश्च द्वयाद्वैतव्यामिश्राकारयोगतः ।
श्रीमत्त्रैशिरसे तच्च कथितं विस्तराद्बहु ॥ २५६ ॥
इह नो लिखितं व्यासभयाच्चानुपयोगतः ।

आगम इति सामान्येनोक्तेः श्रीमत्त्रैशिरस इत्यनेन विशेषो दर्शितः, तत्तत एव प्रथमपटलादेतदनुसर्तव्यमिति भावः ॥ २५६ ॥

"यहाँ अत्यन्त उत्तम वाक् रहस्य कहूँगा।" से लेकर" वह पराबीज तो द्वादश स्वरों में भिन्न भिन्न रूप से व्यक्त है। वही ये देवियाँ हैं।" शाक्तोपायाह्निक में इसका विशेष विचार किया गया है ॥ २५३ ॥

इनके मुख्यत्व को विस्तार पूर्वक बतला रहे हैं—

उक्त द्वादश शक्तियों से ही ६४ भेद भिन्न यह शक्ति चक्र स्फुरित होता है। इस चक्र में एक 'अरे' से लेकर सहस्र अरोंका प्रवर्त्तन होता है। सामान्य आगमों में कार्य के आधार पर इनके अनेक नाम निर्दिष्ट हैं। इनकी द्वैत और अद्वैत उपासनाओं का भो सविस्तार वर्णन उपलब्ध है। विशेष रूप से श्रीमत्त्रैशिरस शास्त्र में इनका बहुत विस्तार है। अनुपयोगिता और ग्रन्थ विस्तार को दृष्टियों से यहाँ उनका वर्णन नहीं किया जा रहा है ॥ २५४-२५६ ॥

ननु यद्येवं तद्घोराद्याः सृष्ट्यादिक्रमेष्वप्यवस्थिता याः शक्तयः, किमासामेव स्फारो न वा ? इत्याशङ्क्याह

ता एव निर्मलाः शुद्धा अघोराः परिकीर्तिता ॥ २५७ ॥

घोरघोरतराणां तु सोतृत्वाच्च तदात्मिकाः ।

सृष्टौ स्थितौ च संहारे तदुपाधित्रयात्यये ॥ २५८ ॥

तासामेव स्थितं रूपं बहुधा प्रविभज्यते ।

प्रक्षीणमलत्वेऽपि उद्रिक्तदृक्क्रिया इत्युक्तं 'निर्मलाः शुद्धा' इति । तस्य सृष्ट्याद्यात्मन उपाधि त्रयस्य अत्ययोऽनाख्यं, यथैवासां द्वादशानामपि संविदामनाख्यक्रमे रूपं प्रविभक्तं तथैव सृष्ट्यादिक्रमेष्वपिति समुच्चितत्वमभिधातुं 'तदुपाधित्रयात्यय' इत्युपात्तम् ॥ २५८ ॥

प्रश्न है कि यदि ऐसी स्थिति है तो अघोर आदि शक्तियाँ भी जो सृष्टि के आदि उपक्रम में अवस्थित हैं—क्या इन्हीं उक्त शक्तियों की स्फार मानी जाँय ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

वही निर्मल और शुद्ध रहती हैं तो अघोर शक्तियाँ कहलाती हैं। निर्मल अवस्था का अर्थ है—मलों का आत्यन्तिक अभाव। आदिम उल्लास में ३, ६, और १२ भेद उल्लास के ही चमत्कार हैं। वहाँ मल क्षीण रहते हैं, ज्ञान और क्रिया का उद्रेक रहता है। वे शुद्ध होती हैं। इसी लिये उन्हें अघोर शक्ति कहते हैं।

घोर और घोरतर शक्तियों की स्फूर्ति अघोर अवस्था की विपरीत स्थिति है। सृष्टि, स्थिति और संहार ये तीन उपाधियाँ है। इनका अत्यय साधक की अनुभूति का विषय है। यह अत्यय स्थिति अनाख्य स्थिति है। इन १२ शक्तियों का उल्लसित स्वरूप अनाख्या क्रम में प्रविभक्त इव प्रतीत होता है।

यह ध्यान देने की बात है अनाख्य क्रम में यह द्वादश भेद उल्लसित हैं—यही अघोर शक्तियों की विमर्शरूपता है। अनाख्यक्रम की तरह सृष्ट्यादि क्रम में भी पार्थक्यप्रथा प्रथित शक्तियाँ उल्लसित होती हैं। उन्हें ही घोर और घोरतर शक्तियाँ कहते हैं। ये भी द्वादश शक्तियों के ही प्रविभाग की प्रतीक हैं॥ २५७-२५८॥

ननु अनाख्यक्रमे योऽयं सृष्ट्याद्यात्मन उपाधित्रयस्य अत्यय उक्तः स किं प्रागभावरूपः प्रध्वंसाभावरूपो वा ? इत्याशङ्क्याह

उपाध्यतीतं यद्रूपं तद्द्विधा गुरवो जगुः ॥ २५९ ॥
अनुल्लासादुपाधीनां यद्वा प्रशमयोगतः ।

अनुल्लासादिति प्रागभावरूपात्, प्राक्कोटौ हि निस्तरङ्गजलधिप्रख्यं परं तत्त्वं यतः स्वस्वातन्त्र्याद्बाह्योन्मुखतायामुपाधीनामुल्लासः स्यात्, प्रशमयोगत इति प्रध्वंसाभावरूपः ॥ २५९ ॥

प्रशमो हि द्विधेत्याह

प्रशमश्च द्विधा शान्त्या हठपाकक्रमेण तु ॥ २६० ॥
अलंग्रासरसाख्येन सततं ज्वलनात्मना ।

अनाख्यक्रम में सृष्टि, स्थिति और संहार रूप तीनों उपाधियों के अत्यय की बात कही गयी है। प्रश्न है कि अत्यय का प्रागभाव अथवा प्रध्वंसाभाव में से कौन रूप माना जाय ? यही कह रहे हैं—

अनाख्यक्रम में उपाध्यतीत जिस अनुभूत्यात्मक अवस्था का कथन किया गया है, वह गुरुजनों के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है। गुरुजन उसे दो प्रकार की बतलाते हैं। पहली स्थिति वह होती है, जब उपाधियों का उल्लास हुआ ही नहीं रहता है। इसे प्रागभाव दशा कहते हैं। यह प्रशान्त महासागर की उसी अवस्था के समान है, जिसमें अभी लहरों का उल्लास ही नहीं हुआ होता है। यह परतत्त्वात्मक अवस्था होती है। इसमें बाह्यौन्मुख्य नहीं होता। उपाधियों का अनुल्लास होता है।

दूसरी अवस्था में उपाधियों के उल्लास को गुरु-अनुग्रह से अनुगृहीत साधक शिष्य प्रशमित करता है। यह दशा प्रध्वंसाभावरूपा होती है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव ये दोनों न्यायशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। तन्त्रसार के इसी प्रकरण में इसकी विशद व्याख्या की गयी है ॥ २५९ ॥

प्रशम भी दो प्रकार का कहा गया है—

१—शान्ति के द्वारा प्रशम और २—हठपाक क्रम से प्रशम। इस प्रकार प्रशम दो प्रकार का होता है। शान्ति के माध्यम से प्रशम करने में भी पाक

शान्त्येति शान्तेन मधुरपाकक्रमेणा गुर्वाद्याराधनपूर्वं समय्यादिदीक्षा-साधनेन तत्तन्नित्यनैमित्तिकाद्यनुष्ठाननिष्ठतया देहान्ते सृष्ट्याद्युपाधीनामत्ययो भवेदित्यर्थः। शान्तिः पुनः स्वारसिक एव सृष्ट्याद्युपाधीनां प्रशमो न वाच्यः, तथात्वे हि शास्त्रोपदेशादेरानर्थक्यं स्यात् स्वरसत एवोपाधीनां कादाचित्कस्य प्रशमस्याभावात्, तथालम् अत्यर्थं सार्वात्म्येन, यः सृष्ट्यादीनां ग्रासः स्वात्म-सात्कारस्तत्र रसो गृध्नुता तत्त्वेनालंग्रासभैरवादावाख्या यस्य, अत एव सततम-विच्छिन्नतया ज्वलन् यथायथं दाह्यनिष्ठतया दीप्यमान आत्मा स्वरूपं यस्य, एवंविधेन हठेन क्रमव्यतिक्रमरूपेण सकृदुपदेशात्मना बलात्कारेण यः पाकः

होता है। किन्तु इसे मधुर पाक कहते हैं। इसमें गुरुदेव की आराधना (प्रणि-पात, परिप्रश्न और सेवा) पहली शर्त्त है। समय दीक्षा की साधना, विभिन्न शास्त्र प्रतिपादित नित्य नैमित्तिक आदि अनुकूल अनुष्ठानों की साधना आवश्यक होती है। आजीवन ऐसा करते रहने से मृत्यु के उपरान्त संहार में तीनों उपाधियों का अत्यय हो जाता है। यह क्षान्ति भी इन उपाधियों की स्वारसिक शान्ति नहीं है। ऐसा मानने पर गुरु द्वारा प्राप्त उपदेशों, अनुष्ठानादि की सक्रियता और उसके शास्त्रोदित परिणामों की व्यर्थता सिद्ध होने लगेगी। ऐसा भी नहीं होता कि आकस्मिक रूप से कदाचित् स्वयं ये उपाधियाँ शान्त हो जांय। इसलिये यह शान्ति का क्रम आजीवन प्रयास साध्य क्रम माना जाता है।

प्रशम का दूसरा प्रकार महत्त्वपूर्ण है। साधना की यह पराकाष्ठा है। इसमें मधुर पाक की जगह हठ पाक क्रम अपनाना अनिवार्य है। हठ की विधि द्वितीय पंक्ति में निर्दिष्ट है। विधि के बिना साधना असंभव होती है। उसके लिये गुरु के तत्त्वावधान में क्रियायोग रूप भावात्मक प्रयास आवश्यक है। इसमें सबसे पहले आसनासीन होकर यह भावना करनी चाहिये कि यह समग्र विश्व प्रसार स्वात्म के अतिरिक्त नहीं है। इसे स्वात्मसात् करने का अनवरत अभ्यास ही हठ हो सकता है। यह हठ आनन्द में बदल जाता है। यह आनन्द ही सर्वात्मना स्वात्मसात् करने का रस है। इसमें रमे रहने की इच्छा जागृत हो जाती है। यही अलंकाररस है। यह एक प्रकार का भैरवी भाव है। इस भाव में सातत्य आवश्यक है। इससे आत्मा में एक ऐसी दीप्ति होती है, एक ऐसी आग की रागिनी अपनी आभा से प्रकाश बिखेरने लगती है, जिसमें सारा

चिदग्निसात्कारः, तस्य क्रमः परिपाटी, तेन सृष्टयाद्युपाधीनामत्ययो भवेत् इत्यर्थः। इह खलु सर्वेषामेव सृष्टयाद्युपाधित्रयात्य एव समभिलषणीयः,, इति तत्कार्यक्षमः कञ्चनोपायविशेषोऽवश्यानुसन्धातव्यः, स च त्रिधेत्युक्तः तत्र यो नामानुल्लास एवोपाधीनामुक्तः स दूरापास्तः, समुल्लसितानामेवैषामत्यय-स्येष्टेः, शान्त्याख्यश्च उपायविशेषो यद्यपि शनैः शनैर्देहान्ते तदत्ययक्षमः तथापि स मन्दशक्तिपाताधिकारेण प्रवृत्तः, इति तीव्रशक्तिपाताधिकारेण तृतीयस्य हठपाकप्रशमस्यैवोपायविशेषस्योपदेशो युक्तो येन झटित्येवोपाधिविगलनं भवेत् ॥ २६० ॥

तदाह

हठपाकप्रशमनं यत्तृतीयं तदेव च।
उपदेशाय युज्येत भेदेन्धनविदाहकम् ॥ २६१ ॥

युज्येतेत्यत्र हेतुः 'भेदेन्धनविदाहकम्' इति। अस्यैव हि सहसैव भेद-विलापने परं सामर्थ्यमिति भावः ॥ २६१ ॥

बाह्य प्रसार दग्ध हो जाता है। इसी हठात्मकता से अक्रम भाव से चिदग्नि-सात्कार अवस्था प्राप्त हो जाता है तथा सृष्ट्यादि उपाधियों का अत्यय हो जाता है और प्रशम अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होती है। साधना के क्रम में ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे श्रेयस् की सिद्धि हो सके। इसमें पहले तो यह देखना है कि जहाँ उपाधिका अनुल्लास है-- उसमें गुरुकृपा से कैसे प्रवेश हो?

इसके तीन उपाय हैं। पहला उपाय है अनुल्लास दर्शन। यह कठिन है। दूसरा शान्ति का उपाय है। उसमें मन्द शक्तिपात होता है और देहान्त के बाद अत्यय होता है। तीसरा उपाय है हठपाक प्रशम। इसमें उपाधियों को ही जलाते हैं। हठपाक क्रम से प्रशम का उपाय ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसमें तीव्रशक्तिपात सम्पन्न साधक विश्वोपाधियों को स्वतः विगलित कर देने में समर्थ होता है ॥ २६० ॥

वही कह रहे हैं—

भेद के इन्धन को दग्ध करने में समर्थ यह हठपाक प्रशम रूप तृतीय हेतु ही महत्त्वपूर्ण है। अतः सिद्ध साधक के परम कल्याण के लिये इसका उपदेश करना ही उचित है ॥ २६१ ॥

अत आह

निजबोधजठरहुतभुजि भावाः सर्वे समर्पिता हठतः ।
विजहति भेदविभागं निजशक्त्या तं समिन्धानाः ॥२६२॥

सर्व एव हि सृष्ट्यादयो भावा बोधाग्नौ हठेन समर्पिता भेदविभागं विजहति, बोधैकरूपतया, परिस्फुरन्तीत्यर्थः । ननु यदि नाम सर्वे भावास्तत्तद्रूपतया बोधादतिरिक्तास्तत्किमिति तदेकरूपतया परिस्फुरन्ति ? इत्याशङ्क्याह 'निजशक्त्या तं समिन्धाना' इति । तेऽपि बोधरूपतया निजशक्तया तमेव बोधमुद्दीपयन्तोऽवभासन्त इत्यर्थः । अबोधरूपत्वे हि तेषामबुध्यमानत्वमेव भवेदिति भावः ॥ २६२ ॥

नन्वेवं किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

हठपाकेन भावानां रूपे भिन्ने विलापिते ।
अश्नन्त्यमृतसाद्भूतं विश्वं संवित्तिदेवताः ॥ २६३ ॥

चिदग्न्युद्बोधनपूर्वं हठपाकक्रमेण सृष्टयादीनां भावानां भेदस्य विलापनात् अमृतसाद्भूतं बोधैकरूपतामापन्नं सत् विश्वं, संवित्तिदेव्यः करणेश्वर्योऽश्नन्ति

इस लिये कहते हैं —

स्वात्म संबोध की आग में इस सृष्टि प्रपञ्चात्मक सारी भावराशिका हठपूर्वक स्वाहाकार भेदात्मक सारे उल्लास को प्रशान्त करने में समर्थ होता है। उस समय सारा प्रसार बोधमात्र रूप से ही प्रस्फुरित प्रतीत होने लगता है।

प्रश्न है कि यदि सभी भाव अपने अनन्त रूपों में बोध के अतिरिक्त हैं तो यह कैसे सम्भव है कि बोधैक रूप से भासित होने लगें ? इसका उत्तर है कि बोध के माहात्म्य से उन भावों में भी बोध शक्ति का उल्लास हो जाता है और शुद्ध बोध उद्दीप्त हो उठता है। भावावभासन बोधावभास बन जाता है। अबोध स्थिति में तो वे सभी अबुध्यमान रूप से ही भासित होते हैं ॥ २६२ ॥

उस अवस्था में क्या परिवर्त्तन होता है ? वही कह रहे हैं—

चिदग्नि के उद्दीप्त हो जाने पर हठपाक प्रक्रिया के द्वारा सृष्ट्यादि सभी भाव विलापित कर दिये जाते हैं। उस अवस्था में अनन्त अवभासों में उल्लसित यह विश्व, चैतन्य के अमृत से अमृतायमान हो उठता है। ऐसे अमृत मय विश्व

परबोधैकरूपतया परामृशन्तीत्यर्थः। अथ च लौकिको भोक्तृभोग्यव्यवहारोऽपि अत्राक्षिप्तः, तद्विशिष्टत्वेनैव प्रकृतस्यार्थस्यावगतेः ॥ २६३ ॥

ततोऽपि किम् ? इत्याह

तास्तृप्ताः स्वात्मनः पूर्णं हृदयैकान्तशायिनम् ।
चिद्व्योमभैरवं देवमभेदेनाधिशेरते ॥ २६४ ॥

ताश्च संवित्तिदेवतास्तृप्ताः परबोधैकरूपतासादनेनानन्यापेक्षाः सत्यो हृदयैकान्तशायिनं सारभूतपरामर्शैकविश्रान्तम्, अत एव पूर्णमनन्याकाङ्क्षम्, अत एव च देवं द्योतनैकसतत्त्वं, चिद्व्योमभैरवं परप्रकाशात्म परं तत्त्वं, स्वात्मनः स्वस्वरूपस्याभेदेनाधिशेरते तदेकरूपतया परिस्फुरन्तीत्यर्थः। अथ चात्र पूर्ववल्लौकिकनायकव्यवहार आक्षिप्तः ॥ २६४ ॥

नन्वासां चिदात्मनि परस्मिन्रूपे विश्रान्तत्वात् तदतिरिक्तस्यान्यस्याभावात् द्वादशविधं रूपं कुतस्त्यम् ? इत्याशङ्क्याह

एवं कृत्यक्रियावेशान्नामोपासाबहुत्वतः ।
आसां बहुविधं रूपमभेदेऽप्यवभासते ॥ २६५ ॥

को करणेश्वरी संवित्ति देवियाँ अपना ग्रास बना लेती हैं अर्थात् यह सारा प्रसार परबोधैक रूप से परामृष्ट होने लगता है। इस अवस्था में लौकिक भोक्ताभोग्य भाव का भी आक्षेप हो जाता है क्योंकि इसी आधार पर इस अमृत तत्त्व की अवगति सम्भव होती है॥ २६३ ॥

इसके बाद भी क्या फलितार्थ हुआ ? यही कह रहे हैं—

वे संवित्ति देवियाँ तृप्त होकर परबोधैक रूपता प्राप्त कर लेती हैं। उन्हें किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रह जाती। वे स्वात्म निष्ठ हृदय केन्द्र में एकान्त-परविमर्श में विश्रान्त पूर्ण शाश्वत द्योतन-स्वभाववान् परप्रकाशात्मक, चिद्व्योम-भैरव रूप परतत्त्व को अपने से अभिन्न परामर्श करने लगती हैं। एक रूप से ही परिस्फुरित होती हैं। इस अवस्था में अवस्थित साधक परपरामर्श के परामृत से पूर्णतया परितृप्त हो जाता है। उसे लौकिक पृष्ठभूमि पर ही अलौकिक परपरामर्शविश्रान्ति का लक्ष्य मिल जाता है॥ २६४ ॥

इन करण देवियों के परपरामर्शक चिद्व्योम भैरव में वि'श्रान्त' होने के बाद उनके अतिरिक्त किसी भेद का अभाव स्वाभाविक है। फिर इन उक्त द्वादशविध शक्तियों की क्या परिणति होती है।' इसका उत्तर दे रहे हैं—

कृत्यं रूपाद्यालोचनादि, नाम चक्षुरादिदेवतादि, उपासा रूपाद्यालोचनात्मवृत्तिविलापनादिरूपा। 'अभेदेऽपि बहुविधमवभासत' इत्यनेन काल्पनिकत्वमुक्तम् ।। २६५ ॥

ननु यदि कृत्यादिभेदादासां बहुविधत्वं तद्रूपाद्यालोचनात्मकृत्यमपि द्वादशविधमेव तदतिरिक्तस्य कृत्यान्तरस्याभावात्,-इत्यासां द्वादशविधादेव रूपान्न्यूनमधिकं वा रूपं न स्यात्, —इति 'ताभ्य एव चतुःषष्टिपर्यन्तं शक्तिचक्रकम्' (३।५४)

इत्यादि कथमुक्तम् ? इत्याशङ्कयाह

आसामेव च देवोनामावापोद्वापयोगतः ।
एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टनवोत्तरैः ॥ २६६ ॥
रुद्रार्कान्यकलासेनाप्रभृतिभेंदविस्तरः ।

आवापः संक्षेपः, उद्वापो विकासः । आसामेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् कमलवदनवरतं संकोचविकाससंभव इति भावः । उत्तरे दश, अन्ये त्रयोदश, कलाः षोडश सेना अष्टादशाक्षौहिण्यः ॥ २६६ ।।

तदेवं प्रसक्तानुप्रसक्त्यागतमेतदुपसंहरन्प्रकृतमेवावतारयति

अलमन्येन बहुना प्रकृतेऽथ नियुज्यते ॥ २६७ ॥

इस प्रकार दर्शन रूप कृत्यक्रिया के आवेश, नाम और उपासना आदि के भेद से व्यक्त भेदों की विविधता अभेद अवस्था में भी भासित होती रहती है ॥२६५॥

प्रश्न है कि यदि कृत्यादि भेद से इनकी विविधता है और उनकी रूपादि के आलोकन के कृत्य भी द्वादश प्रकार के होते हैं क्योंकि उनके अतिरिक्त इन्द्रिय जन्य कृत्य नहीं हो सकते तो फिर ६४ शक्ति चक्र की चर्चा क्यों की गयी है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

इन्हीं देवियों के संक्षेप और व्यास की दृष्टि से तथा उनके स्वातन्त्र्य माहात्म्य से कमल की तरह संकोच विकोच होता रहता है। परिणामतः एक से लेकर २, ३, ४, ५, ६, ७, और ८ उत्तरोत्तर क्रम से १० रुद्र ११ अर्क १२ कला १६ और सेना अर्थात् १८ आदि अनन्त भेद स्वाभाविक हैं ॥ २६६ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गवश विस्तार का उपसंहार करते हुए प्रकृतार्थ का निर्देश कर रहे हैं—

अन्येनेत्यवान्तरेण शाम्भवोपायप्रतिपादनेन, तस्य हि मुख्यतया विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वादिना त्रिधा रूपं निरूपितं येन तदुपासन्नानां झटित्येवाविकल्पस्वरूपावाप्तिः स्यात्; तदनेकप्रमेयसंकुलतया विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वाद्येबोपदेश्या मा विस्मार्षुः,—इति तदेव तान्प्रति संक्षेपेणोच्यते, इत्याह 'प्रकृतेऽथ नियुज्यते' इति। अथेत्यानन्तर्ये, तदितोऽनन्तरं प्रकृतं विश्वचित्प्रतिबिम्बत्वाद्येव प्रस्तूयते इत्यर्थः ॥ २६७ ॥

अत आह

संविदात्मनि विश्वोऽयं भाववर्गः प्रपञ्चवान् ।
प्रतिबिम्बतया भाति यस्य विश्वेश्वरो हि सः॥ २६८ ॥
एवमात्मनि यस्येदृगविकल्पः सदोदयः ।
परामर्शः स एवासौ शांभवोपायमुद्रितः ॥ २६९ ॥
पूर्णाहन्तापरामर्शो योऽस्यायं प्रविवेचितः ।
मन्त्रमुद्राक्रियोपासास्तदन्या नात्र काश्चन ॥ २७० ॥

अन्य सारे प्रतिपादनों के अनन्तर प्रकृत विश्व, चित्, प्रतिबिम्ब इत्यादि विषयों को ही प्रस्तुत कर रहे हैं। अन्य से तात्पर्य प्रासङ्गिक शाम्भवोपाय इत्यादि है। इनमें अविकल्पता की उपलब्धि शीघ्र होती है। अथ शब्द विषयारम्भ का संकेत करता है॥ २६७ ॥

वही कह रहे हैं—

तीव्र शक्तिपात से पवित्र साधक, शिष्य योगी के लिये यह विश्व रूपी प्रमातृ प्रमेयादि भेदोपभेद वाला भाववर्ग प्रतिबिम्ब के समान ही भासित होता है। दर्पण नगर की तरह अतिरिक्त रहते हुए भी अभिन्नरूप से ही भासित होता है। वह विश्वेश्वर भी पर प्रकाश रूप भगवदैकात्म्य भाव से प्रकाशमान परिलक्षित होता है। जिस साधक में 'मैं' स्वयम् इस प्रकार प्रतिबिम्बात्मक भाववर्ग रूप से स्वात्म साक्षात्कार कर रहा हूँ' इस प्रकार की शाम्भवोपाय के प्रभाव से नियमित निष्ठा हो जाय, उसमें अहन्तापरामर्श का पूर्ण बोध प्रकाशित हो जाता है। उसके लिये कोई क्रिया शेष नहीं रहती। कहा गया है—

यस्य तीव्रशक्तिपातवतः साधकादेर्विश्वः प्रमातृप्रमेयात्मा तद्भेदोपभेदादिना प्रपञ्चवानप्ययं भाववर्गः प्रतिबिम्बतया भाति दर्पणनगरन्यायेनातिरिक्तायमानत्वेऽपि अनतिरिक्तत्वेन स्वात्ममात्ररूपतयैवावभासते, स खलु विश्वेश्वरः परप्रकाशात्मभगवदैकात्म्येन प्रकाशत इत्यर्थः। यस्याप्येवं भाववर्गस्य प्रतिबिम्बकल्पतयावभासने सति स्वात्मनीदृगहमेव भाववर्गात्मना प्रस्फुरित इत्येवमात्मसाक्षात्काररूपः सततोदितः परामर्शः स्यात्, एवासौ शांभवोपायेन मुद्रितः स्वसमुचितोपेयासादनेन नियमित इत्यर्थः। अत एवास्य सर्वविषयतया पूर्णो योऽयमहन्तापरामर्शः प्रविवेचितः' अर्थात्तस्यैवात्र शांभवोपाये काश्चन मन्त्रमुद्राक्रियोपासा न ततः पूर्णाहन्तापरामर्शादन्या, परप्रमात्रैकरूपस्वात्माभेदेनैव प्रस्फुरन्तीत्यर्थः। न ह्येतत्पदमधिशयानस्यैतदुपयोग इति भावः। यदुक्तम्

'अयं रसो येन मनागवाप्तः स्वचछन्दचेष्टानिरतस्य तस्य।
समाधियोगव्रतमन्त्रमुद्राजपादिचर्या विषवद्विभाति॥' इति।

वक्ष्यति च—

'स्नानं व्रतं देहशुद्धिर्धारणा मन्त्रयोजना।
अध्वक्लृप्तिर्यागविधिर्होमजप्यसमाधयः॥
इत्यादिकल्पना कापि नात्र भेदेन युज्यते।' (तं० ३।२९०)

इति॥ २६८-२७०॥

तदेवं त्रिविधमपि शांभवोपायमुपासन्नो महात्मा जीवन्नेव मुक्तिमासादयेदित्याह

भूयो भूयः समावेशं निर्विकल्पमिमं श्रितः।
अभ्येति भैरवीभावं जीवन्मुक्त्यपराभिधम्॥ २७१॥

"यह रस जिसे रञ्चमात्र भी आस्वादित हो गया, उसे समाधि, योग, व्रत, मन्त्र, मुद्रा और जपादिचर्या भी विषवत् प्रतीत होती है।" यही बात आगे श्लोक ३।२८९–२९० में भी कही गयी है॥२६८-२७०॥

शांभवोपाय उपासनासिद्ध महात्मा जीवन्मुक्ति समासादित कर लेता है। यही कह रहे हैं—

बारम्बार अभ्यासपूर्वक निर्विकल्प समावेश में सिद्ध योगी जीवन्मुक्ति नामक भैरवीभाव प्राप्त कर लेता है॥ २७१॥

ननु पूर्वम्

'तत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।' (तं० २।८)

इत्यादिना नित्योदितत्वेनादिसिद्धत्वाद्भैरवीयायां संविदि ज्ञापकः कारको वा न कोऽप्युपायः समस्तीत्युक्तं तत्कथमिदमिदानीमुक्तमयं निर्विकल्पः समावेशोऽत्राभ्युपायः ? इत्याशङ्क्याह

इत एव प्रभृत्येषा जीवन्मुक्तिर्विचार्यते ।
यत्र सूत्रणयापीयमुपायोपेयकल्पना ॥ २७२ ॥

प्राक्तने त्वाह्निके काचिद्भेदस्य कलनापि नो ।
तेनानुपाये तस्मिन्को मुच्यते वा कथं कुतः ॥ २७३ ॥

सूत्रणयापीति, आह्निकान्तरेषु पुनः स्फुटैव भविष्यतीति भावः । भेदस्येति कर्तृकरणापादानादेः, अत एवोक्तं 'कः कथं कुत' इति ॥ २७१-२७३ ॥

उपायोपेयभावमेव चात्र दर्शयति

निर्विकल्पे परामर्शे शाम्भवोपायनामनि ।
पञ्चाशद्भेदतां पूर्वसूत्रितां योजयेद्बुधः ॥ २७४ ॥

प्रश्न होता है कि पहले तो कहा गया है कि—

"नित्योदित आदिसिद्ध भैरवीय संविद् में न कोई क्रिया योग होता है, न ज्ञान और कारक आदि कोई उपाय ही होते हैं" यहाँ यह कैसे कह रहे हैं कि निर्विकल्प समावेश उपाय है ? वही कह रहे हैं—

यहाँ से जीवन्मुक्ति का विचार किया जा रहा है। इसमें उपायोपेय कल्पना का आसूत्रण या जो कुछ उसका स्वरूप है वह प्रसङ्गतः प्राक्तन आह्निकों में है। भेद की स्थिति में तो कौन, कहाँ से और क्यों के प्रश्न स्वाभाविक हैं। अनुपाय विज्ञान में इस प्रकार के प्रश्न हो नहीं उठ सकते ॥ २७१–२७३ ॥

प्रसङ्ग वश उपायोपेय भाव यहाँ प्रदर्शित कर रहे हैं—

ग्रन्थ के प्रथमाह्निक १८७वें श्लोक में पचास प्रकार के समावेश का वर्णन है। साथ ही ३६ तत्त्वों की भेदाभिसन्धि की भी चर्चा है। उनकी योजना व्युत्पन्न साधक कर सकता है। कोई साधक यदि धरातत्त्व को ही निर्विकल्प भाव से स्वात्म में स्वात्मसंविन्मात्र रूप से प्रतिबिम्बित अनुभव करने लगे, तो भैरवी-

धरामेवाविकल्पेन स्वात्मनि प्रतिबिम्बिताम् ।
पश्यन्भैरवतां याति जलादिष्वप्ययं विधिः ॥ २७५ ॥
यावदन्ते परं तत्त्वं समस्तावरणोर्ध्वगम् ।
व्यापि स्वतन्त्रं सर्वज्ञं यच्छिवं परिकल्पितम् ॥ २७६ ॥

पूर्वेति प्रथमाह्निके । यदुक्तम्

'पञ्चाशद्विधता चास्य समावेशस्य वर्णिता ।
तत्त्वषट्त्रिंशकैतत्स्थस्फुटभेदाभिसन्धितः ॥ (तं० १।१८७)

इत्यादि, योजयेदित्येकैकध्येन उपायतया परिकल्पयेदित्यर्थः । तदाह धरा-मित्यादि । एकमेव धरातत्त्वमविकल्पज्ञानेन न तु विकल्पमात्रेण स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं पश्यन् स्वात्मसंविन्मात्ररूपतया साक्षात्कुर्वन् सर्वस्य सर्वात्मकत्वाद् भैरवतां याति परप्रकाशरूपतया परिस्फुरतीत्यर्थः एतदेव च तत्त्वान्तरेष्वप्य-तिदिशति 'जलादिष्वपि' इत्यादिना । अयं विधिरिति जलादिशिवतत्त्वपर्यन्तं तत्त्वजालमविकल्पवृत्त्या स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं पश्यन् भैरवतां यातीति । ननु यदि नाम परं तत्त्वं व्यापि तत्कथं पञ्चत्रिंशत्तत्त्वीमुज्झित्वा षट्त्रिंश-द्रूपतयैवोक्तमित्याशङ्कयाह 'समस्तावरणोर्ध्वगं परिकल्पितम्' इति । वस्तुतो हि तज्ज्ञातृकर्तृस्वभाव परप्रमात्रेक रूपमित्युक्तं 'स्वतन्त्रं सर्वज्ञम्' इति ॥ २७४-२७६ ॥

ननु यदि नाम परप्रमात्रेकरूपं भैरवात्मकं परं तत्त्वं तत्कथं दर्शन-क्रियाया भैरवात्मत्वे चोपायतां यायात् ? इत्याशङ्कयाह

तदप्यकल्पितोदारसंविद्दर्पणबिम्बितम् ।
पश्यन्विकल्पविकलो भैरवीभवति स्वयम् ॥ २७७ ॥

भाव की उपलब्धि हो सकती है। जल आदि तत्त्वों की भी यही स्थिति है। जल से लेकर शिवपर्यन्त यह सारा तत्त्ववर्ग अविकल्प भाव से स्वात्मफलक में चित्र की तरह उभरने लगे तो समझना चाहिये कि भैरवीभाव की सिद्धि हो गयी है।

यह ध्यान देने की बात है कि प्रथमाह्निक के उक्त श्लोक में ३६ तत्त्वों का कथन समस्त आवरणों के ऊपर एक परम तत्त्व है, इस दृष्टि से किया गया है। वहाँ सर्व व्यापी, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ आदि विशेषणों से विशिष्ट शिव का ही वर्णन किया गया है ॥ २७४–२७६ ॥

न केवलं तत्त्वान्तराणि यावत्तत्प्रमात्रेकरूपं भैरवात्मकं च परं तत्त्वमपि

'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्याददृयात्मनः ।
प्रभुरीशाविसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥' (ई० १।५।१६)

इत्याद्युक्तयुक्त्या स्वस्वातन्त्र्यात्स्वात्मनि परिकल्पितोपायोपेयभावं सत् विकल्प-विकलः शाम्भवोपायसमाविष्टः साधकादिरकल्पितत्वादेव तत्तदुपाधिसंकोचा-भावादुदारा येयं संवित् सैव स्वच्छतातिशयाद्दर्पणस्तत्र प्रतिबिम्बितं पश्यन् तन्मात्ररूपतया साक्षात्कुर्वन् स्वयमनन्यापेक्षमेव भैरवी-भवति, अविकल्पितो-दारसंविदात्मना परिस्फुरतीत्यर्थः ॥ २७७ ॥

ननु परतत्त्वद्वारेण पूर्णस्वरूपावेशो यद्युच्यते तदास्तां धराद्यंशांशिका-मुखेन पुनः कथमसौ स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यथा रक्तं पुरः पश्यन्निर्विकल्पकसंविदा ।
तत्तद्द्वारानिरंशैकघटसंवित्तिसुस्थितः ॥ २७८ ॥

यदि पर प्रमाता रूप एक ही भैरव तत्त्व है, तो फिर दर्शन क्रिया भैरवात्मक संवित्ति प्राप्त करने में उपाय कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

अन्य तत्त्वों की वैकल्पिकता में तो भैरव का दर्शन करना ही उत्तम है, शक्तिपात से पवित्र संवित्ति शाली साधक स्वात्म संविद्दर्पण में प्रतिबिम्बित सर्वप्रमाता भैरव का दर्शन करें, यह सिद्ध विधि है।

"साधक स्वयं शिवरूप है। उसे सोचना चाहिए कि मैं स्वयं शैव स्वा-तन्त्र्य से मुक्तात्मा हो गया हूँ, उसी के माहात्म्य से अद्वय रूप प्रभु मुझमें व्यक्त हैं। ऐसे उच्च संकल्पों से ही जागतिक व्यवहारों को भी निभाना चाहिये।" ई० १।५।१६ की इस उक्ति के अनुसार स्वात्म स्वातन्त्र्य का स्वात्म में ही संकल्प करने से उसके समस्त विकल्प नष्ट हो जाते हैं। इससे साधक शांभवोपाय द्वारा शांभव समावेश प्राप्त कर लेता है। उसकी समस्त सांसारिक उपाधियों का संकोच हो जाता है। उसकी संवित्ति उदार हो जाती है। उसमें नैर्मल्य आ जाता है। नैर्मल्य के कारण वह साक्षात् पर प्रमाता रूप हो जाता है ॥२७७॥

परतत्त्व के माध्यम से पूर्ण स्वरूपावेश यदि हो तो हो पर धरादि अशां-शिकता की परानुभूति से यह कैसे सम्भव है ? यही कह रहे हैं—

तद्वद्धरादिकैकैकसंघातसमुदायतः ।
परामृशन्स्वमात्मानं पूर्ण एवावभासते ।। २७९ ।।

इह खलु सर्व एव द्रष्टा यथा निर्विकल्पकेन ज्ञानेन रक्तं लोहितं गुणं तदुपलक्षितं पृथुबुध्नोदराकारादिसन्निवेशाद्यपि पुरः पुरतः प्रथममेव वा साक्षात्कुर्वंस्ते ते स्वेच्छादिनावभासमाना रक्ततादयोंऽशा द्वारमुपायो यस्यास्तथाविधा येयं निरंशस्य अनेकसामान्याभाससंमेलनात्मक स्वलक्षण-रूपस्य अखण्डस्य, अत अवांशापेक्षयैकस्य प्रधानस्य सम्यगन्यूनातिरिक्तत्वेन वित्तिरवबोधस्तया सुष्ठु 'ज्ञातोऽयं मया घटः' इत्यादिसन्तोषाधानात् नैराकाङ्क्षयेण स्थितः स्वात्मात्रविश्रान्तो भवेत्, तथैव धरादि पृथ्वीजलादि यदेकमेकं तत्त्वं, तथा धरादिर्यो भूताद्यात्मा संघातः तथा धरादिर्यः पञ्चाशदात्मा समुदायस्तदवलम्बनेन स्वामात्मानं निर्विकल्पकवृत्त्या परामृशन् पूर्ण एवावभासते स्वात्मसंवित्तिमात्ररूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः ।। २७८-२७९ ।।

ननु धरादितत्त्वसमुदायात्मकं विश्वं नामेदं भिन्नमेवावभासते तत्कथमेवं परामर्शेनैव स्वात्मसंविन्मात्ररूपता ? इत्याशङ्क्याह

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः ।। २८० ।।

सामने एक घड़ा है। लाल रंग का है। उसकी बनावट, उसकी पेंदो उसका गला, उसका टेढ़ापन सब कुछ उसमें है। सारे सन्निवेश के बावजूद उसको निरंश रूप से ही देखते हैं। विकल्प संविद् उस समय समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार पृथ्वी आदि तत्त्वों की भो निरंश अनुभूति स्वाभाविक है। इनकी पृथक् अनुभूति के साथ पंच भूतात्मक सामुदायिक अनुभूति भी व्यक्ति करता है। इस प्रकार का अनेक सामान्याभास का एकात्मक अखण्ड बोध स्वात्म स्तर पर भी स्वाभाविक है। साधक ऐसे परामर्श के माध्यम से स्वयं सम्पूर्ण अखण्ड पर-भैरव भाव के समावेश के कारण पूर्ण शिव ही अवभासित होने लगता है।।२७८-२७९।।

यह जगत् धरादि तत्त्व समुदायात्मक रूप से ही अवभासित है। इस प्रकार के परामर्श से ही स्वात्म संविद् का यह उदार भाव कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

यह सारा प्रपञ्च मुझसे ही उदित है, मुझमें ही प्रतिबिम्बित है और मुझसे अभिन्न है। ये तीन शाम्भवोपाय की अनुभूतियाँ हैं। कहा गया है—

मत्त इति

'सर्वत्रात्र ह्यहंशब्दो बोधमात्रैकवाचकः।' (तं० १। १३२)

इत्याद्युक्त्या परस्माद्बोधात् न पुनरविद्यादेरिदं प्रमातृप्रमेयात्म विश्वमुदितम्, एवंभूतमपि तन्मयि बोधे प्रतिबिम्बितमनतिरिक्तत्वेऽपि अतिरिक्तायमानत्वेन न पुनर्विच्छिन्नतयैवावस्थितमेवमपि संह्रियमाणमिदं ममैवाभिन्नं बोधात्मनैव पारमार्थिकेन रूपेण सत् न पुनरवयवविभागक्रमेण द्व्यणुकत्वाद्यापत्त्या पारमाणवेन रूपेण,–इति युक्तमेव परामर्शमात्राद्विश्वस्य संविन्मात्ररूपत्वमित्येवं परामर्श एव चास्य शांभवस्योपायस्य स्वरूपमित्युक्तम् 'इति त्रिधोपायः स शाम्भवः' इति ॥ २८० ॥

एवमहंपरामर्शस्य च सृष्ट्यादयो निबन्धनमिति तदासूत्रणमपि अनेन कृतमित्याह

सृष्टेः स्थितेः संहृतेश्च तवेतत्सूत्रणं कृतम् ।
यत्र स्थितं यतश्चेति तदाह स्पन्दशासमे ॥ २८१ ॥

न चैतदस्माभिरेवोक्तं यावद्गुरुभिरपीत्याह यत्रेत्यादि। तदुक्तं तत्र

"सर्वत्र यह अहं शब्द बोध मात्र का ही वाचक है।" इस स्वोपज्ञ उक्ति के अनुसार मुझसे का अर्थ परबोध रूप ही होता है। इससे अविद्यादि से उत्पन्न प्रमाता प्रमेय भाव का निरास हो जाता है। मेरे ही बोध के नैर्मल्य में यह प्रतिबिम्बित है। पृथक् भासित होता हुआ भी पृथक् नहीं है। इस प्रकार यह मुझसे नितान्त अभिन्न है। मुझसे विच्छिन्न होकर यह अवस्थित नहीं है। अर्थात् पारमार्थिक बोध से ही यह सब कुछ भासित है। ऐसे पारमार्थिक परामर्श से यह सारा विश्वात्मक विस्तार संविन्मात्र ही हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा त्रिविध परामर्श ही शाम्भवोपाय का स्वरूप है ॥ २८० ॥

सृष्ट्यादि निखिल दृश्यादृश्यात्मक प्रसार अहं परामर्श का ही निबन्धन है। सृष्टि का आसूत्रण भी इससे होता है—यही कह रहे हैं—

सृष्टि, स्थिति और संहार इन तीनों में भी इसी का आसूत्रण है। यह केवल ग्रन्थकार की ही स्वोपज्ञ सम्मति नहीं है अपि तु स्पन्द कारिका में (१।२) इनके गुरुदेव की भी ऐसी ही मान्यता है—

'यत्र स्थितमिदं विश्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्नं निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥' (स्प० १ का०२)

यतो निर्गतमिति सृष्टिरुक्ता, यत्र स्थितमित्यनतिरिक्तत्वेन चातिरिक्ताय-मानत्वेन,-इति स्थितिसंहारौ ॥ २८१ ॥

ननु किमिदं नाम संविदः सृष्ट्यादिकारित्वमुक्तं

'यानुभुतिरजामेयानन्तात्मानन्दविग्रहा' ।

इत्यादिलक्षणान्तरं किंचिद्ब्रह्मवादिवदभिधानीयं येनास्या वाद्यन्तरसिद्धम-साधारणं रूपमभिहितं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

एतावतैव ह्यैश्वर्यं संविदः ख्यापितं परम् ।
विश्वात्मकत्वं चेत्यन्यल्लक्षणं किं नु कथ्यताम् ॥ २८२ ॥

एतावता सृष्ट्यादिकारित्वेनैव हि संविद ऐश्वर्यं विश्वात्मकत्वं च परं वाद्यन्तरवैलण्येन अत्यर्थं ख्यापितमुक्तं भवेदित्यर्थः। एतदेव ह्यस्या मुख्यम-साधरणं लक्षणं यत्स्वातन्त्र्याद्विश्वात्मकत्वेन परिस्फुरतीति, अत एव किंनु नाम लक्षणान्तरमस्याः कथ्यतां, तेन कथितेन न किंचिदुक्तं भवेदिति भावः। तथात्वे हि प्रत्युत अविद्यादेरतिरेकानतिरेकविकल्पोपहतत्वाद्विश्ववैचित्र्ये कारणमेव न सिद्धयेत्, तेनास्याः सृष्ट्यादिकारित्वमेव मुख्यं लक्षणमिति यथोक्तमेव युक्तम् ॥ २८२ ॥

"यह विश्व जहां स्थित है, कार्य रूप में जिस कारण से निर्गत है वह तो खुली तत्त्ववादिता है। उसका कोई विरोध नहीं।" अर्थात् सब अतिरिक्त की तरह रहते हुए भी अतिरिक्त नहीं है ॥ २८१ ॥

प्रश्न है कि "संविद् अनुभूतिमयी, अजा अमेया, अनन्त और आनन्द विग्रहवती है" इत्यादि लक्षणों के अतिरिक्त संविद् में सृष्टि-कर्त्तृत्व आदि गुण हैं, इस कथन का क्या तात्पर्य है जिससे इसमें बाह्यान्तर सिद्ध असाधारण शक्ति सिद्ध हो ? इसका उत्तर दे रहे हैं--

इस सृष्टि कर्त्तृत्व से ही संविद् का ऐश्वर्य अच्छी तरह ख्यापित हो जाता है। विश्वात्मता ही उसका ऐश्वर्य है। यह बाह्यान्तर वैलक्षण्य ही इसकी अतिशय विशिष्टता है। यह विश्वात्मकता और कर्तृत्वस्वातन्त्र्य ही उसकी परिभाषा है। इसका अन्य लक्षण करना व्यर्थ का प्रयास है। विश्व वैचित्र्य का अविद्यादि कोई दूसरा कारण नहीं कहा जा सकता ॥२८२॥

अत एव स्वात्मनि सृष्ट्यादिकारित्वमेव परामृशन् परसंविदैकात्म्य-मेति,–इत्याह

स्वात्मन्येव चिदाकाशे विश्वमस्म्यवभासयन् ।
स्रष्टा विश्वात्मक इति प्रथया भैरवात्मता ॥ २८३ ॥
षडध्वजातं निखिलं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
स्थितिकर्ताहमस्मीति स्फुटेयं विश्वरूपता ॥ २८४ ॥
सदोदितमहाबोधज्वालाजटिलतात्मनि ।
विश्वं द्रवति मय्येतदिति पश्यन्प्रशाम्यति ॥ २८५ ॥

नन्वेवमपि विश्वस्य सृज्यमानत्वादिरूपतया संस्कारेणावस्थानात्कथ–मस्य प्रशान्ततोदियात् ? इत्याशङ्क्याह

अनन्तचित्रसद्गर्भसंसारस्वप्नसद्मनः ।
प्लोषकः शिव एवाहमित्युल्लासी हुताशनः ॥ २८६ ॥

देशाध्ववक्ष्यमाणनीत्यानि:संख्याकत्वादनन्ता नानासंनिवेशात्मकत्वाच्च

इस लिये स्वात्म में भी सृष्ट्यादि कारित्व का परामर्श करते हुए पर-संविदात्मैक्य उपलब्ध हो सकता है । यही कह रहे हैं––

स्वात्म चिदाकाश में 'स्वयं विश्वमय रूप से मैं ही अवभासित हूँ' यह विमर्श करते हुए स्रष्टा और विश्वात्मकता का भाव-सातत्य भैरवात्मकता प्रदान कर सकता है । यह सारा षडध्वावर्ग मेरे चैतन्य दर्पण में ही प्रतिबिम्बित है । स्वयं मैं ही स्थिति विधान करता हूँ । इस समावेश में स्वात्मरूपता ही विश्व रूपता बन जाती है । शाश्वत उदित महाबोध रूप चिदग्नि की ज्वाला से प्रकाशमान स्वात्म में विश्व की घनता विगलित हो रही है, यह परामर्श करता हुआ शैव महाभावरूपी प्रशम को साधक प्राप्त कर लेता है ॥२८३–२८५॥

प्रश्न होता है कि विश्व सृज्यमान है। संस्कारतः उसकी अवस्थिति है। यह प्रशम के उदय की बात कहाँ से उपस्थित होती है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

यह विश्व एक स्वप्न है। सपने के घरौंदे में अनन्त-अनन्त चित्र, गर्भ में डिम्भ की तरह पल रहे हैं। इसके नाना संन्निवेश इसमें अनन्त सौन्दर्य की सृष्टि करते

चित्राः, अत एव सन्तः शोभना गर्भा भुवनानि यस्यैवंविधो यः संसारस्तत्तत्त्वात्मा विश्वस्फारः स एवासारत्वात् स्वप्नसद्म, जागरासद्मनो हि प्लोषेऽवशेषसंभावनापि स्यादिति भावः। तस्य प्लोषकः स्रष्टास्मीत्यादिपरामर्शबलोपनीतः, अत एव सतताभ्यासादुल्लसनशीलोऽनवच्छिन्न संविदात्मकः शिव एवाहमिति परामर्श एव हुताशनो विश्वसंस्कारस्यापि स्वात्मसंविस्सात्कारक इत्यर्थः यथा ह्यग्नावुदयति अनेकावरकप्रायेऽपि सद्मनि किंचिदवशिष्यते तथैव शिवात्मतायामप्युल्लसितायां विश्वस्येति ॥ २८६ ॥

ननु सृष्टयादिकारित्वेन स्वात्मनि यः संवित्सात्कारः स सृष्टयाद्यवच्छिन्नः—इति कथं तन्मुखेनानवच्छिन्नसंविदैकात्म्यं स्यात् ? इत्याशङ्कयाह

जगत्सर्वं मत्तः प्रभवति विभेदेन बहुधा
तथाप्येतद्रूढं मयि विगलिते त्वत्र न परः ।
तदित्थं यः सृष्टिस्थितिविलयमेकीकृतिवशा-
दनंशं पश्येत्स स्फुरति हि तुरीयं पदमितः ॥२८७॥

बहुप्रकारं निखिलमिदं जगत्परस्मादेव बोधाद्विच्छिन्नतयोदेति, तथोदितमपि तत्रैव बोधे विश्रान्तम्, एवमपि संहृते तस्मिञ्जगति न परः कश्चिदवशिष्यते

हैं। ऐसा यह आकर्षक है। इसका स्रष्टा भी मैं ही हूँ। इस प्रकार के परामर्श के सतत अभ्यास से यह दृढ़ महाभाव बोध में उल्लसित हो जाता है कि वही शिव मैं स्वयं हूँ। यह उल्लास बोधात्मक चिदग्निका ही उल्लास है। इसमें संविद्विकल्प संस्कृत होते हैं और तात्तदिव्य कांचन सा साधक निखर उठता है ॥ २८६ ॥

सृष्टिकर्तृत्व की भावना से स्वात्म में संविन्मयता उल्लसित रहती है। यह सृष्टयादि से अवच्छिन्न रहती है। प्रश्न होता है कि ऐसी अवस्था में अवच्छिन्न संविदैकात्म्य की सिद्धि कैसे होगी ? इसी का समाधान कर रहे हैं—

यह सारा संसार मुझसे विभेद भावभरित अपने आनन्त्य के आकर्षण के साथ उदित होता है। उदित होकर भी मुझमें ही आरूढ हो जाता है अर्थात् उसकी विश्रान्ति भी मुझमें ही है। जब वह चिदग्नि से विगलित हो जाता है तो कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। केवल बोध ही बच रहता है।

इस प्रकार यह निश्चय होता है कि बोध ही सृष्टि, स्थिति और संहार में अनुस्यूत है। सब में वही उल्लसित है, एकीभाव से स्फुरित होने के कारण

अपितु बोध एवेति । इत्थमुक्तेन प्रकारेण बोधस्यैव सर्वदशास्वनुस्यूतत्वाद्यः सृष्टयादि बोधैकात्म्यलक्षणादेकीकाराद्धेतोरनंशं पश्येत्सृष्टयादिविभागविगलनेन अखण्डबोधैकरूपतया साक्षात्कुर्यात् स शाम्भवोपायसमाविष्ट एव हि तुरीयं पदं प्राप्तः सन् स्फुरति, अनाख्यपरसंविद्रूपत्वेनावभासत इत्यर्थः । स इत्येकवचनेन बहूनामत्र नाधिकार,--इति सूचितम् ॥ २८७ ॥

एत एवाह

तदस्मिन्परमोपाये शाम्भवाद्वैतशालिनि ।
केऽप्येव यान्ति विश्वासं परमेशेन भाविताः ॥२८८॥

भाविता इति तीव्रतीव्रशक्तिपातत्वेन भगवतात्राधिकृतत्वेनाधिवासिता इत्यर्थः । अत एव केऽप्येवेत्युक्तं, न हि एवंविधशक्तिपातपात्रत्वं सर्वेषामेव भवेदिति भावः । यदाहुः

'पूजकाः शतशः सन्ति भक्ताः सन्ति सहस्रशः ।
प्रसादपात्रमाश्वस्ताः प्रभोर्द्वित्रा न पञ्चषाः ॥'

इति । परमत्वे चास्य शाम्भवाद्वैतशालित्वं हेतुः, अन्ये ह्याणवादयो भेदरूपत्वाद-परमा एव, इत्याशयः । अत एवात्र स्नानादि भिन्ननुपायजातं न किंचिदुपयुक्तम् ॥ २८८ ॥

अनंश अखण्ड बोध ही सर्वत्र परिदृश्यमान है । जो साधक ऐसा दर्शन करने में समर्थ होता है, वह शाम्भव समावेश में समाविष्ट हो जाता है और तुरीय-पद-प्राप्त महाभाव भरित नित्य स्फुरित होता है । 'स्फुरति' एकवचन प्रयोग से अधिकार का परिवेश संकेतित है ॥ २८७ ॥

इसी लिये कह रहे हैं—

इस शाम्भव अद्वैत सिद्धान्त रूप परम उपाय में कुछ ऐसे भाग्यशाली साधक पहुँच पाते हैं जो स्वयं परमेश्वर के तीव्रत्तीव्रतम शक्तिपात से उनके द्वारा ही भावित होते हैं अर्थात् इस परमाद्वैत पद पर अधिष्ठित होने का अधिकार प्राप्त कर चुके होते हैं । कहा गया है—

"पूजक तो सैकड़ों होते हैं और हजारों व्यक्ति भक्त होते हैं । यह ध्रुव है कि प्रभु के प्रसाद को प्राप्त कर शाश्वत आश्वस्त रहने वाले परमामृततृप्त २ या ३ तीन ही होते हैं पाँच या छः भी नहीं ।' इस उक्ति से यह सिद्ध है कि

तदाह

स्नानं व्रतं देहशुद्धिर्धारणा मन्त्रयोजना ।
अध्वक्लृप्तिर्यागविधिर्होमजप्यसमाधयः ॥२८९॥
इत्यादिकल्पना कापि नात्र भेदेन युज्यते ।

ननु नद्यत्र भिन्नमुपायजातं नोपयुक्तं तदेतदुपायाविष्टः कथं नामाचार्यः परानुग्रहं कुर्यात् ? इत्याशङ्क्याह

परानुग्रहकारित्वमत्रस्थस्य स्फुटं स्थितम् ॥२९०॥
यदि तादृगनुग्राह्यो दैशिकस्योपसर्पति ।

तादृगिति शाम्भवोपायभाजनं तस्य हि तद्दर्शनसंभाषणमात्रादिनेव

'............ दीपाद्दीपमिवोद्यतम् ।'

इत्याशयेन स्वात्मनि कृतकृत्यत्वं जायते इति किं नाम भिन्नेनोपायजातेन प्रयोजनमिति भावः ॥ २८९-२९० ॥

शांभवाद्वैत भाव ही परम पद की प्राप्ति का सर्वोत्तम हेतु है। यहाँ अन्य आणव आदि उपाय असमर्थ ही हैं ॥ २८८ ॥

वही कह रहे हैं—

इस परम पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिये स्नान, व्रत देह शुद्धि, धारणा, समाधि, अध्वाचर्या, यागविधि, हवन, जप, मन्त्रों का आयोजन इत्यादि सारी की सारी कल्पना अभेद भाव से हो युक्त होती है ॥ २८९ ॥

इस पद के लिये यदि आणव आदि कोई अन्य उपाय उपयुक्त नहीं हैं तो फिर इस उपाय में समाविष्ट साधक या आचार्य कैसे दूसरे पर अनुग्रह कर सकता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

उस परमोच्च पद पर अवस्थित शाम्भवाद्वैत महाभाव समाविष्ट सिद्ध साधक में अनुग्रह करने की शक्ति स्फुट रूप से स्थित होती है। उसके दर्शन और स्पर्श मात्र से भी—जैसे,

"एक दीप से अन्य दीप उद्दीप्त हो जाते हैं।" उसी तरह ऐसे आचार्य के दर्शन स्पर्शन से शिष्य का बोध भी उद्दीप्त हो जाता है। इसलिये यदि कोई अधिकारी शिष्य उस दैशिक शिरोमणि की सेवा में उपस्थित होता है, तो वह भी अनुग्राह्य हो जाता है अर्थात् अनुग्रह से कृतार्थ हो जाता है ॥ २९० ॥

नन्वनेवंविधश्चेत् कश्चित्तदाराधनाय प्रवृत्तः स्यात्तत्रानेन किं प्रतिपत्तव्यम् ? इत्याशङ्क्याह

अथासौ तादृशो न स्याद्भवभक्त्या च भावितः ॥२९१॥

तं चाराधयते भाविताद‍ृशानुग्रहेरितः ।

तदा विचित्रं दीक्षादिविधिं शिक्षेत कोविदः ॥२९२॥

तादृश इति शाम्भवोपायभाजनं, न स्यादिति तीव्रतीव्रशक्तिपाताभावात् । अथ च

'तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला ।' (मा० वि० २।१४)

इत्यादिनीत्या शक्तिपातावेदकेन भवभक्त्याख्येन प्रथमेन चिह्नेनाधिष्ठितः, शक्तिपातस्य चात्र भवभक्त्याख्यस्यैकस्य तच्चिह्नस्य निर्देशाच्चिह्नान्तराणां चानिर्देशान्मन्दमन्दादिरूपत्वं सूचितम् । एवं मन्दमन्दादिशक्तिपातवत्त्वेऽपि स न समुचितमाणवाद्युपायमात्राभिज्ञं गुरुमाराधयितुं प्रवृत्तोऽपि तु शाम्भवोपायाविष्टमित्युक्तं 'तं चाराधयते' इति । यतः स भाविताद‍ृशानुग्रहेरितः, न ह्याणवोपायमात्राभिज्ञाद्गुरोर्भाविनमपि शाम्भवोपायसमुचितमनुग्रहं लभते इति भावः, तेन

प्रश्न है कि शिष्य एक गुरु की सेवा में है। वह यदि अनुग्रह का अधिकारी न हो, उस समय उसे क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

एक शिष्य है। वह अनुग्रह का पात्र नहीं है, क्योंकि उस पर तीव्र तीव्र शक्तिपात नहीं हुआ है, पर वह शिव की भक्ति से भावित है। वह यदि भविष्य में उस शाम्भवानुग्रह के लिये प्रेरित हो और उसे पाने का अभिलाषी हो तो गुरु का कर्त्तव्य है कि वह विचित्र समयादिकी दीक्षा देने की व्यवस्था करे। दीक्षा प्रभु भक्ति की पहली शर्त्त है। कहा गया है कि—

'रुद्र में सुनिश्चल भक्ति को अनुग्रह के अधिकार का पहला लक्षण मानना चाहिये।" मा. वि. २।१४ के इस कथन के अनुसार शिव में भक्ति शक्तिपात का प्रथम स्वयं सिद्ध लक्षण है। यहाँ शक्तिपात और उसके चिह्न रूप भक्ति के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा शक्तिपात मन्द मन्द शक्तिपात ही हो सकता है। मन्द मन्द शक्तिपात दशा में भी यदि साधक आणव और मायीय उपायों से अभिज्ञ गुरु की उपासना करता है, तो शाम्भवोपाय में समाविष्ट कैसे

'न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति।'

इत्याद्युक्तेः शिष्यस्य चोक्तयुक्त्या गत्यन्तराभावादवश्यमेव अस्य तदुद्दिधीर्षया भिन्नमुपायजातमुपयुक्तमित्याह तदा विचित्रमित्यादि । अत एव पूर्वं

'सोऽपि स्वातन्त्र्यधाम्ना चेदप्यनिर्मलसंविदाम् ।
अनुग्रहं चिकीर्षुस्तद्भाविनं विधिमाश्रयेत् ॥' (तं० २।४४)

इत्याद्युक्तम् । विचित्रमिति अनुग्राह्यभेदात् । तदुक्तं प्राक्

'अनुग्राह्यानुसारेण विचित्रः स च वक्ष्यते ।' (तं० २।४५)

इति ॥ २९१-२९२ ॥

नन्वेवंविधस्यानुग्राह्यस्य शाम्भवोपायसमावेशभाजो गुरोः सकाशादाणवोपायप्रक्रियया चेदनुग्रहो वृत्तस्तर्हि 'शाणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरतन्तुवानवैचित्र्यलाभः' इत्यादिन्यायेन हेतुफलभावस्य नैयत्याद्भाव्यपि शांभवोपायसमुचितोऽनुग्रहः कथं नामास्य स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

भाविन्योऽपि ह्युपासास्ता अत्रैवायान्ति निष्ठितिम् ।
एतन्मयत्वं परमं प्राप्यं निर्वर्ण्यते शिवम् ॥२९३॥

हो सकता है ? वह भविष्य में शाम्भव समावेश के प्रति आशावान् अवश्य रह सकता है। पर कठिनाई यह होती है कि प्रत्येक गुरु शाम्भवोपाय समावेश से अभिज्ञ नहीं होता। उस गुरु से उत्कर्ष के हेतु अनुग्रह की उपलब्धि उसके लिये असम्भव हो जाती है। इसलिये—"साधनावस्था में संसार से उद्धार के लक्ष्य में व्यापृत साधक को अवज्ञा भाव नहीं लाना चाहिए।" इस उक्ति के अनुसार शिष्य के उत्कर्ष के लिए गुरु को अन्य उपाय का आश्रय लेना चाहिये। देशिक गुरु इसीलिये उसे विचित्र दीक्षा विधि की दीक्षा दें। द्वितीय आह्निक के ४४-४५ श्लोकों में पहले भी इस तथ्य की चर्चा हो चुकी है ॥२९१-२९२॥

शाम्भवोपाय समावेश सिद्ध गुरु के द्वारा ऐसे अनुग्राह्य शिष्य पर आणवोपाय प्रक्रिया से ही यदि अनुग्रह संवृत्त हो तो 'शाण सूत्र वयन का अभ्यासी त्रसरसूत्रपरिधान निर्माण शून्य ही रहता है' इस उक्ति के अनुसार उस पर शाम्भवोपायस्तरीय अनुग्रह कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं—

भाविन्य आणवादो वक्ष्यमाणाः, तासां हि द्वारद्वारिभावेनेतदतिरिक्तस्य मृग्यस्याभावात् शाम्भवोपाय एव प्ररोह इत्युक्तम् 'अत्रैवायान्ति निष्ठितिम्' इति। अत एवैतन्मयत्वमेव नामासां श्रेयोरूपं परमुपेयं सर्वत्रैवोद्घोष्यते, न हि एतद्विश्रान्तिमन्तरेण किंचिदपि भवेदिति भावः । अत एवोपायनानात्वेऽपि नोपेयनानात्वं यदभिप्रायेणैव

'द्वावप्येतौ समावेशौ निर्विकल्पार्णवं प्रति।
प्रयात एव तद्रूढि विना नैव हि किंचन ॥
संवित्तिफलभिच्चात्र न प्रकल्प्येत्यतोऽब्रवीत् ।' (तं० १।२२७)

इत्यादि प्रागुक्तम् ॥ २९३ ॥

एतदेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इति कथितमिदं सुविस्तरं परमं शाम्भवमात्मवेदनम् ॥

आणव आदि उपासनाओं में निश्चित रूप से द्वारद्वारिभाव रहता है। इसलिये वे शाम्भवोपाय की उपाय मात्र हैं। सर्वोच्च प्ररोह शाम्भवोपाय में ही आवश्यक है। 'इसी में सभी उपाय निष्ठित होते हैं।'

शाम्भवोपाय समावेश ही इस जोवन का श्रेय सर्वस्व है—यह सत्य सभी उद्घोषित करते हैं। इसमें विश्रान्ति के बिना सब निष्फल ही है। इसीलिए उपाय की अनेकता में भी उपेय एक ही होता है। इसी अभिप्राय से आह्निक १ के २२७वें श्लोक सन्दर्भ में यही तथ्य दूसरे शब्दों में कहा गया है ॥ २९३ ॥

यही सन्दर्भ प्रस्तुत श्लोक की प्रथम अर्धाली द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। [इसकी दूसरी अर्धाली चतुर्थ आह्निक का प्रारम्भ करती है]।

यहाँ तक परम धाम रूप शाम्भव उपाय का, स्वात्मस्पन्दन का और आत्मवेदन की पराकाष्ठा का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है।

शवावेशवशोल्लसदसमरसास्वादसामरस्यमयः ।
कश्चिज्जयरथनामा तृतीयमिदमाह्निकं व्यवृणोत् ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते शांभवोपायप्रकाशनं नाम तृतीयमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३ ॥

●

"शैव आवेश के वशीभूत जितने विषय और असमरस विश्व-उल्लास के विज्ञान हैं, उनके रहस्य द्रष्टा और उनके आस्वाद रूप आनन्द सन्दोह सामरस्य की चिदैक्यसुधा से सराबोर जयरथ ने इस तृतीय आह्निक की व्याख्या की"—

"शैव - स्पन्दोदित - विषम - जग - रस - समरस-सिद्ध ।
जयरथ कृत सविवेक जय, नयनाह्निक ऋत-ऋद्ध ॥"

उपायं शाम्भवं ज्ञात्वा व्याख्यातं नयनाह्निकम् ।
'हंसेन' मातृभक्तेन साधकेन च केनचित् ॥ ३ ॥

॥ श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचित, श्रीराजानक-जयरथाचार्यकृत प्रकाशाख्यव्याख्योपेत, डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य-संवलित, श्रीतन्त्रालोक का शांभवोपायप्रकाशननामक तृतीय आह्निक सम्पूर्ण
इति शुभं भूयात् ॥ ३ ॥

●

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

प्रथमाह्निकस्य

श्लोकाद्यपंक्तयः | **संख्यापृष्ठाङ्कौ**

द्वितीयाह्निकस्य

तृतीयाह्निकस्य

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

प्रथमाह्निकस्य

द्वितीयाह्निकस्य

तृतीयाह्निकस्य

गुरवः ग्रन्थकाराश्च

उद्धृताः ग्रन्थाः मतवादाश्च

विशिष्टशब्दादिक्रमः

●

विशिष्टोक्तयः

संकेतग्रहः

संक्षिप्तसंकेतः	सांकेतिकाः शब्दाः	पृष्ठांङ्काः
अ०	अवच्छेदः	११८
अ०	अध्यायः	४९२
अ० प्र०	आजडप्रमातृसिद्धिः	४७३,४८७
आ०	आह्निकम्	११८
ई० प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा	२६,१२४,४७८,५०७
ऐ० उ०	ऐतरेय उपनिषद्	४९२,४९३,४९४,४९६
का०	कारिका	८५
गी०	श्रीमद्भगवद्गीता	४९२,४९३,४९४,४९६
तं०, श्रीतं०, श्रीतन्त्रा०	श्रीतन्त्रालोकः	१६,५३१
पं०	पण्डितप्रवर	१७,१८ (स्वा०वि०)
पं०	पटलम्	४८७
प० सा०	परमार्थसारः	८५,८७
पा० सू०	पाणिनीयसूत्रम्	३५८
प्र० वि०	प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	११८
प्र० हृ०	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	४८०
प्रो० के० सी०	प्रोफेसर कान्तिचन्द्र पाण्डेयः	१६ (स्वा० वि०)
म० स्मृ०	मनुस्मृतिः	४९६
मा० वि०	मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्	५३१
वि० भै०	विज्ञानभैरवः	४७८,४९५,५०३
शि० उ० सू०	शिवसूत्रम्	११
शिव०	शिवदृष्टिः	३७
श्लो०	श्लोकः	११८
सं० सं० बि० वि०	सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः	१८
स्पन्द०	स्पन्दकारिका	४८७
स्व०	स्वच्छन्दतन्त्रम्	४८७
स्वा० वि०	स्वात्मविमर्शः	१६,१७

शुद्धिनिर्देशः

अशुद्धमुद्रणम्	शुद्धम् रूपम्	पृष्ठाङ्काः	पंक्तितयः
अतिक्रान्ति	अतिक्रान्त	३९	१९
अर्चन	अर्चनं	४०	१०
अर्थं बाह्य	बाह्य अर्थं	२९९	१८
इत्याद्युक्त	इत्याद्युक्तम्	५११	५
क	की	२९९	१९
करा	करो	३१०	२३
का	की	२९९	१९
काई	कोई	९१	१४
कालाकुल	कालीकुल	३१	१४
चक्रश्वर	चक्रेश्वर	२९	२४
जितना	जितने	२९५	२३
तध्य	तथ्यं	९६	१
तव	तत्र	१५	३
तिल	तिले	४५	३
दर्चन	दर्चनं	४०	१०
नावश्य	नावश्यं	२०६	६
परमेवरे	परमेश्वरे	२२९	१६
प्रभः	प्रभुः	३७७	१५
प्रयाण	प्रमाण	२०	२
प्रयाग	प्रयोग	२६	८
पौरुषयं	पौरुषेयं	९६	५
भयः	भूयः	१४५	६
भाग्यत्व	भोग्यत्वे	४६५	१
भूति	भूतिनाथकी	४३	११
मनीष	मनीषी	स्वात्मविमर्श १२	२९

माश्रन्ति	माश्रयन्ति	४०४	१३
माक्षो	मोक्षो	२२	१७
मीलन	मीलनं	९६	१
रुप	रूप	३२६	२५
रुषणा	रूषणा	४४२	४
रेखा	देखा	स्वात्मविमर्श ३	२९
वर्णन न	वर्णन न कर	२८८	२६
विकार	निकर	३०८	२७
विना		३२३	१७
विसर्गमात्र	विसर्गमात्रं	४२७	१२
वैलक्षण्यी	वैलक्षण्यमयी	४२०	१८
शून्य हो	शून्य नहीं	५२५	२५
सृष्टि	सृष्टि	४७६	१
से	स	१२०	२७
षष्ट	षण्ठ	३५७	२६
सख्यानम्	संख्यानम्	३१	२
ह्लव	सर्वापह्लव	१०५	८
स्वगुर्वादि:	स्वगुर्वादिः	३१	३
हाता	होता	९७	२७
है	हैं	२९५	२३
हो	हों	२९५	२३
१३	४४-४५	९३	शीर्षाङ्क
४२	२४	६५	शीर्षाङ्क

जीवनवृत्त

('नीरक्षीरविवेक'-भाष्यकार का)

१. नाम : **डॉ. परमहंस मिश्र 'हंस'**
२. पितृनाम : स्व. पं. श्री फौजदार मिश्र
३. मातृनाम : स्व. पराकाली देवी
४. जन्म : २० अगस्त, सन् १९२०
५. जन्मभूमि : ग्राम-पोस्ट : मल्लपहरसेनपुर, जनपद-बलिया (उ.प्र.)
६. प्राथमिक शिक्षा : ग्रामविद्यालय/नगरा-बलिया
७. उच्च शिक्षा : आचार्य (साहित्य) राजकीय क्वींस कॉलेज, वाराणसी; एम.ए. (हिन्दी) गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
८. उपाधि : पी-एच्.डी., काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
९. भाषाज्ञान : हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बंगला, कन्नड़
१०. शिक्षक : आर्यमहिला डिग्री कॉलेज, वाराणसी
११. पद : विभागाध्यक्ष (संस्कृत)
१२. लेखन (मौलिक) : हिन्दी कविता-पीकहाँ (छायावादी खण्ड-काव्य, प्रकाशित), हिन्दी कविता-विश्वामित्र महाकाव्य, संस्कृत-मधुमयं रहस्यम् (कविता, प्रकाशित), स्वतन्त्रताशतकम् (कविता, अप्रकाशित)
१३. भाष्य-व्याख्या और अनुवाद : १. श्रीतन्त्रालोकः (आगमोपनिषद् ग्रन्थ), २. तन्त्रसार, ३. मन्त्रयोगसंहिता (बाँग्ला लिप्यन्तर) अनुवाद, ४. अवधूतोल्लासः (पद्यानुवाद), ५. परशुरामकल्पसूत्रम्, ६. श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्।
१४. शोध-प्रबन्ध : प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन
१५. पुरस्कार : संस्कृत अकादमी, लखनऊ
१६. सम्पादक : सूर्योदयः (मासिक पत्र, १९७० से १९८० तक)
१७. संस्कृत प्रतिभा, सारस्वती सुषमा आदि में लेख आदि।
१८. **स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी**

✻